प्रधान सम्पादक
साहित्यवाचस्पति म. विनयसागर

प्राकृत भारती पुष्प-१३६

सिद्धान्तवेत्ता श्री नेमिचन्द्रसूरि प्रणीत

प्रवचन-सारोद्धार

(द्वितीय भाग)

(१११ से २७६ द्वारों का मूल, गाथार्थ एवं आगमज्ञ श्री सिद्धसेनसूरि रचित तत्त्वविकाशिनी टीका का हिन्दी विवेचन)

अनुवादिका
महान आत्मसाधिका प.पू. अनुभव श्रीजी म.सा.
की सुशिष्या साध्वी हेमप्रभाश्री

सम्पादक
साहित्यवाचस्पति महोपाध्याय विनयसागर

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
सेवा मन्दिर, रावटी-जोधपुर

प्रकाशक

देवेन्द्रराज मेहता
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन, मालवीय नगर,
जयपुर-३०२०१७
फोन ५२४८२७, ५२४८२८

पारसमल भंसाली
अध्यक्ष
श्री जैन श्वे० नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर-३४४०२५
स्टे० बालोतरा, जिला बाडमेर

श्रेणिक जौहरीमल पारख
ट्रस्टी
सेवा मन्दिर
रावटी-जोधपुर

प्रथम संस्करण २०००

मूल्य २५० ०० रुपये

कम्प्यूटरीकरण
कम्प्यू प्रिन्टस,
जयपुर-३
दूरभाष ३२३४९६

[illegible]
पापुलर प्रिन्टर्स
जयपुर

प्रत्यक्ष प्रभावी दादा गुरुदेव

जन्म वि म १३३७ मार्गशीर्ष कृष्णा ३, गढसिवाणा   दीक्षा वि म १३४७ फाल्गुन शुक्ला ८ गढसिवाणा

आचार्यपद वि स १३७७ ज्येष्ठ कृष्णा ११ पाटण   स्वर्गवास वि स १३८९ फाल्गुन कृष्णा ३० देराउर

श्री जिनकुशलसूरीश्वर जी म. सा

प्रकाशकीय

प्रवचनसारोद्धार जैनो का एक महत्त्वपूर्ण सकलन ग्रन्थ है। १२वी शताब्दि की यह रचना साध्वाचार का एक सदर्भ ग्रन्थ भी है। यह अपने पूर्ण रूप मे हिन्दी भाषा मे अभी तक अननुवादित था। विदुषी आर्यारत्न श्री **हेमप्रभाश्रीजी** म सा ने यह भागीरथ प्रयत्न सफलतापूर्वक सपन्न किया और प्राकृत भारती अकादमी को प्रकाशन दायित्व दिया इसके लिए हम उनका आभार प्रकट करते है।

इस पुस्तक के प्रकाशन की योजना आठ वर्ष पूर्व ही निश्चित हो चुकी थी, किन्तु विभिन्न अप्रत्याशित व्यवधानो के कारण विलम्ब होता गया, पर यह अन्तराल व्यर्थ नहीं गया। इस बीच ग्रन्थ के सयोजन व आकार मे वाछित परिवर्तन और सवर्धन होता रहा जिससे यह सभवत आदर्श रूप बन सका। इस महत्त्वपूर्ण सपादन–सशोधन कार्य मे साहित्यवाचस्पति महोपाध्याय **विनयसागरजी** ने अपनी पूर्ण विद्वत्ता तथा लगन से योगदान दिया है। यद्यपि वे प्राकृत भारती परिवार के सदस्य है, उनके प्रति धन्यवाद प्रकट न करना कृपणता होगी।

प्रथम भाग मे द्वार १ से ११० तक प्रकाशित हो चुके हैं। शेष १११ से २७६ द्वार इस दूसरे भाग मे सयोजित किए गए है। अपने इस सपूर्ण आकार मे विस्तृत विवेचन सहित यह सदर्भ ग्रन्थ अवश्य ही साधुवृन्द तथा सुधी पाठको के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

श्रमण समुदाय के लिए विशेष उपयोगी ग्रन्थ का पुष्प १२६ के रूप मे प्रकाशन प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर व श्री नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ ट्रस्ट, मेवानगर और सेवा मन्दिर, रावटी–जोधपुर के सयुक्त प्रकाशनो की कडी मे हो रहा है। आशा है जैन साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र मे तीनो सस्थाओ की परस्पर सहयोग की यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहेगी।

पारसमल भसाली	**श्रेणिक पारख**	**देवेन्द्रराज मेहता**
अध्यक्ष	ट्रस्टी	
नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ,	सेवा मन्दिर	प्राकृत भारती अकादमी
मेवानगर	रावटी–जोधपुर	जयपुर

विषयानुक्रम

द्वार-सख्या	विषय	पृष्ठाक

¤ * ¤ * ¤

परमपूज्या विदुषी आर्यारत्न

जन्म वि स १९५९ भादवा बदी ८, शाजापुर

दीक्षा वि स १९७९ चैत्र सुदी १० शाजापुर

श्री अनुभवश्री जी महाराज

स्वर्गवास वि स २०४८ फाल्गुन वदी ३ पाली

प्रवचन सारोद्धार

द्वितीय भाग

१११ द्वार : कल्प्य-वस्त्रमूल्य—

मुल्लजुय पुण तिविह जहन्नय मज्झिम च उक्कोस ।
जहन्नेणऽट्ठारसगं सयसाहस्स च उक्कोस ॥७९७ ॥
दो साभरगा दीविच्चगा उ सो उत्तरावहो एक्को ।
दो उत्तरावहा पुण पाडलिपुत्तो हवइ एक्को ॥७९८ ॥
दो दक्खिणावहा वा कचीए नेलओ स दुगुणाओ ।
एक्को कुसुमनगरओ तेण पमाण इम होइ ॥७९९ ॥

—गाथार्थ—

साधु के लिये कल्प्य वस्त्र—वस्त्र तीन प्रकार का है—१. जघन्य मूल्य वाला २. मध्यम मूल्य वाला और ३ उत्कृष्ट मूल्य वाला। १८ रुपया जघन्य मूल्य है। १ लाख रुपया उत्कृष्ट मूल्य है। जघन्य मूल्य और उत्कृष्ट मूल्य के मध्य की संख्या मध्यम मूल्य है।॥७९७॥

—विवेचन—

मूल्य की अपेक्षा से वस्त्र के तीन भेद है—

(i) **जघन्य**—अठारह रुपये मूल्य वाला ।

(ii) **मध्यम**—जघन्य व उत्कृष्ट मूल्य की अपेक्षा मध्यम मूल्य वाला ।

(iii) **उत्कृष्ट**—लाख रुपये मूल्य वाला ।

इन तीनो प्रकार के मूल्यवाला वस्त्र साधु को नही कल्पता, कम मूल्य वाला कल्पता है ।

पचकल्पबृहद्भाष्य मे कहा है कि १८ रुपये से न्यून मूल्यवाला वस्त्र ही साधु को ग्रहण करना कल्पता है । इससे अधिक मूल्य वाला वस्त्र ग्रहण करना नही कल्पता ।

प्रश्न—रुपया किसे कहते है ? उसका क्या प्रमाण है ?

उत्तर—सौराष्ट्र के दक्षिणदिशावर्ती समुद्र मे एक योजन विस्तृत जो टापू है वह द्वीप कहलाता है । उस द्वीप की मुद्रा रुपया कहलाती है ।

पूर्वोक्त २ रुपया	=	उत्तरापथ का १ साभरक (रुपया)
पूर्वोक्त २ साभरक	=	पाटलिपुत्र का १ साभरक
		अथवा
दक्षिण के २ रुपये	=	काची नगर का १ नेलक
पूर्वोक्त २ नेलक	=	पाटलिपुत्र का १ रुपया

- वस्त्र का मूल्य पाटलिपुत्र के रुपये से किया जाता है ॥ ७९७-७९९ ॥

११२ द्वार :

शय्यातर-पिण्ड—

सेज्जायरो पहू वा पहुसंदिट्ठो य होइ कायव्वो।
एगो णेगे य पहू पहुसंदिट्ठेवि एमेव ॥८०० ॥
सागारियसंदिट्ठे एगमणेगे चउक्कभयणा उ।
एगमणेगा वज्जा णेगेसु य ठावए एगं ॥८०१ ॥
अन्नत्थ वसेऊणं आवस्सग चरिममन्नहिं तु करे।
दोन्निवि तरा भवती सत्थाइसु अन्नहा भयणा ॥८०२ ॥
जइ जग्गति सुविहिया करेति आवस्सयं तु अन्नत्थ।
सिज्जायरो न होई सुत्ते व कए व सो होई ॥८०३ ॥
दाऊण गेहं तु सपुत्तदारो, वाणिज्जमाईहि उ कारणेहिं।
त चेव अन्नं व वएज्ज देसं, सेज्जायरो तत्थ स एव होइ ॥८०४ ॥
लिगत्थस्सवि वज्जो त परिहरओ व भुंजओ वावि।
जुत्तस्स अजुत्तस्स व रसावणे तत्थ दिट्ठतो ॥८०५ ॥
तित्थकरपडिकुट्ठो अन्नाय उग्गमोवि य न सुज्झे।
अविमुत्ति अलाघवया दुल्लहसेज्जा उ वोच्छेओ ॥८०६ ॥
पुरपच्छिमवज्जेहिं अवि कम्म जिणवरेहि लेसेणं।
भुत्त विदेहएहि य न य सागरिअस्स पिडो उ ॥८०७ ॥
बाहुल्ला गच्छस्स उ पढमालियपाणगाइकज्जेसु।
सज्झायकरणआउट्टिया करे उग्गमेगयर ॥८०८ ॥

—गाथार्थ—

शय्यातरपिंड—वसति का मालिक या उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति शय्यातर माना जाता है। ये एक और अनेक दोनों हो सकते है। वसति का स्वामी और उसके द्वारा नियुक्त के एक और अनेक के साथ मिलकर चार भागें होते है। इनमें से एक और अनेक दोनो का त्याग करना चाहिये और अनेक में से एक को शय्यातर बनाना चाहिये ॥८००-८०१ ॥

रात्रि में संथारा अन्य स्थान पर किया हो और कारणवश प्रतिक्रमण अन्य स्थान पर किया हो तो दोनों स्थानों के स्वामी शय्यातर माने जाते है। ऐसा प्रसंग सार्थ आदि के साथ जाने पर उपस्थित हो सकता है। अन्यथा भजना समझना चाहिये ॥८०२ ॥

यदि किसी स्थान में रातभर सोये बिना ही रहे हों और प्रतिक्रमण अन्य स्थान में जाकर किया हो तो मूल वसति का स्वामी शय्यातर नही माना जाता पर जहाँ प्रतिक्रमण किया हो उस वसति का स्वामी शय्यातर होता है ॥८०३ ॥

कोई गृहस्थ साधु को वसति देने के बाद व्यापारादि के लिये सपरिवार अन्यत्र चला जाये तो भी वसति का शय्यातर वहाँ रहा हुआ भी वही माना जाता है ॥८०४ ॥

वेषधारी मुनि के भी शय्यातर का त्याग करना चाहिये, भले वह अपने शय्यातर के घर का आहार-पानी ग्रहण करता हो या न करता हो, जैसे शराब की दुकान में शराब हो या न हो तथापि वह दुकान शराब की ही कहलाती है ॥८०५ ॥

शय्यातरपिंड ग्रहण करने से जिनाज्ञाभंग, अज्ञातभिक्षा का अभाव, उद्गमादि दोषों की सम्भावना, आहार की आसक्ति, लघुता, वसति की दुर्लभता अथवा वसति का विच्छेद आदि दोष लगते है ॥८०६ ॥

प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर को छोड़कर मध्य के बावीस तीर्थकरों तथा विदेह क्षेत्र के तीर्थकरों के मुनिओ ने यद्यपि आधाकर्मी भिक्षा अल्प भी ग्रहण की होगी किन्तु शय्यातरपिंड का ग्रहण तो सर्वथा नही किया ॥८०७ ॥

गच्छ की विशालता को देखकर, नवकारसी-पानी आदि के लिये बार-बार जाने से तथा मुनियो को स्वाध्याय आदि करते देखकर आकृष्ट हुआ गृहस्थ (शय्यातर) उद्गम के दोषों से दूषित आहार आदि दे सकता है ॥८०८ ॥

—विवेचन—

शय्यातर - शय्या = मुनि को ठहरने के लिये दिया गया आवास।

तर = उसके द्वारा दुस्तर ससार सागर को तरने वाला अर्थात् जो मुनि को ठहरने के लिये आवास देता है वह 'शय्यातर' कहलाता है। शय्यातर दो प्रकार का है—(i) वसति (स्थान) का मूल मालिक, (ii) मालिक द्वारा नियुक्त अधिकारी। इन दोनो के भी दो भेद है—(i) एक और (ii) अनेक। पूर्वोक्त चारो पदो के मिलने से चतुर्भगी वनती है।

(i) एक स्वामी और एक स्वामी तुल्य
(ii) एक स्वामी और अनेक स्वामी तुल्य
(iii) अनेक स्वामी और एक स्वामी तुल्य
(iv) अनेक स्वामी और अनेक स्वामी तुल्य

पूर्वोक्त भागो मे से दूसरा, तीसरा भागा शुद्ध और पहला, चौथा भागा अशुद्ध हैं।

अपवाद—चौथे भागे से उपलब्ध वसति यद्यपि साधु के लिये अकल्प्य है तथापि किसी स्थान पर ऐसी ही वसति हो और श्रावक साधु-समाचारी मे निपुण होने से साधु को विनती करे कि "भगवन्! आप इस वसति को ग्रहण करिये तथा हम सब मे से किसी एक को शय्यातर बनाइये।" ऐसी स्थिति मे साधु भी किसी एक को शय्यातर मानकर वसति ग्रहण करे और शेष घरो से भिक्षा ले।

अथवा—यदि वहाँ साधु अधिक हो और सभी का निर्वाह सरलता से हो जाता हो तथा सभी श्रावको ने वसति दान किया हो तो सभी वसति के मालिको को शय्यातर माने। यदि सरलता से निर्वाह न होता हो और सभी ने वसति न दी हो तो एक शय्यातर माना जाता है। दो शय्यातर हो तो एकान्तर दिन से उसके घर से भिक्षा ग्रहण करे। तीन शय्यातर हो तो तीसरे दिन, चार शय्यातर हो तो चौथे दिन शय्यातर के घर से भिक्षा ग्रहण करे। इस प्रकार आगे भी समझना ॥८००-८०१ ॥

प्रश्न—वसतिदाता शय्यातर कब बनता है ?

उत्तर—जिसके अवग्रह मे मुनि रात को सोए हो और जिसके अवग्रह मे राइ-प्रतिक्रमण किया हो वे दोनो शय्यातर कहलाते है। (यद्यपि आवश्यक किये बिना मुनि को शयनस्थान से अन्य स्थान पर जाना नही कल्पता तथापि कदाचित् सार्थ आदि के साथ विहार करते समय चौरादि के भय से आवश्यक किये बिना भी अन्य स्थान पर जाना पड सकता है) ॥८०२ ॥

- सथारा व राइ प्रतिक्रमण एक वसति मे किया हो पश्चात् दूसरी वसति मे चले जाने पर भी शय्यातर वही माना जाता है जिसकी वसति मे सथारा व प्रतिक्रमण किया हो।
- जिस मालिक की वसति मे मुनि ठहरे हो उस वसति मे यदि सारी रात जगते रहे और प्रभातकालीन प्रतिक्रमण किसी अन्य की वसति मे जाकर करे तो मूल वसति का मालिक शय्यातर नही माना जाता किन्तु जिसके घर राइ-प्रतिक्रमण किया है वही शय्यातर कहलाता है।
- वसति छोटी होने से मुनियो को अलग-अलग रहना पडे तो आचार्य गुरु आदि जिसकी वसति मे ठहरे हो वही सबका शय्यातर माना जाता है, अन्य नही।

प्रश्न—वसतिदाता परदेश चला गया हो तो वह शय्यातर माना जाता है या नही ? ॥८०३ ॥

उत्तर—भले वसति का मालिक परिवार सहित परदेश चला गया हो फिर भी शय्यातर वही माना जाता है क्योकि वसति का अधिपति वही है ॥८०४ ॥

किन साधुओं से सम्बन्धित शय्यातर के घर से भिक्षा लेना नही कल्पता।

- साधु के गुण से रहित मात्र वेषधारी मुनि को वसति देने वाले शय्यातर के घर से भी भिक्षा लेना सयमी-मुनि को नही कल्पता तो सयमी मुनियो को वसति देने वाले गृहस्थ के घर की भिक्षा कल्पने का तो प्रश्न ही नही उठता।

प्रश्न—वेषधारी साधु से सम्बन्धित शय्यातर के घर से भिक्षा लेना मुनियो को क्यो नही कल्पता ?

उत्तर—यद्यपि साधु वेषधारी है फिर भी साधुत्व का चिह्न-रूप रजोहरण उसके पास होने से वेष से वह भी साधु कहलाता है। अत उसके शय्यातर के घर से भी साधुओं को भिक्षा लेना नही कल्पता।

जैसे, महाराष्ट्र मे कलाल जाति के लोगो की दुकान पर मदिरा हो या न हो किन्तु ये कलाल है, यह बताने के लिये उनकी दुकान पर ध्वजा लगाई जाती है। उस ध्वजा को देखकर भिक्षु उन घरो का त्याग करते है, वैसे यहाँ भी समझना ॥८०५ ॥

दोष—शय्यातर पिड लेने का तीर्थकरो ने निषेध किया है, उसे ग्रहण करने से आज्ञा भग रूप दोष लगता है। यह साधु गृहस्थावस्था मे राजा था या सेठ था, यह बात जिसे मालूम न हो, साधु को वही से भिक्षा (अज्ञात-भिक्षा) लेना कल्पता है। जबकि शय्यातर के साथ सम्पर्क हो जाने से उसे साधु के स्वरूप की पूर्ण जानकारी हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उसके घर से शुद्ध-भिक्षा नही मिल सकती।

- अति परिचय होने से शय्यातर साधु को आधाकर्मी आदि दोष से युक्त आहार दे सकता है।
- मुनियो को निरन्तर स्वाध्याय आदि करते देखकर शय्यातर उनका भक्त बन कर रसयुक्त आहार देवे। इससे मुनियो की रसासक्ति बढे।
- शय्यातर के घर से निरन्तर रस-पूर्ण आहार लाकर करने से मुनि का शरीर स्थूल बने, अच्छी उपधि मिलने से परिग्रह बढे।
- शय्यातर के घर से आहार, उपधि आदि ग्रहण करने से कभी शय्यातर के मन मे अभाव पैदा हो सकता है कि साधुओ के वसतिदाता को उन्हे आहार, उपधि आदि भी देनी पडती है। इस भय से वह साधुओ को वसति देना ही बन्द कर दे ॥८०६ ॥
- मध्य के बाईस तीर्थकरो और महाविदेह के तीर्थकरो ने आधाकर्मी आहार लेने का निषेध नही किया है। (जिसके लिये आहार आदि बनाया हो, उस साधु को वह आहार लेना न कल्पे, किन्तु दूसरा साधु वह आहार ले सकता है)। किन्तु शय्यातर पिड लेने का तो उन्होंने भी निषेध किया है। अत मुनि को शय्यातर पिण्ड लेना किसी भी स्थिति मे नही कल्पता ॥८०७ ॥

बारह प्रकार का शय्यातर पिण्ड—

जिसे शय्यातर माना हो उसके घर से निम्न बारह वस्तुएँ लेना नहीं कल्पता क्योकि ये वस्तुएँ शय्यातर-पिण्ड कहलाती है।

१ अशन
२ पान
३ खादिम
४ स्वादिम
५ पात्रप्रोछन
६ पात्र
७ कवल
८ सुई
९ वस्त्र
१० छुरी, कैंची
११ कान-कुचरणी (कान का मैल निकालने वाली)
१२ नखरदनिका (नख-काटने का उपकरण)

अपिण्डरूप वस्तुएँ—

१ तृण
२ डगल (पाषाण-खण्ड)
३ राख
४ कफ आदि थूकने का भाजन
५ शय्या
६ सथारा
७ पीठफलक आदि (पीठ पीछे रखने का)
८ लेप आदि (पात्रा आदि पर करने का या औषध रूप)
९ वस्त्र, पात्रादि सहित शय्यातर का पुत्र या पुत्री दीक्षा ग्रहण करे तो दे सकते है।

शय्यातर की ये नौ वस्तुएँ अपिंडरूप होने से मुनि को लेना कल्पता है।

अशय्यातर—साधु द्वारा वसति का त्याग करने के चौबीस घण्टे पश्चात् वसतिदाता अशय्यातर माना जाता है। जैसे आज दस बजे मुनियो ने किसी श्रावक की वसति का त्याग किया और अन्यत्र चले गये तो दूसरे दिन दस बजे बाद ही पूर्व वसति के मालिक के घर से मुनियो को आहार पानी लेना कल्पता है।

अपवाद—गाढतर—यदि कोई मुनि गाढ रोगी हो तो सीधा शय्यातर पिड ग्रहण कर सकते है।

अगाढ़तर—यदि कोई मुनि अगाढ रोगी हो तो उसके योग्य भिक्षा हेतु पहले तीन बार अन्य घरो मे जाना चाहिये। यदि ग्लान योग्य द्रव्य न मिले तो शय्यातर के घर से लेना चाहिये।

निमन्त्रण—शय्यातर का आहार आदि के लिये अत्यन्त आग्रह हो तो एकबार ग्रहण कर सकते है।

दुर्लभ द्रव्य—आचार्य प्रायोग्य घी, दूध आदि दुर्लभ द्रव्य अन्यत्र न मिले तो आचार्य आदि के लिये शय्यातर के घर से ग्रहण करना कल्पता है।

अशिव—दुष्ट व्यन्तर आदि के उपद्रव के समय अन्यत्र गमन शक्य न हो, अन्यत्र भिक्षा न मिलती हो तो शय्यातर के घर से लेना कल्पता है।

अवमौदर्य—*अकाल मे अन्यत्र भिक्षा न मिलने पर शय्यातर के घर से लेना कल्पता है।*

प्रद्वेष—कारणवश राजा द्वेषी बन जाये और लोगो को साधुओ को भिक्षा देने का सर्वथा निषेध कर दे तो ऐसी स्थिति मे गुप्त रूप से साधु शय्यातर के घर से भिक्षा ग्रहण कर सकते है।

भय—चोरादि के भय मे भी शय्यातर पिण्ड लिया जा सकता है ॥८०८॥

११३ द्वार : श्रुत में सम्यक्त्व—

चउदस दस य अभिन्ने नियमा सम्म तु सेसए भयणा।
मइओहिविवज्जासे होइ हु मिच्छं न सेसेसु ॥८०९॥

—विवेचन—

श्रुत में सम्यक्त्व—श्रुत की अपेक्षा से जो साधु १० पूर्व से लेकर १४ पूर्व तक का ज्ञान रखता हो वह निश्चय से सम्यक्त्वी होता है। कुछ न्यून १० पूर्वी को सम्यक्त्व होता भी है और नही भी होता। मति अज्ञान और विभग ज्ञान मे निश्चय से मिथ्यात्व होता है। क्योकि मिथ्यात्व के कारण से ही तो मतिज्ञान एव अवधिज्ञान विपरीत (मति अज्ञान व विभग ज्ञान) बनते है। मन पर्यवी और केवलज्ञानी को मिथ्यात्व नही होता ॥८०९॥

११४ द्वार : चातुर्गतिक निर्गन्थ—

चउदस ओही आहारगावि मणनाणि वीयरागावि।
हुति पमायपरवसा तयणतरमेव चउगइया ॥८१०॥

—विवेचन—

निर्ग्रथ का चार गति में गमन—

१ चौदह पूर्वधारी

२ आहारक-लब्धिधारी

(कुछ आत्मा १४ पूर्वी होते हुए भी आहारक-लब्धिधारी नही होते अत इनका अलग से ग्रहण किया गया है।)

३ अवधिज्ञानी

४ मन पर्यवज्ञानी

५ उपशान्त मोही

गति—विषय-कषाय के वश चारो गतियो मे जाते है ॥८१०॥

११५ द्वार : क्षेत्रातीत—

जमणुग्गए रविमि अतावखेत्तमि गहियमसणाइ।
कप्पइ न तमुवभोत्तु खेत्ताईयंति समउत्ती ॥८११॥

—विवेचन—

क्षेत्रातीत—सूर्योदय से पहले आतपरहित क्षेत्र मे ग्रहण किया हुआ अशन, पान, खादिम और स्वादिम क्षेत्रातीत होने से मुनि को उपयोग करना नही कल्पता है।

११६-११८: मार्गातीत, कालातीत, प्रमाणातीत—

असणाईय कप्पइ कोसदुगब्भतराउ आणेउ।
परओ आणिज्जंतं मग्गाईयति तमकप्प ॥८१२॥
पढमप्पहराणीयं असणाइ जईण कप्पए भोत्तु।
जाव तिजामे उड्डं तमकप्प कालइक्कंतं ॥८१३॥
कुक्कुडिअंडयमाणा कवला बत्तीस साहुआहारे।
अहवा निययाहारो कीरइ बत्तीसभाएहि ॥८१४॥
होइ पमाणाईय तदहियकवलाण भोयणे जइणो।
एगकवलाइऊणे ऊणोयरिया तवो तमि ॥८१५॥

—विवेचन—

दो कोश के भीतर से लाया हुआ आहार आदि करना मुनि को कल्पता है। इससे ऊपर का मार्गातीत होने से नही कल्पता।८१२॥

प्रथम प्रहर मे लाया हुआ आहार आदि तीन प्रहर तक करना कल्पता है। इसके पश्चात् कालातीत होने से नही कल्पता ॥८१३॥

पन्द्रहवे द्वार मे जो कवल का परिमाण बताया गया है, उतने परिमाण वाला आहार करना साधु-साध्वी को कल्पता है। इससे अधिक परिमाणातीत होने से करना नही कल्पता। प्रमाणोपेत मे भी मुनि को ऊणोदरी के लिये एक, दो, तीन या चार कवल कम ही खाना चाहिये ॥८१४-८१५॥

११९. द्वार : दुःखशय्या—

पवयणअसद्दहाणं परलाभेहा य कामआससा।
ण्हाणाइपत्थण इय चत्तारिऽवि दुक्खसेज्जाओ ॥८१६॥

—गाथार्थ—

दु खशय्या—१. प्रवचन की अश्रद्धा, २. परलाभ की इच्छा, ३. काम—मनोज्ञ शब्द, रूपादि की अभिलाषा तथा ४. स्नानादि की इच्छा—ये चार दु खशय्या है ॥८१६॥

—विवेचन—

दु ख = दु खदायक, शय्या = जिस पर सोया जाये।

इसके दो प्रकार है—द्रव्यत अमनोज्ञ खाट, पाट पलग आदि।

भावत अशुभ मन, असाधुता प्रयोजक-विचार। इसके चार भेद है—

(१) अश्रद्धान—जिनशासन पर विश्वास न होना।

(२) परलाभेच्छा—दूसरो के सामने वस्त्र-पात्रादि की प्रार्थना करना।

(३) कामाशसा—मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि की अभिलाषा करना।

(४) ण्हाणाइपत्थण—उबटन, मालिश आदि करने की एव स्नानादि की आकाक्षा रखना।

ऐसा करने वाला मुनि कभी भी साधु जीवन के सुख का अनुभव नही कर सकता अत ये "दु खशय्या" कहलाते है ॥८१६॥

१२० द्वार : सुखशय्या—

सुहसेज्जाओऽवि चउरो जइणो धम्माणुरायरत्तस्स।
विवरीयायरणाओ सुहसेज्जाउत्ति भन्नति ॥८१७॥

—गाथार्थ—

सुखशय्या—धर्मानुरागी मुनि की सुखशय्या भी चार प्रकार की है—दु खशय्या से विपरीत आचरण अर्थात् १ प्रवचनश्रद्धा, २. परलाभ की अनिच्छा, ३ काम की अनाशसा तथा ४ स्नानादि की अनाकाक्षा ये सुखशय्या के चार प्रकार है ॥८१७॥

—विवेचन—

सुखशय्या = जिस पर सुखपूर्वक सोया जाये। इसके दो भेद है—

(१) द्रव्यत = मनोज्ञ खाट, पाट, पलग आदि।

(२) भावत = जिनधर्म का रागी मन। इसके चार भेद है—

(i) जिन वचन पर पूर्ण श्रद्धा रखना।

(ii) दूसरो से किसी प्रकार के लाभ की इच्छा न रखना।

(iii) शब्द रूपादि के प्रति अनासक्ति होना।

(iv) स्नानादि की इच्छा न करना।

ऐसे मुनि निरन्तर तप-जप-क्रिया-कलाप मे मग्न होने से परम सन्तोप आर सुख का अनुभव करते है, अत ये सुखशय्या कहलाते है ॥८१७॥

१२१ द्वार : क्रियास्थान १३—

अट्ठा णट्ठा हिंसाऽकम्हा दिट्ठी य मोसऽदिन्ने य।
अज्झप्प माण मित्ते माया लोभेरियावहिया ॥८१८ ॥
तसथावरभूएहि जो दंडं निसरई उ कज्जेण।
आयपरस्स व अट्ठा अट्ठादडं तय बिंति ॥८१९ ॥
जो पुण सरडाईय थावरकाय व वणलयाईय।
मारेइ छिंदिऊण व छड्डेई सो अणट्ठाए ॥८२० ॥
अहिमाइवइरियस्स व हिंसिसु हिंसई व हिंसेही।
जो दडं आरभई हिंसादंडो हवइ एसो ॥८२१ ॥
अन्नट्ठाए निसिरइ कडाई अन्नमाहणे जो उ।
जो व नियंतो सस्स छिंदिज्जा सालिमाईय ॥८२२ ॥
एस अकम्हादडो दिट्ठिविवज्जासओ इमो होइ।
जो मित्तममित्तंति य काउ घाएज्ज अहवावि ॥८२३ ॥
गामाई घाएज्ज व अतेण तेणत्ति वावि घाएज्जा।
दिट्ठिविवज्जासेसो किरियाठाण तु पचमयं ॥८२४ ॥
अत्तट्ठनायगाईण वावि अट्ठाइ जो मुसं वयइ।
सो मोसप्पच्चइओ दडो छट्ठो हवइ एसो ॥८२५ ॥
एमेव आयनायगअट्ठा जो गिण्हई अदिन्नं तु।
एसो अदिन्नवत्ती अज्झत्थीओ इमो होइ ॥८२६ ॥
नवि कोइ य किंचि भणइ तहवि हु हियएण दुम्मणो किंचि।
तस्सऽज्झत्थी सीसइ चउरो ठाणा इमे तस्स ॥८२७ ॥
कोहो माणो माया लोभो अज्झत्थकिरियए चेव।
जो पुण जाइमयाई अट्ठविहेण तु माणेण ॥८२८ ॥
मत्तो हीलेइ पर खिंसइ परिभवइं माणवच्चेया।

माइपिइनायगाईण जो पुण अप्पेवि अवराहे ॥८२९ ॥
तिव्वं दडं कुणई दहणकणबधताडणाईय ।
तम्मित्तदोसवित्ती किरियाठाण भवे दसम ॥८३० ॥
एगारसम माया अन्न हिययमि अन्न वायाए।
अन्न आयरई वा सकम्मणा गूढसामत्थो ॥८३१ ॥
मायावत्ती एसा पत्तो पुण लोहवत्तिया इणमो ।
सावज्जारभपरिग्गहेसु सत्तो महतेसु ॥८३२ ॥
तह इत्थीकामेसु गिद्धो अप्पाणय च रक्खतो ।
अन्नेसि सत्ताण वहबधणमारणे कुणइ ॥८३३ ॥
एसेह लोहवत्ती इरियावहिअ अओ पवक्खामि ।
इह खलु अणगारस्सा समिईगुत्तीसुगुत्तस्स ॥८३४ ॥
सययं तु अप्पमत्तस्स भगवओ जाव चक्खुपम्हपि ।
निवयइ ता सुहुमा हू इरियावहिया किरिय एसा ॥८३५ ॥

—गाथार्थ—

क्रियास्थान तेरह—१. अर्थ, २. अनर्थ, ३ हिसा, ४ अकस्मात्, ५. दृष्टिविपर्यास, ६. मृषा, ७. अदत्तादान, ८. अध्यात्म, ९. मानक्रिया, १०. अमित्रक्रिया, ११. मायाक्रिया, १२. लोभक्रिया एव ईर्यापथिकी क्रिया ॥८१८ ॥

१ अर्थक्रिया—स्व और पर के निमित्त त्रस अथवा स्थावर जीवो की हिंसा करना वह अर्थक्रिया है ॥८१९ ॥

२ अनर्थक्रिया—बिना किसी प्रयोजन के सरट आदि त्रस जीवो को तथा लता आदि स्थावर जीवो को मारकर, छेदकर फेंक देना अनर्थक्रिया है ॥८२० ॥

३ हिंसाक्रिया—सर्प आदि शत्रु हमारी हिंसा करते है, हिंसा करेगे अथवा अतीत मे हिंसा की थी, इस प्रकार का चिन्तन करते हुए उनका वध करना हिंसाक्रिया है ॥८२१ ॥

४ अकस्मात् क्रिया—अन्य जीव को मारने हेतु फेके गये बाण आदि के द्वारा अन्य जीव का वध होना, जैसे घास काटने की इच्छा होते हुए भी अनाभोग से शाली आदि धान्य काट देना ॥८२२ ॥

५ दृष्टिविपर्यास क्रिया—पूर्वोक्त अकस्मात् क्रिया है। दृष्टिविपर्यास क्रिया इस प्रकार होती है। मित्र के मतिविभ्रमवश शत्रु मानकर हिंसा करना अथवा किसी एक के अपराध मे समूचे गॉव की हत्या करना अथवा साहूकार को चोर मानकर वध करना—यह दृष्टिविपर्यास नामक पांचवा क्रियास्थान है ॥८२३-८२४ ॥

६ मृषाक्रिया—स्व या पर के लिये झूठ बोलना यह मृषादंड है ॥८२५ ॥

७ अदत्तादान क्रिया—स्व या पर के लिये स्वामी द्वारा बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना अदत्तादान क्रिया है। अध्यात्मक्रियास्थान इस प्रकार है ॥८२६ ॥

८ अध्यात्मक्रिया—बिना किसी बाह्यनिमित्त के स्वयं के विचार द्वारा ही मन में विषाद होना अध्यात्मक्रिया है। अध्यात्म क्रिया के मुख्य चार स्थान है—क्रोध, मान, माया और लोभ ॥८२७-१/२ ॥

९ मानक्रिया—जाति आदि आठ प्रकार के मान से मत्त होकर जो दूसरो की अवज्ञा, निंदा व तिरस्कार करता है वह मानक्रिया स्थान है ॥८२९ ॥

१० अमित्रक्रिया—अल्प अपराध मे अधिक दंड देना, जैसे—डाम लगाना, गोदना, बॉधना, ताडना-तर्जना करना आदि दसवी अमित्रक्रिया है ॥८३० ॥

११ मायाक्रिया—गूढ़ सामर्थ्यवाला, मन-वचन और क्रिया ये तीनो जिसके परस्पर विसवादी हो ऐसे व्यक्ति की क्रिया मायाक्रिया है ॥८३१ ॥

१२ लोभक्रिया—महान पापारभ परिग्रह आदि मे आसक्त, स्त्री, कामभोगादि में गृद्ध, स्वय की रक्षा के लिये अन्य जीवो का वध, बधन एवं ताड़ना आदि करने वालो की क्रिया लोभक्रिया है ॥८३२-८३३ ॥

१३ ईर्यापथिकी क्रिया—अब ईर्यापथिकी क्रिया का वर्णन करते है। यह क्रियास्थान समिति गुप्ति से सुगुप्त मुनि को ही होता है। सतत अप्रमत्त मुनि भगवन्त की पलके गिरना, चक्षु आदि का संचलन होना इत्यादि रूप सूक्ष्म ईर्यापथिक क्रियास्थान होता है ॥ ८३४-८३५ ॥

—विवेचन—

क्रियास्थान = कर्मबन्धन की हेतुभूत क्रियाओ के तेरह प्रकार है।

१	अर्थक्रिया	८	अध्यात्मक्रिया
२	अनर्थक्रिया	९	मानक्रिया
३	हिंसाक्रिया	१०	अमित्रक्रिया
४	अकस्मात्क्रिया	११	मायाक्रिया
५	दृष्टिविपर्यासक्रिया	१२	लोभक्रिया
६	मृषाक्रिया	१३	ईर्यापथक्रिया ॥८१८ ॥
७	अदत्तादानक्रिया		

१. अर्थक्रिया—अपने शरीर आदि के लिये तथा स्वजन, परिजनादि के लिये द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवो की तथा पृथ्वी आदि स्थावर जीवो की हिसा करना "अर्थक्रिया" है। जिसके द्वारा पृथ्वी आदि स्थावरजीव तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीव दण्डित हो, वह दड है अर्थात् वह हिंसा है। ऐसी हिंसा सप्रयोजन अर्थात् अपने लिये या स्वजनादि के लिये हो तो अर्थदड कहलाती है। उस अर्थदड को करने वाला भी क्रिया-क्रियावान मे अभेद उपचार से अर्थदड कहलाता है ॥८१९ ॥

२. **अनर्थक्रिया**—निष्प्रयोजन त्रस जीवो की हिसा करना, स्थावर जीवो का छेदन-भेदन करना, जैसे—गिरगिट, चूहा आदि त्रसकाय व वनलता आदि स्थावरकाय को बिना किसी प्रयोजन के मारना, काटना आदि ॥८२० ॥

३. **हिंसाक्रिया**—सर्प, शत्रु आदि को अपना अनिष्टकारक मानकर उनकी हिसा करना ॥८२१ ॥

४ **अकस्मात्क्रिया**—हिरण, पक्षी, सर्प आदि को मारने के लिये फेके गये तीर, पत्थर आदि के द्वारा अकस्मात् किसी अन्य का विनाश हो जाना अकस्मात् हिसा है अथवा अनुपयोगी तृण आदि के काटने के प्रयास मे धान आदि की बाली का कट जाना अकस्मात् दण्ड है ॥८२२ ॥

५. **दृष्टिविपर्यासक्रिया**—अर्थात् "मतिविभ्रम" होना। जेसे, मित्र को शत्रु समझकर मारना, किसी एक व्यक्ति के अपराध करने पर सम्पूर्ण गॉव को मार देना, साहूकार को चोर समझकर मारना ॥८२३-८२४ ॥

६. **मृषाक्रिया**—अपने लिये या मालिक के लिये असत्य बोलना "मृषाक्रिया" है ॥८२५ ॥

७. **अदत्तादानक्रिया**—अपने व दूसरे जैसे, मालिक, स्वजन, परिजन आदि के लिये मालिक की आज्ञा के बिना वस्तु ग्रहण करना "अदत्तादान" क्रिया है ॥८२६ ॥

८. **अध्यात्मक्रिया**—बिना किसी बाह्यनिमित्त के क्रोध, मान, माया, लोभादि के कारण होने वाला मानसिक शोक, सन्ताप व दुर्भाव "अध्यात्मक्रिया" है।

९. **मानक्रिया**—जाति, कुल, रूप, लाभ, बल, तप, श्रुत व ऐश्वर्य—इन आठ मदो से मत्त बनकर दूसरो की हीलना करना, दूसरो को तिरस्कृत करना, जैसे यह नीच है इत्यादि कहना "मानक्रिया" है ॥८२७-८२९ ॥

१०. **अमित्रक्रिया**—माता-पिता, स्वजनादि के अल्प अपराध मे तीव्र दण्ड देना। जसे, जलाना, गोदना, बॉधना, मारना आदि "अमित्रक्रिया" है।

दहन = अगारे आदि से डाम देना, अकन = ललाट आदि पर चिह्न बनाना। बन्धन = रस्सी आदि से बॉधना, ताडन = चाबुक आदि से आघात करना। आदि शब्द से आहार-पानी का निषेध करना, यह भी "अमित्रक्रिया" है ॥८३० ॥

११. **मायाक्रिया**—माया = कपट, कपटपूर्वक क्रिया करना। मन मे कुछ सोचना, वचन से कुछ बोलना व क्रिया अलग ही करना। अपने आकार, इगित आदि के द्वारा बात को छुपाने मे समर्थ व्यक्ति की क्रिया "माया-क्रिया" है ॥८३१ ॥

१२. **लोभक्रिया**—हिंसामूलक होने से पापरूप धन-धान्यादि, स्त्री, मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध व स्पर्श मे अत्यन्त आसक्त व्यक्ति द्वारा स्वय की रक्षा करते हुए, अन्य जीवो का वध, बधन आदि करना "लोभक्रिया" है।

वध = लकडी आदि से मारना, बधन = रस्सी आदि मे बॉधना, मारण = प्राण लेना ॥८३२-८३३ ॥

१३. **ईर्यापथक्रिया**—गमन योग्य मार्ग "ईर्यापथ" है। ईर्यापथ सम्बन्धी क्रिया "ऐर्यापथिकी" क्रिया है। यह ऐर्यापथिकी का व्युत्पत्ति-निष्पन्न अर्थ है, पर इसका प्रयोग अन्य अर्थ मे होता है। उपशान्तमोह,

क्षीणमोही व सयोगी आत्मा का योग प्रत्ययिक सातावेदनीय कर्म का बध ऐर्यापथिकी का प्रवृत्तिनिमित्त जन्य अर्थ है।

अप्रमत्त शब्द से यहाँ पाँच समिति व तीन गुप्ति से युक्त, उपशान्त मोह, क्षीणमोह व सयोगी गुणस्थानवर्ती आत्मा ही गृहीत है, क्योकि योग प्रत्ययबध इन्ही आत्माओ के होता है, शेष अप्रमत्तो के तो कषाय प्रत्यय-बध होता है। जब तक पलके झपकने की क्रिया होती है तब तक सातावेदनीय का योग प्रत्ययिक समय प्रमाण स्थिति वाला बध होता है। यह "ईर्यापथिकी" क्रिया है ॥८३४-८३५ ॥

१२२ द्वार : आकर्ष—

सामाइयं चउद्धा सुय दसण देस सव्व भेएहि।
ताण इमे आगरिसा एगभव पप्प भणियव्वा ॥८३६ ॥
तिण्ह सहस्सपुहुत्तं च सयपुहुत्त होइ विरईए।
एगभवे आगरिसा एवइया हुति नायव्वा ॥८३७ ॥
तिण्ह असंखसहस्सा सहसपुहुत्त च होई विरईए।
नाणभवे आगरिसा एवइया हुति नायव्वा ॥८३८ ॥

—गाथार्थ—

सामायिक के चार आकर्ष—**सामायिक के चार प्रकार है—१. श्रुतसामायिक, २. दर्शनसामायिक, ३. देशविरति सामायिक और ४. सर्वविरति सामायिक। प्रथम तीन सामायिक के एक भवाश्रयी सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते है और सर्वविरति के शतपृथक्त्व आकर्ष होते है ॥८३६-८३७ ॥**

प्रथम तीन सामायिक के अनेक भवाश्रयी असंख्य हजार पृथक्त्व आकर्ष होते है और सर्वविरति के सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते है ॥८३८ ॥

—विवेचन—

आकर्ष = खीचना अर्थात् सम्यक्त्व आदि चारो सामायिको को प्रथमबार ग्रहण करना अथवा ग्रहण की हुई को छोडकर पुन ग्रहण करना।

सम = राग-द्वेष की स्थिति मे मध्यस्थ वने रहना।

अय = गमन_प्रवृत्ति अर्थात् मध्यस्थ आत्मा का मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्ति "समाय" है। समाय ही सामायिक है।

उपशान्त होकर मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त होना "सामायिक" है। सामायिक के चार भेद है—

१ श्रुतसामायिक
२ सम्यक्त्व सामायिक
३. देशविरति सामायिक
४ सर्वविरति सामायिक

पूर्वोक्त चारो सामायिको के एक भवाश्रयी व अनेक भवाश्रयी दो प्रकार के आकर्ष है।

१. एक भवाश्रयी—प्रथम तीन सामायिको के आकर्ष उत्कृष्टत सहस्र पृथक्त्व (२००० से ९००० बार तक प्राप्त होती है) है व अतिम सामायिक के आकर्ष शतपृथक्त्व (२०० से ९०० बार) है।

आवश्यकचूर्णि के अनुसार देशविरति सामायिक के भी उत्कृष्ट आकर्ष शतपृथक्त्व है। कहा है— "देसविरईए य...पुण जहन्नेण एकम्मि, उक्कोसेण सयपुहुत्तवारा" इति।

अर्थ—देशविरति सामायिक का जघन्य से एक आकर्ष व उत्कृष्ट से शतपृथक्त्व आकर्ष होते है।

जघन्यत— चारो ही सामायिक के आकर्ष एक-एक है। इसके बाद या तो आत्मा भाव-भ्रष्ट हो जाता है या इनका लाभ ही नही होता ॥८३६-८३७॥

२. अनेकभवाश्रयी—प्रथम तीन सामायिक के आकर्ष उत्कृष्टत असख्य सहस्र है। अतिम सामायिक के उत्कृष्टत आकर्ष सहस्र पृथक्त्व है।

प्रथम तीन सामायिकवालो के भव क्षेत्रपल्योपम के असख्येय भाग मे जितने आकाश प्रदेश होते है उतने है और एक भवाश्रयी सहस्र-पृथक्त्व है। अत प्रथम तीन सामायिक के उत्कृष्ट आकर्ष असख्य सहस्र होते है।

सर्वविरति सामायिक वाले आत्मा के उत्कृष्ट आठ भव है और उसके एक भव-सम्बन्धी आकर्ष शतपृथक्त्व होते है अत उसके उत्कृष्ट आकर्ष सहस्र पृथक्त्व हुए।

अन्य आचार्यो के मतानुसार सम्यक्त्व सामायिक व उसके अविनाभावी श्रुत सामायिक के एकभवाश्रयी असख्य सहस्र आकर्ष है। कहा है—'दोण्ह सहस्समसखा।'

अक्षरात्मक सामान्य श्रुत की प्राप्ति अनेक भवो मे अनेक बार होती है। अत उसके आकर्ष भी अनत गुण होते है ॥८३८॥

१२३ द्वार : शीलांग—

सीलंगाण सहस्सा अट्ठारस एत्थ हुति नियमेण।
भावेण समणाणं अक्खंडचरित्तजुत्ताण ॥८३९॥
जोए करणे सन्ना इंदिय भोमाइ समणधम्मे य।
सीलगसहस्साण अट्ठारगस्स निप्फत्ती ॥८४०॥
करणाइं तिन्नि जोगा मणमाईणि हवति करणाइं।
आहाराई सन्ना चउ सोयाइंदिया पंच ॥८४१॥
भोमाई नव जीवा अजीवकाओ य समणधम्मो य।

खंताइ दसपयारो एव ठिय भावणा एसा ॥८४२ ॥
न करइ मणेण आहारसन्नविप्पजढगो उ नियमेण।
सोइंदियसवरणो पुढविजिए खंतिसंजुत्तो ॥८४३ ॥
इय मद्दवाइजोगा पुढवीकाए हवति दस भेया।
आउक्कायाईसुवि इअ एए पिंडिअ तु सयं ॥८४४ ॥
सोइंदिएण एवं सेसेहिवि जं इम तओ पंच।
आहारसन्नजोगा इय सेसाहिं सहस्सदुग ॥८४५ ॥
एवं मणेण वयमाइएसु एव तु छस्सहस्साइं।
न करे सेसेहिपि य एए सव्वेवि अट्ठारा ॥८४६ ॥

—गाथार्थ—

अट्ठारह हजार शीलाग—अखंडचारित्रयुक्त, भावसाधुओं को निश्चित रूप से अट्ठारह हजार शीलांग होते हैं। योग, करण, संज्ञा, इन्द्रिय, पृथ्वीकाय आदि तथा दशविध श्रमणधर्म के द्वारा अट्ठारह हजार शीलागों की निष्पत्ति होती है॥८३९-८४० ॥

करण आदि तीन योग, मन आदि तीन करण, आहार आदि चार संज्ञा, श्रोत्र आदि पॉच इन्द्रियॉ, पृथ्वी आदि नौ जीव, एक अजीव तथा दशविध श्रमणधर्म, इन सब की इस प्रकार भावना करनी चाहिये॥८४१-८४२ ॥

आहारसंज्ञा से रहित, श्रोत्रेन्द्रिय के विषय मे संयत, क्षमायुक्त आत्मा पृथ्वीकायिक जीवों का आरंभ-समारभ मन से नही करता। इस प्रकार मार्दव आदि के साथ भी भागे करने से कुल दस भागे हुए। इस प्रकार अप्काय आदि के साथ भी दस-दस भागे होने से श्रोत्रेन्द्रिय के कुल सौ भागे हुए। शेष इन्द्रियों के सौ-सौ भागे मिलाने से पॉच इन्द्रियो के कुल पॉच सौ भांगे हुए। शेष संज्ञाओं के भी पॉच-पॉच सौ भांगे होने से चार सज्ञाओ के साथ कुल दो हजार भांगे हुए। इस प्रकार वचन और काया के दो-दो हजार भांगे मिलाने से कुल छ हजार भांगे हुए। इसी तरह 'न कराऊ' और 'न अनुमोदु' के छ-छ हजार भागे जोड़ने से कुल अट्ठारह हजार शील के भेद हुए॥८४३-८४६ ॥

—विवेचन—

शीलाग = शील व अग दो शब्दो से बना है। शील अर्थात् चारित्र, अग यानि अवयव कारण। यति धर्म मे अथवा शासन मे चारित्र के अट्ठारह हजार अवयव विशुद्ध परिणाम की दृष्टि से है। पालन करने की अपेक्षा से न्यून भी हो सकते है। ये अट्ठारह हजार शीलाग मुनियो के ही होते है, श्रावको के नही, क्योकि सर्वविरति मे ही इतने शीलाग हो सकते है, देशविरति मे नही।

अथवा भावश्रमणो के ही अट्ठारह हजार शीलागयुत साधु धर्म होता है द्रव्यश्रमणो के नही। अर्थात् जो समग्रता से चारित्र का पालन करते है उन्ही का सयम अट्ठारह हजार शीलागयुक्त होता है,

पर दर्प से जिनका चारित्र देशत खण्डित हो चुका है ऐसे मुनियो का सयम सपूर्ण शीलागयुक्त नही होता।

प्रश्न—सर्वविरत वे ही कहलाते है कि जिनका चारित्र अखड है। किन्तु जिनका चारित्र अल्प भी खण्डित हो चुका है वे असर्वविरत हो जाते है। महाव्रतो का नियम है कि उन का ग्रहण भी एक साथ होता है और अतिक्रमण भी। महाव्रतो का देशत ग्रहण व देशत खण्डन नही हो सकता। अत जिनके महाव्रत अल्प भी खण्डित हो चुके है वे सर्वथा अविरत हो जाते है। ऐसी स्थति मे सर्वविरति के देशत खण्डन वाली बात कहना असगत है?

उत्तर—आपका कथन सत्य है पर जिनके महाव्रत देशत खण्डित हो चुके है वह भी महाव्रतो के ग्रहण की अपेक्षा से तो सर्वविरत ही है क्योकि महाव्रतो का ग्रहण तो एक साथ ही होता है, अलग-अलग नही। किन्तु पालने की अपेक्षा से यह नियम नही है क्योकि सज्वलन कषाय का उदय साधु को भी होता है और उसके उदय मे निश्चितरूप से अतिचार लगते है, जो कि चारित्र को देशत खण्डित करते है। कहा है—"सव्वेवि अइयारा सजलणाण तु उदयओ हुति।" तथा जो कहा गया है कि—एकव्रत का अतिक्रम (खण्डन) सर्वव्रतो का अतिक्रम (खडन) है—यह कथन आपेक्षिक है। इसका आधार है दशविध प्रायश्चित्त का विधान। यदि एक के अतिक्रमण से सभी व्रतो का खण्डन होना माना जाये तो प्रायश्चित्त के अलग-अलग प्रकार बताना ही व्यर्थ होगा। एक "मूलच्छेद" प्रायश्चित्त ही बताना चाहिये था। अलग-अलग प्रायश्चित्त का विधान अलग-अलग दोषो की शुद्धि के लिये है। पर, जो गुण खण्डित नही हुआ है उसकी क्या शुद्धि होगी? इससे यह सिद्ध होता है कि व्रतो का देशत खण्डन उन्हें सर्वथा खण्डित नही करता परन्तु दूषित करता है और उन दोषो की शुद्धि उनके अनुरूप प्रायश्चित्त द्वारा होती है। कहा है—मूलच्छेद को छोडकर शेष प्रायश्चित्त से शुद्ध होने योग्य दोषो मे व्रतो का खण्डन नही होता, केवल व्रत दूषित होते है। एक व्रत के खण्डन से सभी व्रतो के खण्डन वाली बात मूलच्छेद प्रायश्चित्त से शुद्ध होने योग्य दोष मे ही लागू होती है।

पूर्वोक्त स्पष्टीकरण व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनय की अपेक्षा से तो सातिचार चारित्री असर्वविरत ही है ॥८३९॥

प्रश्न—एकविध सयम के अट्ठारह हजार अवयव अर्थात् अग कैसे होते है?

उत्तर—३ करण (करना, कराना व अनुमोदन करना) × ३ योग (मन, वचन, व काया) = ९ × ४ सज्ञा (आहार, भय, मैथुन व परिग्रह, ये चारो सज्ञाये क्रमश वेदनीय, भयमोहनीय, वेदमोहनीय व लोभकषाय के उदय से जन्य अध्यवसायविशेषरूप है।) = ३६ × ५ इन्द्रियाँ (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन व स्पर्शन। इन्द्रियो का पश्चानुपूर्वी से कथन इस बात का द्योतक है कि शीलाग उत्तरोत्तर गुणो की वृद्धि से ही उपलब्ध होते है।) १८० × ९ जीव + १ अजीव (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय = ९ जीव। अजीव = महामूल्यवान वस्त्र, पात्र, सोना, चाँदी आदि। दुष्प्रत्युपेक्षित व अप्रत्युपेक्षित वस्त्र, पुस्तक, चर्म, तृण पचक आदि = १८०० × १० श्रमणधर्म (क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, सयम, सत्य, शौच, आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्य) = १८००० शीलाग होते है ॥८४०-८४२॥

भांगों की रचना इस प्रकार है। यथा—

१ क्षमायुक्त मन से आहारसज्ञा विहीन होकर श्रोत्रेन्द्रिय के सयमपूर्वक पृथ्वीकायिक जीव की हिसा न करना—यह प्रथम शीलाग है।

२. मार्दवगुण युक्त मन से आहार सज्ञा विहीन होकर श्रोत्रेन्द्रिय के सयम पूर्वक पृथ्वीकायिक जीव की हिसा न करना—यह द्वितीय शीलाग है।

३ आर्जवगुणयुक्त मन से आहार सज्ञा विहीन होकर श्रोत्रेन्द्रिय के सयमपूर्वक पृथ्वीकायिक जीव की हिसा न करना—यह तृतीय शीलाग है।

- इस प्रकार ब्रह्मचर्य, तप आदि सातो के साथ सात भॉगे हुए। कुल दशविध यतिधर्म के दश विकल्प बने।
- अप्काय आदि नौ के साथ दशविध यतिधर्म के विकल्प करने पर ९० विकल्प हुए। पूर्वोक्त १० मिलान पर ९० + १० = १०० विकल्प हुए।
- पूर्वोक्त १०० भागे श्रोत्रेन्द्रिय के साथ हुए, वैसे चक्षु आदि इन्द्रियो के साथ भी होते है अत १०० × ५ = ५०० विकल्प हुए।
- जैसे पूर्वोक्त विकल्प आहारसज्ञा के साथ है वैसे अन्य सज्ञाओं के साथ भी होते है अत ५०० × ४ = २००० विकल्प हुए।
- २००० विकल्प मनोयोग के समान उस वचनयोग और काय योग के भी है। कुल मिलाकर तीनो योग के २००० × ३ = ६००० विकल्प हुए।
- ६००० 'न करु' के है वैसे न कराऊ और 'न अनुमोदू' के मिलाने से कुल विकल्प ६००० × ३ = १८००० हुए।

प्रश्न—पूर्वोक्त १८००० विकल्प, एक धर्म, एक योग, एक सज्ञा, एक इन्द्रिय, एक जीव व एक करण के सयोग से बने है। यदि इनके द्विसयोगी, त्रिसयोगी आदि विकल्प किये जाये तो बहुत अधिक होगे। यथा—तीन योग के एक-द्वि-त्रि सयोगी विकल्प सात हैं। इस प्रकार तीन करण के भी सात है। चार सज्ञा के एक-द्वि-त्रि व चतुसयोगी १५ विकल्प है। पॉच इन्द्रियो के एक से लेकर पॉच सयोगी ३१ विकल्प है। पृथ्वीकाय आदि १० के एक-द्वि आदि सयोगी १०२३ विकल्प है। क्षमादि १० के भी १०२३ विकल्प है। पूर्वोक्त सख्या का परस्पर गुणा करने पर २३८४५१६३२६५) दो हजार करोड, तीन सौ करोड, चौरासी करोड, एकावन लाख, तिरेसठ हजार, दो सौ पैसठ विकल्प होते है तो आपने १८००० ही क्यो कहे?

उत्तर—सर्वविरति का ग्रहण श्रावको के व्रतग्रहण की तरह वैकल्पिक होता, तब तो आपका कथन युक्तिसगत था। परन्तु सर्वविरति का ग्रहण वैकल्पिक नही होता, वह तो समग्रता से ही होता है। एक शीलाग अन्य शीलागो के सद्भाव मे ही होता है अन्यथा सर्वविरति ही नहीं होगी। कहा है—शीलाग के अधिकार मे यह समझना अत्यावश्यक है कि—

शीलागरथ
॥ श्रीशीलांगरथ ॥ १ ॥
जे नो करंति मणसा, निज्जियाहारसन्नासोइंदी ॥
पुढवीकायारंभं, खंतिजुआ ते मुणी वंदे ॥ १ ॥
खंतीअज्जवमद्दव, मुत्तीतवसंजमे य बोधव्वे ॥
सच्चं सोयं अकिंचण च बंभं च जइधम्मो ॥ २ ॥
जोए करणे सन्ना, इंदिय भूमाइ समणधम्मो य ॥
सीलंगसहस्साण, अट्ठारससहस्सनिप्फत्ती ॥३॥
करणाइं तिण्णि जोगा, मणमाईणिओहवन्तिकरणाइं।
आहाराईसन्ना चउ सोआइ इंदिया पंच ॥ ४ ॥
जेनोकरति ६०००
जेनकारवेति ६०००
जेनअणुमन्नति ६०००
मणसा २०००
वयसा २०००
कायसा २०००
निज्जिगाहारसन्न ५००
निज्जियभयसन्न ५००
निज्जियमेहुणसन्न ५००
निज्जियपरिग्गहसन्न ४००
सोइंदी १००
चक्खुइंदी १००
घाणेंदी १००
रसणेंदी १००
फासेंदी १००
पुढीकायारंभ १०
आउक्कायारंभ १०
तेउक्कायारंभ १०
वाउकायारंभ १०
वणस्सइकायारंभ १०
खंतिजुआ ते मुणी वंदे १
समद्दवा ते मुणी वंदे १
सअज्जवा ते मुणी वंदे १
समुत्तिणी ते मुणी वंदे १
तवजुत्ता ते मुणी वंदे १
बेइंदिया रंभ १०
तेइंदियारंभ १०
चउरिंदियारंभ १०
पंचिंदियारंभ १०
अजीवाणारंभ १०
संजमा ते मुणी वंदे १
सच्चजुआ ते मुणी वंदे १
सोयजुआ ते मुणी वंदे
अकिंचणा ते मुणी वंदे १

इत्थं इम विन्नेयं अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं।
एक्कंपि सुपरिसुद्धं, शीलंगं सेससब्भावे॥

शीलाग के अधिकार मे बुद्धिमान पुरुषो के लिये यह ज्ञातव्य है कि एक शुद्ध शीलाग की सत्ता अन्य शीलागो के सद्भाव मे ही होती है। शीलागो का ग्रहण तीन करण, तीन योग से समुदित ही होता है, एक-द्वि-त्रि सयोगी आदि विकल्पयुक्त नही होता। जैसे तीन करण, तीन योग रूप नवाशता की पूर्ति अतिम विकल्प के साथ ही होती है वैसे १८००० शीलागो की समग्रता पूर्ति अन्तिम विकल्प से ही होगी। इसीलिये शीलाग श्रावको के नही होते। श्रावको के प्रत्याख्यान विकल्पयुक्त होते है। हॉ, श्रावक अपने मन की स्थिरता हेतु व साधुजीवन के अनुमोदनार्थ शीलागो का अभिलाप अवश्य कर सकता है। जैसे—

१ क्षमागुणयुक्त मन से आहारसज्ञा विहीन होकर, श्रोत्रेन्द्रिय के सयम पूर्वक जो पृथ्वीकाय का आरभ नही करते, वे धन्य है।

इस प्रकार तीन करण, तीन योग, चार सज्ञा, पॉच इन्द्रियॉ, पृथ्वी आदि नौ जीव, एक अजीव तथा दशविध यतिधर्म के साथ भी विकल्प रचना करके साधुजीवन की अनुमोदना करते हुए श्रावक बोल सकता है ॥८४३-८४६ ॥

१२४ द्वार : सप्त नय—

नेगम सगह ववहार रिज्जुसुए चेव होइ बोद्धव्वे।
सद्दे य समभिरूढे एवंभूए य मूलनया ॥८४७ ॥
एक्केक्को य सयविहो सत्त नयसया हवति एव तु।
बीओ वि य आएसो पचेव सया नयाण तु ॥८४८ ॥

—गाथार्थ—

सात नय—**१. नैगम, २. संग्रह ३. व्यवहार, ४. ऋजुसूत्र, ५. शब्द, ६. समभिरूढ़ और ७. एवंभूत—ये मूल सात नय है ॥८४७ ॥**

एक-एक नय के सौ-सौ भेद होने से 'सात नय' के कुल सात सौ भेद हुए। अन्य मतानुसार नय के पॉच सौ भेद है ॥८४८ ॥

—विवेचन—

मूल नय ७ है—

१ नैगम, २ सग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजूसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरूढ और ७ एवभूत।

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। (एक वस्तु नित्य भी है, अनित्य भी है, ह्रस्व भी है, दीर्घ भी है, अस्ति भी है और नास्ति भी है, इस प्रकार अनन्त धर्मयुक्त है।) वस्तु के सभी धर्मो का ज्ञान प्रमाण का विषय है पर नय वस्तु के एक धर्म का ही मुख्यरूप से ज्ञान कराता है। जैसे वस्तु के अनन्तधर्मो

मे से 'नित्यत्व' आदि किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का ज्ञान कराने वाला 'नय' है। जो 'नय' वस्तुगत अनन्तधर्मो की अपेक्षा रखते हुए (नयान्तर सापेक्ष) किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का बोध करता है वह वस्तुत सपूर्ण वस्तु का बोधक होने से प्रमाण मे ही अन्तर्भूत हो जाता है। परन्तु जो नय नयान्तर से निरपेक्ष होकर अपने अभिप्रेत धर्म के द्वारा अनवधारणपूर्वक (एवकार रहित) वस्तु का बोध करता है वह वस्तु के एकदेश..एक अश का ग्राहक होने से 'नय' कहलाता है। ऐसा 'नय' निश्चय से मिथ्यादृष्टि होता है क्योकि यह यथार्थ वस्तु का बोधक नही होता। इसीलिये कहा गया है कि—'सव्वे नया मिच्छावाइणो' सभी नय मिथ्यावादी है।

नयान्तर निरपेक्ष नयवाद मिथ्यावाद है, इसीलिये जिनागम के रहस्य के ज्ञाता पुरुषो का कथन स्यात्पूर्वक (कुछ अशो मे ऐसा है) ही होता है क्योकि स्यात् के प्रयोग के बिना उनका कथन भी मिथ्यावाद हो जायेगा। यद्यपि लोकव्यवहार मे सर्वत्र सर्वदा स्यात्कार का प्रयोग नही किया जाता तथापि वहाँ अप्रयुक्त भी "स्यात्" शब्द का परोक्ष प्रयोग अवश्य समझना चाहिये। कहा है—

"अप्रयुक्त भी स्यात् शब्द यदि प्रयोजक कुशल है तो विधि-निषेध, अनुवाद, अतिदेश आदि वाक्यो मे अर्थवशात् स्वत ज्ञात हो जाता है।"

स्यात् शब्द के प्रयोग से वाक्य मे किसी विशेष धर्म का कथन होने पर भी अन्यधर्मो का अपलाप नही होता प्रत्युत सभी धर्मो की अपेक्षा रहती है, मात्र कथन 'नय' की अपेक्षा से एक ही धर्म का होता है। जैसे, 'स्यादनित्य घट' इस कथन मे और 'अनित्य घट' ऐसा कहने मे बडा अन्तर है। प्रथम वाक्य का अर्थ है 'घट कुछ अशो मे अनित्य है, जबकि दूसरे वाक्य का अर्थ है घट अनित्य ही है। पहिले वाक्य से घट मे अनित्यता के साथ अन्यधर्मो की भी अपेक्षा है पर दूसरे वाक्य मे ऐसा नही है, वहाँ अनित्यता के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मो का निषेध है। अत 'स्यात्' शब्द सहित ही नयवाक्य सम्यक् कहलाता है।

विस्तार से तो नय अनेक है क्योकि एक वस्तु के विवेचन की जितनी विधिया हो सकती है उतने ही नय हो सकते है। पर सक्षेपत नय के दो भेद है। (i) द्रव्यार्थिक और (ii) पर्यायार्थिक। द्रव्य अर्थात् सामान्य को विषय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय कहते है और पर्याय अर्थात् विशेष को विषय करने वाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते है। इन दोनो के सामान्यतया निम्न भेद है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद है—सग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत।

१. नैगमनय—जिसका कोई एक निश्चित स्वभाव नही है वह नैगम नय है। न + एक 'नैक'। यहाँ न, नञ् का नही है, 'न' अव्यय ही है। अन्यथा 'अन् स्वरे' से नञ् के 'न' को अन् होकर 'अनेकम्' शब्द बन जाता। 'नैक' अर्थात् प्रभूत..अनेक। महासामान्य, अवान्तरसामान्य व विशेष के ग्राहक अनेक प्रमाणो से वस्तु का बोध कराने वाला नय 'नैगम' है। पृषोदरादि से यहाँ 'क' का 'ग' होकर नगम बना। वस्तु का निश्चित बोध 'निगम' है। अर्थात् परस्पर भिन्न, सामान्य एव विशेष से युक्त वस्तु का बोध कराने वाला नय 'निगम' है। 'निगम' शब्द से स्वार्थिक अण् प्रत्यय होकर 'नैगम' बना। अथवा गम = मार्ग, नैक = अनेक अर्थात् जो अनेक रूप से वस्तु का ज्ञान कराता है वह नैगम है।

नैगमनय की दृष्टि बडी विशाल है। वह सत्तारूप महासामान्य, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि

अवान्तर सामान्य तथा परमाणु आदि नित्यद्रव्यो मे रहने वाले विशेष धर्मो को परस्पर सर्वथा भिन्न मानता है। जैसा कि नैगम नय का मानना है—पदार्थो की व्यवस्था ज्ञान पर आधारित है। द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थो मे 'द्रव्य सत्, गुण सत्, कर्म सत्' यह बोध व कथन सामान्यरूप से होता है। इस बोध व कथन का कारण द्रव्य, गुण व कर्म नही है क्योकि द्रव्यादि अव्यापक है। यदि द्रव्यादि मे होने वाले सत् प्रत्यय को द्रव्यमूलक माने तो वह गुण-कर्म मे नही होगा क्योकि वहॉ "द्रव्यत्व" नही है। यदि सत् प्रत्यय गुणमूलक है तो वह द्रव्य व कर्म मे नही होगा क्योकि वहॉ गुणत्व नही है। इसी तरह कर्म का भी समझना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यादि से व्यतिरिक्त महासत्ता नामक कोई सामान्य है जिसके कारण द्रव्य, गुण, कर्म आदि मे समानरूप से सत्..सत् ऐसा बोध होता है। पृथ्वी आदि नौ द्रव्यो मे द्रव्य..द्रव्य ऐसा जो समानाकार बोध होता है उसका कारण सभी मे रहने वाला द्रव्यत्व रूप अवान्तर सामान्य है। इस प्रकार रूप आदि सभी गुणो मे गुण..गुण का, उत्क्षेपणादि कर्मो मे कर्म..कर्म का, सभी गायो मे गौ . गौ का तथा सभी अश्वो मे अश्व..अश्व का जो ज्ञान होता है वह क्रमश गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व, अश्वत्व आदि अवान्तर सामान्यमूलक हे। अवान्तरसामान्य 'सामान्यविशेष' भी कहलाते है, कारण ये अपने-अपने आधारभूत द्रव्य (पृथ्वी आदि सभी द्रव्य), गुण (रूपादि सभी गुण), कर्म (उत्क्षेपणादि सभी कर्म), सभी गाये तथा सभी घोडो मे समानाकार प्रतीति कराते है इसलिये सामान्य है और विजातीय से अपने आधारो को अलग करते है अत विशेष भी है। इसी तरह तुल्य जाति, गुण व क्रिया के आधारभूत नित्य द्रव्यो—परमाणु, आकाश, दिशा आदि को परस्पर अलग करने वाले मात्र विशेष धर्म है जो योगी पुरुषो को ही प्रत्यक्ष है। हम तो उनका मात्र अनुमान ही कर सकते है। यथा-

प्रतिज्ञा—समान जाति, गुण व क्रिया के आधारभूत परमाणुओ मे कोई न कोई व्यावर्तक (भिन्नता का बोधक) धर्म है।

हेतु—क्योंकि परमाणुओ मे परस्पर भिन्नता का बोध होता है।

उदाहरण—जैसे मोतियो के ढेर के बीच पडा सचिह्न मोती सब से भिन्न दिखाई देता है।

घट, पट आदि को सजातीय से भिन्न करने वाले जो अवान्तर विशेष है—रूप, परिमाण, आकार आदि वे सभी सामान्य व्यक्तियो के प्रत्यक्ष है। जैसे यह घडा, उस घडे से अलग है क्योकि यह लाल है। यहॉ दो घडो को भिन्न करने वाला लाल रग अवान्तर विशेष है। वैसे ही आकार, परिमाण आदि के लिये समझना चाहिये। ये सभी के प्रत्यक्ष है।

पूर्वोक्त महासामान्य, अवान्तर सामान्य, विशेष और अवान्तर विशेष परस्पर भिन्न स्वरूप वाले है क्योकि वैसे ही प्रतीत होते है। सामान्य का ग्राहक ज्ञान विशेष को ग्रहण नही कर सकता वैसे ही विशेष का ग्राहक ज्ञान सामान्य का बोध नही करा सकता अत सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न-भिन्न है। जिस पदार्थ का ज्ञान जिस रूप मे होता है उस पदार्थ को उसी रूप मे मानना चाहिये। जैसे "नीलरग" का ज्ञान "नील" रूप मे होता है तो उसे उसी रूप मे स्वीकार करना चाहिये। इसी तरह सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न दिखाई देते है अत उन्हे भिन्न ही मानना चाहिये।

प्रश्न—यदि नैगमनय सामान्य और विशेष दोनो को स्वीकार करता है तो सामान्य और विशेष क्रमश द्रव्य-पर्याय रूप होने से "नैगमनय" वस्तुत द्रव्यास्तिक व पर्यायास्तिक नयरूप होगा तथा

सम्यक्दर्शनी जैनमुनि की तरह जिनमतानुसारी होने से यह नय सम्यग्दृष्टि ही माना जायेगा तो आप इसे मिथ्यादृष्टि कैसे कहते हो?

उत्तर—आपका कथन अयुक्त है क्योकि यह नय जिनमतानुसार नही है कारण यह सामान्य और विशेष को परस्पर सर्वथा भिन्न मानता है। यह नय गुण-गुणी, अवयव-अवयवी और क्रिया-कारक का अत्यन्त भेद मानता है। न कि जैन साधु की तरह इनमे भेदाभेद मानता है। अत यह नय सम्यग्दृष्टि न होकर कणाद की तरह मिथ्यादृष्टि ही है। यद्यपि कणाद ने पदार्थो की व्यवस्था द्रव्यास्तिक व पर्यायास्तिक नय के आधार पर की है तथापि वे द्रव्य (सामान्य) व पर्याय को सर्वथा भिन्न मानते है जबकि जिन प्रवचन सर्वत्र भेदाभेद को मानता है। एकान्त भेद व एकान्त अभेद जिनप्रवचन के अनुसार मिथ्या है। कहा है—

"जो सामान्य और विशेष को परस्पर सर्वथा भिन्न मानता है, वह कणाद की तरह मिथ्यादृष्टि है। यद्यपि कणाद ने पदार्थ की व्यवस्था द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दो नयो के आधार पर ही की है तथापि वह मिथ्यादृष्टि है, कारण वह दोनो नयो को अपने-अपने विषय मे प्रधान मानते हुए परस्पर निरपेक्ष मानता है।"

२. संग्रहनय—वस्तुगत विशेषो का परित्याग करते हुए समस्त जगत को सामान्य रूप से स्वीकार करने वाला नय सग्रहनय है। सग्रहनय सामान्य का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि मे सामान्य से भिन्न विशेष का कोई अस्तित्व नही है सामान्य से भिन्न विशेष मानने वालो के प्रति उसका प्रश्न है कि—विशेष सामान्य से भिन्न है या अभिन्न?

यदि प्रथमपक्ष माने (विशेष सामान्य से भिन्न है) तो पदार्थ से भिन्न होने के कारण आकाशकुसुम की तरह विशेष का कोई अस्तित्व नही रहेगा। यदि दूसरा पक्ष माने तो विशेष भी सामान्य रूप ही सिद्ध होगा। यथा—

प्रतिज्ञा—विशेष पदार्थ रूप है।

हेतु—क्योकि वे पदार्थ से अभिन्न है।

उदाहरण—जो जिससे अभिन्न है वह वही है, जैसे पदार्थ का अपना स्वरूप। यहाँ भी विशेष पदार्थ से अभिन्न है।

पुन पदार्थ से भिन्न विशेष का साधक कोई प्रमाण भी तो नही है अत विशेष अतिरिक्त पदार्थ है ऐसा आग्रह कदापि नही रखना चाहिये। विशेष भेदरूप (अभावरूप) है और अभाव का ग्राहक कोई प्रमाण नही है। प्रत्यक्ष प्रमाण भाव का ग्राहक है क्योकि उसका उत्पादक भावपदार्थ है अत वह उसी को ग्रहण करता है, अभाव को नही। अभाव तुच्छरूप होने से प्रत्यक्ष का उत्पादक नहीं हो सकता अत प्रत्यक्ष अभाव का ग्राहक नही हो सकता। यदि अनुत्पादक पदार्थो का भी प्रत्यक्ष माना जाये तो विश्व के सभी पदार्थो के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी और इस प्रकार द्रष्टा अनायास ही सर्वदर्शी बन जायेंगे। ऐसा मानना अनिष्टापत्तिरूप है अत यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष भावपदार्थ का ही ग्राहक है और वह भाव सर्वत्र समान है इसलिये प्रत्यक्ष से सामान्य का ही ग्रहण होता है, विशेष का नहीं। अनुमानादि मे

भी विशेष का ग्रहण नही हो सकता। क्योकि सभी प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक है। अत सामान्य ही वस्तुत सत् है, विशेष नही।

- सग्रहनय सभी पदार्थो को सामान्यरूप से सग्रह करता है। इस नयानुसार विशेषो का कोई अस्तित्व ही नही है। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त विशेषो से रहित सत्त्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य के आधार पर पदार्थो का सग्राहक ज्ञान सग्रह नय है। उसी तरह जाति विशेष के द्वारा सपूर्ण विशेषो को एकरूप से ग्रहण करने वाला ज्ञान सग्रहनय है।

३. **व्यवहारनय**—व्यवहार प्रधान नय व्यवहारनय है अथवा सामान्य का निराकरण करने वाला नय व्यवहारनय है अर्थात् व्यवहारनय मुख्यरूप से विशेषधर्मो का ही ग्रहण करता है। उसका मानना है कि सत् सत् ऐसा कहने पर भी बोध तो घट, पट आदि किसी विशेष पदार्थ का ही होता है नही कि सग्रहनयसमत किसी सामान्यपदार्थ का। क्योकि सामान्य पदार्थ अर्थक्रिया करने मे समर्थ न होने से लोक व्यवहार मे उपयोगी नही बन सकता। अत पदार्थ विशेषरूप ही है, नही कि सामान्यरूप। यथा—

प्रतिज्ञा—सामान्य कुछ भी नही है

हेतु—क्योकि प्रत्यक्ष-योग्य होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नही होता।

उदाहरण—प्रत्यक्षयोग्य होने पर भी जिसका प्रत्यक्ष नही होता वह "असत्" है जैसे घट रहित भूतल मे "घट" "असत् (घटाभाव) है।

उपनय—सग्रहनय सम्मत सामान्य प्रत्यक्ष योग्य होते हुए भी उपलब्ध नही होता।

निगम—अत असत् है।

पुन व्यवहारनय, सामान्यवादी के सम्मुख तर्क प्रस्तुत करता हैं कि आपका सामान्य विशेष से भिन्न है या अभिन्न? यदि प्रथम पक्ष माने तो सामान्य का अभाव ही सिद्ध होता है क्योकि विशेष से भिन्न सामान्य कुछ भी नही है जैसे विकसित, अर्धविकसित आदि अवस्थाविशेष से भिन्न आकाशपुष्प कुछ भी नही है। यदि द्वितीयपक्ष माने तो भी विशेष ही सिद्ध होता है, सामान्य नही। क्योकि विशेष से अभिन्न होने से तत्स्वरूपवत् सामान्य भी विशेषरूप ही है।

विशेष का खण्डन करने के लिये सग्रहनय ने जो कहा कि—प्रत्यक्ष भाव पदार्थ से उत्पन्न होता है अत वह उसका ही बोध कराता है इत्यादि। यह कथन भी प्रलापमात्र ही है क्योकि प्रत्यक्ष का वही आधार हैं, उत्पन्न होकर जिसका वह साक्षात्कार करता है। प्रत्यक्ष घट-पटादि से उत्पन्न होता है और वह घट-पटादिरूप विशेष को ही ग्रहण करता है न कि सग्रहनय समत सामान्य को और घट, पटादि अभावात्मक नही है पर भावात्मक है अत अर्थक्रिया समर्थ है। इस प्रकार विशेष ही प्रत्यक्ष सिद्ध है, सामान्य नही।

पुन जो अर्थक्रिया समर्थ हैं वही वस्तुत सत् हे, इससे भी पदार्थ विशेष रूप ही सिद्ध होते हैं, कारण भारवहन करना - दोहन करना आदि क्रिया मे "गौ" आदि पदार्थ के विशेषरूप का ही उपयोग होता है सामान्य का नहीं अत विशेष ही वास्तविक है, सामान्य नही।

व्यवहारनय लोकव्यवहारप्रधान है। जैसे भ्रमर मे पॉचो रग होने पर भी काले रग की अधिकता से लोग उसे काला ही मानते हैं वैसे व्यवहारनय भी भ्रमर को काला ही मानता है शेष रगो की विवक्षा

ही नही रखता। वैसे व्यवहारनय लोकव्यवहार मे उपयोगी घट पटादि विशेष पदार्थो को ही मानता है, सामान्य को नही।

४. ऋजुसूत्रनय—ऋजु अर्थात् सरल, जो नय वक्रता का त्याग करके वस्तु को सरलरूप मे मानता है वह ऋजुसूत्रनय है। यहाँ वस्तु की सरलता का अर्थ है वस्तु की अतीत, अनागत व परपर्याय रूप वक्रता का त्याग करते हुए वस्तु की मात्र वर्तमानपर्याय व स्वपर्याय का बोध करानेवाला नय ऋजुसूत्रनय है। इसे ऋजुश्रुत भी कहते है। ऋजु अर्थात् अतीत, अनागत व परपर्यायरूप वक्रता से रहित श्रुत अर्थात् बोध, सरल अर्थात् वर्तमान पर्याय का बोध करने वाला नय "ऋजुश्रुत" है। इस नय का मन्तव्य है कि अतीतवस्तु अविद्यमान होने से तथा भावी वस्तु असत् होने से वर्तमान मे उपयोगी नही बन सकती अत वे शून्यवत् है तथा ऐसी वस्तु प्रमाण का विषय भी नही बन सकती अत वह 'वस्तु' भी नही कहला सकती। वस्तु वही कहलाती है जो अर्थक्रिया समर्थ हो तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय हो। अतीत, अनागत वस्तु मे दोनो ही बाते न होने से वह वस्तुरूप नही है। तथा परवस्तु भी अपने लिये परधन की तरह उपयोगशून्य (निष्प्रयोजन) होने से वास्तव मे तो असत् ही है।

ऋजुसूत्रनय वर्तमानवस्तु का ग्राहक होने के साथ भिन्न लिंग व भिन्न वचनवाली वस्तु को भी एक ही मानता है अर्थात् स्त्रीलिग वाच्य पदार्थ से पुरुष व नपुसक लिग वाच्य पदार्थ को तथा एकवचन वाच्य पदार्थ से द्विवचन व बहुवचन वाच्य पदार्थ को भिन्न नही मानता। यथा तट, तटी, तटम् शब्द क्रमश पुल्लिग, स्त्रीलिग व नपुसकलिग है। इन तीनो मे लिग भेद होने पर भी तटरूप अर्थ मे कोई भेद नही है। तटरूप अर्थ तो तीनो का एक ही है। वैसे गुरु-गुरू- गुरव तथा गोदो-ग्राम, आपो-जलम्, दारा—कलत्रम् आदि मे वचनभेद से अर्थ मे कोई अन्तर नही पडता। जहाँ तक निक्षेप का सम्बन्ध है ऋजुसूत्रनय, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव चारो ही निक्षेपो को मानता है।

५. शब्दनय—वस्तु का प्रतिपादन करने वाला नय शब्दनय है। शब्द के वाच्य अर्थ को ही वास्तविक मानने वाला नय शब्दनय है। यह नय लाक्षणिक व व्यग्य अर्थ को वास्तविक नही मानता। इसका अपरनाम 'साप्रतनय' भी है। यह नय 'ऋजुसूत्रनय' की तरह भूत व भावी वस्तु की उपेक्षा करने वाला तथा वर्तमान वस्तु को वास्तविक मानने वाला है। वर्तमान मे भी स्वकीय वस्तु को ही वास्तविक मानने वाला है। साप्रत अर्थात् वर्तमान वस्तु का आश्रयण करने से यह नय साप्रत कहलाता है। निक्षेप के सम्बन्ध मे यह नय भावनिक्षेप को ही मान्यता देता है। नाम, स्थापनादि को नही मानता। नाम-स्थापनादि का निराकरण करने मे इसका तर्क है कि—

प्रतिज्ञा—नाम, स्थापना व द्रव्यरूप घट, वस्तुत घट नही है।

हेतु—क्योकि घट के कार्य को करने मे वह असमर्थ है।

उदाहरण—जो घट का कार्य करने मे असमर्थ है वह घट नही है जेसे पट।

उपनय—वैसे नाम, स्थापनादिरूप घट भी घट का कार्य करने मे असमर्थ है।

निगमन—अत ये घटरूप नही है।

नाम, स्थापना व द्रव्यरूप घट मे न तो घडे का आकार दिखाई देता है न जलाहरण या जलधारणरूप

घट का कार्य ही दिखाई देता है। अत. उन्हे घट शब्द से सबोधित नही किया जा सकता। नाम, स्थापनादिरूप घटो को वास्तविक मानने वाला ऋजुसूत्रनय प्रत्यक्ष का विरोधी है। घट का आकार व कार्य न होने से जैसे पट घट नही कहलाता वैसे नामादि घट भी घट नही कहलाते, पर "ऋजुसूत्रनय" उन्हे घटरूप मानता है अत वह प्रत्यक्ष विरोधी है।

तथा शब्दनय लिग व वचन के भेद से वस्तु मे भेद मानता है। अत तट, तटी, तटम् का लिगभेद के कारण तथा गुरु, गुरू, गुरव· का वचन भेद के कारण वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न है। जो शब्द परस्पर अर्थ का अनुगमन नही करते वे भिन्नार्थक है, जैसे घट, पट आदि शब्द। लिंग व वचन भेद से भिन्न शब्द भी परस्पर भिन्नार्थक है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दरादि शब्द अभिन्न लिग वचनवाले होने से परस्पर समानार्थक (एकार्थक) है।

६. समभिरूढ़नय—शब्द की प्रवृत्ति मे केवल व्युत्पत्तिनिमित्त को कारण मानने वाला नय समभिरूढ है। इस नय का मन्तव्य है कि यदि लिंगभेद व वचन भेद से शब्द के अर्थ मे भेद होता है तो शब्दभेद से भी अर्थ में भेद होना चाहिये। जैसे, राजा, नृप, भूपति, घट, कुट, कुभ आदि पर्याय शब्दो का भी भिन्न ही अर्थ होना चाहिये क्योकि सभी की व्युत्पत्ति भिन्न है। यथा जलाहरण, जलधारण आदि विशिष्ट चेष्टा (क्रिया) वस्तुत घट शब्द का वाच्यार्थ है। घट पदार्थ मे घट शब्द की प्रवृत्ति औपचारिक है। 'कुट' शब्द 'कुट कौटिल्ये' धातु से बना है। पृथु, बुध्न, उदर आदि आकार की कुटिलता उसका वाच्यार्थ है। कुटिलता वाले पदार्थ मे उसका प्रयोग औपचारिक है। वैसे कु = पृथ्वी, उस पर रहे हुए को उभ = भरना कुभ शब्द का वाच्यार्थ है। यहाँ 'उभ, उभ पूरणे' धातु है। 'कु' शब्द उपपद रखने से 'कुभ' बनता है। घट पदार्थ मे कुभशब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, वास्तविक नही। इस प्रकार यह नय पर्यायवाची शब्दो के अर्थ को व्युत्पत्ति के भेद से भिन्न मानता है। उसका मानना है कि एक शब्द से बोध्य द्रव्य अथवा पर्यायरूप वस्तु दूसरे शब्द से बोध्य नही हो सकती। पट से बोध्य अर्थ कभी भी घट शब्द से बोध्य नही हो सकता क्योकि घट व पट दोनो पदार्थ भिन्न-भिन्न है। यदि कोई भी पदार्थ किसी भी शब्द से बोध्य हो जाये तो सभी वस्तुएँ एकरूप हो जायेगी अर्थात् घट-पट सभी एक हो जायेगे और ऐसी स्थिति मे लोकप्रसिद्ध निश्चित पदार्थ विषयक प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप व्यवहार ही विनष्ट हो जायेगा। अत यह मानना होगा कि घट शब्द से वाच्य अर्थ कुट शब्द के वाच्य अर्थ से भिन्न है अत 'कुट शब्द' घट शब्द के वाच्य अर्थ का बोधक नही हो सकता। इसलिये पर्यायवाची शब्द के अर्थ परस्पर भिन्न ही होते है यह सिद्ध हुआ। यथा—जिन शब्दो का व्युत्पत्तिनिमित्त भिन्न-भिन्न है, उन शब्दो का अर्थ भी भिन्न ही होता है जैसे, घट, पट, शक्कर आदि शब्द। पर्यायशब्दो का भी व्युत्पत्तिनिमित्त भिन्न है अत वे भी परस्पर भिन्नार्थक ही है। अत जो नय पर्यायशब्दो को एकार्थक मानता है वह अयुक्त है। तर्कशून्य वस्तु को मानने से तो अतिव्याप्ति होगी। यथा—दूर देश मे रहे हुए, प्रकाश की मदता के कारण एकरूप दिखाई देने वाले नीम, कदव, पीपल, कपित्थ आदि के पेड एकजाति के ही माने जायेगे। परन्तु अनुभव विरुद्ध होने से ऐसा माना नहीं जाता है, वैसे ही पर्यायवाची शब्दो को भी एकार्थक नहीं माना जाता।

इसी विषय को लेकर समभिरुढ नय शब्दनय को कहता है कि हे शब्दनय! यदि तुम लिंगभेद व वचनभेद के कारण एक ही शब्द का अर्थ भिन्न मानते हो तो पर्यायशब्दो का अर्थभेद क्यो नही मानते ? क्योकि वे परस्पर भिन्न अर्थवाले है। इससे सिद्ध होता है कि पर्यायशब्द एकार्थक नही है।

७. **एवंभूतनय**—एव = इस प्रकार, भूत = प्राप्त अर्थात् यह नय पूर्व नय की अपेक्षा अधिक गहराई से विचार करता है कि यदि व्युत्पत्ति भेद से अर्थभेद माना जाता है तो यह भी मानना चाहिये कि शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ जब पदार्थ मे घटित होता है तभी वह शब्द का वाच्य बनता है तथा उस शब्द के द्वारा उस अर्थ का प्रतिपादन होता है ऐसा मानने वाला नय एवभूत नय है। इसके अनुसार किसी समय नारी के मस्तक पर आरूढ होकर जलाहरणादि रूप चेष्टा करने की योग्यता धारण करने वाला अर्थ "घट" नही कहलाता परन्तु वास्तव मे घट वही कहलाता है जो इस समय नारी के मस्तक पर आरूढ होकर जलाहरणादि क्रिया कर रहा हो। घट का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'घटनात् घट' अर्थात् नारी के मस्तक पर आरूढ घट की जलाहरणादि क्रिया है। जिस पदार्थ मे यह क्रिया दिखाई दे रही हो वही घट है। एवभूत नय उसी पदार्थ को घट मानता है जिसमे घट शब्द की व्युत्पत्ति घटित हो रही हो शेष घडो को वह घट मानने को तैयार नही है क्योकि वे घटशब्द के व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ से शून्य है जैसे पट। तथा घट शब्द भी वास्तव मे वही है जो चेष्टावान् अर्थ का प्रतिपादन करता हो अन्यथा नही (वाच्यार्थ से शून्य होने के कारण)। इस प्रकार एवभूतनय का मानना है कि किसी वस्तु के लिये किसी शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा जबकि उसमे शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ भी घटित हो रहा हो। इसके अनुसार दशविध प्राणो को धारण करने वाले नारक, तिर्यञ्च आदि रूप सासारिक प्राणी ही जीव कहलाते है, 'सिद्धात्मा' नही, कारण जीवति-प्राणान् धारयति अर्थात् जो जीता है—दशविध प्राणो को धारण करता है वह जीव है यह व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'सिद्धात्मा' मे नही घटता। 'सिद्धो' के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग होता है क्योकि उसका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ उनमे घटित होता है। जैसे ज्ञान, दर्शन व सुखादि पर्याय मे सतत रमण करने वाला आत्मा है और आत्मा शब्द का यह व्युत्पत्तिनिमित्त 'सिद्धात्मा' मे घटित होता है ॥८४७॥

नयो के प्रभेद—

- नैगम आदि के भेद से मूलनय सात है। इनमे से प्रत्येक की प्रभेद सख्या सौ-सौ है अत सभी नयो की कुल प्रभेद सख्या सात सौ है।

मतान्तर से—

- नैगम आदि के भेद से मूलनय पॉच है, कारण शब्द, समभिरूढ व एवभूत ये तीनो ही नय शब्दपरक होने से एक है। पॉचो ही मूलनय के सौ-सौ प्रभेद होने मे नयो के कुल पॉच सौ भेद हुए। 'अपि' शब्द नयो के अन्यभेदो का भी सूचक है। नयो के क्रमश छ सौ, चार सौ तथा दो सौ भेद है।

सामान्यग्राही नैगम का सग्रह मे तथा विशेषग्राही नगम का व्यवहार मे अन्तर्भाव होने मे मूलनय छ ही है। प्रत्येक के प्रभेद सौ-सौ है अत कुल नय छ सौ हुए।

तथा सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द चार मूलनय है। प्रत्येक के सौ सौ भेद होने से कुल भेद चार सौ हुए।

नयो के दो सौ भेद भी है। यथा—नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चारो नय द्रव्यास्तिक है, शब्द, समभिरुढ व एवभूत ये तीनो पर्यायास्तिक है। इन दोनो के सौ सौ भेद होने से कुल नय दो सौ हुए। अथवा जितने बोलने के तरीके है उतने ही नय है। इस प्रकार नयो की सख्या असख्यात है ॥८४८ ॥

१२५ द्वार: वस्त्र-विधान—

जन्न तयट्ठा कीय नेव वुयं नेव गहियमन्नेसि।
आहड पामिच्च चिय कप्पए साहुणो वत्थ ॥८४९ ॥
अजणखंजणकद्दमलित्ते, मूसगभक्खियअग्गिविदड्ढे।
उन्निय कुट्टिय पज्जवलीढे, होइ विवागो सुह असुहो वा ॥८५० ॥
नवभागकए वत्थे चउरो कोणा य दुन्नि अता य।
दो कन्नावट्टीउ मज्झे वत्थस्स एक्क तु ॥८५१ ॥
चत्तारि देवया भागा, दुवे भागा य माणुसा।
आसुरा य दुवे भागा, एगो पुण जाण रक्खसो ॥८५२ ॥
देवेसु उत्तमो लाभो, माणुसेसु य मज्झिमो।
आसुरेसु य गेलन्न, मरण जाण रक्खसे ॥८५३ ॥

—गाथार्थ—

वस्त्रग्रहणविधान—जो वस्त्र साधु के लिये खरीदा हुआ, बुना हुआ, जबर्दस्ती दूसरे से छीना हुआ, सम्मुख लाया हुआ, उधार लाया हुआ न हो—ऐसा वस्त्र मुनि को ग्रहण करना कल्पता है ॥८४९ ॥

अंजन, खजन और कीचड से लिप्त, चूहे से काटे हुए, आग से जले हुए, तुने हुए, छेदवाले तथा साधावाले वस्त्र का शुभाशुभ फल होता है। एक वस्त्र के चार कोने, दो किनारे, दोनो ओर की किनारी तथा मध्यभाग इस प्रकार नौ भाग होते है। चार देवभाग, दो मनुष्य सम्बन्धी भाग, दो आसुरी भाग और एक राक्षसी भाग होता है। वस्त्र मे देवभाग उत्तमलाभ का, मानवभाग मध्यमलाभ का, आसुरीभाग रुग्णता का तथा राक्षसभाग मृत्यु का सूचक है ॥८५०-८५३ ॥

—विवेचन—

उत्पादक द्रव्य के भेद से वस्त्र तीन प्रकार का होता है।

१. **एकेन्द्रिय-अवयव-निष्पन्न**—कपास आदि से बना हुआ सूती वस्त्र।

२. **विकलेन्द्रिय-अवयव-निष्पन्न**— कीडो से निर्मित रेशमी वस्त्र। विशेष कारण से ग्राह्य।

३. **पञ्चेन्द्रिय-अवयव-निष्पन्न**—भेड आदि के केशो से बना हुआ ऊनी वस्त्र

पूर्वोक्त वस्त्र यथाकृत आदि भेद से तीन प्रकार के है।

१. **यथाकृत**—जैसा लिया जाये, वैसा ही पहिना जाये। जिसे सीने या काटने की आवश्यकता न हो। यह वस्त्र अतिशुद्ध है। क्योकि ऐसा वस्त्र ग्रहण करने से स्वाध्याय की हानि नही होती है।

२. **अल्पपरिकर्म**—जिसे एकबार फाड कर सीना पडे। यह वस्त्र शुद्ध है। क्योकि सीने का परिकर्म अल्प होने से स्वाध्याय की हानि भी अल्प होती है।

३. **बहुपरिकर्म**—जिसके बहुत से टुकडे करके सीना पडे ऐसा वस्त्र अशुद्ध है, कारण स्वाध्याय की हानि होती है।

मिल सके वहॉ तक पहिले यथाकृत वस्त्र ग्रहण करे, उसके अभाव मे अल्पपरिकर्म वाला ग्रहण करे। न मिले तो अगत्या बहुपरिकर्मवाला ग्रहण करे। तीनो ही प्रकार के वस्त्र गच्छवासी मुनि को लेने कल्पते है।

४. **कल्प्य वस्त्र**—

१ साधु के निमित्त खरीदा हुआ न हो।

२ साधु के निमित्त बनाया हुआ न हो।

३ पुत्रादि की इच्छा न होने पर साधु को देने के लिये उनसे जबरदस्ती छीना हुआ न हो।

४ कही से सामने लाकर दिया जाने वाला न हो (अभ्याहृत)। यह दो प्रकार का है—

(i) **स्वग्राम अभ्याहृत**—जिस गॉव मे मुनि है, उसी गॉव मे दुकान आदि से घर लाया हुआ वस्त्र। वस्त्र लाते हुए मुनि ने न देखा हो, किंतु उनके निमित्त लाया हुआ होने से वह वस्त्र मुनि को लेना नही कल्पता। वस्त्र लाते हुए साधु ने देखा हो, किंतु वह साधु के निमित्त लाया हुआ न हो तो साधु को लेना कल्पता है।

दोष—पिड-ग्रहण की तरह।

(ii) **परग्राम अभ्याहृत**—अन्य ग्राम से साधु के निमित्त लाया हुआ वस्त्र। ऐसा वस्त्र साधु को लेना नही कल्पता।

दोष—पिण्ड-ग्रहण की तरह।

५. **अप्रमित्यका**—साधु के निमित्त दूसरो से उधार लाया हुआ वस्त्र साधु को लेना नही कल्पता।

दोष—पिण्ड-ग्रहण की तरह।

वस्त्रग्रहण के दोष भी आहार की तरह दो प्रकार के है—

(i) **अविशोधिकोटि**—साधु के लिये खरीदा हुआ और साधु के लिये बनाया हुआ वस्त्र अग्राह्य है।

(ii) **विशोधि-कोटि**—साधु के लिये धुलाया हुआ वस्त्र समय बीतने पर ग्रहण किया जा सकता है।

ग्रहण—विधि—शुद्ध वस्त्र ग्रहण करने से पूर्व साधु वस्त्र को अच्छी तरह से देखे। तत्पश्चात गृहस्थ को कहे कि 'तुम इस वस्त्र को चारो तरफ से देखो, गृहस्थ भी ऐसा ही करे।' यदि वस्त्र मे

सोना, चाँदी आदि कुछ बँधा हुआ हो तो खोलकर ले ले। यदि गृहस्थ को दिखायी न दे और साधु को दिखायी दे तो वह गृहस्थ को बतावे। तत्पश्चात् वस्त्र ग्रहण करे।

प्रश्न—यदि साधु गृहस्थ को सोना-चाँदी आदि बतायेगा तो उसे पाप होगा, क्योंकि गृहस्थ उसे पाप-कार्य मे व्यय करेगा, अत मुनि कैसे बता सकता है?

उत्तर—गृहस्थ को बताने मे अल्प दोष है, न बताने में अधिक दोष है। कदाचित् गृहस्थ ने साधु की परीक्षा लेने के लिये कपट से उसमे बाँधा हो। ऐसी स्थिति मे यदि साधु गृहस्थ को न बताये तो चोरी का कलक, प्रवचन हीलना आदि दोषो की सभावना रहती है ॥८४९ ॥

वस्त्र ग्रहण करते समय वस्त्र को नौ भागो मे बॉटकर देखना चाहिये कि वस्त्र का कौनसा हिस्सा अजन आदि से दूषित है? उसके अनुसार वस्त्र की शुभाशुभता का विचार करना चाहिये क्योंकि वस्त्र का कुछ हिस्सा दोषयुक्त होने पर भी शुभ माना जाता है, और कुछ हिस्सा अशुभ।

अजन—सुरमा आदि अथवा तैल से बनाया हुआ काजल। खजन—दीपक का मैल। कर्दम—कीचड। इन तीनो से लिप्त वस्त्र तथा चूहे उपलक्षण से कसारी कुन्थुए आदि के द्वारा खाया हुआ वस्त्र, आग से जला हुआ वस्त्र, तुनकर द्वारा वस्त्र के छिद्रो को तुनकर ठीक किया हुआ वस्त्र, धोबी द्वारा कूटने-पिटने से कटा-फटा वस्त्र, जीर्ण वस्त्र तथा जीर्ण होने से जिसका रग उड गया हो ऐसा वस्त्र। ऐसे वस्त्र को ग्रहण करने से शुभ-अशुभ जो भी परिणाम होता है, उसका चिन्तन निम्नाकित है।

भाग	स्वामी	शुभ	अशुभ
वस्त्र के कोने = ४	देवता	काजल, सुरमा, कीचड आदि से दूषित होने पर भी लाभदायक है।	
वस्त्र के अतिम छोर = २	मनुष्य	दोषयुक्त हो तो मध्यम लाभ	
दोनो ओर की किनारी = २	असुर		मुनि रुग्ण बने
मध्य भाग १	राक्षस		मुनि की मृत्यु

वस्त्र के भाग			भाग के स्वामी		
कोना	किनारी	कोना	देव	असुर	देव
छोर (पल्ला)	मध्यभाग	छोर (पल्ला)	मनुष्य	राक्षस	मनुष्य
कोना	किनारी	कोना	देव	असुर	देव
इस तरह वस्त्र के आकार की कल्पना करना			वस्त्र के कोने आदि भागो के स्वामी पूर्वोक्त समझना ॥८५०-८५३ ॥		

१२६ द्वार :

५ व्यवहार—

आगम सुय आणा धारणा य जीए य पच ववहारा ।
केवल मणो हि चउदस दस नवपुव्वाइ पढमोऽत्थ ॥८५४ ॥
कहेहि सव्व जो वुत्तो, जाणमाणोऽवि गूहइ ।
न तस्स दिंति पच्छित्तं, बिंति अन्नत्थ सोहय ॥८५५ ॥
न सभरे य जे दोसे, सब्भावा न य मायओ ।
पच्चक्खी साहए ते उ, माइणो उ न साहए ॥८५६ ॥
आयारपकप्पाई सेस सव्वं सुय विणिदिट्ठ ।
देसतरट्ठियाण गूढपयालोयणा आणा ॥८५७ ॥
गीयत्थेणं दिन्न सुद्धि अवहारिऊण तह चेव ।
दितस्स धारणा तह उद्धियपयधरणरूवा वा ॥८५८ ॥
दव्वाइ चिंतिऊणं सघयणाईण हाणिमासज्ज ।
पायच्छित्तं जीय रुढ वा ज जहिं गच्छे ॥८५९ ॥

—गाथार्थ—

पॉच व्यवहार—१. आगम व्यवहार, २. श्रुत व्यवहार, ३. आज्ञा व्यवहार, ४ धारणा व्यवहार तथा ५. जीत व्यवहार ये पॉच व्यवहार है। केवलज्ञानी, मनपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दशपूर्वी तथा नवपूर्वी आगम व्यवहारी होते है ॥८५४ ॥

'सभी पापों की आलोचना हो' ऐसा गुरुद्वारा कहने पर भी जो पापों को छुपाता है आगमव्यवहारी गुरु उसको प्रायश्चित्त नही देते। 'किसी अन्य से लेना' ऐसा कहते है। जिसमे कोई माया नही है पर स्वभावत ही दोषों की स्मृति नही हो रही है ऐसे आत्मा को प्रत्यक्षज्ञानी गुरु दोषो का स्मरण करवाते है, पर मायावी को नही करवाते ॥८५५-८५६ ॥

आचारप्रकल्प आदि शेष समस्त श्रुत द्वारा होने वाला व्यवहार श्रुत व्यवहार है। अन्यत्र विराजमान गीतार्थ के पास गूढ़ पदो द्वारा आलोचना करना आज्ञा व्यवहार है ॥८५७ ॥

गीतार्थो के द्वारा दी गई आलोचना को यथावत् याद रखकर तथाविध दोष मे तथाविध प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है। अथवा गुरु द्वारा शास्त्र से उद्धृत पदों को याद रखकर तदनुसार प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है ॥८५८ ॥

सघयण आदि की हानि को देखते हुए द्रव्यादि के विचारपूर्वक प्रायश्चित्त देना वह जीत

व्यवहार है। अथवा जिस गच्छ में जिन दोषो के लिये परंपरा से जो प्रायश्चित्त दिया जाता हो वह जीत व्यवहार है ॥८५९ ॥

—विवेचन—

१. जीवादि की प्रवृत्ति व्यवहार है अथवा मोक्षाभिलाषी जीवो की प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रिया व्यवहार है। ऐसे व्यवहार का कारणभूत ज्ञानविशेष भी उपचार से व्यवहार कहलाता है। व्यवहार के पॉच भेद है—

१. आगमव्यवहार—आगम = पदार्थो का बोध कराने वाला ज्ञान। व्यवहार = प्रवृत्ति व निवृत्ति अर्थात् जीवादि पदार्थो के बोधक ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति व निवृत्ति आगम-व्यवहार है। केवलज्ञानी, मन.पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी और नौपूर्वी आगम व्यवहारी है।

२. श्रुतव्यवहार—निशीथ, कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध आदि, ग्यारह अग, चौदह-पूर्व, दसपूर्व और नौ पूर्व द्वारा होने वाला व्यवहार।

यदि केवलज्ञानी उपलब्ध हो तो सर्वप्रथम केवली को ही आलोचना देना चाहिये। केवली के अभाव मे मन पर्यवज्ञानी को आलोचना देना चाहिये। इनके अभाव मे अवधिज्ञानी को। इस प्रकार क्रमश चौदह-पूर्वी, दस-पूर्वी तथा नव-पूर्वी को देना चाहिये।

प्रश्न—चौदह-पूर्व, दस-पूर्व और नौ-पूर्व श्रुत के अन्तर्गत होने से इसके द्वारा होने वाला व्यवहार श्रुत व्यवहार ही होना चाहिये, इन्हे आगम व्यवहार मे सम्मिलित क्यो किया?

उत्तर—यद्यपि चौदह-पूर्व, दस-पूर्व और नौ-पूर्व श्रुतरूप है, तथापि वे अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान करने मे सक्षम होने से केवलज्ञानादि की तरह आगम व्यवहार के अन्तर्गत आते है।

३. आज्ञा व्यवहार—जिनका जघाबल क्षीण हो चुका है और जो एक दूसरे से दूर है, ऐसे गीतार्थो को जब आलोचना करनी होती है तो वे अपने गीतार्थ शिष्य को दूरस्थित गीतार्थ के पास भेजते है। गीतार्थ शिष्य न हो तो तीव्र धारणा-शक्ति वाले शिष्य को आगम की साकेतिक भाषा मे अतिचार वताकर आचार्य के पास भेजते है। आलोचना-दाता आचार्य यदि जाने मे समर्थ हो तो स्वय वहॉ जाकर उन्हे प्रायश्चित्त देते है या अपने गीतार्थ शिष्य को भेजकर उन्हे प्रायश्चित्त कराते है या जो मुनि आया है उसी के साथ साकेतिक भाषा मे प्रायश्चित्त भेजते है।

४. धारणा व्यवहार—"गीतार्थ आचार्य ने तथाविध अपराध मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष व प्रतिसेवना को ध्यान मे रखते हुए एवविध प्रायश्चित्त दिया था" उसे याद रखते हुए शिष्य द्वारा तथाविध अपराध मे तथा प्रकार का प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है अथवा सामान्य योग्यता वाले किन्तु वैयावच्च आदि के द्वारा गच्छ के उपकारी शिष्य को कृपा कर गुरु द्वारा प्रायश्चित्त सम्बन्धी विशेष बातें आगम मे उद्धृत कर बताना तथा शिष्य द्वारा उन पदो को उसी प्रकार याद रखना धारणा व्यवहार है।

५. जीत व्यवहार—पूर्व महर्षियो के द्वारा जिन अपराधो की शुद्धि जिन महान तपो के द्वारा की गई थी उन अपराधो मे वैसे तप करने की शक्ति के अभाव मे गीतार्थ महापुरुष के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र,

काल, भाव, सहनन, धैर्य, आदि को देखकर प्रायश्चित्त देना जीत व्यवहार है।

अथवा—गच्छ मे आचार्य ने किसी विशेष कारण से प्रेरित होकर कोई व्यवहार चलाया हो और बहुत से लोगो ने उसका अनुसरण किया हो तो वह भी जीत व्यवहार कहलाता है।

प्रायश्चित्त देने योग्य—उपरोक्त पॉच व्यवहार मे से किसी एक व्यवहार से युक्त गीतार्थ ही प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है। अगीतार्थ को प्रायश्चित्त देने का सर्वथा निषेध है क्योकि इसमे अनेक दोषो की सभावना रहती है। कहा है कि—

अगीतार्थ आत्मा व्यवस्थित प्रायश्चित्त नही दे सकता। न्यूनाधिक देता है। इससे प्रायश्चित्त देने वाले और लेने वाले दोनो ही ससार मे डूबते है।

प्रश्न—आगम व्यवहारी ज्ञानी होने से स्वय आलोचक के दोषो को जानते है, अत वे स्वय अपराधी को प्रायश्चित्त देते है या अपराधी के द्वारा अपने दोष प्रगट करने पर प्रायश्चित्त देते है?

उत्तर—यद्यपि आगम व्यवहारी ज्ञान के बल से अपने शिष्य के दोषो को जानते है तथापि शिष्य के द्वारा अपने दोष प्रकट किये बिना उसे प्रायश्चित्त नही देते। यदि शिष्य अपने दोषो को छुपाता हो तो आगम-व्यवहारी उसे अन्य के पास भेज देते है।

यदि कोई निष्कपट आलोचक विस्मृति के कारण अपने दोषो को पूर्णतया नही बता पाया हो तो आगम व्यवहारी उसके विस्मृत दोषो को बताते है कि "भूले हुए इन दोषो की तुम आलोचना करो।" क्योकि वे जानते है कि निष्कपट होने से यह दोषो को स्वीकार अवश्य करेगा। पर जो मायावी है, वह कहने पर भी दोषो को स्वीकार नही करता, उसे नही बताते।

आलोचना देते समय यदि आलोचक अपने दोषो को अच्छी तरह से बतावे तो ही आगम-व्यवहारी उसे प्रायश्चित्त देते है। यदि आलोचक अपने दोषो का प्रत्यावर्तन अच्छी तरह से न करता हो तो आगम-व्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नही देते, वे अमूढ-लक्षी होते है।

प्रश्न—चौदह-पूर्वी आदि श्रुतज्ञानी होने से परोक्ष ज्ञानी है, वे प्रत्यक्ष-ज्ञानी कैसे हो सकते है?

उत्तर—यद्यपि चौदह-पूर्वी आदि परोक्ष ज्ञानी है, तथापि उनका ज्ञान प्रत्यक्ष तुल्य होने से जिसने जैसा दोष-सेवन किया है, उसे वे उसी तरह जानते है।

प्रश्न—आगम-व्यवहारी आलोचक के सभी दोषो को जानते है तो फिर उनके सम्मुख अलग-अलग दोषो को प्रकट करने की क्या आवश्यकता है? उनके सम्मुख आलोचक ऐसा ही कहे कि—भगवन्! मेरे दोषो का प्रायश्चित्त दीजिये।

उत्तर—अपने मुॅह से अपना अपराध स्वीकार करने मे महान् लाभ है। इससे गुरु का प्रोत्साहन मिलता है कि 'वत्स! तुम बडे भाग्यशाली हो। तुमने अह का विसर्जन करके आत्म-हित की भावना से अपने दोषो को प्रकट किया है। यह अति कठिन कार्य है।' इस प्रकार गुरु के प्रोत्साहन से आलोचक की भाव वृद्धि होती है और वह गुरु के प्रति श्रद्धावान् बनकर यत्किंचित् भी शल्य रखे बिना आलोचना लेता है तथा प्रदत्त आलोचना अच्छी तरह से पूर्ण कर अल्प काल मे ही मोक्ष का वरण कर लेता है।

श्रुत-व्यवहारी द्वारा प्रायश्चित्त देने की विधि—श्रुतव्यवहारी सर्वप्रथम आलोचक से तीन बार उसके अपराध सुने, पश्चात् आलोचना दे, क्योकि एक-दो बार सुनने से वास्तविकता का पूरा पता नही लगता। पहली बार आलोचक का अपराध निद्रित की तरह सुने, फिर उसे कहे कि नीद के कारण मैने तुम्हारे अपराध बराबर नही सुने। तब आलोचक दूसरी बार अपने अपराध सुनाये फिर भी आलोचनाद्राता कहे कि उपयोगशून्य होने से मैने आपके अपराध नही सुने। तब आलोचक तीसरी बार सुनाये। यदि तीनो ही बार के कथन मे समानता हो तो आलोचक उसे निष्कपट जानकर प्रायश्चित्त दे। यदि तीनो बार के कथन मे समानता न हो तो उसे मायावी जानकर प्रायश्चित्त न दे, पर मौन रहे। यदि आलोचक समझ जाये कि मेरी माया गुरु ने समझ ली है और निष्कपट भाव से आलोचना देना चाहे तो उसे सर्वप्रथम कपट की आलोचना दे, बाद मे अपराध की ॥८५४-८५९ ॥

१२७ द्वार : यथाजात—

पंच अहाजायाइं चोलगपट्टो तहेव रयहरण।
उन्निय खोमिय निस्सेज्जजुयलयं तह य मुहपोत्ती ॥८६० ॥

—गाथार्थ—

यथाजात पॉच—**१. चोलपट्टा, २. रजोहरण, ३. ऊनी निषद्या, ४. सूती निषद्या तथा ५. मुहपत्ति—ये पॉच यथाजात है ॥८६० ॥**

—विवेचन—

यथाजात = जैसे जन्म हुआ था। यहॉ जन्म से अर्थ है साधु रूप जन्म अर्थात् जिस रूप मे साधु बने थे वह स्वरूप 'यथाजात' कहलाता है। चोलपट्टा, रजोहरण, ऊनी व सूती निषद्या तथा मुहपत्ति इन पॉच उपकरणो सहित साधु जीवन ग्रहण किया जाता है अत यह स्वरूप साधु रूप मे जन्म लेने की अपेक्षा से 'यथाजात' कहलाता है तथा उपचार से चोलपट्टा आदि पूर्वोक्त पॉचो उपकरण भी यथाजात कहलाते है।

१. चोलपट्ट—इसका स्वरूप व प्रयोजन ६१वे द्वार मे देखे।

२. रजोहरण—बाह्य व आभ्यन्तर निषद्या से रहित, मात्र एक निषद्या वाला रजोहरण जो वर्तमान काल मे फलियो सहित दण्डी पर बॉधा जाता है। वर्तमान मे दण्डी के साथ जो फलियॉ बॉधी जाती है, वे आगमानुसार नही है। सूत्र के अनुसार तो दण्डी और फलियॉ दोनो ही अलग-अलग होनी चाहिये।

● दण्डी तीन निषद्या से युक्त होती है।

२. प्रथमनिषद्या—दण्डी पर तीन बार लपेटा जा सके, इतना चौडा व एक हाथ लबा कबल का टुकड़ा पहली निषद्या है। यही निषद्या आठ अगुल प्रमाण फलियो से युक्त 'रजोहरण' कहलाती है। कहा है कि—'एगनिसेज्ज रजहरण' अर्थात् एकनिषद्या से युक्त रजोहरण है।

३. द्वितीय निषद्या—प्रथम निषद्या को बहुत बार लपेटने वाला कुछ अधिक एक हाथ लबा तथा एक हाथ चौडा सूती कपडा 'आभ्यन्तर निषद्या' है। यही क्षौमिक निषद्या है।

४. तृतीय निषद्या—'आभ्यन्तर निषद्या' को लपेटने वाला, एक हाथ चार अगुल प्रमाण, चौकोर 'ऊनी कपडा' तीसरी निषद्या है। वह बैठने मे उपयोगी होती है अत इसे 'पादप्रोञ्छन' (पग पूछणिया) भी कहते है। यह बाह्यनिषद्या कहलाती है।

वर्तमान मे बाह्यनिषद्या का आसन के रूप मे उपयोग नही होता। यह परपरा लुप्त हो चुकी है।

५. मुखपोत—पोत = वस्त्र अर्थात् बोलते समय मुँह ढकने मे उपयोगी वस्त्र मुँहपत्ति है। इसकी लबाई व चौडाई, एक बेत चार अगुल प्रमाण होती है। मुखवस्त्रिका मे 'वस्त्र' शब्द नपुसक होने पर भी 'क' प्रत्यय हो जाने से स्त्रीलिंग बन गया है। कहा है—स्वार्थ मे होने वाले प्रत्यय प्रकृतिगत लिग व वचन को बदल देते है। इस कथनानुसार 'मुखपोत' शब्द नपुसक होने पर भी 'क' प्रत्यय लगने से स्त्रीलिंग मे 'मुखपोतिका' शब्द बन गया ॥८६० ॥

१२८ द्वार : जागरण—

सव्वेऽवि पढमयामे दोन्नि य वसहाण आइमा जामा।
तइओ होइ गुरूण चउत्थ सव्वे गुरू सुयइ ॥८६१ ॥

—गाथार्थ—

रात्रि-जागरण—**प्रथम प्रहर में सभी मुनि जगते है। प्रथम दो प्रहर में वृषभ साधु जगते है। तीसरे प्रहर में आचार्य जगते है। चतुर्थ प्रहर मे सभी मुनि जगते है और आचार्य सो जाते है ॥८६१ ॥**

—विवेचन—

रात्रि के प्रथम प्रहर में—सभी साधु स्वाध्याय करते हुए जगे।

दूसरे प्रहर मे—गीतार्थ व गुरु जगे और शेष साधु सो जाये। गीतार्थ प्रज्ञापनादि उत्कालिक सूत्रो का पारायण करे।

तीसरे प्रहर मे—गीतार्थ सो जाये और गुरु जगे, प्रज्ञापनादि सूत्रो का पारायण करे।

चौथे प्रहर में—शेष साधु जगकर वैरात्रिक काल ग्रहण करके कालिक सूत्रों का परावर्तन करे तथा गुरु सो जाये। यदि गुरु को पूर्ण विश्राम नही मिलेगा तो प्रातकालीन प्रवचनादि कार्य ठीक मे सपन्न नही होगे। प्रवचनादि देते समय नीद आयेगी, शरीर टूटेगा इत्यादि ॥८६१ ॥

१२९ द्वार : आलोचनादायक—

सल्लुद्धरणनिमित्तं गीयस्सऽन्नेसणा उ उक्कोसा।
जोयणसयाइं सत्त उ बारस वासाइ कायव्वा ॥८६२ ॥

—गाथार्थ—

आलोचना दाता की गवेषणा—शल्योद्धार के लिये गीतार्थ की खोज उत्कृष्टत क्षेत्र की अपेक्षा से सात सौ योजन तक एवं काल की अपेक्षा से बारह वर्ष पर्यन्त करना चाहिये ॥८६२ ॥

—विवेचन—

आत्मा मे लगे हुए पाप रूपी कॉटे को निकालने के लिये आलोचना करना अति आवश्यक है। इसके लिये आलोचना देने योग्य गीतार्थ गुरु यदि क्षेत्र व काल की अपेक्षा से समीप न मिले तो क्षेत्र की अपेक्षा से सात सौ योजन तक एव काल की अपेक्षा से बारह वर्ष तक खोज करनी चाहिये। यदि योग्य गुरु न मिले और आलोचक आलोचना के बिना ही मर जाये, फिर भी विशुद्ध अध्यवसायी होने से वह आराधक है। खोजने पर भी यदि सर्वगुणसपन्न गुरु न मिले तो सविग्न गीतार्थ से आलोचना ग्रहण करे।

अपवाद—गीतार्थ, सविग्न-पाक्षिक, सिद्ध-पुत्र, प्रवचन-देवता आदि योग्य आलोचना दाता के न मिलने पर अत मे सिद्ध भगवान की साक्षी मे आलोचना करे कितु आलोचना के बिना नही मरे, क्योकि सशल्य-मृत्यु ससार-वृद्धि का कारण है। कहा है—सविग्न गीतार्थ के अभाव मे पार्श्वस्थादि से ही आलोचना ग्रहण करे ॥८६२ ॥

१३० द्वार : प्रति-जागरण—

जावज्जीवं गुरुणो असुद्धसुद्धेहिं वावि कायव्वं।
वसहे बारस वासा अट्ठारस भिक्खुणो मासा ॥८६३ ॥

—गाथार्थ—

गुरु-शुश्रूषा काल प्रमाण—गुरु की शुश्रूषा अशुद्ध-शुद्ध द्रव्य के द्वारा यावज्जीव पर्यत करनी चाहिये।

वृषभ साधुओं को बारह वर्ष पर्यंत तथा सामान्य मुनि को अट्ठारह मास पर्यन्त करनी चाहिये ॥८६३ ॥

—विवेचन—

(i) आचार्य—आधाकर्मी आदि दोष रहित या सहित आहार पानी के द्वारा साधु या श्रावक यावज्जीवपर्यन्त आचार्य की सेवा कर सकते है।

- गच्छ के अधिपति होने से
- सतत सूत्र-अर्थ के चिन्तन मे प्रवृत्त रहने से।

(ii) वृषभ—उपाध्याय आदि गीतार्थ मुनियो की शुद्ध या अशुद्ध आहार पानी और वस्त्रादि द्वारा बारह वर्ष तक सेवा की जा सकती है।

- पश्चात्—अनशन करे (शक्ति हो तो)
- बारह वर्ष मे गच्छ का भार वहन करने वाला दूसरा तैयार हो सकता है।

(iii) सामान्य साधु—सामान्य मुनि की सेवा अठारह मास तक की जा सकती है।

- पश्चात्—शक्ति हो तो अनशन करे।

शुद्ध अशुद्ध अन्नादि से आचार्य आदि की सेवा, रोग, अकाल, क्षेत्र-काल आदि की हानि के कारण गौचरी न मिलती हो इत्यादि आगाढ कारण मे ही करना कल्पता है अन्यथा नही।

व्यवहारभाष्य के मतानुसार—

व्यवहार भाष्य के अनुसार सभी ग्लान की सेवा का एक ही प्रकार है। पहिले आचार्य छ महीने तक ग्लान की चिकित्सा करावे। यदि ठीक न हो तो उसे कुल को सौपे। कुल, तीन वर्ष तक उसकी चिकित्सा करावे, यदि ठीक न हो तो रोगी को गण को सौंपे। गण एक साल तक ग्लानमुनि का उपचार करावे, ठीक न हो तो अन्त मे उसे सघ को सौपे। सघ प्रासुक आहार पानी से यावज्जीव उसकी सेवा करे। प्रासुक आहार पानी के अभाव मे अप्रासुक से भी उसकी सेवा करे (यदि रोगी की अनशन करने की स्थिति न हो तो अप्रासुक से सेवा करे, अन्यथा नहीं)।

यदि रोगी की अनशन करने की स्थिति हो तो पहिले अठारह महीना उसकी चिकित्सा करावे। क्योकि विरतिमय जीवन मिलना अतिदुर्लभ है। ठीक न हो तो अनशन ग्रहण करे ॥८६३॥

१३१ द्वार : उपधि-प्रक्षालन—

अप्पते च्चिय वासे सव्व उवहि धुवंति जयणाए।
असईए उदगस्स उ जहन्नओ पायनिज्जोगो ॥८६४॥
आयरियगिलाणाण मइला मइला पुणोवि धोइज्जा।
मा हु गुरूण अवण्णो लोगम्मि अजीरण इअरे ॥८६५॥

—गाथार्थ—

उपधि प्रक्षालन काल—वर्षाऋतु आने से पूर्व ही यतनापूर्वक संपूर्ण उपधि का प्रक्षालन कर लेना चाहिये।

यदि जल की सुविधा न हो तो पात्रनिर्योग अवश्य धोना चाहिये ॥८६४॥

आचार्य और ग्लानमुनि के मलिन वस्त्र बारम्बार धोना चाहिये। कारण मलिन वस्त्र से गुरु की निन्दा न हो और ग्लान को अजीर्ण न हो ॥८६५॥

—विवेचन—

वर्षाकाल से कुछ पहिले उपधि का प्रक्षालन होता है। पानी की कमी हो तो जघन्यत सात प्रकार का पात्र-निर्योग (पात्र सबधी वस्त्र) तो अवश्य ही धोना चाहिये। यदि पानी पर्याप्त हो तो सारी उपधि यतनापूर्वक धोनी चाहिये।

निस् उपसर्गपूर्वक युजि धातु से निर्योग शब्द बना है उसका अर्थ है उपकार करना। 'पात्रस्य निर्योग·' अर्थात् पात्र के उपकारी उपकरण पात्र-निर्योग कहलाते है ॥८६४॥

प्रश्न—सभी मुनियो की उपधि वर्षाकाल से पूर्व एकबार ही धोई जाती है या इसमे कुछ विकल्प है ?

उत्तर—सूत्रार्थ की व्याख्या करने वाले, सद्धर्म की देशना देने मे दक्ष इत्यादि अनेक गुणो से श्रेष्ठ आचार्य, उपाध्याय, गुरु (धर्मोपदेश देने वाले), ग्लान, आदि की उपधि मलिन हो तो अधिक बार भी धोई जा सकती है, क्योकि आचार्य आदि के मलिन वस्त्र प्रवचन-हीलना व लोकनिन्दा के कारण है। लोक घृणा करे, यथा—ये मुनि मलमलिन व दुर्गन्धयुक्त है। इनके पास जाने से क्या लाभ है? ग्लान की उपधि यदि न धोई जाये तो मैले वस्त्रो के साथ ठडी हवा लगने से वस्त्र आर्द्र बनते है जिससे जठराग्नि मन्द हो जाती है, पाचन नही होता, रोगी अधिक रोगी हो जाता है। इसके सिवाय अन्य मुनियो की उपधि का प्रक्षालन वर्षाकाल से पूर्व एकबार ही होता है। शीतोष्णकाल मे अन्य मुनियो को वस्त्र धोना नही कल्पता क्योकि वस्त्र धोने मे जीव विराधना, बकुश, कुशीलतादि दोष है।

प्रश्न—वर्षाकाल से पूर्व उपधि धोने मे भी जीव-विराधना, बकुश-कुशीलतादि दोष तो लगेगे ही, अत उस समय भी उपधि क्यो धोई जाये ?

उत्तर—उस समय उपधि का प्रक्षालन आगम विहित है। इसमे दोष कम और लाभ अधिक है। अन्यथा स्वास्थ्य की हानि होने से सयम पालन अशक्य होगा तथा प्रक्षालन यतनापूर्वक करे तो जीव-विराधना आदि दोषो से भी वचा जा सकता है। सूत्र आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाले से कदाचित् हिंसा हो भी जाये तो भी वह पाप का भागी या तीव्र प्रायश्चित्त का भागी नहीं बनता क्योंकि उसकी प्रवृत्ति यतना सहित है ॥८६५॥

१३२ द्वार : भोजन-भाग—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥८६६ ॥
अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए।
वायपवियारणट्ठा छब्भागं ऊणय कुज्जा ॥८६७ ॥
सीओ उसिणो साहारणो य कालो तिहा मुणेयव्वो।
साहारणमि काले तत्थाहारे इमा मत्ता ॥८६८ ॥
सीए दवस्स एगो भत्ते चत्तारि अहव दो पाणे।
उसिणे दवस्स दुन्नी तिन्नी वि सेसा उ भत्तस्स ॥८६९ ॥
एगो दवस्स भागो अवट्ठिओ भोयणस्स दो भागा।
वड्ढंति व हायंति व दो दो भागा उ एक्केक्के ॥८७० ॥

—गाथार्थ—

भोजन के भाग—पुरुष का आहार प्रमाण बत्तीस कवल तथा स्त्री का अट्ठावीस कवल है ॥८६६ ॥

पेट को छ भागों में विभक्त करना। इनमे से तीन भाग सव्यजन आहार के है। दो भाग प्रवाही के तथा एक भाग वायु के सचरण का है ॥८६७ ॥

काल के तीन भेद है—शीत, उष्ण व शीतोष्ण। पूर्वोक्त आहार प्रमाण शीतोष्णकाल का है ॥८६८ ॥

शीतकाल में पानी का एक भाग, भोजन के चार अथवा तीन भाग तथा गर्मी मे पानी के दो अथवा तीन भाग तथा शेष भाग भोजन के है ॥८६९ ॥

पानी का एक भाग तथा भोजन के दो भाग सदा अवस्थित है पर भोजन और पानी के दो-दो भागो की हानि-वृद्धि होती रहती है ॥८७० ॥

—विवेचन—

पेट के छ भाग करके कालानुसार उन्हे भोजन, पानी और वायु के भाग मे बाँटना।

काल—

साधारण	शीत		उष्ण	
	मध्यम शीत	शीततर	मध्यम उष्ण	उष्णतर
सव्यजन भोजन =३ भाग पानी =२ भाग वायु सचार =१ भाग	भोजन =३ भाग पानी =२ भाग वायु सचार =१ भाग	भोजन =४ भाग पानी =१ भाग वायु सचार =१ भाग	भोजन =३ भाग पानी =२ भाग वायु सचार =१ भाग	भोजन =२ भाग पानी =३ भाग वायु सचार =१ भाग

- वायु सचार के लिये पेट का एक भाग खाली रखना आवश्यक है अन्यथा सचार के अभाव मे वायु शरीर मे रोग पैदा करेगा।
- भोजन—कूर, मूग, लड्डू आदि। व्यजन—छाछ, ओसामन, शाक आदि।

चार भाग—भोजन और पानी के दो भाग अति उष्ण व अतिशीत काल मे न्यूनाधिक होते रहते है, अत. वे चर है।

स्थिर भाग—दो भाग भोजन के और एक भाग पानी का किसी भी काल मे न्यूनाधिक नही होते अत वे स्थिर है ॥८६६-८७० ॥

१३३ द्वार : वसतिशुद्धि—

पट्ठीवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीओ।
मूलगुणेहि विसुद्धा एसा हु अहागडा वसही ॥८७१ ॥
वंसगकडणोक्कबण छायण लेवण दुवारभूमी य।
परिकम्मविप्पमुक्का एस मूलुत्तरगुणेसु ॥८७२ ॥
दूमिय धूविय वासिय उज्जोइय बलिकडा अवत्ता य।
सित्ता संमट्ठावि य विसोहिकोडिं गया वसही ॥८७३ ॥
मूलुत्तरगुणसुद्धं थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं।
सेविज्ज सव्वकालं विवज्जए हुंति दोसा उ ॥८७४ ॥

—गाथार्थ—

वसति-शुद्धि—एक पृष्ठवंश, दो मूलधारक तथा चार मूल बल्लियाँ जिस वसति में पहले से लगी हो वह यथाकृत वसति है। ऐसी वसति मूलगुणशुद्ध होती है ॥८७१॥

पृष्ठवंश, कटन, उत्कंबन, आच्छादन, लेपन, दरवाजा लगाना, आंगन समतल करना, आदि परिकर्मों से रहित वसति मूलोत्तर-गुणविशुद्ध वसति है ॥८७२॥

दूमित, धूपित, वासित, उद्योतित, बलिकृत, लिंपित, सिंचित तथा कचरा आदि निकालकर साफ की हुई वसति विशोधिकोटी गत है ॥८७३॥

मूल तथा उत्तर गुण से विशुद्ध, स्त्री, पशु, नपुसक रहित वसति में वास करे। वसति सम्बन्धी दोषों का त्याग करे ॥८७४॥

—विवेचन—

स्त्री, पशु, पण्डकरहित, मूल और उत्तर गुण से शुद्ध वसति मे साधु को रहना कल्पता है।

मूलगुण—तिरछा पटडा जिस पर छत डाली जाती है वह पृष्ठवश कहलाता है। दो खभे (मूलधारक) जिन पर पटडे के अन्तिम छोर टिकाये जाते है तथा चार बॉस की बल्लियॉ होती है, जो दो मूलधारको के दोनो ओर एक-एक घर के चारो कोनो मे रखी जाती है, जिन्हे 'मूलवेलि' कहते है। इस प्रकार १ + २ + ४ = ७ गुण से युक्त वसति मूलगुण वाली कहलाती है। ऐसी वसति यदि गृहस्थ ने अपने स्वय के लिये बनाई हो तो वह वसति मूलगुण विशुद्ध कहलाती है। यदि वही वसति मुनियो के लिये बनाई गई हो तो 'आधाकर्म' दोष से दूषित होती है। मुनियो का सकल्प करके बनाई गई वसति/आवास आधाकर्मी है ॥८७१॥

उत्तरगुण—दो तरह के है—(i) मूलोत्तरगुण (ii) उत्तरोत्तरगुण

(i) मूलभूत जो उत्तरगुण मूलोत्तर गुण है, वे सात प्रकार के है —

१ वशक —'मध्यवल्ली' के ऊपर छत बनाने के लिये बास आदि डालना।
२ कटन —आस-पास चटाई आदि से ढकना।
३ उत्कम्बन —बल्ली आदि के ऊपर बॉस की खपचियॉ बॉधना।
४ छादन —कुशादि से आच्छादित करना।
५ लेपन —गोबर आदि से भीत आदि लीपना।
६ द्वार —द्वार एक दिशा से हटाकर दूसरी दिशा मे बनाना। छोटे द्वार को वडा करवाना।
७ भूमि —विषम भूमि को समतल वनाना।

जिस वसति मे पूर्वोक्त सात प्रकार का परिकर्म (सस्कार) साधु के लिये नहीं किया गया हो वह वसति मूलोत्तरगुण शुद्ध कहलाती है ॥८७२॥

(ii) उत्तरभूत जो उत्तरगुण, उत्तरोत्तर गुण है, वे आठ प्रकार के है —

१ दूमिया —भीत को प्लास्तर (लेपन) आदि करवाकर चीकनी वनाना। खड्डी, चूने आदि से पुताई करवाकर उज्ज्वल करना।

२ धूपिया —वसति की दुर्गन्ध मिटाने के लिये अगर आदि का धूप करना।
३ वासिता —पुष्पादि द्वारा वसति को महकाना।
४ उद्योतिता —रत्नादि के द्वारा या दीपक जलाकर वसति को प्रकाशित करना।
५ बलिकृता —बली बाकुले देना।
६ अवत्ता —गोबर, मिट्टी आदि से आँगन लिपवाना।
७ सिक्ता —पानी छाँटना।
८ सम्मृष्टा —कचरा आदि निकालकर साफ करना।

पूर्वोक्त आठ प्रकार का परिकर्म यदि साधु के लिये न किया हो तो वह वसति उत्तरोत्तर-गुण शुद्ध कहलाती है ॥८७३॥

अविशोधिकोटि—जिस वसति मे सात मूलगुण और सात मूलोत्तरगुण साधु के निमित्त किये हो वह वसति अविशोधि कोटि की है। ऐसी वसति मे साधु को ठहरना नही कल्पता।

दोष—अविशुद्ध या स्त्री, नपुसक आदि से ससक्त वसति मे रहने वाले मुनि को सयम-विराधना आदि बहुत से दोष लगते है।

यद्यपि पूर्वोक्त मूलोत्तर गुण का विभाग, लकडी के पाटिये, खभे, बॉस आदि से निर्मित ग्रामीण वसति को ही ध्यान मे रखकर कहा गया है, तथापि चतु शाला (गाव के बाहर साधु, पथिक आदि के विश्राम हेतु बनाई गई परसाल) आदि के लिये भी यही विभाग समझना चाहिये। सूत्र मे चतु शाला आदि का नामोल्लेख इसलिये नही किया कि स्वाध्याय इत्यादि की हानि न हो इसके लिये अधिकतर मुनिलोग गॉवो मे ही रहना उचित समझते है और गॉवो मे वसति पाटिया, बॉस इत्यादि से निर्मित ही होती है। **पंचवस्तुक** ग्रन्थ मे कहा है कि—

मूलोत्तरगुणविभाग मे चतु शाला आदि का साक्षात् नामोल्लेख नही किया, तथापि यह गुण-विभाग चतु शाला आदि रूप वसति के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये।

कृतकृत्य व विचरण करने वाले मुनि अधिकतर गॉवो मे ही निवास करते है और वहॉ वसति प्राय पाटिये इत्यादि से ही निर्मित होती है ॥८७४॥

१३४ द्वार :

संलेखना—

चत्तारि विचित्ताइ विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दोन्नि उ एगतरियं च आयाम ॥८७५॥
नाइ विगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमिय च आयाम।
अवरेऽवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्म ॥८७६॥

वास कोडीसहिय आयाम कट्टु आणुपुव्वीए।
गिरिकंदरं व गतु पाओवगम पवज्जेइ ॥८७७॥

—गाथार्थ—

सलेखना—चारवर्ष पर्यन्त विचित्र प्रकार का तप करना.. .चार वर्ष पर्यन्त विचित्रतप (विविध प्रकार का तप) विगय रहित पारणा वाला करना। दो वर्ष एकान्तरित आयंबिल सहित उपवास करना। पश्चात् छ मास तक विकृष्ट नही, पर उपवासादि हलका तप और पारणे के दिन परिमित आयंबिल करना। पश्चात् छ मास तक विकृष्ट तप करना...फिर एक वर्ष पर्यन्त कोटिसहित आयबिल करना। इस प्रकार बारह वर्ष तक सलेखना करने के पश्चात् पर्वत की गुफा में जाकर पादपोपगमन अनशन स्वीकार करना चाहिये॥८७५-८७७॥

—विवेचन—

सलेखना =आगमोक्त विधि से शरीर को क्षीण करना। यह तीन प्रकार की है—

(i) <u>उत्कृष्ट</u>—१२ वर्ष तक तप करना।

प्रथम के ४ वर्ष मे	=	उपवास, छट्ठ, अट्ठम आदि विचित्रतप करना।
पारणे मे	=	निर्दोष आहार ग्रहण करना।
मध्य के ४ वर्ष मे	=	उपवास, छट्ठ, अट्ठम आदि विचित्र तप करना।
पारणे मे	=	विकृतिरहित आहार ग्रहण करना।
आगे के २ वर्ष मे	=	एकान्तर उपवास करना।
पारणे मे	=	आयबिल करना।
आगे के ६ मास मे	=	उपवास या छट्ठ करना।
पारणे मे	=	ऊनोदरी युक्त आयबिल करना।
आगे के ६ मास मे	=	अट्ठम, दशम, द्वादश आदि विकृष्टतप करना।
पारणे मे	=	आयबिल करना।
१२ वे वर्ष मे	=	कोटि सहित निरन्तर आयबिल करना।

<u>अन्यमतानुसार</u>—१२ वे वर्ष मे एकान्तर उपवास और पारणे मे आयबिल करना।

१२वे वर्ष मे आयबिल मे प्रतिदिन एक-एक कवल कम करते जाना। अन्त मे एक कवल का पारणा करना। फिर उसमे से भी प्रतिदिन एक-एक दाना कम करते जाना अत मे एक दाने का पारणा करना। जैसे दीपक मे तैल और बाती दोनो एक ही साथ क्षीण हो जाने से दीपक स्वत बुझ जाता है वैसे ही इस प्रकार तप करते-करते आयुष्य और शरीर एक ही साथ क्षय हो जाने से 'जीवनदीप' भी स्वत बुझ जाता है। बारहवे वर्ष के अन्तिम चार मास मे मुँह मे तेल का कुल्ला भरकर रखे, जब थूकना हो, किसी पात्र मे थूककर उष्ण जल से मुँह साफ करे। उस समय यदि तेल का कुल्ला मुँह मे न रखा जाये तो अति तप करने से मुँह सर्वथा सूख जाता है और नवकार मन्त्र का उच्चारण भी कठिन हो जाता

है। इस प्रकार बारह वर्ष पर्यंत सलेखना करने के बाद ही देहोत्सर्ग करने के लिये गिरि, गुफा आदि जीव-रहित स्थान मे जाकर पादपोगमन, भक्त-परिज्ञा या इगिनी-मरण आदि अनशन स्वीकार करे।

(ii) मध्यम—१२ महीना तक तप करना। तप करने का क्रम उत्कृष्ट सलेखना की तरह ही समझना किंतु वर्ष के स्थान पर मास समझना।

(iii) जघन्य—बारह पक्ष तक तप करना। तप का क्रम उत्कृष्ट सलेखना की तरह ही होता है, किंतु वर्ष के स्थान पर पक्ष समझना ॥८७५-८७७ ॥

१३५ द्वार : वसति-ग्रहण—

नयराइएसु घेप्पइ वसही पुव्वामुहं ठविय वसहं।
वामकडीइ निविट्ठं दीहीकअग्गिमेकपय ॥८७८ ॥
सिंगक्खोडे कलहो ठाणं पुण नेव होइ चलणेसु।
अहिठाणे पोट्टरोगो पुच्छंमि य फेडण जाण ॥८७९ ॥
मुहमूलमि य चारी सिरे य कउहे य पूयसक्कारो।
खंधे पट्ठीय भरो पुट्टंमि य धायओ वसहो ॥८८० ॥

—गाथार्थ—

वृषभमुनियों द्वारा वसति ग्रहण—नगर या गाँव में वसतिग्रहण करते समय सम्पूर्ण वसति को आगे का एक पाँव लंबा करके तथा पूर्व दिशा सन्मुख मुँह करके डाबी करवट बैठे हुए बैल के आकार की कल्पना करे ॥८७८ ॥

इस प्रकार वसति की वृषभरूप कल्पना करके जो स्थान शुभ हो वहाँ वास करे। सिंग के स्थान में वास करने से कलह, पाँव के स्थान में वास करने से वसति त्याग, गुदा स्थान मे वास करने से पेट की बीमारी, पूँछ के स्थान में वास करने से वसति का नाश, मुख के स्थान में वास करने से श्रेष्ठ भोजन की प्राप्ति, शिर व ककुद के स्थान में वास करने से पूजा-सत्कार, स्कंध व पृष्ठ भाग में वास करने से वसति सदा भरी रहती है ॥८७९-८८० ॥

—विवेचन—

वसति ग्रहण करने से पहले उस वसति मे पूर्व की ओर मुँह करके दायी करवट वैठे हुए अग्रिम एक पाँव तिरछा फैलाये हुए वैल के आकार की कल्पना करना। तत्पश्चात् प्रशस्त प्रदेश मे वसति ग्रहण करना।

वैल के किस प्रदेश मे ग्रहण की गई वसति प्रशस्त या अप्रशस्त कहलाती है?

१ शृग —शृग के स्थान मे वसति ग्रहण करे तो परस्पर साधुओ मे कलह होता है।

२ चरण —चरण के स्थान मे वसति ग्रहण करने से स्थिरता नही होती है अर्थात् शीघ्र विहार हो जाता है।

३ अपान —अपान के स्थान मे वसति ग्रहण करने से उदर-रोग होता है।

४ पूँछ —पूँछ के स्थान मे वसति ग्रहण करने से निष्कासित होना पडता है।

५ मुख —मुख के स्थान मे वसति ग्रहण करने से गौचरी अच्छी मिलती है।

६ शृग मध्य —शृग के मध्य भाग मे वसति-ग्रहण करने से मान-सम्मान व पूजा-सत्कार मिलता है। पूजा—श्रेष्ठ वस्त्र, पात्र आदि मिलना। सत्कार = अभ्युत्थानादिरूप आहार मिलना।

७ ककुद —ककुद के स्थान मे वसति ग्रहण करने से पूजा = सत्कार मिलता है।

८ स्कन्ध-पृष्ठ —खभे या पीठ के स्थान मे वसति ग्रहण करने से वसति मे सकीर्णता होती है। अर्थात् बहुत साधुओ के आ जाने से वसति भर जाती है।

९ उदर —पेट के स्थान मे वसति ग्रहण करने से मुनिजन सदा तृप्त रहते है ॥८७९-८८० ॥

१३६ द्वार : सचित्तता-कालमान—

उसिणोदगं तिदंडुक्कलियं फासुयजलति जइकप्प।
नवरि गिलाणाइकए पहरतिगोवरिवि धरियव्वं ॥८८१ ॥
जायइ सचित्तया से गिम्हंमि पहरपचगस्सुवरिं।
चउपहरोवरि सिसिरे वासासु पुणो तिपहरुवरिं ॥८८२ ॥

—गाथार्थ—

पानी का काल—तीन उकालायुक्त गर्म जल अथवा अन्य प्रकार से प्रासुक किया हुआ जल सामान्यत .तीन प्रहर तक मुनियों को कल्पता है। ग्लानादि के लिये अधिक समय तक भी रखा जा सकता है ॥८८१ ॥

उष्णकाल में पॉच प्रहर के पश्चात्, शीतकाल मे चार प्रहर के पश्चात् तथा वर्षाकाल मे तीन प्रहर के पश्चात् प्रासुक जल भी पुन सचित्त बन जाता है ॥८८२ ॥

—विवेचन—

- गर्म करने के पश्चात् या किसी अन्य प्रकार से अचित्त हो जाने के पश्चात् पुन कितने समय उपरान्त सचित्त बनता है इसका निर्धारण करना।
- **उष्णजल**—जिस जल मे तीन वार उवाल आ गया हो वह उष्णजल ह। प्रथम उवाल मे पानी मिश्र रहता है। द्वितीय उवाल मे अधिक भाग अचित्त हो जाता ह पर कुछ भाग सचित्त रहता है। तीसरे उबाल मे जल अचित्त हो जाता है।

- **प्रासुकजल**—स्वकाय-शस्त्र (मीठे जल मे खाराजल मिलाना, स्वकाय शस्त्र है) व परकाय शस्त्र (त्रिफला, लौग, शक्कर आदि डालना) के द्वारा अचित्त बना जल।
  पूर्वोक्त दोनो ही प्रकार के जल मुनियो को लेना कल्पता है। दोनो ही प्रकार के जल का मुनियो को तीन प्रहर तक उपयोग करना कल्पता है। तदुपरान्त कालातिक्रान्त हो जाने से अकल्प्य बन जाता है। यदि ग्लान, वृद्ध, बालमुनि आदि के लिए दूसरी व्यवस्था न हो तो तीन प्रहर से अधिक भी जल रखा जा सकता है ॥८८१ ॥
- ग्लानादि के लिये रखे हुए उष्ण-प्रासुक जल का ग्रीष्मऋतु मे पॉच प्रहर का काल है अर्थात् ग्रीष्मऋतु मे पॉच प्रहर तक उष्ण व प्रासुक जल अचित्त रहता है तत्पश्चात् पुन सचित्त बन जाता है। ग्रीष्मकाल अत्यन्त रूक्ष होने से उसमे जल इतने काल बाद सचित्त बनता है।
- शीतकाल मे स्निग्धता के कारण चार प्रहर के पश्चात् ही जल पुन सचित्त बन जाता है।
- वर्षाऋतु मे काल अतिस्निग्ध होने से प्रासुक जल तीन प्रहर के पश्चात् पुन सचित्त हो जाता है।
  पूर्वोक्त काल के पश्चात् भी यदि जल रखना हो तो उसमे चूना आदि क्षार पदार्थ डालकर रखना चाहिये ताकि वह अचित्त बना रहे ॥८८२ ॥

१३७ द्वार : स्त्रियाँ—

तिगुणा तिरूवअहिया तिरियाण इत्थिया मुणेयव्वा।
सत्तावीसगुणा पुण मणुयाण तयहिया चेव ॥८८३ ॥
बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया य तह य देवाण।
देवीओ पन्नत्ता जिणेहिं जियरागदोसेहि ॥८८४ ॥

—गाथार्थ—

तिर्यंच, मनुष्य और देव से कितनी अधिक उनकी स्त्रियॉ होती है?—**तिर्यंच पुरुष की अपेक्षा तिर्यंच स्त्रियॉ तीन गुणी और तीन अधिक है। मनुष्य की अपेक्षा मानवी सत्तावीस गुणी और सत्तावीस अधिक है। देवों की अपेक्षा देवियॉ बत्तीस गुणी और बत्तीस अधिक है, ऐसा वीतराग परमात्मा ने कहा है ॥८८३-८८४ ॥**

—विवेचन—

- तिर्यंच पुरुष की अपेक्षा तिर्यंच स्त्रियॉ तीन गुणा है।
- मनुष्य की अपेक्षा स्त्रियॉ सत्तावीस गुणा अधिक है।
- देव की अपेक्षा देवियॉ बत्तीस अधिक बत्तीस गुणा है।८८३-८८४ ॥

१३८ द्वार : आश्चर्य—

उवसग्ग गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविया परिसा।
कण्हस्स अवरकका अवयरण चदसूराणं ॥८८५ ॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती चमरुप्पाओ य अट्ठसयसिद्धा।
अस्संजयाण पूया दसवि अणतेण कालेण ॥८८६ ॥
सिरिरिसहसीयलेसुं एक्केक्क मल्लिनेमिनाहे य।
वीरजिणिदे पच्च उ एगं सव्वेसु पाएणं ॥८८७ ॥
रिसहे अट्ठऽहियसय सिद्ध सीयलजिणंमि हरिवंसो।
नेमिजिणेऽवरकंकागमणं कण्हस्स सपन्न ॥८८८ ॥
इत्थीतित्थं मल्ली पूया अस्सजयाण नवमजिणे।
अवसेसा अच्छेरा वीरजिणिदस्स तित्थमि ॥८८९ ॥

—गाथार्थ—

दश आश्चर्य—१. उपसर्ग २. गर्भापहार ३. स्त्रीतीर्थ ४. अभावित पर्षदा ५. कृष्ण का अमरकका-गमन ६. चन्द्र-सूर्य का अवतरण ७. हरिवंश कुलोत्पत्ति ८. चमरेन्द्र का उत्पात ९. एक सौ आठ का सिद्धिगमन और १०. असंयती-पूजा—ये दश आश्चर्य अनन्तकाल मे होते है ॥८८५-८८६ ॥

श्री ऋषभदेव, शीतलनाथ, मल्लिनाथ और नेमिनाथ के तीर्थ में एक-एक आश्चर्य घटित हुआ। भगवान महावीर के शासन में पाँच आश्चर्य हुए तथा एक आश्चर्य प्राय सभी के तीर्थ मे हुआ ॥८८७ ॥

श्री ऋषभदेव के शासनकाल मे एक सौ आठ का सिद्धिगमन हुआ। शीतल जिन के तीर्थ में हरिवंश कुल की उत्पत्ति हुई। नेमिजिन के तीर्थ मे कृष्ण का अमरकंकागमन हुआ। मल्लिनाथ स्त्री तीर्थंकर हुए। नौवे सुविधिनाथ भगवान के तीर्थ में असंयती की पूजा हुई। शेष आश्चर्य भगवान महावीर के तीर्थ में हुए ॥८८८-८८९ ॥

—विवेचन—

- **आश्चर्य**—जिन्हे लोक विस्मय की दृष्टि से देखते है, वे आश्चर्य कहलाते हैं।
  आ-विस्मयतश्चर्यन्ते अवगम्यन्ते जनै इति आश्चर्याणि। वे दश है —

१. उपसर्ग—व्यक्ति की साधना/आराधना मे विशेष बाधा डालने वाले सुर-नर-तिर्यंचकृत उपद्रव उपसर्ग है। यद्यपि तीर्थंकर के आस-पास सौ योजनपर्यन्त युद्ध-कलह, मारी-मरकी, दुर्भिक्ष के उपद्रव नही

होते, यदि है तो शान्त हो जाते है। तीर्थंकर का अचिंत्य प्रभाव होता है। वे श्रेष्ठपुण्य के पुज होते है। तथापि भगवान महावीर को छद्मस्थावस्था व केवली अवस्था मे नर-अमर व तिर्यचकृत अनेक उपसर्ग हुए। ऐसा कभी नही होता, क्योकि तीर्थकर परमात्मा अनन्तपुण्यनिधान होने से सभी के पूज्य होते है, उपसर्ग के पात्र नही होते। अत. भगवान महावीर को होने वाले उपसर्ग लोकदृष्टि से अनन्तकालभावी आश्चर्यरूप है।

२. **गर्भहरण**—एक स्त्री के गर्भ को अन्य स्त्री के गर्भ मे सक्रमण कराना गर्भहरण है। तीर्थकर के जीवन मे ऐसी घटनाये नही होती, पर इस अवसर्पिणीकाल मे भगवान महावीर के जीवन मे गर्भहरण की घटना घटी थी। भगवान महावीर ने मरीचि के भव मे कुलमद करके नीचगोत्र कर्म बॉधा था। उस कर्म के कारण परमात्मा को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी मे उत्पन्न होना पडा। बयासी दिन पश्चात् सौधर्मपति ने ज्ञान से यह देखा तो विचार किया कि 'तीर्थंकर परमात्मा कदापि नीचकुल मे उत्पन्न नही होते। भगवान महावीर का इस प्रकार उत्पन्न होना आश्चर्यरूप है।' यह सोचकर अत्यधिक भक्ति पूर्ण हृदय से अपने सेनापति हरिणगमेषी को आदेश दिया कि—भरतक्षेत्र मे, चरमतीर्थंकर भगवान महावीर पूर्वोपार्जित नीचगोत्र कर्म के उदय से तुच्छकुल मे उत्पन्न हुए है। तुम उन्हे वहॉ से लेकर क्षत्रियकुण्डग्राम के अधिपति सिद्धार्थराजा की पत्नी त्रिशला रानी की कुक्षि मे स्थापित करो। सौधर्मेन्द्र की आज्ञा स्वीकार कर हरिणगमेषी ने आसोज सुदी तेरस की अर्धरात्रि मे देवानन्दा की कुक्षि से भगवान को लेकर त्रिशला की कुक्षि में स्थापित किया। यह घटना भी आश्चर्यरूप ही है।

३. **स्त्री-तीर्थंकर**—स्त्री तीर्थंकर के द्वारा तीर्थ का (द्वादशागरूप अथवा चतुर्विध सघ रूप) प्रवर्तन करना भी आश्चर्यरूप है। सामान्यत तीर्थ का प्रवर्तन त्रिभुवन मे अपूर्व, अनुपमेय महिमाशाली पुरुष ही करते है परन्तु इस अवसर्पिणी मे उन्नीसवे तीर्थंकर कुभनृपति की पुत्री मल्लिकुमारी ने तीर्थ का प्रवर्तन किया था। घटना इस प्रकार है—पश्चिम महाविदेह की सलिलावती विजय मे वीतशोका नाम की एक नगरी थी। वहॉ महाबल नामक राजा राज्य करता था। चिरकाल तक राज्य का पालन कर महाबलराजा ने अपने छ मित्रो के साथ वरधर्म मुनीन्द्र के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। एक व्यक्ति जो तप करेगा, वही तप दूसरा करेगा, ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक उन सातो ने एक साथ तपस्या करना प्रारभ किया। एकदा महाबल मुनि ने अपने मित्रो की अपेक्षा विशिष्ट फल पाने की अभिलाषा से विशिष्ट तप करने का विचार किया तथा पारणे के दिन शिरोवेदना, उदरपीडा, क्षुधा का अभाव आदि अनेक बहाने बनाकर कपटपूर्वक वीसस्थानक तप की आराधना की। मायापूर्वक तप के द्वारा स्त्रीवेद के साथ तीर्थंकर नामकर्म का बधन किया। वहॉ से आराधनापूर्वक मरकर वैजयन्त विमान मे देव बने। वहॉ से आयु पूर्णकर मिथिला नगरी मे कुभ राजा की पत्नी प्रभावती की कुक्षि से पुत्रीरूप मे उत्पन्न हुए। युवावस्था मे दीक्षा ग्रहणकर मल्लिकुमारी ने केवलज्ञान प्राप्त किया। अष्टमहाप्रातिहार्यरूप तीर्थंकर योग्य महासमृद्धि से शोभित होकर उन्होने तीर्थ का प्रवर्तन किया। स्त्री द्वारा तीर्थ प्रवर्तन की घटना अनन्तकाल बीतने के बाद कभी होती है, अत आश्चर्यरूप है।

४. **अभव्या पर्षदा**—तीर्थंकर के समवसरण मे व्रतग्रहण के अयोग्य श्रोतागणो की उपस्थिति

आश्चर्य रूप है। तीर्थंकर परमात्मा की देशना सुनकर कोई न कोई आत्मा अवश्य व्रत ग्रहण करता है। पर केवलज्ञान होने के पश्चात् समागत सख्यातीत देवताओ के द्वारा विरचित समवसरण मे भगवान महावीर के द्वारा अतिगभीर मधुर व मनोहारी ध्वनि से धर्मदेशना देने पर भी किसी भी आत्मा ने व्रतग्रहण नही किया। केवल आचार का परिपालन करने हेतु ही परमात्मा की देशना हुई। ऐसा किसी भी तीर्थंकर के समय मे नही हुआ, किन्तु महावीर के समय मे हुआ अत यह भी आश्चर्यरूप ही है।

५. कृष्ण का अमरकंका गमन—कृष्ण वासुदेव का अमरकका नगरी मे जाना अभूतपूर्व घटना होने से आश्चर्य रूप है। हस्तिनापुर नगर मे पॉचो पाण्डव द्रौपदी के साथ क्रमश विषयसुख भोगते हुए अत्यन्त आनन्दपूर्वक दिन बिता रहे थे। एक दिन स्वैरविहार करते हुए नारद द्रौपदी के महल मे पधारे। द्रौपदी ने वेषभूषा के कारण उन्हे असयत समझकर नमस्कार भी नही किया। द्रौपदी के रूखे व्यवहार से नारद अत्यन्त क्रुद्ध होकर द्रौपदी को दु खी करने का उपाय सोचते हुए उसके महल से तुरन्त निकल गये। भरतक्षेत्र मे तो कृष्ण के डर से उसके अपाय का कोई भी उपाय उन्हे दृष्टिगत नही हुआ अत वे स्त्रीलपट, कपिल वासुदेव के सेवक पद्मराजा की राजधानी अमरकका नगरी मे गये। वह राजा भी नारद जी को देखकर सविस्मय उठा व सत्कारपूर्वक उन्हे अपने अन्तपुर मे ले गया। वहाँ अपनी सभी पत्नियो को दिखाते हुए बोला—भगवन्! आप सर्वत्र निराबाध भ्रमण करने वाले है। बताइये कि आपने मेरी पत्नियो जैसी स्वरूपवान स्त्रियॉ कही अन्यत्र देखी है क्या? नारद ने भी अपनी मनोभावना पूर्ण होते देखकर पद्मराज को चढाते हुए कहा—राजन्! कूप-मण्डूक की तरह क्या इन रानियो को देखकर उछल रहे हो। पाण्डवो की पत्नी द्रौपदी के सम्मुख तुम्हारी ये रानियॉ दासीतुल्य है। इतना कहकर नारद जी आकाश मार्ग से उड चले।

नारद जी के कथन से पद्मराज द्रौपदी को पाने हेतु अत्यन्त उत्कण्ठित हो गया। पर कहाँ जबूद्वीप का भरत क्षेत्र और कहाँ धातकीखण्ड की अमरकका। वहाँ से द्रौपदी को लाना उसकी शक्ति से परे की बात थी अत उसने अपने मित्रदेव की आराधना की। आराधना से प्रसन्न हो देव प्रकट हुआ और बोला कि 'मित्र मुझे क्यो याद किया?' पद्मराज ने कहा 'मित्र! पाण्डव पत्नी द्रौपदी का अपहरण कर मुझे समर्पित करो।' देव ने कहा 'द्रौपदी महासती है उससे तुम्हारी कामना पूर्ण नही हो सकती, तथापि वचनबद्ध होने से मै उसे लाकर तुम्हे समर्पित करूँगा।' देवता ने वैसा ही किया। रात को अपने महल मे सोयी हुई द्रौपदी का अपहरण कर पद्मराज को समर्पित कर दी। जब द्रौपदी जगी अपने पति, महल आदि को न देखकर सहसा व्याकुल हो उठी। इतने मे पद्मनाभ ने आकर उसे सान्त्वना देते हुए बडे प्रेम से कहा—'हे मृगाक्षि! मै धातकीखण्ड की अमरकका का स्वामी, तुम्हारा चाहक पद्मनाभ हूँ। मै ही तुम्हे यहाँ लाया हूँ। तुम मेरे प्रेम को स्वीकार करो।' द्रौपदी परिस्थिति को भॉपते हुए बोली—'हे पद्मनाभ! छ महिने के भीतर यदि मेरे पीछे कोई नही आया तो निश्चित रूप से मै तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करूगी।' पद्मनाभ भी भरतक्षेत्र से किसी का अमरकका मे आगमन असभव समझकर शान्त हो गया।

इधर पाण्डवो ने द्रौपदी को महल मे न पाकर सर्वत्र खोज की। जब वह कहीं न मिली तो पाण्डवो ने कृष्ण को निवेदन किया। कृष्ण यह सुनकर बडे गभीर हो गये। इतने मे नारद जी अपने

कार्य का परिणाम जानने हेतु वहाँ पधार गये। सर्वत्र भ्रमणशील होने के कारण कृष्ण ने द्रौपदी के विषय मे नारद को पूछना उचित समझकर कहा—'भगवन्! आप सर्वत्र विचरण करने वाले है। घूमते हुए आपने कही द्रौपदी को देखा क्या?' नारद ने मुस्कुराते हुए कहा—'वासुदेव! धातकीखण्ड की अमरकका के राजा पद्मनाभ के महल मे मैने उसे देखा था।' ऐसा कहकर नारद चले गये। सुराग पाकर कृष्ण ने पाण्डवो को कह दिया कि चिन्ता करने की अब कोई आवश्यककता नही है। द्रौपदी का पता लग गया है। मैं उसे वहाँ से शीघ्र ही मुक्त कराके लाऊंगा और वे पाण्डवो के साथ विशाल सेना लेकर दक्षिण दिशा की ओर चल पडे। समुद्रतट पर पहुँच कर अथाह-अपार सागर को देखकर पाण्डव बोले—'स्वामिन्! जो समुद्र मन से अलघनीय है उसे तन से कैसे पार करेगे?' कृष्ण ने उन्हे निश्चिन्त रहने का कहकर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थितदेव की अट्ठम अर्थात् तीन दिन के उपवास पूर्वक आराधना की। देव ने प्रसन्न होकर याद करने का कारण पूछा। कृष्ण ने कहा—'हे सुरश्रेष्ठ ! द्रौपदी को लौटाने मे आप हमारी मदद करे।' देव ने कहा—'जैसे पद्मनाम ने अपने मित्रदेव द्वारा उसका अपहरण करवाया, वैसे मै भी वहाँ से उसका अपहरण कर आपको सौप दूँ अथवा दलबल सहित पद्मनाभ को समुद्र मे डालकर द्रौपदी को वहाँ से लाऊँ। जैसी आपकी आज्ञा मै वैसा ही करने को तैयार हूँ।' कृष्ण ने कहा—'ऐसा करना अपयश का कारण है। आप तो पॉच पाण्डवो सहित हमारे छ रथो के जाने का रास्ता समुद्र मे कर दीजिये ताकि हम वहाँ जाकर पद्मनाभ को जीतकर ही द्रौपदी को लाये।'

सुस्थितदेव ने वैसा ही किया। कृष्ण भी पाण्डवो सहित जल मे स्थल की तरह गमन कर अमरकका नगरी के बाहर उद्यान मे जा पहुँचे। सर्वप्रथम उन्होने दारुक दूत को भेजकर पद्मनाभ को अपने आगमन की सूचना दी साथ ही कहलवाया कि वह द्रौपदी को सहर्ष उन्हे सौप दे। परन्तु अहकार मे चूर पद्मनाभ ने सत्य से मुँह मोडते हुए यही सोचा कि कृष्ण अपने क्षेत्र का वासुदेव है, यहाँ वह क्या कर सकता है? अत. दूत को कह दिया कि अपने स्वामी को जाकर कह दो कि द्रौपदी को लेना है तो युद्ध की तैयारी करे और खुद भी युद्ध की तैयारी करके मैदान मे आ डटा। दूत के कथन से अत्यन्त क्रुद्ध बने कृष्ण ने ससैन्य पद्मनाभ को आते हुए देखकर ऐसा सिंहनाद किया कि पद्मनाभ की कुछ सेना मैदान छोडकर भाग छूटी। कुछ धनुष की टकार सुनकर भाग गई। तब अवशिष्ट सैनिको के साथ डरकर पद्मनाभ भी मैदान छोडकर नगरी की ओर भाग छूटा। नगरी के चारो दरवाजे बन्द करवा दिये। कृष्ण भी क्रुद्ध होकर नृसिंह रूप धारण कर नगरी की ओर चल पडे। पॉवो के आघात से पुरी के द्वार को गिराकर भीतर घुस गये। जब पद्मनाभ को यह मालूम पडा तो वह भय से व्याकुल हो गया और द्रौपदी के पास जाकर प्राणो की भीख मॉगने लगा। द्रौपदी ने कहा—'यदि तुम्हे प्राण प्यारे है तो स्त्री वेष धारण कर मेरे पीछे वासुदेव की शरण मे चलो। वे ही तुम्हे प्राणो की भीख दे सकते है।' पद्मनाभ ने वैसा ही किया, कृष्ण ने उसे क्षमा कर द्रौपदी पाण्डवो को सौप दी तथा वे लोग जैसे आये थे वैसे चल पडे। कृष्ण ने जाते समय शखनाद किया।

उस समय उस क्षेत्र का वासुदेव धातकीखण्ड की चपापुरी मे मुनिसुव्रत स्वामी भगवान के समवसरण मे धर्मदेशना श्रवण कर रहा था। वासुदेव के शख की ध्वनि सुनकर उसने तीर्थंकर को पूछा

कि—'भगवन्! मेरा शख किसने बजाया?' भगवान ने भी द्रौपदी का वृत्तान्त बताकर कृष्ण द्वारा शखध्वनि करने की बात कही। कपिल ने अपने क्षेत्र मे वासुदेव का स्वागत करने की भावना व्यक्त की। पर भगवान ने कहा कि—'कपिल! जैसे एक स्थान पर दो तीर्थकर, दो चक्रवर्ती और दो वासुदेव एक साथ उत्पन्न नही हो सकते वैसे एक दूसरे से मिल भी नही सकते।' भगवान के ऐसा कहने पर भी कौतुकवश कपिल वासुदेव, कृष्ण को देखने की इच्छा से समुद्रतट पर गये। उन्होंने समुद्र मे जाते हुए कृष्ण वासुदेव के रथ की ध्वजा देखी। तब उन्होंने शख के माध्यम से कृष्ण को अपनी इच्छा बताई कि इस क्षेत्र का कपिल वासुदेव (मैं) आपका दर्शन करना चाहता है अत आप पुन लौट आइये। कृष्ण ने भी शख बजाकर प्रत्युत्तर दिया कि आप अब आग्रह न करे, कारण हम तट से बहुत दूर निकल गये है और वे दोनो अपने-अपने स्थान को लौट आये।

६. चन्द्र सूर्य का अवतरण—कोशाबी नगरी मे भगवान महावीर पधारे। उस समय अन्तिम प्रहर मे चन्द्र व सूर्य अपने मूल विमान से परमात्मा को वन्दन करने हेतु आये। सामान्यत देवता उत्तर वैक्रिय द्वारा रचित विमान से ही धरती पर आते है अत सूर्य, चन्द्र का मूल विमान से आगमन आश्चर्यरूप है।

हरिवश कुलोत्पत्ति—हरिवश कुल की उत्पत्ति भी आश्चर्यरूप है। हरि = पुरुष विशेष, वश = पुत्र-पौत्रादि परपरा। हरि नामक पुरुष विशेष के द्वारा प्रचलित पुत्र-पौत्रादि परम्परा। यथा—इस भरतक्षेत्र की कौशाबी नगरी मे सुमुख नामक राजा था। वसन्त ऋतु आने पर वह राजा हाथी पर आरूढ होकर क्रीडा हेतु नगर के बाहर बगीचे मे आया। रास्ते मे उसने वीरक नामक जुलाहे की अति सुन्दर लावण्यमयी पत्नी वनमाला को देखा। उसने भी राजा को बार-बार रागदृष्टि से देखा। काम से व्याकुल राजा भी उसे निर्निमेष देखने की इच्छा से हाथी को इधर-उधर घुमाता रहा पर आगे नहीं बढा। तब सुमति नामक मत्री ने आगे न बढने का कारण पूछा। राजा ने तब अपने को सभाला और वहाँ से क्रीडोद्यान मे गया पर हृदय-शून्य की तरह वहाँ उसका मन नही लगा। राजा को उद्विग्न देखकर सुमति मत्री ने पूछा—देव! आज आप उद्विग्न कैसे दिखाई दे रहे है। यदि कारण कहने योग्य हो तो अवश्य कहे। राजा ने कहा—मत्रीश्वर! आपसे गोपनीय कुछ भी नहीं है, क्योकि आप ही मेरी उद्विग्नता को दूर करने मे समर्थ है। ऐसा कह कर राजा ने मत्री को अपनी उद्विग्नता का कारण बताया। मत्री ने राजा को आश्वस्त किया कि वह शीघ्र ही उसकी इच्छा पूर्ण करेगा। राजा स्वस्थ होकर अपने महल मे लौट आया।

तत्पश्चात् मत्री ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये 'आत्रेयिका' नामक परिव्राजिका को वनमाला के पास भेजा। परिव्राजिका ने वहाँ जाकर विरह-व्याकुल वनमाला को कहा कि—हे वत्से! आज तुम उदास क्यो हो? अगर योग्य हो तो अपनी उदासी का कारण बताओ। तव वनमाला ने आहे भरते हुए अपनी दुष्पूरणीय इच्छा बताई। इस पर आत्रेयिका ने कहा—हे वत्से! मेरी मत्र-तत्र की शक्ति के लिये कुछ भी असाध्य नही है। कल प्रात ही मै तुम्हारा राजा से मिलन करवा दूगी। इस प्रकार वनमाला को आश्वस्त कर परिव्राजिका ने मत्री को निवेदित किया कि राजा का कार्य वन गया है। मत्री ने यह

बात राजा को बताई। राजा प्रसन्न हो गया। दूसरे दिन प्रभात मे परिव्राजिका ने वनमाला को राजा के महल मे पहुँचा दिया। राजा ने उसे अनुराग वश अपने अन्त पुर मे रख लिया और उसके साथ अनेक विध भोग भोगने लगा।

इधर वीरक घर मे वनमाला को न पाकर हा प्रिये। वनमाले। तुम कहाँ गई? इस प्रकार विलाप करता हुआ पागल की तरह गली, चौराहो पर घूमने लगा। एक दिन वह इसी अवस्था मे राजा के महल के पास पहुँच गया। राजा और वनमाला ने हा वनमाले। हा वनमाले। ऐसा प्रलाप करते हुए वीरक को देखा। उसकी वह दशा देखकर राजा को बडी आत्मग्लानि हुई कि हमने उभय लोक-विरुद्ध अत्यन्त निन्दनीय कर्म किया है। इसके फलस्वरूप हम मर कर कहाँ जायेगे? इस प्रकार आत्मनिन्दा करते हुए राजा और वनमाला की बिजली गिरने से सहसा मृत्यु हो गई। शुभध्यान से मरकर परस्पर स्नेहवश वे दोनो हरिवर्ष नामक क्षेत्र मे युगल रूप मे उत्पन्न हुए। वहाँ उनका हरि-हरिणी नाम हुआ। कल्पवृक्ष से अपनी इच्छापूर्ति करते हुए वे सुखपूर्वक काल-निर्गमन करने लगे।

वीरक भी उन दोनो की मृत्यु के समाचार सुनकर स्वस्थ बन गया। अन्त मे अज्ञानतापूर्वक मरकर सौधर्म देवलोक मे किल्विषी देव बना। अवधिज्ञान से अपने वैरी हरि-हरिणी को देखकर उसे बडा रोष पैदा हुआ। उसने सोचा—ये मेरे वैरी यहाँ से मरकर क्षेत्र-स्वभाव से निश्चित रूप से देव बनेगे। अत इन्हे ऐसे स्थान पर रखूँ कि वहाँ से मरने पर इनकी अवश्य दुर्गति हो और उसने देवशक्ति से कल्पवृक्ष सहित उन्हे भरतक्षेत्र की चम्पानगरी मे ले जाकर छोड दिया।

उस नगरी का राजा चन्द्रकीर्ति नि सन्तान मर गया था, अत· प्रजाजन राजा बनने योग्य पुरुषो की खोज कर रहे थे। इतने में उस देव ने अपनी शक्ति से सभी को आश्चर्यमुग्ध करते हुए आकाशवाणी की कि—हे राज्यचिन्तको! आपके पुण्य से प्रेरित होकर राजयोग्य हरि-हरिणी का यह जोडा हरिवर्ष क्षेत्र से मै लाया हूँ। इनके आहार के कल्पवृक्ष भी साथ है। जब ये भोजन माँगे तो कल्पवृक्ष के फलो को माँस से मिश्रित कर इन्हे खिलाये, मदिरा पिलाये। लोगो ने भी देवशक्ति से विस्मित होकर 'हरि' को राजा बना दिया। देवता ने अपनी शक्ति से उनकी आयु व शरीर प्रमाण अल्प कर दिया। राजा हरि ने भी समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को जीतकर चिरकाल तक राज्य का पालन किया। उसी के नाम से हरिवंश कुल उत्पन्न हुआ। यह घटना भी अभूतपूर्व होने से आश्चर्यरूप है।

८. चमरेन्द्र का उत्पात—चमरेन्द्र (भवनपति निकाय का इन्द्र) का ऊपर देवलोक मे जाकर उपद्रव करना आश्चर्यरूप है। ऐसा कभी नहीं होता। घटना इस प्रकार है—विभेल नामक उपनगर मे पूरण नाम का एक धनाढ्य गृहस्थ था। एकदा रात्रि मे उसे विचार उत्पन्न हुआ कि मुझे जो सपत्ति व यश-कीर्ति मिली है वह सब पूर्वकृत तपाराधन का ही परिणाम है। अत आगामी भव मे विशिष्ट फलप्राप्ति के लिये इस भव मे मुझे गृहवास का त्याग कर दुष्कर तप करना चाहिए। ऐसा सोचकर पूरण सेठ ने प्रात काल अपने सभी स्वजनों को पूछकर पुत्र को अपने पद पर प्रतिष्ठित कर तापसी दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा दिन से लेकर मृत्यु पर्यन्त बेले-बेले पारणा किया। पारणे के दिन चार कोने वाले लकडी के पात्र मे मध्याह्न वेला मे घर-घर भ्रमण कर भिक्षा ग्रहण करता था। प्रथम, द्वितीय व तृतीय

कोने की भिक्षा क्रमश भिखारी, पक्षी, मत्स्यादि जलचरो को डालकर चतुर्थ कोण की भिक्षा समभाव से स्वय खाता था। इस प्रकार १२ वर्ष तक बालतप करके अन्तिम समय मे एक महीने के अनशनपूर्वक मृत्यु का वरण किया। बालतप के प्रभाव से वह मरकर चमरेन्द्र बना। अवधिज्ञान से सौधर्मेन्द्र को अपने ऊपर बैठा देखकर चमरेन्द्र बडा क्रुद्ध हुआ और अपने अधीनस्थ देवो से पूछा अरे! यह कौन दुष्ट है जो मेरे सिर पर पॉव रखकर बैठा है। देवताओ ने कहा—स्वामिन्! आपके ऊपर बैठने वाला और कोई नही, पूर्वभव के प्रवल पुण्य से अर्जित महान् समृद्धि वाला सौधर्मेन्द्र है। यह सुनकर चमरेन्द्र और अधिक क्रुद्ध हुआ। मेरी अवज्ञा करने वाले इस दुष्टात्मा को मै कडी शिक्षा दूँगा। ऐसा कहता हुआ, देवताओ द्वारा मना करने पर भी सौधर्मेन्द्र से युद्ध करने के लिये मुद्गर लेकर चल पडा। रास्ते मे उसे विचार आया 'सुना जाता है कि इन्द्र बडा शक्तिशाली है। मानो मै उससे पराजित हो गया तो मेरी रक्षा कौन करेगा।' ऐसा सोचकर सुसुमारपुर मे कायोत्सर्ग ध्यान मे स्थित भगवान महावीर के पास आया। प्रणामपूर्वक भगवान को निवेदन किया कि हे प्रभु! आपके प्रभाव से मै इन्द्र को जीतूँगा। पश्चात् एक लाख योजन प्रमाण विशाल व विकृत शरीर बनाकर चारो ओर मुद्गर घुमाता हुआ..तीव्र गर्जना करता हुआ..देवताओ को डराता हुआ सौधर्मेन्द्र के प्रति उडा। एक पॉव सौधर्म विमान की वेदिका पर, दूसरा पॉव सुधर्मा सभा मे रखकर मुद्गर से इन्द्रस्तभ को तीन बार ताडन किया। इससे इन्द्र महाराज क्रुद्ध हुए। अवधिज्ञान से चमरेन्द्र को जानकर क्रोध से जलते हुए, चिनगारियो से समाकुल वज्र को उसके पीछे छोडा। अपने पीछे आते हुए वज्र को देखने मे भी असमर्थ चमरेन्द्र ने अपने वैक्रिय का उपसहार करके वहाँ से शीघ्र ही भाग कर भगवान महावीर की शरण स्वीकार की। जैसे ही वज्र समीप मे आया, वैसे ही वह 'हे महावीर प्रभो! आपकी शरण मे हूँ' बोलता हुआ अपने शरीर को सूक्ष्म से सूक्ष्म बनाकर परमात्मा के चरणो के अन्तराल मे प्रविष्ट हो गया। अर्हन्त परमात्मा, अतिशय सपन्न मुनि भगवन्त आदि की निश्रा के बिना भवनपति देवो का ऊपर आगमन सभव नही है, ऐसा सोचकर इन्द्र महाराज अवधिज्ञान से सपूर्ण वृत्तान्त जानकर तीर्थकर परमात्मा की आशातना न हो जाये, इस भय से शीघ्र ही मर्त्यलोक मे आये और भगवान से चार अगुल दूर स्थित अपने वज्र को पुन खेच लिया। परमात्मा से क्षमा याचना कर इन्द्र ने चमरेन्द्र से कहा, परमात्मा की कृपा से तुम भयमुक्त हो। इस प्रकार उसे आश्वस्त करके पुन भगवान को नमस्कार कर इन्द्र अपने स्थान पर लौट आये। चमरेन्द्र भी इन्द्र के चले जाने पर परमात्मा के चरणो के अन्तराल से बाहर आकर प्रणामपूर्वक प्रभु की स्तुति करके अपने स्थान पर लौट आया।

९. एक साथ एक सौ आठ का मोक्ष—इस भरतक्षेत्र मे भगवान ऋषभदेव परमात्मा के निर्वाण के समय उत्कृष्ट अवगाहना वाले (५०० धनुष की काया वाले) एक सौ आठ आत्मा एक साथ मोक्ष पधारे। जैसा कि सघदासगणि ने अपने **वसुदेव हिण्डी** मे कहा है—

जगतगुरु भगवान ऋषभदेव एक हजार वर्ष न्यून एक लाख पूर्व केवली अवस्था मे विचरण कर, चुतर्दशभक्तपूर्वक, दस हजार श्रमणो के साथ माघ वदी तेरस के दिन अभिजित् नक्षत्र मे अष्टापद पर्वत पर निन्यानवे पुत्र व आठ पौत्र कुल १०७ आत्माओ के साथ एक समय मे अष्टापद पर्वत पर निर्वाण

को प्राप्त हुए। शेष १०८ न्यून दस हजार मुनि उसी दिन समयान्तर से सिद्ध हुए। ऐसी घटना अनत काल मे होने से आश्चर्यरूप है। यह आश्चर्य उत्कृष्ट अवगाहना वालो की सिद्धि मे ही समझना, मध्यम अवगाहना वालो की नही।

१०. असंयती-पूजा—असयत = आरभ परिग्रह मे आसक्त, अब्रह्मचारियो का । पूजा = सत्कार। पूजा के योग्य सयत ही होते है पर इस अवसर्पिणी मे सयत के बजाय असयतो की पूजा हुई अतएव आश्चर्य हुआ। सुविधिनाथ भगवान के मोक्षगमन के कुछ काल पश्चात् काल दोष से साधुओ का सर्वथा विच्छेद हो गया था। ऐसे समय मे जिज्ञासु लोग स्थविर श्रावको को धर्म के विषय मे पूछते थे। वे भी यथामति उन्हे धर्म की जानकारी देते थे। धर्मानुराग से जिज्ञासु आत्मा स्थविर श्रावको का धन, वस्त्रादि देकर पूजा-सत्कार करते थे। वे भी पूजा-सत्कार से गर्वित बनकर स्वमति कल्पना से शास्त्रो की रचना करके स्वार्थबुद्धि से लोगो को समझाते थे कि, धरती, मदिर शय्या, सोना, चॉदी, लोहा, कपास, गाये, कन्या, हाथी, घोडे आदि का सुपात्र को दान करना चाहिये और सुपात्र हम ही है शेष सभी कुपात्र है। ऐसा उपदेश देकर वे लोगो को ठगते थे। लोग भी त्यागी गुरुओ के अभाव मे उन्हे ही गुरु मानते थे। यह क्रम श्री शीतलनाथ भगवान के तीर्थ प्रवर्तनकाल तक चलता रहा।

ये दसो आश्चर्य अनन्तकाल के पश्चात् इस अवसर्पिणी मे हुए। ये आश्चर्य उपलक्षणमात्र है। अनन्तकाल मे ऐसे अनेक आश्चर्य हुए है और होगे ॥८८५-८८६ ॥

९वा आश्चर्य......ऋषभदेव परमात्मा के समय हुआ।

७वा आश्चर्य......शीतलनाथ परमात्मा के समय हुआ।

तीसरा आश्चर्य......मल्लिनाथ परमात्मा के समय हुआ।

चौथा आश्चर्य......नेमिनाथ परमात्मा के समय हुआ।

१ २ ४ ६ ८वा आश्चर्य...महावीर परमात्मा के समय हुआ।

१०वा आश्चर्य ......प्राय सभी तीर्थकरो के समय हुआ।

शंका—असयती की पूजारूप दसवा आश्चर्य यदि सभी तीर्थकरो के समय मे घटित हुआ मानो तो 'पूजा असजयाण नवमजिणे।' यह पाठ कैसे सगत होगा ?

उत्तर—सुविधिनाथ से शान्तिनाथ पर्यन्त जो असयती की पूजा हुई वह तीर्थोच्छेद के पश्चात् हुई। पर सामान्यत असयत पूजा तो प्राय सभी तीर्थकरो के समय होती रही। जैसे ऋषभदेव परमात्मा के समय मरीचि, कपिल आदि की पूजा तीर्थ के रहते ही हुई ॥८८७-८८९ ॥

१३९ द्वार : भाषा—

पढमा भासा सच्चा बीया उ मुसा विवज्जिया तासि।
सच्चामुसा असच्चामुसा पुणो तह चउत्थीत्ति ॥८९० ॥

जणवय समय ठवणा नामे रूवे पडुच्चसच्चे य।
ववहार भाव जोगे दसमे ओवम्मसच्चे य ॥८९१ ॥
कोहे माणे माया लोभे पेज्जे तहेव दोसे य।
हास भए अक्खाइय उवघाए निस्सिया दसहा ॥८९२ ॥
उप्पन्न विगय मीसग जीव अजीवे य जीवअज्जीवे।
तह मीसगा अणता परित्त अद्धा य अद्धद्धा ॥८९३ ॥
आमतणि आणमणी जायणि तह पुच्छणी य पन्नवणी।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥८९४ ॥
अणभिग्गहिया भासा भासा य अभिग्गहमि बोद्धव्वा।
ससयकरणी भासा वोयड अव्वोयडा चेव ॥८९५ ॥

—गाथार्थ—

भाषा के चार प्रकार—पहली सत्यभाषा, दूसरी मृषा भाषा, तीसरी सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा भाषा है ॥८९० ॥

१. जनपद २. समत ३. स्थापना ४. नाम ५. रूप ६. प्रतीत्यसत्य ७. व्यवहार ८. भावसत्या ९. योगसत्या तथा १०. औपम्यसत्या—दशविध सत्यभाषा है ॥८९१ ॥

१. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ ५. प्रेम ६. द्वेष ७ हास्य ८. भय ९. आख्यायिका तथा १० उपघात—ये दस प्रकार की असत्यभाषा है ॥८९२ ॥

१. उत्पन्न २. विगत ३. मिश्र ४. जीव ५. अजीव ६. जीवाजीव ७. अनत ८. प्रत्येक ९. अद्धा १०. अद्धाद्धा—दशविध मिश्रभाषा है ॥८९३ ॥

१. आमंत्रणी २. आज्ञापनी ३. याचनी ४ पृच्छनी ५. प्रज्ञापनी ६ प्रत्याख्यानी ७. इच्छानुलोमा ८ अनभिगृहीता ९. अभिगृहीता १०. सशयकरणी ११. व्याकृता तथा १२ अव्याकृता—द्वादशविध असत्यामृषा भाषा है ॥८९४-८९५ ॥

—विवेचन—

भाषा = बोलना। इसके चार प्रकार है—

१. सत्या—मूलगुण, उत्तरगुण तथा जीवादि पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली भाषा। यह दश प्रकार की है।

(i) जनपद सत्य—जिस देश मे जिस वस्तु के लिये जिस शब्द का प्रयोग होता हो (भले अन्य देश मे उस वस्तु के लिये उस शब्द का प्रयोग न भी होता हो) वह शब्द उस देश की अपेक्षा सत्य माना जाता है। उदाहरणार्थ, कोकण देश मे पानी को 'पिच्च' कहा जाता है। यदि उस देश की अपेक्षा

से यहाँ भी पानी को पिच्च कहा जाये तो वह सत्य है। इसकी सत्यता का आधार है आशयशुद्धि, इष्टार्थप्रतिपत्ति व व्यवहारप्रवृत्ति।

(ii) सम्मत सत्य—सर्व सम्मत वचन। सूर्यविकासी, चन्द्रविकासी आदि सभी कमल कीचड मे पैदा होते है, किंतु पकज शब्द का प्रयोग अरविन्द के लिये ही सर्वसम्मत है। अत अरविंद के लिये पंकज का प्रयोग सत्य है पर कुवलयादि के लिये असत्य है, असम्मत होने से।

(iii) स्थापना सत्य— तथाविध अकरचना या आकृतिविशेष को देखकर उसके लिये शब्द विशेष का प्रयोग करना स्थापना सत्य है। जैसे एक सख्या के आगे दो बिन्दु (१००) लगे हुए देखकर 'सौ' शब्द का तथा तीन बिन्दु लगे देखकर हजार शब्द का प्रयोग करना। तथाविध आकार विशेष को देखकर यह एक माशा है, यह एक तोला है, ऐसा शब्द प्रयोग करना अथवा पत्थर आदि की मूर्ति मे, चित्र मे तथाविध आकार देखकर अरिहत की धारणा करना। जिन नहीं है फिर भी जिन मानना। आचार्य नही है फिर भी आचार्य मानना।

(iv) नाम सत्य—जो केवल नाम मात्र से सत्य हो। जैसे अकेला होने पर भी किसी का नाम 'कुलवर्धन' हो वह नाममात्र से सत्य है, भाव से नही। धन की वृद्धि नही करता फिर भी उसे धनवर्धन कहना। अयक्ष को यक्ष कहना।

(v) रूप सत्य—स्वरूप से सत्य। जैसे किसी ने दभवश साधुवेष धारण किया हो, वह वेष (रूप) से साधु कहलाता है।

(vi) प्रतीत्य सत्य—अपेक्षाकृत सत्य जैसे अनामिका अगुली को कनिष्ठा की अपेक्षा से लम्बी और मध्यमा की अपेक्षा से छोटी कहना।

प्रश्न—एक ही वस्तु मे परस्पर विरोधी ह्रस्वत्व व दीर्घत्व वास्तविक कैसे हो सकते है?

उत्तर—निमित्त भेद से एक ही वस्तु मे ह्रस्वत्व व दीर्घत्व धर्म के रहने मे कोई विरोध नहीं है। यदि एक ही अगुली जैसे कनिष्ठा या मध्यमा की अपेक्षा से अनामिका को ह्रस्व और दीर्घ माने तो विरोध है क्योकि एक निमित्त की अपेक्षा से एक ही वस्तु मे विरोधी दो धर्म नही रह सकते। परन्तु एक की अपेक्षा से वस्तु को ह्रस्व और दूसरे की अपेक्षा से दीर्घ माने तो एक ही वस्तु मे सत्व-असत्व धर्म की तरह ह्रस्व-दीर्घ धर्म के रहने मे भी कोई विरोध नही होता, क्योकि दोनो के निमित्त भिन्न है।

प्रश्न—यदि ह्रस्वत्व ओर दीर्घत्व, एक ही वस्तु मे निमित्त भेद से वास्तविक है तो सरलता और वक्रता की तरह वे वस्तु मे निमित्त निरपेक्ष परिलक्षित क्यो नही होते? अत निमित्त सापेक्ष होने मे ये दोनों धर्म काल्पनिक है?

उत्तर—ऐसा कहना गलत है। वस्तुत वस्तुगत धर्म दो प्रकार के है—

(i) सहकारी के सहयोग से परिलक्षित होने वाले तथा **(ii)** स्वत परिलक्षित होने वाले।

(i) पृथ्वीगत गन्ध जल के सहयोग से परिलक्षित होती है अत वह प्रथम प्रकार का धर्म है।

(ii) कपूर मे रहनेवाली गध स्वत. परिलक्षित होने से दूसरे प्रकार मे आती है।

वस्तुगत ह्रस्वत्व व दीर्घत्व धर्म सहकारी के सहयोग से परिलक्षित होने वाले धर्म है, सहकारी का सयोग होने पर ही वे प्रकट होगे। अत वे परोपाधिक हो नही सकते, वास्तविक है।

(vii) व्यवहार सत्य—जो भाषा लोक व्यवहार से सत्य मानी जाती हो। जैसे पर्वत पर घास या झाड जल रहे हो फिर भी लोक भाषा मे कहा जाता है कि पर्वत जल रहा है। झरता पानी है फिर भी लोक भाषा मे कहा जाता है कि मटकी झर रही है। पेट होने पर भी गर्भ धारण के अभाव मे लोक भाषा मे स्त्री को अनुदरा कहा जाता है। रोम होने पर भी काम योग्य रोम के अभाव मे भेड को अलोमा कहा जाता है। लोक व्यवहार की अपेक्षा से साधु भी उस भाषा का प्रयोग करता है।

(viii) भाव सत्य—पॉच वर्ण वाली वस्तु को किसी एक वर्ण की अधिकता की अपेक्षा से एक वर्ण वाली कहना, जैसे 'बलाका' मे पॉच वर्ण होने पर भी शुक्ल वर्ण का आधिक्य होने से उसे सफेद कहना।

(ix) योग सत्य—किसी वस्तु के सम्बन्ध से व्यक्ति को भी उस नाम से पुकारना, जैसे कोई व्यक्ति हमेशा छत्री रखता हो पर कभी छत्री न हो तो भी उसे 'छत्री 'के नाम से पुकारना। हाथ मे दण्ड रखने से 'दण्डी' कहना।

(x) औपम्य सत्य—उपमेय को उपचार से उपमान के रूप मे पुकारना, जैसे बहुत बडे तालाब को 'समुद्र' कहना, अत्यन्त सुन्दर एव सौम्य चेहरे को 'चन्द्रमा' कहना ॥८९१ ॥

२. मृषा भाषा—वस्तु के स्वरूप का अयथार्थ प्रतिपादन करना। इसके दस भेद है।

(i) क्रोधमृषा—क्रोधवश सत्य या असत्य कुछ भी बोलना असत्य ही कहलाता है, क्योकि वह शब्दत सत्य होने पर भी आशय की दृष्टि से असत्य ही है। जैसें घुण (लकडी का कीडा) लकडी को कुरेदता है। यद्यपि उसका कोई अभिप्राय नही होता तथापि यदा-कदा लकडी पर अक्षर बन जाता है। वैसे ही क्रोधवश बोलते-बोलते मुँह से सत्य बात निकल जाती है अथवा विश्वास पैदा करने के लिये भी सत्य बोलता है तथापि आशय बुरा होने से ऐसा सत्य भी असत्य ही है। जैसे क्रोधवश पिता अपने पुत्र को कहता है "तू मेरा पुत्र नही है।" तथा जो दास नही है उसे दास कहना इत्यादि।

(ii) मानमृषा—गर्व से स्वय का उत्कर्ष बताने के लिये झूठ कहे कि "मै पहिले ऐश्वर्यवान था, स्वामी था।"

(iii) मायामृषा—दूसरो को ठगने के लिये सत्य या असत्य कुछ भी वोलना मायामृषा है।

(iv) लोभमृषा—लोभवश अल्पमूल्य वाली वस्तु को मूल्यवान कहना लोभमृषा हे।

(v) प्रेममृषा—प्रेमवश असत्य भाषण करना, जैसे रागवश कोई पुरुप किसी स्त्री को कहता हे कि मै तेरा दास हूँ।

(vi) द्वेषमृषा—द्वेषवश झूठ बोलना जैसे द्वेपवश गुणी को निर्गुणी कहना।

(vii) हास्यमृषा—मजाक मे झूठ वोलना। जैसे किसी का कुछ छुपाकर मजाक मे कहना कि मैंने नही छुपाया।

(viii) भयमृषा—चोरादि के भय से असत्य बोलना।

(ix) कथामृषा—कथा को रसमय बनाने के लिये असभव को भी सभव बनाना।

(x) उपघात मृषा—किसी को चोट पहुँचाने के लिये कहना 'तू चोर है, तू बदमाश है' इत्यादि ॥८९२ ॥

३. सत्यमृषा—सत्य और असत्य से मिश्रित भाषा (मिश्र भाषा)। इसके दस भेद है।

(i) उत्पन्नमिश्रा—गॉव मे दस से कम या अधिक बच्चे जन्मने पर भी यह कहना कि आज गॉव मे दस बच्चे जन्मे है। यह व्यवहार से सत्यमृषा है। क्योकि कल तुम्हे सौ रुपये दूँगा, ऐसा कह कर पचास देने पर भी व्यवहार मे इसे असत्य नही समझा जाता। यदि एक भी बच्चा न जन्मा होता या एक भी रुपया नही दिया होता तो पूर्वोक्त कथन सर्वथा असत्य होता अन्यथा सत्यमृषा।

(ii) विगतमिश्रा—गॉव मे कम ज्यादा लोग मरने पर भी कहना कि आज इस गॉव मे इतने लोग मरे।

(iii) अभयमिश्रा—जन्म या मृत्यु कम ज्यादा लोगो की हुई हो तो भी कहना कि इतने जन्मे और इतने मरे।

(iv) जीवमिश्रा—अधिक जीवित व अल्पमृत जीवयुक्त शख, सीपादि के ढेर को देखकर, कहना कि यह जीवो का ढेर है। जीवित की अपेक्षा यह कथन सत्य है और मृत की अपेक्षा से असत्य है अत मिश्र कथन है।

(v) अजीवमिश्रा—शख-सीपादि के ढेर मे बहुत से जीव मरे हुए हो और अल्प जीवित हो तो भी कहना कि यह मृत जीवो का ढेर है। यहॉ मरे हुए की अपेक्षा सत्य, जीवित की अपेक्षा असत्य कथन होने से यह मिश्रभाषा कहलाती है।

(vi) जीवाजीवमिश्रा—मरे हुए और जीवित जीवो के ढेर मे सख्या का निश्चय न होने पर भी कहना कि इसमे इतने मरे हुए है और इतने जीवित है। सख्या निश्चित न होने पर भी निश्चित सख्या बताना मृषा है। जीवित व मृत दोनो ढेर है अत यह कथन सत्य भी है।

(vii) अनंतमिश्रा—'मूला' आदि अनतकाय है, उसके पत्ते अनतकाय नही है, किंतु दोनो को अनतकायिक कहना अथवा प्रत्येक वनस्पति से मिश्रित अनतकाय को यह अनतकाय है ऐसा कहना।

(viii) अद्धामिश्रा—काल सम्बन्धी सत्य, असत्य बोलना जैसे प्रातकाल जल्दी उठकर कोई काम करना हो तो सोये हुए व्यक्ति को सूर्योदय न होने पर भी कहना कि 'जल्दी उठो' सूर्योदय हो गया है। रात मे काम करना हो तो दिन रहने पर भी कहे कि 'रात्रि हो गई है।'

(ix) प्रत्येक मिश्रा—प्रत्येक वनस्पति और अनतकाय मिश्रित हो तो भी उसे प्रत्येक वनस्पति ही कहना।

(x) अद्धाद्धामिश्रा—दिन या रात का एक हिस्सा अद्धाद्धा कहलाता है, जैसे प्रथम प्रहर मे कोई काम कराना हो तो देर न हो जाये इसलिये करने वाले को कहना कि जल्दी करो मध्याह्न हो गया है ॥८९३ ॥

४. **असत्यामृषा**—यह भाषा न तो सत्य है, न असत्य, किंतु व्यवहारोपयोगी है। इसके बारह भेद है।

(i) आमंत्रणी—हे देवदत्त! इत्यादि बोलना। यह भाषा सत्य, असत्य और मिश्र इन तीनो से विलक्षण मात्र व्यवहारोपयोगी है। अत व्यवहार भाषा कहलाती है।

(ii) आज्ञापनी—किसी को काम मे प्रवृत्त करने के लिये कहना कि 'यह करो।'

(iii) याचनी—किसी वस्तु की याचना करना कि 'मुझे यह दो।'

(iv) पृच्छनी—ज्ञान के लिये या सशय निवारण के लिये पूछना।

(v) प्रज्ञापनी—शिष्यादि को उपदेश देना जैसे जीवदया का पालन करने से दीर्घ आयुष्य मिलता है।

(vi) प्रत्याख्यानी—नकारात्मक भाषा। यथा—ऐसा मत करो, मत माँगो आदि।

(vii) इच्छानुवर्तिनी—पूछने वाले की इच्छा के अनुरूप जवाब देना। जैसे कोई पूछे कि 'मै यह करना चाहता हूँ' तो उसे इस प्रकार उत्तर दे कि—'आप यह काम करो, मुझे भी यह काम पसन्द है।' ॥८९४॥

(viii) अनभिगृहीता—डित्थादि शब्द की तरह जिसका कोई निश्चित अर्थ न हो, ऐसी भाषा बोलना। जैसे एक साथ वहुत से काम आ गये हो और कोई पूछे कि 'अब मै क्या करूँ?' तो कहना कि जैसा उचित हो, वैसा करो।

(ix) अभिगृहीता—निर्णयात्मक वचन बोलना। जैसे कोई पूछे कि 'अव मै क्या करूँ' तो निश्चित कहना कि ऐसा करो।

(x) सशयकरणी—सशय पैदा करने वाली भाषा बोलना। जैसे अनेकार्थक शब्द का प्रयोग करना। किसी ने कहा कि 'सैन्धव' लाओ। यहाँ 'सैन्धव' शब्द के अनेक अर्थ है लवण, वस्त्र, पुरुष और घोडा। अत सुनने वाले को सशय होता है कि क्या लाना चाहिये?

(xi) व्याकृता—स्पष्ट अर्थवाली भाषा बोलना।

(xii) अव्याकृता—गूढ अर्थवाली या अस्पष्ट अर्थ वाली भाषा वोलना ॥८९५॥

१४० द्वार : वचन-भेद—

कालतिय वयणतिय लिगतिय तह परोक्ख पच्चक्ख।
उवणयऽवणयचउक्कं अज्झत्थ चेव सोलसम ॥८९६॥

—गाथार्थ—

वचन के सोलह भेद—कालत्रिक, वचनत्रिक, लिंगत्रिक—ये नौ वचन हुए। इनमे प्रत्यक्षवचन, परोक्षवचन, उपनय-अपनय चतुष्क एवं अध्यात्म वचन जोडने से वचन के मोलह भेद हुए॥८९६॥

—विवेचन—

कालत्रिक—अतीत, अनागत और वर्तमान काल का वाचक शब्द। जैसे किया, करेगा और करता है।=३

वचनत्रिक—एक वचन, द्विवचन और बहुवचन के वाचक शब्द। जैसे एक, द्वौ, बहव।=३

लिंगत्रिक—स्त्रीलिंग, पुल्लिग और नपुसकलिंग के वाचक शब्द। जैसे इय स्त्री, अय पुरुष, इद कुल।=३

परोक्षनिर्देश—परोक्ष वस्तु का बोधक शब्द। जैसे स = वह। ते = वे।=१

प्रत्यक्षनिर्देश—प्रत्यक्ष वस्तु का बोधक शब्द। जैसे अय = यह।=१

उपनयापनयवचन—गुण, अवगुण का बोधक शब्द। जैसे यह स्त्री सुदर है, किंतु दु शील है। यहाँ 'सुन्दर है' यह गुण का कथन है, और 'दु शील है' यह अवगुण का कथन है।=१

उपनयोपनय वचन—गुणो का कथन करना। जैसे यह स्त्री सुन्दर है और सुशीला भी है।=१

अपनयोपनय वचन—दोषो का कथन करके गुण बताना। जैसे यह कुरूपा है कितु सुशीला है।=१

अपनयापनय वचन—दोषो का ही कथन करना। जैसे यह स्त्री कुरूपा है और कुशीला भी है।=१

आध्यात्मिकवचन—मन की बात छुपाकर मायावश कुछ अन्य बात कहना चाहता हो, किन्तु वोलते समय सहसा सत्य बात मुँह से बोल देना। =१ ॥८९६॥

१४१ द्वार : मास-भेद—

मासा य पंच सुत्ते नक्खत्तो चंदिओ य रिउमासो।
आइच्चोऽविय अवरोऽभिवड्ढिओ तह य पचमओ ॥८९७॥
अहरत्त सत्तवीस तिसत्तसत्तट्ठिभाग नक्खत्तो।
चंदो अउणत्तीसं विसट्ठिभाया य वत्तीसं ॥८९८॥
उउमासो तीसदिणो आइच्चो तीस होइ अद्ध च।
अभिवड्ढिओ य मासो चउवीसमसएण छेएणं ॥८९९॥
भागाणिगवीसमय तीसा एगाहिया दिणाणं तु।
एए जह निप्फत्ति लहंति समयाउ तह नेयं ॥९००॥

—गाथार्थ—

मास के पाँच भेद—१. नक्षत्रमास २. ऋतुमास ३. चन्द्रमास ४. सूर्यमास और ५. अभिवर्धितमास। सूत्र में महीनों के ये पाँच भेद बताये है।।८९७।।

नक्षत्रमास सत्तावीश अहोरात्र तथा सड़सठीया इक्कीस भाग प्रमाण है।

चन्द्रमास उनतीस दिन और बासठीया बत्तीस भाग प्रमाण है। ऋतु-मास तीस दिन का है, आदित्यमास साढ़े तीस दिन का है तथा अभिवर्धितमास इकत्तीस दिन और एक सौ चौबीस भाग में से एक सौ इक्कीस भाग प्रमाण है। इन महीनो की उत्पत्ति की रीति आगम से ज्ञातव्य है।।८९८-९००।।

—विवेचन—

(i) नक्षत्रमास (iii) ऋतुमास (v) अभिवर्धित मास
(ii) चन्द्रमास (iv) आदित्य मास

(i) अभिजित नक्षत्र से निकलकर उत्तराषाढा नक्षत्र मे चन्द्र को प्रविष्ट होने मे जितना समय लगता है, वह कालमान 'नक्षत्रमास' कहलाता है। अथवा चन्द्र को नक्षत्रमण्डल मे भ्रमण करने मे जितना समय लगता है, वह कालमान 'नक्षत्रमास' कहलाता है। इसका प्रमाण $२७\frac{२१}{६७}$ अहोरात्रि का है।

(ii) कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक का काल चन्द्रमास कहलाता है अथवा चन्द्र के चार से सम्बन्धित काल 'चन्द्रमास' है। इसका प्रमाण $२९\frac{३२}{६२}$ अहोरात्रि का है।

(iii) ६० दिन अर्थात् दो मास की एक ऋतु होती है। उसका आधा भाग अर्थात् एकमास (३० दिन) अवयव मे समुदाय के उपचार से 'ऋतुमास' कहलाता है। इसका कालमान ३० अहोरात्रि का है। कर्ममास, सावनमास इसी के पर्याय है।

(iv) १८३ दिन प्रमाण दक्षिणायण या उत्तरायण का छट्ठा भाग आदित्यमास कहलाता है अथवा सूर्य के चार से सम्बन्धित काल 'आदित्यमास' कहलाता है। इसका प्रमाण $३०\frac{१}{२}$ अहोरात्रि का है।

(v) एक वर्ष मे १२ चन्द्रमास होते है किंतु जिस वर्ष मे एक चन्द्रमास अधिक होता है, वह 'अभिवर्धित वर्ष' कहलाता है और उसका अधिक मास 'अभिवर्धित मास' कहलाता है। इसका कालमान $३१\frac{१२१}{१२४}$ अहोरात्रि का है।

पूर्वोक्त पाँचो महीनो के कालमान की निष्पत्ति का तरीका आगम मे वताया गया है। शिष्यो के अनुग्रहार्थ सक्षेप मे यहाँ बताया जाता हे।

तीन चन्द्र वर्ष और दो अभिवर्धित वर्ष कुल पाँच वर्ष का एक युग होता हैं ओर एक युग मे १८३० अहोरात्रि होती है। यथा सूर्य का दक्षिण से उत्तर की ओर गमन या उत्तर से दक्षिण की ओर

गमन मे १८३ दिन लगते हैं और एक युग मे पॉच उत्तरायण व पॉच दक्षिणायन होते हैं। कुल मिलाकर १० अयन होते हैं। १८३ को १० से गुणा करने पर १८३० अर्थात् एक युग की अहोरात्रि का प्रमाण आता है। यह मूल संख्या है। इसे क्रमश ६७, ६२, ६१ व ६० सख्या से विभाजित करने पर क्रमश नक्षत्रमास, चन्द्रमास, ऋतुमास तथा आदित्यमास का दिनमान आता है।

१. **नक्षत्रमास**—एक युग मे नक्षत्रमास ६७ होते हैं अत १८३० मे ६७ से भाग देने पर नक्षत्रमास का कालप्रमाण $२७\frac{२१}{६७}$ अहोरात्रि उपलब्ध होती है।

२. **चन्द्रमास**—युग की दिनरात्रि १८३० को ६२ से भाग देने पर $२९\frac{३२}{६२}$ चन्द्रमास का कालमान आता है।

३. **ऋतुमास**—१८३० अहोरात्रि मे ६१ से भाग देने पर ३० अहोरात्रि ऋतु मास का कालमान प्राप्त होता है।

४. **सूर्यमास**—१८३० अहोरात्रि मे ६० का भाग देने पर $३०\frac{१}{२}$ अहोरात्रि सूर्यमास का कालमान आता है। कहा है कि—

'नक्षत्रादि मासो के दिनमान के आनयन का उपाय यह है कि युग की दिनराशि १८३०को क्रमश ६७, ६२, ६१ व ६० से भाग देना ।'

५. **अभिवर्धितमास**—युग का तीसरा व पॉचवा वर्ष अभिवर्धित होता है। अभिवर्धितवर्ष मे १३ चन्द्रमास होते हैं। १३ चन्द्रमास के कुल दिन $३८३\frac{४४}{६२}$ हैं। यथा—एक चन्द्रमास का दिनमान $२९\frac{३२}{६२}$ अहोरात्रि है। एक चन्द्रमा के दिनमान को १३ से गुणा करने पर ३७७ दिन तथा $\frac{४१६}{६२}$ अश आते हैं। ४१६ मे ६२ का भाग देने पर $६\frac{४४}{६२}$ दिन हुए। ३७७ + ६ = $३८३\frac{४४}{६२}$ अभिवर्धित वर्ष के दिन होते है। वर्ष मे मास १२ होते हैं अत इनके मास बनाने के लिये अभिवर्धित वर्ष की सख्या मे १२ का भाग देने पर ३१ अहोरात्रि उपलब्ध हुई, शेष बची ११ अहोरात्रि। इसको १२४ से गुणा करने पर १३६४ भाग हुए। $\frac{४४}{६२}$ को १२४ से गुणा करने पर ८८ भाग हुए। कुल १३६४ + ८८ = १४५२ हुए। इनमे १२ का भाग देने पर १४५२ ÷ १२ = $\frac{१२१}{१२४}$ भाग हुए अत अभिवर्धितमास का प्रमाण $३१\frac{१२१}{१२४}$ अहोरात्रि का है ॥८९७-९०० ॥

१४२ द्वार :

वर्ष-भेद—

सवच्छरा उ पंच उ चदे चंदेऽभिवड्ढिए चेव।
चंदेऽभिवड्ढिए तह बिसट्ठिमासेहि जुगमाण ॥९०१ ॥

—गाथार्थ—

वर्ष के पॉच भेद है—**१. चन्द्रवर्ष २. चन्द्रवर्ष ३. अभिवर्धित वर्ष ४. चन्द्र वर्ष तथा ५. अभिवर्धित वर्ष। इन पॉच वर्षो में बासठ मास होते है और बासठ मास का एक युग बनता है।**

—विवेचन—

चन्द्रवर्ष, चन्द्रवर्ष, अभिवर्धितवर्ष, चन्द्रवर्ष तथा अभिवर्धितवर्ष इस क्रम से पॉच सवत्सर होते है और इन पॉच सवत्सरो से एक युग बनता है। इसलिये ये युगसवत्सर कहे जाते है।

चन्द्रवर्ष—१२ चन्द्रमास से निष्पन्न सवत्सर चन्द्रवर्ष है। इसका काल $३५४\frac{१२}{६२}$ अहोरात्र है चन्द्रमास की दिन सख्या $२९\frac{३२}{६२}$ को १२ से गुणा करने पर वर्ष का दिनमान आता है।

प्रत्येक युग का दूसरा और चौथा सवत्सर चन्द्रवर्ष होता है।

अभिवर्धितवर्ष—चन्द्रवर्ष की अपेक्षा जिस सवत्सर मे एक मास अधिक हो वह अभिवर्धित सवत्सर है। इसका दिन मान $३८३\frac{४४}{६२}$ अहोरात्र है।

- एक अभिवर्धित मास का परिमाण $३१\frac{१२१}{१२४}$ अहोरात्र है। इसको १२ से गुणा करने पर ३७२ दिन १४५२ अश हुए। अश मे १२४ का भाग देने पर ११ दिन आते है तथा ८८ अश शेष रहते है। ११ दिन पूर्वोक्त ३७२ मे जोडने पर ३८३ दिन हुए। $\frac{८८}{१२४}$ अश को दो से भाग देने पर $\frac{४४}{६२}$ अश हुए, इस प्रकार पॉचवॉ सवत्सर समझना चाहिए।
- इन पॉच सवत्सर से एक युग बनता है। एक युग मे तीन चन्द्र सवत्सर हे। एक चन्द्र सवत्सर मे १२ महीने होते है। तीन को बारह से गुणा करने पर ३ × १२ = ३६ मास हुए। अभिवर्धित सवत्सर युग मे दो होते हैं। एक अभिवर्धित सवत्सर मे १३ चन्द्रमास होते है अत २ × १३ = २६ मास हुये। चन्द्रमास ओंर अभिवर्धित मास का कुलयोग ३६ + २६ = ६२ मास हुए अर्थात् एक युग मे ६२ चन्द्रमास होते है ॥९०१ ॥

१४३ द्वार : लोक-स्वरूप—

माघवईए तलाओ ईसि पब्भारउवरिमतलं जा।
चउदसरज्जू लोगो तस्साहो वित्थरे सत्त ॥९०२ ॥
उवरि पएसहाणी ता नेया जाव भूतले एगा।
तयणुप्पएसवुड्ढी पचमकप्पंमि जा पंच ॥९०३ ॥
पुणरवि पएस हाणी जा सिद्धसिलाए एक्कगा रज्जू।
घम्माए लोगमज्झो जोयणअस्सखकोडीहि ॥९०४ ॥
हेट्ठाहोमुहमल्लगतुल्लो उवरि तु सपुडठिआणं।
अणुसरइ मल्लगाणं लोगो पंचत्थिकायमओ ॥९०५ ॥
तिरिय सत्तावन्ना उड्ढ पचेव हुंति रेहाओ।
पाएसु चउसु रज्जू चउदस रज्जू य तसनाडि ।९०६ ॥
तिरिय चउरो दोसु छ दोसुं अट्ठ दस य इक्किक्के।
बारस दोसुं सोलस दोसुं वीसा य चउसुपि ॥९०७ ॥
पुणरवि सोलस दोसुं, बारस दोसुंपि हुंति नायव्वा।
तिसु दस तिसु अट्ठच्छा य दोसु दोसुपि चत्तारि ॥९०८ ॥
ओयरिय लोयमज्झा, चउरो चउरो य सव्वहि नेया।
तिग तिग दुग दुग एक्किक्कगो य जा सत्तमी पुढ़वी ॥९०९ ॥
अडवीसा छव्वीसा चउवीसा वीसा सोल दस चउरो।
सत्तासुवि पुढवीसु तिरियं खण्डुयगपरिमाणं ॥९१० ॥
पंच सय बारसुत्तर हेट्ठा तिसया उ चउर अब्भहिया।
अह उड्ढं अट्ठ सया सोलहिया खडुया सव्वे ॥९११ ॥
बत्तीस रज्जूओ हेट्ठा रुयगस्स हुति नायव्वा।
एगोणवीसमुवरि इगवन्ना सव्वपिडेणं ॥९१२ ॥
दाहिणपास दुखडा वामे सधिज्ज विहिय विवरीय।

नाडीजुआ तिरज्जू उड्ढाहो सत्त तो जाया ॥९१३ ॥

हेट्ठाओ वामखडं दाहिणपासंमि ठवसु विवरीय।

उवरिम तिरज्जुखड वामे ठाणमि सधिज्जा ॥९१४ ॥

तिन्नि सया तेयाला रज्जूण हुति सव्वलोगम्मि।

चउरस होइ जय सत्तण्ह घणेणिमा सखा ॥९१५ ॥

छसु खंडगेसु य दुग चउसु दुग दससु हुति चत्तारि।

चउसु चउक्कं गेवेज्जणुत्तराइ चउक्कमि ॥९१६ ॥

सयंभुपुरिमंताओ अवरतो जाव रज्जुमाण तु।

एएण रज्जुमाणेण लोगो चउदस रज्जुओ ॥९१७ ॥

—गाथार्थ—

लोक का स्वरूप—सातवी माघवती नामक नरक पृथ्वी के तल से लेकर इषद्प्राग्भारा अर्थात् सिद्धशिला के उपरिवर्ती भाग पर्यत लोक की ऊँचाई १४ रज्जु परिमाण है। लोक का निम्न विस्तार ७ रज्जु है। सातवी नरक से एक-एक प्रदेश न्यून करते-करते मध्यलोक का विस्तार एक रज्जु परिमाण रह जाता है। तत्पश्चात् एक-एक प्रदेश वृद्धि होने से पाँचवें ब्रह्मदेवलोक के समीप लोक का विस्तार पुन पॉच रज्जु परिमाण हो जाता है। पुन एक प्रदेश की हानि होते-होते सिद्धशिला के समीप लोक एक रज्जु परिमाण विस्तृत रह जाता है

प्रथम रत्नप्रभा नामक नरक के ऊपर असख्यात क्रोड योजन अतिक्रमण करने के पश्चात् लोक का मध्यभाग आता है ॥९०२-९०४ ॥

लोक सस्थान (रचना)—अधोभाग में लोक की संरचना उल्टे रखे हुए शराव की तरह है। ऊपर भाग में शराव सपुट की तरह है अर्थात् सीधे रखे हुए शराव पर दूसरा शराव उल्टा रखने पर जो आकार बनता है वैसा आकार है। यह संपूर्ण लोक पचास्तिकायमय है ॥९०५ ॥

१४ रज्जुमय लोक के खड बनाने की रीति—(असत् कल्पना द्वारा)—५७ तिर्यक् रेखा और ५ ऊपर से नीचे की ओर सीधी रेखा खीचना। इससे कुल ५६ खड बनते है। ४ खड का एक रज्जु होता है। ५६ में ४ का भाग देने पर १४ आते है। यह त्रसनाडी का परिमाण है। १ रज्जु का चतुर्थ भाग खड कहलाता है ॥९०६ ॥

सपूर्ण लोक के तिर्यक् खडो को बताते हुए सर्वप्रथम ऊर्ध्वलोक सवधी आठ रुचक प्रदेश से लेकर लोकान्त तक के तिर्यक् खड—तिरछा लोक के खडो मे प्रथम की दो पंक्तियों मे ४-४ खड है। तत्पश्चात् क्रमश दो पक्तियो मे ६-६, एक मे ८, एक मे १०, दो मे १२-१२, दो मे १६-१६ और चार पक्ति में २०-२० खड है ॥९०७ ॥

उपरिवर्ती दो पक्तियो मे १६-१६ खडो की, दो मे १२-१२ खंडो की, तीन मे १०-१० खडो

की, पुनः तीन मे ८-८ खंडों की, दो में ६-६ खंडो की और दो मे ४-४ खंडो की हानि होती है ॥९०८॥

अधोलोक मे ऊपर से लेकर नीचे तक के खडो की सख्या—लोक के मध्यभाग से नीचे रत्नप्रभा आदि सात नरको में ४-४ खंड त्रसनाडी के भीतर है और शर्कराप्रभा आदि नरकों मे क्रमश ३-३, २-२ और १-१ खंड त्रसनाड़ी के बाहर है। यह सातवीं नरक तक समझना चाहिए॥९०९॥

सातवी नरक से लेकर प्रथम रत्नप्रभा नरक तक के तिर्यक् खडो का परिमाण—सात नरकों के खंडों का परिमाण क्रमश है—२८, २६, २४, २०, १६, १० और ४॥९१०॥

अधोलोक में ५१२ खंड है तथा ऊर्ध्वलोक में ३०४ खंड है। संपूर्ण लोक के कुल मिलाकर ८१६ खंड है॥९११॥

ऊर्ध्वलोक व अधोलोक अपने-अपने खडो के अनुसार कुल कितने राजु परिमाण है—आठ रुचक प्रदेश से नीचे अधोलोक ३२ रज्जु परिमाण तथा ऊपर ऊर्ध्वलोक १९ रज्जु परिमाण है। इस प्रकार कुल मिलाकर लोक ५१ रज्जु परिमाण है॥९१२॥

ऊर्ध्वलोक में ब्रह्मलोक के समीपवर्ती तथा त्रसनाड़ी की दाहिनी तरफ के ऊपर-नीचे के दोनो खंडों को लेकर बॉई तरफ उलट कर अर्थात् ऊपर का खंड नीचे और नीचे का खंड ऊपर, इस तरह जोड़ना कि त्रसनाड़ी सहित यहॉ का विस्तार सर्वत्र ३ रज्जु परिमाण हो जाये और ऊँचाई सात रज्जु की रहे। पश्चात् अधोलोक में त्रसनाड़ी के बॉई तरफ के एक खड को कल्पना द्वारा उठाकर त्रसनाड़ी के दॉई तरफ उलट कर जोड़ना तथा ऊपरवर्ती संवर्तित, त्रिरज्जु विस्तृत खंड को अधोलोक के संवर्तित खंड की बॉई ओर जोड़ना॥९१३-९१४॥

घनीभूत लोक के रज्जु—समचौरस ७ रज्जु परिमाण घनीकृत लोक के रज्जु की संख्या ३४३ है॥९१५॥

६ खंडों में प्रथम के दो देवलोक, चार खडों मे तीसरा चौथा देवलोक, दस खंड़ों मे चार देवलोक, चार खंडों मे चार देवलोक तथा चार खंडों में नौ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर विमान है॥९१५॥

—विवेचन—

सातवी नरक के भूमितल से लेकर सिद्धशिला के उपरवर्ती तल तक यह लोक चौदह रज्जु लबा है। इसका विस्तार भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न है। जैसे सातवे नरक के अधोभाग मे इसका विस्तार देशोन सात रज्जु है। सूत्रकार ने पूरे सात रज्जु ही कहा है, कारण न्यूनता अत्यल्प होने से 'देशोन' नही कहा। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक प्रदेश की वृद्धि होते-होते समभूतला पृथ्वी के पास लोक का विस्तार एक रज्जु हो जाता है। वहॉ से पुन· एक-एक प्रदेश की वृद्धि होते-होते ऊर्ध्वलोक मे पॉचवे ब्रह्मदेवलोक के पास लोक का विस्तार पॉच रज्जु परिमाण हो जाता है। यहॉ से एक-एक प्रदेश की हानि होते-होते सिद्धशिला के ऊपर लोकात के पास लोक का विस्तार पुन एक रज्जु रह जाता है। प्रथम नरक से असख्याता क्रोड योजन ऊपर सीधे चलने पर लोक का मध्यभाग आता है।

लबाई मे चौदह रज्जु परिमाण इस लोक के तीन भाग है—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिरछालोक। जबूद्वीप के मध्यभाग मे रत्नप्रभा नरक के ऊपर मेरुपर्वत है। उस मेरु के मध्यभाग मे आठ प्रदेश वाला 'रुचक' है। यह रुचक गाय के स्तन के आकार का है। इसके चार प्रदेश ऊपर है और चार नीचे है। यही रुचक दिशा-विदिशा का प्रवर्तक है और तीन लोको का विभाजक है। रुचक के ऊपरवर्ती ९०० योजन तथा अधोवर्ती ९०० योजन मिलकर १८०० योजन का तिर्यक्लोक है। तिर्यक्लोक के नीचे

अधोलोक तथा ऊपर ऊर्ध्वलोक है। ऊर्ध्वलोक देशोन सात रज्जु परिमाण है और अधोलोक कुछ अधिक सात रज्जु परिमाण है। मध्य मे १८०० योजन ऊँचा तिर्यक्लोक है। आठ रुचक प्रदेश के समभूतल भाग से असख्याता क्रोड योजन नीचे जाने पर रत्नप्रभा नरक पर्यंत चौदह रज्जु परिमाण वाले लोक का मध्यभाग है जो कि सपूर्ण ७ रज्जु परिमाण होता है ॥९०२-९०३-९०४ ॥

सर्वप्रथम नीचे एक शराव उलटा रखना। उस पर दूसरा शराव ऊर्ध्वमुख स्थापित करना पुन उस पर तीसरा शराव अधोमुख रखना। इस प्रकार करने से जैसा आकार बनता है, लोक का वैसा ही आकार है। यह लोक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एव जीवास्तिकाय रूप पचास्तिकायमय है अर्थात् इन पाँचो से व्याप्त है ॥९०५ ॥

असत्कल्पना के द्वारा १४ रज्जु परिमाण लोक के खडो की सख्या कितनी होती है? यह बताते है।
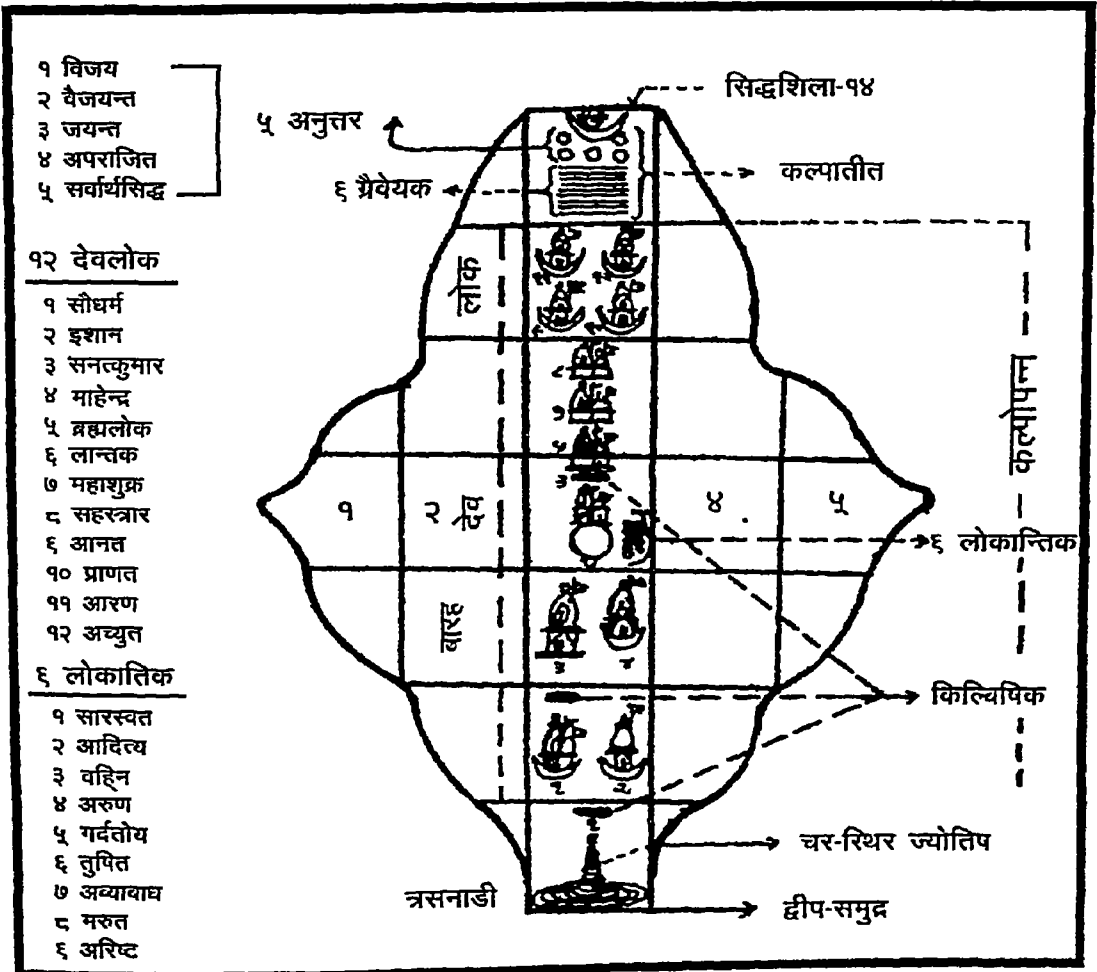
सात नरक
७ राजलोक प्रमाण
अधोलोक
१८०० योजन प्रमाण तिर्यक्लोक
मेरुपर्वत
ज्योतिष्चक्र (सूर्य-चन्द्रादि)
असंख्य द्वीप-समुद्र
तिर्यक् लोक
१. घमा.
२. वंशा.
३. शैला.
४. अंजना
५. रिष्टा.
६. मघा.
७. माघवती
१. रत्नप्रभा
२. शर्कराप्रभा
३. वालुकाप्रभा
४. पंकप्रभा
५. धूमप्रभा
६. तमप्रभा
७. तमस्तमप्रभा

ऊर्ध्वलोकान्त
अनुत्तर-५
११ १२
९ १०
८
७
६
५
३ ४
१ २
रत्नप्रभा
७ राजप्रमाण ऊर्ध्वलोक
तिर्यग्
लोक
पृथ्वी
शर्कराप्रभा
वालुकाप्रभा
पृथ्वी
पंक
पृथ्वी
धूम प्रभा
पृथ्वी
तम
प्रभा
पृथ्वी
तमस्तमा पृथ्वी
७ राजप्रमाण अधोलोक
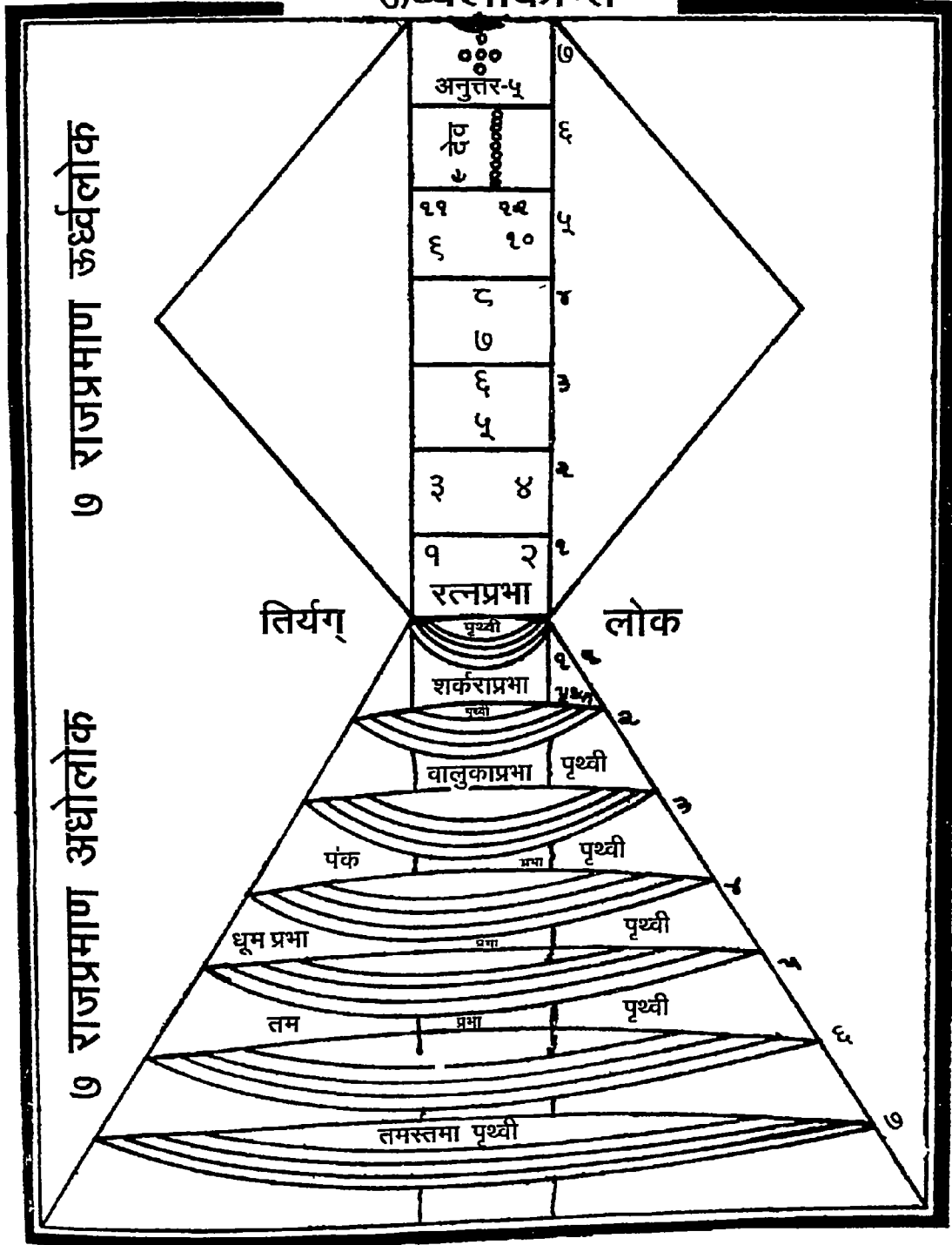
असत्कल्पना से किसी पट्टे को १४ रज्जु लबा मानकर तिरछी ५७ व खडी ५ रेखा खीचना। इससे ऊपर से नीचे तक छप्पन खण्ड होते है। एक खण्ड एक रज्जु का चौथा भाग होता है अत इसे पाद भी कहते है। चार खण्ड मिलाकर एक रज्जु बनता है अत ५६ – ४ = १४ रज्जु परिमाण लोक है। त्रसनाडी (जहाँ त्रस जीव होते है ऐसी ऊपर से नीचे १४ रज्जु लबी नाली) का भी यही परिमाण है। खडी ५ रेखाओ से चौडाई मे ४ खड बनते है। ४ खड = एक रज्जु है अत त्रसनाडी की चौडाई सर्वत्र एक रज्जु परिमाण है ॥९०६ ॥

संपूर्ण लोक के चौड़ाई में कहाँ कितने खंड है—सर्वप्रथम ऊर्ध्वलोक के खडो का वर्णन करते है। ऊर्ध्वलोक, समभूतला पृथ्वी के मध्यभाग से लेकर ऊपर लोकान्त तक है। रुचक के मध्यभाग मे तिरछी २९ वी रेखा के ऊपर ४-४ खड है। वे त्रसनाडी के अन्तर्वर्ती है। वहाँ त्रसनाडी के बाहर एक भी खड नही है। उससे ऊपरवर्ती दो पक्तियो मे ६-६ खड है। ४ त्रसनाडी के मध्य व एक-एक उसके बाहर दोनो ओर है। तत्पश्चात् एक ८ खडो की तथा दूसरी १० खडो की पक्ति है। ४ खड त्रसनाडी मे हैं तथा क्रमश २-२ व ३-३ त्रसनाडी के बाहर है। इसकी उपरवर्ती दो पक्तियो मे १२-१२ खड हैं। ४ त्रसनाडी मे ४-४ दोनो ओर बाहर हैं। उसके पश्चात् की दो पक्तियो मे १६-१६ खड है। ४ मध्य मे ६-६ त्रसनाडी के बाहर दोनो ओर है। उसकी ऊपरवर्ती ४ पक्तियो मे २०-२० खड है। ४ मध्य मे और ८-८ दोनो ओर बाहर है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक की १४ पक्तियो के उत्तरोत्तर बढते हुए खड समझना चाहिये ॥९०७ ॥

अब इन्ही १४ पक्तियो मे उत्तरोत्तर घटते हुए खड बताते है। २० खडो वाली पक्तियो की ऊपरवर्ती दो पक्तियो मे १६-१६ खड है। उससे ऊपर की दो पक्तियो मे १२-१२ खड है। ऊपर की तीन पक्तियो मे ८-८ खड है। उससे ऊपर की दो पक्तियो मे ६-६ खड हैं। तत्पश्चात् सबसे ऊपरवर्ती दो पक्तियो मे मात्र नाडीगत ४-४ खड है। इस प्रकार मैंने (टीकाकार ने) अपनी गुरु परपरा के अनुसार रुचक से लेकर ऊपर लोकान्त पर्यत खडो की सख्या बताई, परन्तु कुछ आचार्य "तिरिय चउरो दोसु," इन दो गाथाओ की व्याख्या भिन्न रूप से करते है। उनका कथन है कि—खडो की स्थापना पूर्वोक्त रीति से भिन्न मिलती है। उनके मतानुसार पूवोक्त स्थापना मध्यभाग से ऊपर लोकान्त तक की है। परन्तु अन्य आचार्यो का कहना है कि—खडो की पूर्वोक्त स्थापना ऊर्ध्व लोकान्त से लेकर लोक के मध्यभाग तक की है ॥९०८ ॥

अव अधोलोक के खडो का वर्णन करते है। लोक के मध्यभाग से लेकर ७वीं नरक तक सभी नरको मे त्रसनाडी के मध्य ४-४ खड है। त्रसनाडी के बाहर रत्नप्रभा नरक मे एक भी खड नही है। दूसरी नरक मे त्रसनाडी के बाहर दोनो ओर प्रति पक्ति ३-३ खड है। तीसरी नरक मे त्रसनाडी के बाहर ६-६ खड है। चोथी नरक मे बाहर ८-८ खड है। पाँचवी नरक मे बाहर १०-१० खड है। छट्ठी नरक मे बाहर ११-११ खड है। अन्त मे सातवी नरक मे त्रसनाड़ी से बाहर १२-१२ खड है ॥९०९ ॥

इस प्रकार सातवी नरक से पहली नरक तक प्रति पक्ति तिर्यक् खडो की सख्या निम्न है—

- सातवी नरक मे २८ खड है—४ त्रसनाडी मे और १२-१२ बाहर दोनो ओर।
- छट्ठी नरक मे २६ खड है—४ त्रसनाडी मे और ११-११ बाहर दोनो ओर।
- पॉचवी नरक मे २४ खड है—४ त्रसनाडी मे और १०-१० बाहर दोनो ओर।
- चौथी नरक मे २० खड है—४ त्रसनाडी मे और ८-८ बाहर दोनो ओर।
- तीसरी नरक मे १६ खड है—४ त्रसनाडी मे और ६-६ बाहर दोनो ओर।
- दूसरी नरक मे १० खड है—४ त्रसनाडी मे और ३-३ बाहर दोनो ओर।
- पहली नरक मे ४ खड है—४ त्रसनाडी मे ही है। बाहर एक भी नही है ॥९१० ॥

सम्पूर्ण लोक के खंडों की संख्या—

अधोलोक के कुल ५१२ खड है। यथा, प्रत्येक नरक मे खडो की जो सख्या बताई है उस सख्या की ४-४ पक्तियॉ है अत प्रत्येक पक्ति की सख्या को ४ से गुणा करने पर पूर्वोक्त सख्या आती है।

- २८ × ४ = ११२ खड।
- २६ × ४ = १०४ खड।
- २४ × ४ = ९६ खड।
- २० × ४ = ८० खड।
- १६ × ४ = ६४ खड।
- १० × ४ = ४० खड।
- ४ × ४ = १६ खड।

कुल ११२ + १०४ +९६ + ८० + ६४ + ४० + १६ = ५१२ खड।

- ऊर्ध्वलोक के कुल खडो की सख्या ३०४ है।

८ + १२ + ८ + १० + २४ + ३२ + ८० + ३२ + २४ + ३० + २४ + १२ + ८ = ३०४

अधोलोक के = ५१२ खड। ऊर्ध्वलोक के = ३०४ खड। कुल खड ८१६ हुए ॥९११ ॥

राजु तीन प्रकार के है—सूचीरज्जु, प्रतररज्जु व घनरज्जु।

सूचीरज्जू—चार खड लबी व एक खड मोटी सूई की तरह व्यवस्थित खड श्रेणी सूचीरज्जु ह। जैसे, ०००० सूचीरज्जु है।

प्रतररज्जु—सूचीरज्जु को सूचीरज्जु से गुणा करने पर जो आता हे। वह प्रतररज्जु हे अर्थात् ४ × ४ = १६ खडो का प्रतररज्जु है।

इसकी स्थापना इस प्रकार है—

लोक स्वरूप
५ अनुत्तर विमान
६ ग्रैवेयक
११ वा देवलोक
१२ वा देवलोक
९ वा देवलोक
१० वा देवलोक
८ वा देवलोक
७ वा देवलोक
५ वा देवलोक
३ रा देवलोक
६ ठा देवलोक
४ था देवलोक
१ ला देवलोक
२ रा देवलोक
मर्त्यलोक
रत्नप्रभा १ नरक
शर्कराप्रभा २ नरक
वालुकाप्रभा ३री नरक
पकप्रभा ४ थी नरक
धूमप्रभा ५वीं नरक
तमप्रभा ६ठी नरक
तमस्तमप्रभा ७वीं नरक
त्रसनाडी
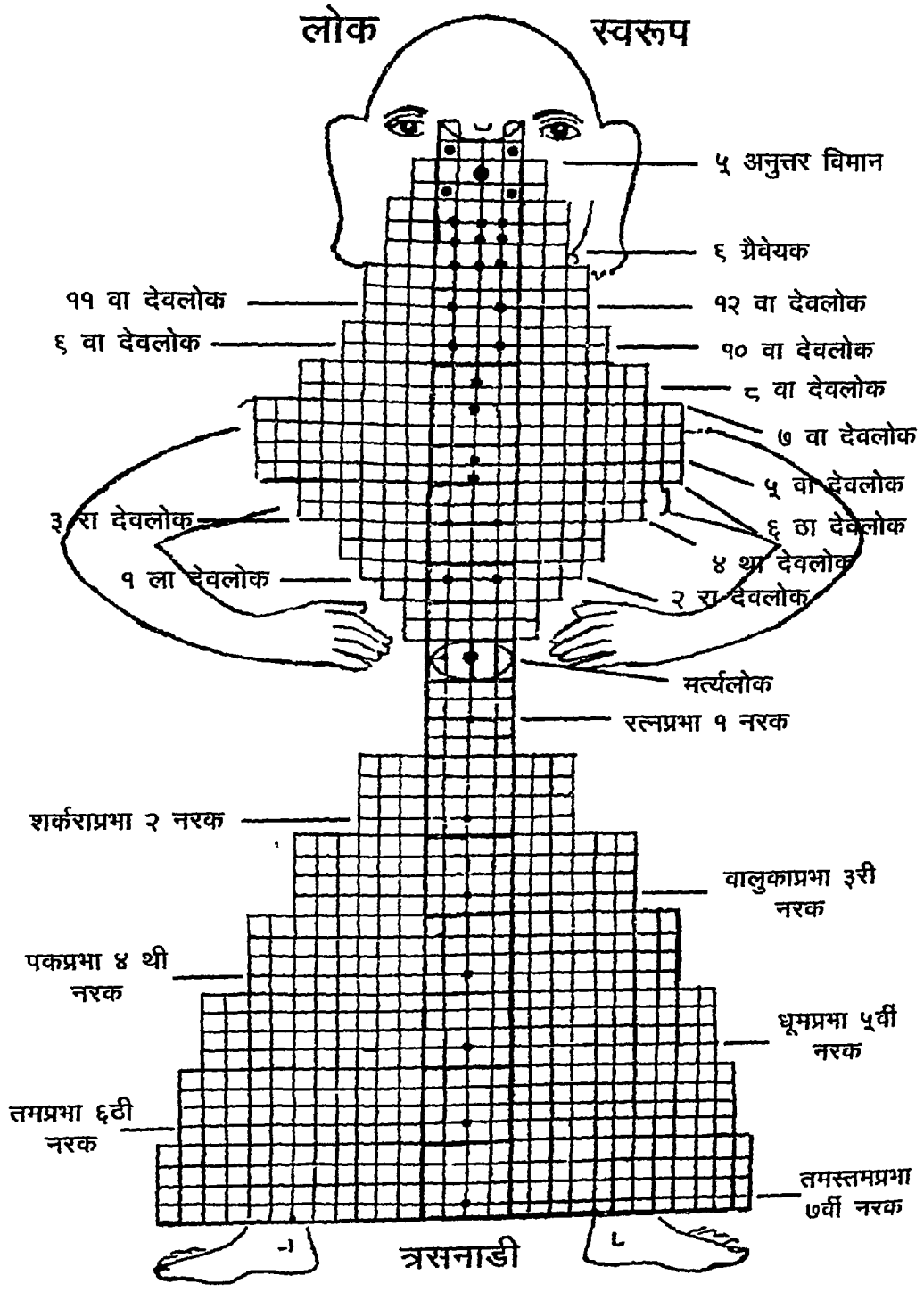
० ० ० ०	प्रतररज्जु की रचना इस प्रकार की हैं। इसकी
० ० ० ०	लबाई चौडाई बराबर है पर मोटाई एक खड की अर्थात् $\frac{१}{४}$
० ० ० ०	योजन की है।
० ० ० ०	

घनरज्जु—प्रतररज्जु को सूचीरज्जु से गुणा करने पर घनरज्जु बनता है। लबाई, चौडाई व मोटाई मे जिसके खडो की सख्या समान हो, वह घनरज्जु है। अर्थात् घनरज्जु चारो ओर से चौकोर होता है। घन शब्द लबाई, चौडाई व मोटाई की समानता मे प्रयोग होता है। प्रतररज्जु लबाई चौडाई मे समान होता है पर मोटाई तो उसकी एक खड परिमाण ही होती है। घनरज्जु मे कुल ६४ खड होते है। १६ खड वाले प्रतर के उपर तीन बार और १६-१६ खड जमाने से जो आकार बनता है वह घनरज्जु है। चारो ओर से वह लबाई चौडाई व मोटाई मे समान होता है। कहा है—

"सूचीरज्जु मे ४ प्रतररज्जु मे १६ तथा घनरज्जु मे ६४ खड होते है।"

ऊर्ध्वलोक व अधोलोक की प्रतररज्जु—

- अधोलोक के ५१२ खड मे १६ का भाग देने से अधोलोक के प्रतररज्जु होते है। ५१२ – १६ = ३२ प्रतररज्जु।
- ऊर्ध्वलोक के ३०४ खड मे १६ का भाग देने पर ३०४ – १६ = १९ प्रतररज्जु होते है।
- अधोलोक व ऊर्ध्वलोक दोनो के प्रतररज्जु मिलाने पर ३२ + १९ = ५१ प्रतररज्जु होते है ॥९१२॥

ऊपर से नीचे तक स्वरूप से लोक १४ रज्जु परिमाण है। उसका निम्न विस्तार किंचित् न्यून ७ रज्जु है। तिर्यक्लोक के मध्यभाग का विस्तार १ रज्जु तथा ब्रह्मलोक के मध्यभाग मे विस्तार ५ रज्जु का है। ऊर्ध्व लोकान्त का विस्तार पुन एक रज्जु परिमाण है। अन्यत्र लोक का विस्तार अनियत है। इस प्रकार दोनो हाथ कटि पर रखकर पॉवो को फैलाकर खडे हुए पुरुष के तुल्य आकार वाला यह लोक है। इसका घन करने के लिए सर्वप्रथम उपरवर्ती लोकार्द्ध का घन किया जाता है यथा, सर्वत्र एक राजु विस्तृत त्रसनाडी के दक्षिण भागवर्ती, पॉचवे ब्रह्मदेवलोक के समीप ऊपर नीचे कोहनी के भाग मे स्थित, दो रज्जु विस्तृत और किंचित् न्यून साडे तीन रज्जु ऊँचे दो खडो को वुद्धि कल्पना द्वारा उठाकर त्रसनाडी की बाई ओर उलटकर जोडना। इस प्रकार लोकार्द्ध का तीन रज्जु का विस्तार एव किंचित् न्यून सात रज्जु की ऊँचाई होती हैं। इसकी मोटाई ब्रह्मलोक के मध्यभाग मे ५ रज्जु की तथा अन्यत्र अनियत है।

तत्पश्चात् अधोलोक मे, त्रसनाडी के दक्षिण भागवर्ती अधोलोक सम्बन्धी खड जो निम्न भाग मे तीन रज्जु विस्तृत है और ऊपर की ओर क्रमश घटते-घटते समधिक सात रज्जु की ऊचाई पर, जहॉ

उसका विस्तार एक रज्जु के असख्यातवे भाग जितना रह जाता है, उस खड को कल्पना द्वारा उठाकर त्रसनाडी की बॉई ओर विपरीत अर्थात् उपर के भाग को नीचे और नीचे के भाग को ऊपर जोडना। इस प्रकार निम्न लोकार्द्ध देशोन ४ रज्जु विस्तृत, साधिक ७ रज्जु ऊँचा और मोटाई की अपेक्षा क्वचित् किंचित् न्यून् ७ रज्जु परिमाण वाला और क्वचित् अनियत परिमाण वाला होता है।

तत्पश्चात् ऊपरवर्ती अर्धभाग को कल्पना से उठाकर निम्नवर्ती अर्धभाग के ऊपर अर्थात् बॉई तरफ जोडना। इस प्रकार क्वचित् ७ रज्जु ऊँचा क्वचित् किंचित न्यून ७ रज्जु ऊँचा विस्तार की अपेक्षा देशोन ७ रज्जु परिमाण वाला घनीकृत लोक होता है।

घन करने के पश्चात् जहॉ कही भी ७ रज्जु से अधिक विस्तार है उसे बुद्धि कल्पना द्वारा लेकर ऊपर नीचे यथोचित जोडने पर विस्तार की अपेक्षा से भी लोक पूर्ण ७ रज्जु परिमाण वाला हो जाता है। सवर्तित ऊपरवर्ती खड की मोटाई क्वचित् ५ रज्जु है तथा निम्न खड की मोटाई नीचे यथा सभव देशोन ७ रज्जु है। ऊपरवर्ती खड की अपेक्षा निम्न खड की मोटाई देशोन २ रज्जु अधिक है। इसमे से आधी मोटाई ऊपरवर्ती खड की मोटाई मे जोडने पर क्वचित् मोटाई ६ रज्जु की होती है।

व्यवहार की अपेक्षा यह सपूर्ण घनीकृत लोक ७ रज्जु परिमाण चौकोर आकाश खड रूप है। व्यवहारनय किंचित् न्यून ७ हाथ आदि परिमाण वाले वस्त्र को भी पूर्ण ७ हाथ परिमाण वाला मानता है तथा वस्तु के एकदेशगत धर्म को सपूर्ण वस्तुगत मान लेता है क्योकि व्यवहारमय स्थूलग्राही है अत घनीकृत लोक की सर्वत्र ७ रज्जु की मोटाई व्यवहार नय की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। लबाई चौडाई भी जहॉ ७ रज्जु से न्यून है वहॉ इस नय की अपेक्षा से पूर्ण ७ रज्जु समझना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा, लबाई, चौडाई और मोटाई तीनो दृष्टि से ७ रज्जु परिमाण लोक का घन होता है। पट्टी आदि पर रेखाकित करके इसकी स्पष्टता करना चाहिए ॥९१३-९१४ ॥

बुद्धिकल्पना से जहॉ अधिक है, वहॉ से खड लेकर जहॉ न्यून है वहॉ उसे जोडने से लोक चारो ओर से चौकोर हो जाता है। इसके ३४३ रज्जु होते है। जिस राशि का घन करना हो उस राशि को तीन बार गुणा करने से 'घन' बनता है। कहा है—'समत्रिराशिहतिर्घन' ७ × ७ = ४१ × ७ = ३४३ राजु।

यह व्यवहारनयानुसार रज्जु की सख्या है। निश्चय से तो २३९ घनरज्जु होते है। निश्चयनय से तो ऊपर से नीचे जो ५६ पक्तियॉ है उनमे जितने-जितने खड है, उनका वर्ग करने से कुल जितनी राशि आती है उसे ६४ से भाग देने पर 'घनरज्जु' की सख्या आती है। वर्ग का अर्थ है समानराशि का अपनी समानराशि से गुणा करने पर जो सख्या आती है वह वर्ग है। जैसे ४ का ४ से गुणा करने पर १६ आते है, १६, ४ का वर्ग है। कहा है—'सदृशद्विराशिघातो वर्ग'। इस प्रकार सर्वसख्या के वर्ग की कुलराशि = १५२९६ खड होते है। इसके घनरज्जु १५२९६ ÷ ६४ = २३९ है। कहा है—

"छप्पन्न पक्तियो मे जो खड है उनकी राशि का वर्ग करके, पृथक्-पृथक् सख्या को मिलाने से जो राशि आती है उसमे से ११२३२ खड अधोलोक के है। सभी खड चौकोर तथा एक रज्जु का $\frac{१}{४}$ हिस्सा है। ऊर्ध्वलोक के ४०६४ खड है। दोनो को मिलाने से ११२३२ + १५२९६ कुल खड है। इन्हे ६४ से भाग देने पर २३९ घनरज्जू हुए" ।९१५ ॥

कौनसा देवलोक कहाँ है ?—रुचक प्रदेश की समभूतला पृथ्वी के ऊपरवर्ती ६ खडो (१ ॥रज्जु) मे सौधर्म व ईशान दो देवलोक है। उसके ऊपरवर्ती ४ खडो (१ रज्जु) मे सनत्कुमार व महेद्र दो देवलोक है। उनके ऊपर १० खडों मे (२ ॥ रज्जु) मे ब्रह्मलोक, लान्तक, शुक्र, सहस्रार ये ४ देवलोक है। तदनतर ४ खडो (१ रज्जु) मे आनत-प्राणत-आरण व अच्युत ये ४ देवलोक है। सबसे ऊपरवर्ती ४ खडो मे नवग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित सर्वार्थसिद्ध तथा सिद्धिक्षेत्र है ॥९१६ ॥

रज्जु का प्रमाण—सपूर्ण द्वीप व समुद्र के अन्त मे स्थित स्वयभूरमण समुद्र के एकतट से दूसरे तट की दूरी परिमाण एक रज्जु है। इसी प्रमाण से लोक १४ रज्जु है ॥९१७ ॥
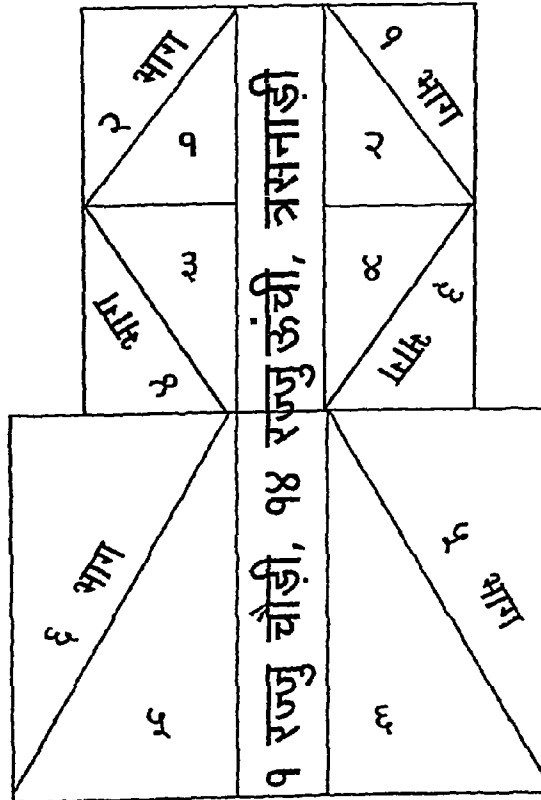
१४४ द्वार :

संज्ञा ३—

सन्नाउ तिन्नि पढमेऽत्थ दीहकालोवएसिया नाम।
तह हेउवायदिट्ठीवाउवएसा तदियराओ ॥ ९१८ ॥
एय करेमि एयं कय मए इममहं करिस्सामि।
सो दीहकालसन्नी जो इय तिक्कालसन्नधरो ॥ ९१९ ॥
जे उण सचिंतेउं इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसुं।
वत्तंति नियत्तंति य सदेहपरिपालणाहेउ ॥ ९२० ॥
पाएण संपइच्चिय कालंमि न यावि दीहकालंमि।
ते हेउवायसन्नी निच्चेट्ठा हुंति हु असन्नी ॥ ९२१ ॥
सम्मद्दिट्ठी सन्नी संते नाणे खओवसमिए य।
असन्नी मिच्छत्तमि दिट्ठिवाओवएसेण ॥ ९२२ ॥

—गाथार्थ—

तीन सज्ञा—संज्ञा के तीन भेद है— १ दीर्घकालोपदेशिका २. हेतुवादोपदेशिका तथा ३ दृष्टिवादोपदेशिका ॥ ९१८ ॥

'मै यह करता हूँ'......'मैंने यह किया'.......'मै यह करूगा' इस प्रकार तीनो कालों का अनुसन्धान करने वाला दीर्घकालिक संज्ञी है ॥ ९१९ ॥

जो जीव निजदेह के पालन हेतु इष्ट-अनिष्ट विषयवस्तु में चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति करते है वे हेतुवादोपदेशिकी सज्ञा वाले हैं। ये जीव प्राय करके वर्तमान काल को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रवृत्ति-निवृत्ति करते है। इनका लक्ष्य दीर्घकालीन नही होता।

असंज्ञी चेष्टा रहित होते है ॥ ९२०-२१ ॥

सम्यग्दृष्टि तथा क्षायोपशमिकज्ञानी दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा द्वारा सज्ञी है, पर मिथ्यादृष्टि इस संज्ञा की अपेक्षा से असज्ञी है ॥९२२ ॥

—विवेचन—

सज्ञा = ज्ञान, इनके तीन प्रकार है—

(i) दीर्घकालोपदेशिकी (ii) हेतुवादोपदेशिकी (iii) दृष्टिवादोपदेशिकी

(i) दीर्घकालोपदेशिकी—अतीत, अनागत वस्तुविषयक ज्ञान, दीर्घकालोपदेशिकी सज्ञा है। जैसे 'यह किया, यह करना है, यह करूगा' इत्यादि मनोविज्ञान। ऐसे त्रैकालिक वस्तु विषयक ज्ञानवाला आत्मा

दीर्घकालोपदेश सज्ञी है। यह सज्ञा मनपर्याप्ति युक्त गर्भज तिर्यच, गर्भज मनुष्य, देव और नरक के ही होती है क्योकि त्रैकालिक चिन्तन उन्ही को होता है। इस सज्ञा वाले प्राणी को सभी पदार्थ स्पष्ट परिलक्षित होते है। जैसे चक्षुवाला प्राणी प्रदीपादि के प्रकाश मे सभी पदार्थो को स्पष्ट देखता है, वैसे इस सज्ञा से सज्ञी व्यक्ति मनोद्रव्य की सहायता से उत्पन्न चिन्तन के द्वारा पूर्वापर का अनुसधान करते हुए वस्तु का यथार्थ ज्ञान करता है।

इस सज्ञा से रहित समूर्च्छिम पचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि अपेक्षाकृत असज्ञी है। इनमे मनोलब्धि अल्प, अल्पतर होती है, अत इनका ज्ञान भी अस्फुट, अस्फुटतर होता है। सज्ञी पचेन्द्रिय की अपेक्षा समूर्च्छिम पचेन्द्रिय का ज्ञान अस्फुट होता है। समूर्च्छिम पचेन्द्रिय की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय का ज्ञान अधिक अस्फुट होता है। उसकी अपेक्षा त्रीन्द्रिय का ज्ञान अस्फुटतर होता है। उससे द्वीन्द्रिय का ज्ञान अस्फुटतम होता है। एकेन्द्रिय का ज्ञान तो सर्वथा अस्फुट होता है। क्योकि उनके प्राय मनोद्रव्य नही होता। एकेन्द्रिय के अत्यत अल्प व अव्यक्त मन होता है, जिससे उसे भूख, प्यास इत्यादि की अव्यक्त अनुभूति होती है।

(ii) हेतुवादोपदेशिकी—जिस सज्ञा मे हेतु विषयक प्ररूपणा हो अर्थात् जिस सज्ञा द्वारा प्राणी अपने देह की रक्षा हेतु इष्ट मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति करता है, वह हेतुवादोपदेशिकी सज्ञा है। जैसे गर्मी हो तो छाया मे जाना, सर्दी हो तो धूप मे जाना, भूख लगने पर आहारादि के लिये प्रवृत्ति करना आदि। यह सज्ञा प्राय वर्तमान कालीन प्रवृत्ति, निवृत्तिविषयक है। प्राय कहने से द्वीन्द्रिय आदि जीव जो अतीत, अनागत की भी सोच रखते है ये इसी सज्ञा वाले है। कारण, उनके चिन्तन का विषय अतीत, अनागत काल होते हुए भी अति अल्प होता है। अत प्रवृत्ति, निवृत्ति से रहित पृथ्वी आदि के जीव असज्ञी ही हैं। तात्पर्य यह है कि प्राणी अपने देह की सुरक्षा हेतु चिन्तनपूर्वक इष्ट, अनिष्ट मे प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है, वह सज्ञी है। इस प्रकार द्वीन्दिय आदि भी हेतुवादोपदेशसज्ञी है। चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति-निवृत्ति, मनोव्यापार के बिना नहीं होती और वह द्वीन्द्रिय आदि जीवो के होता है, क्योकि उनमे इष्टवस्तु मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। इनका चिन्तन प्राय वर्तमान विषयक ही होता है। दीर्घकालीन अतीत-अनागत विषयक नही होता। अत ये दीर्घकालोपदेशिक सज्ञी नही है। जिन जीवो की प्रवृत्ति या निवृत्ति चिन्तनपूर्वक नही होती, वे जीव हेतुवादोपदेशिकी सज्ञा की अपेक्षा असज्ञी है जैसे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव।

यद्यपि पृथ्वी आदि मे आहारादि दस सज्ञा की विद्यमानता यहाँ और प्रज्ञापनादि मे वताई गई है, तथापि वे सज्ञी नही कहलाते। कारण, उनमे ये सज्ञाये अति अव्यक्त रूप मे तथा अशोभनीय (तीव्र मोहनीय कर्म जन्य होने से) है। जैसे अल्प धन होने से कोई धनवान् नही कहलाता। आकारमात्र से कोई रूपवान नही कहलाता वैसे आहारादि सज्ञा होने से कोई सज्ञी नही कहलाता। इसीलिये हेतुवादोपदेश सज्ञी के विषय मे कहा है कि—'समनस्क कृमि, कीट, पतग आदि सज्ञी त्रसो के चार भेद हं आर पृथ्वीकाय आदि असज्ञी जीवो के पॉच भेद है।'

अब दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा की अपेक्षा कौन सज्ञी हे? कोन असज्ञी है? यह वताते हैं।

(iii) **दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा**—जिसमे सम्यक्त्व विषयक प्ररूपणा हो वह दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा है। इस सज्ञा की अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान युक्त सम्यग्दृष्टि ही सज्ञी है। मिथ्यादृष्टि सम्यग् ज्ञान रहित होने से असज्ञी है। यद्यपि व्यवहार की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि मे कोइ अन्तर नही होता। मिथ्यादृष्टि भी सम्यग्दृष्टि की तरह घट को घट ही कहता है पट नही कहता। तथापि तीर्थकर परमात्मा द्वारा प्ररूपित वस्तु स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा न होने से, मिथ्यादृष्टि का व्यावहारिक सत्यज्ञान भी अज्ञानरूप ही है।

प्रश्न—इस सज्ञा की अपेक्षा विशिष्ट ज्ञानयुक्त सम्यग्दृष्टि ही यदि सज्ञी है तो मात्र क्षायोपशमिक ज्ञानयुक्त ही क्यो लिया, क्षायिक ज्ञानयुक्त भी लेना चाहिये। क्योकि क्षायिक ज्ञानी की सज्ञा विशिष्टतर होती है।

समाधान—अतीत वस्तु का स्मरण और अनागत की चिन्ता करना 'सज्ञा' है। केवलज्ञानी के ज्ञान मे त्रैकालिक सभी वस्तुये सदाकाल प्रतिभाषित होने से उन्हे स्मरण, चिन्तन करने की आवश्यकता ही नही है। अत इस सज्ञा की अपेक्षा क्षायोपशमिक ज्ञानी ही सज्ञी है।

प्रश्न— सर्वप्रथम 'हेतुवादोपशिकी' सज्ञा का प्रतिपादन करना चाहिये। कारण, वह अविशुद्धतर है। इस सज्ञा की अपेक्षा अल्प मनोलब्धि वाले द्वीन्द्रिय आदि भी सज्ञी कहलाते है। तत्पश्चात् दीर्घकालोपदेशिकी सज्ञा बताना चाहिये क्योकि हेतुवादोपदेश सज्ञी की अपेक्षा दीर्घकालोपदेश सज्ञी मनपर्याप्ति-युक्त होने से अधिक विशुद्ध है तो यहॉ सज्ञाओ का कथन व्युत्क्रम से क्यो किया?

समाधान—आगम मे सर्वत्र सज्ञी-असज्ञी का व्यवहार दीर्घकालोपदेशिकी सज्ञा द्वारा ही होता है। इसी कारण यहॉ भी सर्वप्रथम उसी का उल्लेख किया है। कहा है—

"सूत्र मे सज्ञी-असज्ञी का व्यवहार 'दीर्घकालोपदेशिकी सज्ञा' द्वारा ही होता है अत सर्वप्रथम उसी का कथन किया।"

गौण होने से उसके बाद हेतुवादोपदेशिकी सज्ञा तथा प्रधान होने से अत मे दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा बताई गई॥ ९१८-९२२॥

१४५ द्वार : संज्ञा ४—

आहार भय परिग्गह मेहुण रूवाओ हुति चत्तारि।
सत्ताणं सन्नाओ आससार समग्गाणं॥ ९२३॥

—गाथार्थ—

चार संज्ञा—समस्त संसारी जीवों के भववास पर्यन्त १. आहार २. भय ३ परिग्रह और ४. मैथुन—ये चार संज्ञाए होती है॥ ९२३॥

—विवेचन—

सज्ञा = आभोग अर्थात् जिनका अनुभव किया जाय। ये दो प्रकार की है—

(i) क्षयोपशमजन्य, (ii) उदयजन्य।

(i) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली मतिज्ञान के भेद रूप सज्ञाये। पूर्वोक्त तीनो (दीर्घकालोपदेशिकी, हेतुवादोपदेशिकी, दृष्टिवादोपदेशिकी) सज्ञाये क्षयोपशमजन्य है।

(ii) कर्मोदयजन्य सज्ञा के चार भेद है—

(१) **आहारसज्ञा**—क्षुधा वेदनीय के उदय से तथाविध आहारादि के पुद्गलो को ग्रहण करने का अभिलाष आहार सज्ञा है।

आहारसज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण है—

(i) अवमकोष्ठता = खाली पेट (ii) क्षुधावेदनीय कर्म का उदय

(iii) भक्तकथा का श्रवण (iv) सतत आहार का चिन्तन

(२) **भयसज्ञा**—भय मोहनीय के उदय से होने वाली अनुभूति भयसज्ञा है। नेत्र, मुख आदि की विक्रिया तथा रोमाच आदि इसके लक्षण है।

भयसज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण है—

(i) हीनसत्त्वता—शौर्य का अभाव (ii) भयमोहनीय का उदय

(iii) भयोत्पादक बात सुनना, दृश्य देखना (iv) सात प्रकार के भयो का चिंतन।

(३) **परिग्रह संज्ञा**— लोभ मोहनीय के उदय से आसक्तिपूर्वक सचित्त व अचित्त द्रव्य को ग्रहण करना परिग्रह सज्ञा है।

परिग्रह सज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण है—

(i) परिग्रहयुक्तता—त्याग का अभाव (ii) लोभवेदनीय का उदय

(iii) परिग्रहवर्धक बात सुनना या दृश्य देखना (iv) परिग्रह का चिंतन

(४) **मैथुन सज्ञा**—वेदोदयवश स्त्री या पुरुष को देखना, देखकर प्रसन्न होना, ठहरना, कापना आदि क्रिया मैथुनसज्ञा है।

मैथुन सज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण है—

(i) मास, शोणित की वृद्धि (ii) मोहनीय कर्म का उदय

(iii) कामकथा का श्रवण (iv) मैथुन का चिंतन।

सभी ससारी जीवो को ससारवास पर्यत ये चारो सज्ञाये होती है। कुछ एकेन्द्रिय जीवो मे तो ये सज्ञाये स्पष्ट दिखाई देती है।

- वनस्पति को खाद-पानी से पोषण मिलता है (आहार सज्ञा)।
- लाजवन्ती का पौधा हाथ के स्पर्श से सकुचित हो जाता है (भय सज्ञा)।
- विल्व-पलाशादि अपने नीचे गडे हुए धन को छुपाते है (परिग्रह सज्ञा)।

- कुरुबक, अशोक, तिलक आदि के पेड, स्त्री का आलिगन, पादप्रहार, कटाक्ष निक्षेप आदि से फलते-फूलते है (मैथुन सज्ञा) ॥ ९२३ ॥

१४६ द्वार : संज्ञा १०—

आहार भय परिग्गह मेहुण तह कोह माण माया य ।
लोभो ह लोग सन्ना दस भेया सव्वजीवाण ॥ ९२४ ॥

—गाथार्थ—

दश सज्ञा—**समस्त जीवों के १. आहार २. भय ३. परिग्रह ४. मैथुन ५. क्रोध ६. मान ७.माया ८. लोभ ९. लोक और १०. ओघ—ये दस संज्ञाये होती है॥ ९२४॥**

—विवेचन—

सज्ञा = 'यह जीव है' जिससे ऐसा जाना जाय वह सज्ञा है। इसके दस भेद है। इनमे से कुछ सज्ञाये वेदनीय व मोहनीय जन्य है तथा कुछ सज्ञाये ज्ञानावरण व दर्शनावरण के क्षयोपशम से होती है।

१ आहारसज्ञा—पूर्ववत्

२. भयसज्ञा—पूर्ववत्

३ मैथुनसज्ञा—पूर्ववत्

४ परिग्रहसज्ञा—

५ क्रोधसज्ञा—जिसके उदय से नेत्र और मुख पर कठोरता आना, दात किटकिटाना, होठ फडफडाना आदि चेष्टाये हो। ये क्रोध कषाय के उदयजन्य है।

६ मानसज्ञा—गर्व की कारणभूत सज्ञा। यह मानकषाय के उदयजन्य है।

७ मायासज्ञा—सक्लेश पूर्वक असत्यभाषण आदि करना। यह माया कषायजन्य है।

८. लोभसज्ञा—लालसा रखते हुए सचित्त या अचित्त द्रव्यो की प्रार्थना करना। यह लोभकषाय जन्य है।

९ ओघसज्ञा—मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से शब्दादि का सामान्य ज्ञान होना, ओघ सज्ञा है।

१० लोकसज्ञा—मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से शब्दादि का विशेष ज्ञान होना, लोकसज्ञा है।

- ओघसज्ञा दर्शनोपयोगरूप है तथा लोकसज्ञा ज्ञानोपयोगरूप है। यह स्थानांग-टीका का मत है।

आचारांग की टीका के अनुसार—

- ओघसज्ञा—अव्यक्त उपयोगरूप है जैसे, लता आदि का स्वभावत समीपवर्ती पेड, खभे इत्यादि पर चढना।
- लोकसज्ञा—लोको की स्वतन्त्र कल्पना के अनुसार प्रवृत्ति करना लोकसज्ञा है। जैसे यह कहना कि—निसतान की गति नही होती, मयूरपख की हवा से गर्भधारण होता है, कुत्ते यक्षरूप है, कौए पितामह है इत्यादि।

अन्यमते—

- ओघसज्ञा—ज्ञानोपयोग रूप है।
- लोकसज्ञा—दर्शनोपयोग रूप है।

ये सज्ञाये सभी ससारी जीवो के होती है किंतु पञ्चेन्द्रिय जीवो मे स्पष्ट दिखाई देती है और एकेन्द्रिय आदि मे अव्यक्त रूप मे होती है॥ ९२४॥

१४७ द्वार : संज्ञा १५—

आहार भय परिग्गह मेहुण सुह दुक्ख मोह वितिगिच्छा।
तह कोह माण माया लोहे लोगे य धम्मोघे॥ ९२५॥

—गाथार्थ—

पन्द्रह सज्ञा—**१. आहार २. भय ३. परिग्रह ४ मैथुन ५ सुख ६ दु ख ७ मोह ८. विचिकित्सा ९. क्रोध १०. मान ११. माया १२. लोभ १३. लोक १४. धर्म और १५. ओघ—ये पन्द्रह सज्ञायें है॥ ९२५॥**

—विवेचन—

१ से १० तक पूर्ववत् समझना चाहिये।
११ सुखसज्ञा—साता वेदनीय रूप है।
१२ दु खसज्ञा—असाता वेदनीय रूप है।
१३ मोहसज्ञा—मिथ्यादर्शन रूप है।
१४ विचिकित्सासज्ञा—चित्त की अस्थिरता है।
१५ धर्म सज्ञा—क्षमा, मार्दव आदि सद्गुणो का आसेवन करना।

- जीव विशेष का ग्रहण न होने से ये सज्ञाये यथासभव सभी जीवो के होती है।
- यद्यपि चतुर्विध, दशविध, पचदशविध आदि सज्ञाओ के प्रकार मे कुछ पुनरुक्त है तथापि अलग-अलग स्थान पर वर्णित होने के कारण निर्दोष है।
- आचारांग मे सोलहवी शोकसज्ञा भी है। शोकसज्ञा = रुदनरूप एव दीनतारूप है॥ ९२५॥

१४८ द्वार :

सम्यक्त्व-भेद—

चउसद्दहण तिलिग दसविणय तिसुद्धि पंचगयदोस ।
अट्ठपभावण भूसण लक्खण पचविहसजुत्त ॥ ९२६ ॥
छव्विहजयणाऽऽगार छब्भावण भाविय च छट्ठाण ।
इय सत्तयसट्ठिलक्खणभेयविसुद्ध च सम्मत्तं ॥ ९२७ ॥
परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ।
वावन्न कुदसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥ ९२८ ॥
सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे नियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिगाइ ॥ ९२९ ॥
अरहत सिद्ध चेइय सुए य धम्मे य साहुवग्गे य ।
आयरिय उवज्झाएसु य पवयणे दसणे यावि ॥ ९३० ॥
भत्ती पुया वन्नज्जलण, वज्जणमवन्नवायस्स ।
आसायणपरिहारो, दसणविणओ समासेण ॥ ९३१ ॥
मोत्तूण जिणं मोत्तूण जिणमय जिणमयट्ठिए मोत्तु ।
ससारकच्चवार चितिज्जत जग सेस ॥ ९३२ ॥
संका कख विगिच्छा पसस तह सथवो कुलिंगीसु ।
सम्मत्तस्सऽइयारा परिहरियव्वा पयत्तेण ॥ ९३३ ॥
पावयणी धम्मकही वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जा सिद्धो य कवी अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ ९३४ ॥
जिणसासणे कुसलया पभावणाऽऽययणसेवणा थिरया ।
भत्ती य गुणा सम्मत्तदीवया उत्तमा पच ॥ ९३५ ॥
उवसम संवेगोऽवि य निव्वेओ तह य होइ अणुकंपा ।
अत्थिक्कं चिय एए समत्ते लक्खणा पच ॥ ९३६ ॥

नोअन्नतित्थिए अन्नतित्थिदेवे य तह सदेवेऽवि।
गहिए कुतित्थिएहि वदामि न वा नमसामि॥ ९३७॥
नेव अणालत्तो आलवेमि नो सलवेमि तह तेसि।
देमि न असणाईय पेसेमि न गधपुप्फाइ॥ ९३८॥
रायाभिओगो य गणाभिओगो, बलाभिओगो य सुराभिओगो।
कंतारवित्ती गुरुनिग्गहो य छ छिडिआओ जिणसासणम्मि॥ ९३९॥
मूलं दार पइट्ठाण आहारो भायण निही।
दुच्छक्कस्सावि धम्मस्स सम्मत्त परिकित्तियं॥ ९४०॥
अत्थि य मिच्चो कुणई कय च वेएइ अत्थि निव्वाणं।
अत्थि य मोक्खावाओ छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं॥ ९४१॥

—गाथार्थ—

सम्यक्त्व के सडसठ भेद—चार श्रद्धा, तीन लिंग, दश विनय, तीन शुद्धि, पॉच दोष, आठ प्रभावना, पॉच भूषण, छ जयणा, छ आगार, छ भावना, छ स्थान, इन सडसठ लक्षण भेदों से सम्यक्त्व विशुद्ध होता है॥ ९२६-२७॥

१. परमार्थसंस्तव २. सुदृष्ट परमार्थ-सेवन ३ व्यापन्न-दर्शन-वर्जन तथा ४. कुदर्शनवर्जन—ये चार सम्यक्त्व की सद्दहणा है॥ ९२८॥

१. शुश्रूषा २. धर्मराग ३. गुरु और देव की यथासमाधि वैयावच्च करने का नियम—ये तीन सम्यक्त्व के लिंग है॥ ९२९॥

१. अरहत २. सिद्ध ३. चैत्य ४. श्रुत ५ धर्म ६ साधुवर्ग ७. आचार्य ८. उपाध्याय ९. प्रवचन १०. दर्शन—इन दस पदो की भक्ति, पूजा, गुणोत्कीर्तन करना तथा अवर्णवाद और आशातना का त्याग करना दर्शनविनय है॥ ९३०-३१॥

१. जिनेश्वर २. जिनमत एवं ३. जिनमत में स्थित साधु आदि के सिवाय सपूर्ण ससार को कूड़े के समान मानना सम्यक्त्व की तीन शुद्धि है॥ ९३२॥

१. शंका २. कांक्षा ३. विचिकित्सा ४. प्रशंसा ५ संस्तव—ये सम्यक्त्व के पॉच अतिचार है। इन्हें प्रयत्नपूर्वक त्यागना चाहिये॥ ९३३॥

१. प्रावचनी २. धर्मकथक ३. नैमित्तिक ४ तपस्वी ५. वादी ६. विद्यावान ७ सिद्ध ८. कवि—ये आठ प्रभावक है॥ ९३४॥

१. जिन शासन में कुशलता २. प्रभावना ३. आयतन सेवना ४. स्थिरता और ५ भक्ति—ये पॉचों सम्यक्त्व को दीपित करने वाले उत्तम भूषण है॥ ९३५॥

१. उपशम २. संवेग ३. निर्वेद ४. अनुकंपा और ५. आस्तिक्य—ये पाँच सम्यक्त्व के लक्षण है॥ ९३६॥

१. अन्यधर्मी को २. अन्यधर्मियों से मान्य देव को तथा ३. उनसे परिगृहीत स्वदेव को वन्दन-नमस्कार नहीं करना ४. बिना बुलाये अन्यधर्मियों से न बोलना ५. उन्हें आहार आदि न देना तथा ६. गंध-पुष्प आदि न भेजना॥ ९३७-३८॥

१. राजाभियोग २. गणाभियोग ३. बलाभियोग ४. देवाभियोग ५. कांतारवृत्ति तथा ६. गुरुनिग्रह—ये छः सम्यक्त्व के आगार है॥ ९३९॥

सम्यक्त्व, बारह प्रकार के श्रावकधर्म का १. मूल २. द्वार ३. प्रतिष्ठान ४. आधार ५. भाजन और ६. निधि कहा गया है॥ ९४०॥

१.आत्मा है २. नित्य है ३. कर्म का कर्त्ता है ४. कृतकर्म का भोक्ता है ५. आत्मा का मोक्ष है तथा ६. मोक्ष के उपाय है—ये सम्यक्त्व के छ. स्थान है॥ ९४१॥

—विवेचन—

इन ६७ भेदो के द्वारा सम्यक्त्व का निश्चय होता है, अत ये सम्यक्त्व के लक्षण कहलाते है।

४ श्रद्धा
३ लिंग
१० विनय
३ शुद्धि
५ दोष परिवर्जन
८ प्रभावना
५ भूषण
५ लक्षण
६ यतना
६ आगार
६ भावना
६ स्थान
६७ कुल

इन ६७ भेदो से शुद्ध सम्यक्त्व ही पारमार्थिक सम्यक्त्व है। सम्यक् शब्द प्रशसा के अर्थ मे या अविरोध के अर्थ मे आता है। "सम्यग् जीव तस्य भाव = सम्यक्त्व" अर्थात् प्रशस्त अथवा मोक्ष के अनुकूल जीव का स्वभाव विशेष सम्यक्त्व है॥९२६-९२७॥

४. श्रद्धान—जिसके द्वारा सम्यक्त्व के अस्तित्व का वोध हो। इसके ४ भेद है —

(१) परमार्थसंस्तव—जीवाजीवादि तत्त्वों का बहुमानपूर्वक अभ्यास करना।

(२) सुदृष्टपरमार्थसेवन—जीवाजीवादि पदार्थो को अच्छी तरह से जानने वाले आचार्यादि की उपासना करना, यथाशक्ति वैयावच्च करना।

(३-४) व्यापन्नदर्शन वर्जन व कुदर्शनवर्जन—वास्तव मे जिनका कोई दर्शन ही नही है ऐसे

निह्नव आदि तथा जिनका निन्दनीय दर्शन है ऐसे कुदर्शनी शाक्यादि का सग न करना। सम्यक्त्व की निर्मलता के लिये ये आवश्यक है।

प्रश्न—परमार्थसस्तवादि सम्यक्त्व के भेद तो अगारमर्दकाचार्य मे भी थे, किंतु वे सम्यक्त्वी नही थे। क्या लक्षण रहते हुए भी उनमे सम्यक्त्व का अभाव होना लक्षण को व्यभिचारी नही बनाता?

उत्तर—आपका कथन ठीक है, किंतु अगारमर्दकाचार्य मे सम्यक्त्व नही था, तो उसके लक्षण भी नही थे। उनमे जो परमार्थसस्तवादि दिखाई देते है, वे वास्तविक नही है, आभास मात्र है ॥९२८॥

३ लिंग—

१. शुश्रूषा—सुनने की इच्छा = शुश्रूषा। बोध प्राप्ति के अमोघ कारणभूत धर्म-शास्त्रो के श्रवण की इच्छा अत्यावश्यक है। वह इच्छा इतनी प्रबल होनी चाहिये कि जितनी प्रबल इच्छा एक युवान व्यक्ति को किन्नरी का सगीत सुनने की होती है।

२. धर्म राग—यह दो तरह का है—(१) श्रुत धर्म का राग और (२) चारित्र धर्म का राग। श्रुत धर्म का राग शुश्रूषा के अन्तर्गत आ जाता है। यहाँ चारित्र धर्म का राग ही अभीष्ट है। कर्मोदय के कारण चारित्र का पालन न कर सके तो भी चारित्र धर्म के प्रति राग ऐसा होना चहिए कि कई दिनो से अटवी मे भटकते हुए भूखे ब्राह्मण को भोजन के प्रति होता है। उससे भी अधिक प्रबल अभिलाषा चारित्र के प्रति रखनी चहिये।

३. यथासमाधि गुरु-देव की वैयावच्च—गुरु (धर्मोपदेशक आचार्य आदि) तथा देव (अरिहत) की यथासमाधि अर्थात् देव गुरु की अनुकूलता के अनुसार (सेवा-भक्ति) पूजा आदि आवश्यक कर्त्तव्य मानकर करना। देव की अपेक्षा गुरु शब्द का पूर्वकथन गुरु के महत्त्व का द्योतक है क्योकि गुरु के उपदेश के बिना देव के स्वरूप का यथार्थ बोध नही हो सकता।

सम्यक्त्वी के गुण होते हुए भी धर्म-धर्मी को अभेद मानने से शुश्रूषा आदि तीनो समकित के लिंग है। इनके द्वारा हम किसी भी आत्मा मे सम्यक्त्व होने का निर्णय कर सकते है।

उपशातमोह, क्षीणमोह अवस्था को प्राप्त हुए आत्मा मे पूर्वोक्त तीनो लक्षण साक्षात् दिखाई नही देते, क्योकि वे कृतकृत्य बन चुके है, फिर भी शुश्रूषा आदि के फलस्वरूप मोह का उपशम और मोह का क्षय उन आत्माओ मे होने से शुश्रूषा आदि कारण भी उनमे अवश्य अनुमानित है ॥९२९॥

१० विनय—

१ अरहत = तीर्थकर
२ सिद्ध = अष्टविध कर्म से मुक्त
३ चैत्य = जिनेन्द्र प्रतिमा
४ श्रुत = आचाराङ्ग आदि आगम
५ धर्म = क्षान्त्यादि रूप
६ साधु = श्रमण-समूह

७ आचार्य = गच्छ व शासन के नायक

८ उपाध्याय = ज्ञानदाता

९. प्रवचन = सघ

१० दर्शन = सम्यक्त्व (उपचार से दर्शनी को दर्शन कह सकते है।)

इन दस स्थानो के प्रति यथायोग्य सम्मुखगमन, आसनदान, सेवा, नमस्कार, भक्ति-पूजा आदि रूप करना। प्रशसा द्वारा देव-गुरु के ज्ञानादि गुणो को चमकाना। निदा-त्याग, मन, वचन, काया से आशातना का त्याग करना।

भक्ति = सम्मुख गमन, आसन-दान, उपासना करना, करबद्ध होना, अनुसरण करना आदि।

पूजा = धूप, माला, वस्त्र, पात्र, अन्न, पानी आदि अर्पण करना।

वर्णोज्ज्वलन-वर्ण = प्रशसा, ज्वलन = ज्ञानादिगुणो को प्रकट करना अर्थात् अरिहत आदि दश के ज्ञानादि गुणो की प्रशसा करना।

अवर्णवादपरिहार—अरहत आदि दस स्थानो की निन्दा न करना।

आशातना परिहार—उनके प्रति मन-वचन-काया से प्रतिकूल आचरण न करना।

अरहत आदि दस का विनय-उपचार से दर्शन विनय कहलाता है, क्योकि यह सम्यक्त्व के सद्भाव मे ही हो सकता है ॥९३०-९३१ ॥

३. **शुद्धि**—वीतराग परमात्मा, उनके द्वारा प्ररूपित स्याद्वादमय जीवाजीवादि तत्त्वरूप धर्म-मार्ग तथा उस मार्ग पर चलने वाले मुनियो को छोडकर ससार मे सभी कूडे के ढेर के समान असार है। इस प्रकार की भावना से सम्यक्त्व शुद्ध होता है, अत ये तीन शुद्धियाँ है ॥९३२ ॥

५. दोष परिवर्जन—

(i) **शंका** — सर्वज्ञ के कथन मे सशय करना।

(ii) **कांक्षा** — अन्य दर्शन की अभिलाषा करना।

(iii) **विचिकित्सा** — सदाचार और साधु आदि की निन्दा करना।

(iv) **कुलिंगी प्रशंसा** — अन्य धर्मियो की प्रशसा करना।

(v) **कुलिंगी सस्तव** — अन्य धर्मियो के साथ परिचय करना।

ये पाँचो सम्यक्त्व को मलिन करने वाले होने से दोषरूप है। सम्यक् दृष्टि आत्मा के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक इनका त्याग करना चाहिये। इनका विस्तृत वर्णन ६ठे द्वार मे किया गया है ॥९३३ ॥

८. प्रभावक—

(१) **प्रावचनी**—अतिशय सपन्न द्वादशागी के धारक, युगप्रधान आदि।

(२) **धर्मकथी**—क्षीराश्रवादि लब्धि से सपन्न, सजल मेघ की गर्जना के समान गभीर वाणी से जन-मन को प्रमोद पैदा करने वाली आक्षेपणी, विपेक्षणी, सवेगजनी, और निर्वेदिनी धर्मकथा को कहने वाले।

(३) **वादी**—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति रूप चतुरग पर्षदा के समक्ष प्रतिपक्ष के खडन-पूर्वक स्वपक्ष की स्थापना करने वाले वादी है। वाद लब्धि सपन्न होने से जिनका वाक्-चातुर्य वाचाल वादीसमूह के द्वारा कदापि निस्तेज नही होता है।

(४) **नैमित्तिक**—त्रैकालिक लाभालाभ के प्रतिपादक शास्त्र के ज्ञाता।

(५) **तपस्वी**—उग्र, वीर और घोर तप करने वाले।

(६) **विद्यावान**—वज्रस्वामी की तरह प्रज्ञप्ति आदि १६ विद्यादेवियाँ या शासनदेव जिनके सहायक हो।

(७) **सिद्ध**—पादलिप्ताचार्य की तरह अजन, पादलेप, तिलक, वशीकरण, वैक्रिय आदि सिद्धियो के स्वामी।

(८) **कवि**— अत्यन्त रसमय नई-नई रचनाओ को करने वाले, विविध भाषामय गद्य एव पद्य के रचयिता।

देशकालोचित साधनो के द्वारा शासन की प्रभावना करने वाले प्रभावक कहलाते है।

यद्यपि शासन स्वयप्रकाश है, परन्तु ये प्रभावक देश-काल के अनुसार अपनी विशिष्ट शक्तियो से शासन की प्रभावना मे सहायक बनते है। इन प्रभावको के द्वारा की गई प्रभावना स्व-पर के सम्यक्त्व को निर्मल करती है।

अन्यत्र—अइसेसइड्ढि धम्मकहि वाई आयरिय खवग नेमित्ति।
विज्जा रायागणसमया य तित्थपभावति।

अतिशेषर्द्धि—अवधि, मनपर्यव, आमर्ष-औषधि आदि रूप अतिशय ऋद्धि सम्पन्न।

राजसम्मत्त—नृपप्रिय।

गणसम्मत्त—महाजनो से मान्य ॥९३४॥

५ **भूषण**—सम्यक्त्व को देदीप्यमान करने वाले उत्तम गुण।

(१) **जैनशासन मे कुशलता**—जैनशासन के रहस्य को अच्छी तरह जानने वाला ऐसा व्यक्ति दूसरो को प्रतिबोध कर धर्मी बना सकता है।

(२) **शासनप्रभावना**—प्रवचन, धर्मकथा आदि पूर्वोक्त आठ प्रकारो के द्वारा जैनशासन की प्रभावना करना।

प्रश्न—यह बात प्रभावकता के अन्तर्गत आ जाती है, फिर यहाँ क्यो कही ?

उत्तर—स्व-पर-उपकारक एव तीर्थकर नाम-कर्म का कारण होने से शासन प्रभावनारूप भूषण की विशिष्टता बताने के लिये इसे पुन कहा।

(३) **आयतन आसेवना**—इसके दो भेद है—

१. **द्रव्य आयतन**—जिनगृहादि की सेवा करना। आयतन अर्थात् सिद्धान्त सम्मत जिन मन्दिर आदि स्थान।

२. भाव आयतन—रत्नत्रय के धारक साध्वादि की पर्युपासना करना।

(४) स्थिरता—स्वपर को धर्म मे स्थिर करना। अन्य धर्मावलम्बियो के आडम्बर को देख कर भी विचलित न होना।

(५) भक्ति—सघ की भक्ति, विनय, वैयावच्च करना।

ये गुण सम्यक्त्व के दीपक है। इनसे सम्यक्त्व की शोभा बढती हैं। अत ये सम्यक्त्व के भूषण हैं ॥९३५ ॥

५. लक्षण—

(१) शम—अपराधी पर भी क्रोध न करना। शम दो तरह से होता है— (१) कषाय के कटुपरिणाम का ज्ञान होने से (२) स्वभावत ही कषाय पैदा न होने से।

(२) संवेग—सतत मोक्ष की अभिलाषा। सम्यक्त्वी जीव मनुष्य, देव आदि के सुखो को दुख के अनुसगी होने से दुखरूप ही मानता है। मोक्ष सुख को ही वस्तुत सुख मानता है।

(३) निर्वेद— ससार से वैराग्य होना (नरक, तिर्यच आदि सासारिक दुखो से मन मे घृणा पैदा होना)। समकिती आत्मा, ससार रूपी कारागृह मे कर्मजन्य भयकर कदर्थनाओ का प्रतीकार करने मे अशक्त होने से ससार से उद्विग्न बन जाता है।

अन्यमते—भववैराग्य को सवेग और मोक्षाभिलाषा को निर्वेद कहते है।

(४) अनुकम्पा—दुखीजनो के दुख को बिना किसी पक्षपात के दूर करने की भावना (पक्षपात पूर्वक तो सिह भी अपने पुत्रादि पर अनुकम्पा करते है।)

द्रव्यत अनुकम्पा—शक्ति हो तो दुख का प्रतीकार करना।

भावत अनुकम्पा—दयार्द्र हृदय से दुखी के दुख का निवारण करना।

(५) आस्तिक्य—'अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिक तस्य भाव कर्म वा आस्तिक्य।'

अन्यधर्मतत्त्वो को जानते हुए भी वही सत्य और निशक है जो जिनेश्वर ने कहा है, ऐसी श्रद्धा रखना।

इन पाँचो से सम्यक्त्व का अस्तित्व जाना जाता है ॥९३६ ॥

६ यतना—सम्यक्त्व की रक्षा के लिये ६ प्रकार का उपयोग रखना चाहिये।

१-२ अन्यदर्शनी—परिव्राजक, भिक्षु, बौद्ध, साधु।

मिथ्यात्वीदेव—शकर, विष्णु, बुद्ध आदि।

स्वदेव—दिगम्बर आदि अन्यधर्मियो के द्वारा स्वीकृत जिनप्रतिमा तथा बौद्ध आदि मिथ्यात्वियो के द्वारा स्वीकृत 'महाकाल'आदि को वन्दन-नमस्कार नही करना। ऐसा करने से उनके भक्तो का मिथ्यात्व दृढ होता है।

वन्दन = सिर झुकाकर नमस्कार करना। नमन = स्तुति पूर्वक प्रणाम करना।

३-४ अन्य धर्मावलम्बियो के साथ बिना बुलाये आलाप, सलाप नही करना। (ईषद् भाषण आलापन, पुन पुन सभाषण सलापन) उनके साथ सभाषण आदि करने से परिचय होता है। उनकी प्रक्रिया बार-बार देखने मे आती है इससे मिथ्यात्व भाव आने की सभावना रहती है। लोकनिन्दा से बचने के लिये बोलना पडे तो व्यवहार से बोले।

५ अन्य धर्मावलम्बियो को भोजन, पात्र आदि नही देना चाहिये। ऐसा करने से दूसरो को लगे कि यह इनका बहुमान कर रहा है। इससे दूसरो का मिथ्यात्व दृढ होता है (अन्य धर्मियो को अनुकम्पा से दान दिया जा सकता है)।

सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं।

सत्ताणुकंपणट्ठा दाण न कहिपि पडिसिद्ध।

दुर्जय ऐसे राग-द्वेष और मोह को जीतनेवाले जिनेश्वरो के द्वारा अनुकपनीय जीवो की अनुकपा हेतु दान देने का निषेध कही पर भी नही किया है।

६ परतीर्थिक देवो की और दूसरो के द्वारा गृहीत जिन प्रतिमाओ की पूजा करने के लिये धूप, पुष्पादिक नही देना चाहिये। आदि से विनय-वैयावच्च-यात्रा स्नात्रादिक भी नही करना चाहिये। ऐसा करने से दूसरो का मिथ्यात्व दृढ होता है।

इन छ यतनाओ का पालन करने से सम्यक्त्व निर्मल बनता है ॥९३७-९३८ ॥

६. आगार— आगार अर्थात् अपवाद। इच्छा न होने पर भी किसी के भय से सम्यक्त्व के विरुद्ध आचरण करना अभियोग कहलाता है।

१ राजाभियोग	—	राजा के भय से
२ गणाभियोग	—	स्वजनादि समुदाय के भय से
३ बलाभियोग	—	बलवान के हठ से
४ सुराभियोग	—	कुलदेवतादि के भय से
५ कान्तारवृत्ति	—	प्राण बचाने के लिये
६ गुरु अभियोग	—	गुरुओ के भय से (माता-पिता-कलाचार्य-वृद्ध-धर्मोपदेशक-गुरुवर्ग मे आते हैं)

उपरोक्त छ अपवाद है। सम्यक्त्व या व्रत लेने के बाद पूर्वोक्त छ कारणो मे से किसी भी कारण से अन्य देवादि को वदन-नमनादि करना पडे तो भी सम्यक्त्व दूषित नही होता ॥९३९ ॥

६. भावना—

(१) बारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म का मूल आधार सम्यक्त्व है, जिस प्रकार मूलहीन वृक्ष प्रबल हवा के झोको से गिर जाता है, वैसे सम्यक्त्व रूपी मूल से रहित धर्मवृक्ष भी कुतीर्थिको के मत रूपी वायु-वेग से स्थिर नही रह सकता।

(२) बिना द्वार का नगर चारो ओर से प्राकार से वेष्टित होने पर भी नगर नही कहलाता क्योंकि

द्वार के *अभाव मे उसमे कोई भी प्रवेश-निष्क्रमण* नही कर सकता, वैसे सम्यक्त्व रूपी द्वार के अभाव मे धर्म रूपी नगर मे भी प्रवेश नही हो सकता।

(३) नीव रहित प्रसाद सुदृढ नही होता वैसे सम्यक्त्वरूपी नीव के बिना धर्म रूप महल भी सुदृढ नहीं बनता।

(४) जैसे पृथ्वी रूप आधार के बिना जगत का अस्तित्व सभव नही होता, वैसे सम्यक्त्व रूप आधार के बिना धर्म का अस्तित्व सभव नही होता।

(५) पात्र के अभाव मे दूध आदि नही रह सकते, वैसे सम्यक्त्व रूपी पात्र के अभाव मे धर्म नही रह सकता।

(६) बडा खजाना हाथ लगे बिना बहुमूल्य मणि, मोती, सुवर्ण आदि द्रव्य नही मिलते, वैसे सम्यक्त्व रूपी खजाना मिले बिना चारित्र रूपी सपदा की प्राप्ति नही होती।

पूर्वोक्त छ भावना से परिपुष्ट सम्यक्त्व शीघ्र ही मोक्ष-सुख का साधक होता है। ।९४० ॥

६ स्थान—

(i) जीव अस्ति = जीव है। शरीर से भिन्न जीव का स्वतत्र अस्तित्व है, अन्यथा प्रत्येक प्राणी मे स्वसवेदित चैतन्य असत्य प्रमाणित होगा। चैतन्य भूतो का धर्म नही हो सकता। अन्यथा काठिन्यादि गुणो की तरह चैतन्य भी भूतो मे सर्वत्र दिखाई देता, किंतु ऐसा होता नही है। पाषाण आदि मे तथा मृत शरीर मे चैतन्य नही होता। चैतन्य, कार्य-कारण की अत्यन्त विलक्षणता के कारण भूतो का कार्य भी नही हो सकता। भूत प्रत्यक्षत काठिन्यादि स्वभाव वाले दिखाई देते है, जबकि चैतन्य उससे विलक्षण सवेदनशील है। ऐसी स्थिति मे दोनो का कार्य कारण भाव कैसे हो सकता है?

इस प्रकार प्रत्येक प्राणी मे स्वसवेदन सिद्ध 'चैतन्य' है और चैतन्य जिसका गुण है, वही जीव है।

(ii) जीवो नित्य— जीव उत्पत्ति या विनाश रहित है। जीव की उत्पत्ति नही हो सकती, कारण उसका कोई उत्पादक नही है। सत् होने से विनाश भी नही हो सकता। यदि जीव अनित्य है तो बौद्धो की तरह उसके बन्ध व मोक्ष की व्यवस्था नही घटेगी। अनित्य आत्मा पूर्वापर के सम्बन्ध से रहित एक-एक ज्ञान क्षण रूप होगा। अत बध के ज्ञान क्षण से मोक्ष का ज्ञान-क्षण अलग होगा अर्थात् कर्म का बधन करने वाला आत्मा अलग और मुक्त होने वाला आत्मा अलग होगा।

यह तो ऐसा होगा कि—

- भूख किसी को और तृप्ति किसी को।
- अनुभवकर्ता अन्य और स्मरणकर्ता अन्य।
- चिकित्सा का कष्ट किसी अन्य को और आरोग्य किसी अन्य को।
- तपस्या करने वाला दूसरा और स्वर्ग-सुख भोगने वाला दूसरा।
- शास्त्राभ्यास करने वाला दूसरा और शास्त्र-ज्ञाता दूसरा।

अत अतिव्याप्ति दोषयुक्त होने से जीव को अनित्य मानना अयुक्त है। इससे बौद्धमत का खण्डन हो जाता है।

(iii) जीव कर्त्ता—मिथ्यात्वादि हेतुओ के द्वारा जीव कर्म का कर्ता है।

कर्म के अस्तित्त्व में प्रमाण—जीवात्मा का सुख-दु ख सकारण है। यदि अकारण होता तो, आकाश की तरह सदा होता या आकाश-पुष्प की तरह कभी भी नही होता। कहा है कि 'हेतु निरपेक्ष पदार्थ या तो सदा सत् होते है या सदा असत् होते है' अत सुख-दु ख का कारण भूत अदृष्ट-कर्म सिद्ध होता है।

तात्पर्य—सुख-दु ख के पीछे स्वय-कृत कर्म ही कारण है। इससे जीव को अकर्त्ता मानने वाले साख्य गलत सिद्ध होते है।

प्रश्न—यदि जीव कर्म का कर्त्ता स्वय है तो अपने लिये दु खदायी कर्मो का बधन क्यो करता है ? क्योकि सभी जीव सुखाभिलाषी है।

उत्तर—रोग मिटाने की इच्छा वाला भी रोगी मोहवश स्वास्थ्य के लिये हानिकारक अपथ्य का सेवन कर लेता है। वैसे मिथ्यात्वादि वश दु खदायी कर्मो का बधन कर लेता है।

(iv) जीव भोक्ता—जीव अपने द्वारा बद्ध कर्मो के फल का भोक्ता है। इसमे स्वानुभव, लोक और आगम प्रमाण है।

(१) अनुभव प्रमाण—सुख-दु ख का अनुभव स्वसवेदन सिद्ध है। यदि इसे कर्मजन्य न माना जाये तो सिद्ध या आकाश की तरह ससारी जीव भी सुख-दु ख के अनुभव से शून्य होगा क्योकि सिद्ध और आकाश की तरह ससारी जीव के भी सुख-दु ख के कारणभूत साता-असाता वेदनीय-कर्मो का अभाव है।

(२) लोक-प्रमाण—लोक मे सुखी को देखकर 'यह पुण्यशाली है' एव दु खी को देखकर 'यह दुर्भागी है।' ऐसा कहा जाता है। इससे अदृष्ट कर्म सिद्ध होता है।

(३) आगम-प्रमाण—अन्यशास्त्र मे भी कहा है—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि।"

"ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।"

इन वाक्यो से भी सिद्ध होता है कि बाँधा हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं जाता।

आगम मे कहा है कि प्रदेशोदय सभी कर्मो का होता है, रसोदय का नियम नहीं है। होता भी है, नही भी होता है। इससे जो दार्शनिक जीव को भोक्ता नही मानते उनका मत खडित हो जाता है। इस प्रकार लोक व आगम प्रमाण से सिद्ध विषय मे किसी भी विवेकी को विरोध नहीं हो सकता। अन्यथा कृतकर्म विफल हो जायेगे। अत ऐसा मानना अयुक्त ह क्योकि हम प्रत्यक्ष देखते है कि वणिक्, किसान आदि को अपने किये हुए अच्छे-बुरे कर्मो का फल भोगना पडता है। इस प्रकार जीव का भोक्तापन सिद्ध होता है। इससे जीव को अभोक्ता मानने वाले मतो का निराकरण हो जाता है।

(v) निर्वाणमस्ति—निर्वाण यानि राग-द्वेष का क्षय होने के बाद जीव की अवस्था विशेष। जो दार्शनिक दीपक के बुझने की तरह निर्वाण-अवस्था मे जीव का सर्वथा नाश मानते है, उनके मतानुसार मोक्ष सर्वथा अभाव रूप है, परन्तु पूर्वोक्त मान्यता से उनका मत खडित हो जाता है।

बौद्ध दीपक के बुझने की तरह आत्मसतति का सर्वथा नाश हो जाना ही मोक्ष मानते है। बौद्धमत जैसे, दीपक बुझता है वैसे जीव को निर्वाण प्राप्त होता है।

- दीपक बुझने के पश्चात् तथा जीव मुक्त होने के पश्चात्।
- न पृथ्वी मे प्रविष्ट होता है,
- न आकाश मे उडता है,
- न दिशा-विदिशा मे दौडता है,

किन्तु तेल के/क्लेश के क्षय होने से केवल शात/नष्ट हो जाता है। यह मत असत्य है, क्योकि जिसमे स्वय जीव का सर्वनाश हो जाता हो ऐसे निर्वाण को पाने के लिये कौन प्रयत्न करेगा? तथा दीक्षा आदि के पालन का प्रयास भी निरर्थक सिद्ध होगा।

प्रश्न—नरकादि के दु खो से छूटने के लिये प्रयत्न क्यो नही करेगा?

उत्तर—दु ख नाश की इच्छा की तरह सुख की भूख भी इस आत्मा को है। यही कारण है कि कोई कितना भी दु खी क्यो न हो, वह दु ख से मुक्त होने के लिये बेहोश होना पसद नही करता। अन्यथा बेहोशी मे कुछ समय के लिये दु ख का नाश तो है ही। प्रत्येक आत्मा सुख के लिये प्रयास करता है। इससे सिद्ध है कि सुख के लिये जीव का प्रयास अपने सुख-पूर्ण अस्तित्व के लिये है।

दीपक का दृष्टात भी असत्य है। दीपक के बुझने का अर्थ है—अग्नि के पुद्गलो का रूपान्तरण। अपने जाज्वल्यमान रूप को छोडकर तमस्पुद्गलो के रूप मे बदल जाना। अति सूक्ष्म परिणमन होने से दीपक बुझने के बाद दिखाई नही देता, वास्तव मे उसका नाश नही होता है। प्रकाश के पुद्गलो का अधकार के रूप मे परिणमन होना ही दीपक का बुझना है। वैसे जीव का कर्मरहित होकर अमृत रूप परिणमन/रूपान्तरण ही मोक्ष है। अत. मोक्ष के लिये प्रयास युक्ति-युक्त है।

मोक्षोपायोऽस्ति—मोक्ष-प्राप्ति के उपाय है।

सम्यग् ज्ञान, सम्यग्-दर्शन एव सम्यग् चारित्र मोक्ष प्राप्ति के उपाय है क्योकि कर्म-बधन के कारण मिथ्यात्व, अज्ञान, हिंसादि है और सम्यग्दर्शनादि उनके प्रतिपक्षी है, अत ये कर्मो का नाश करने मे समर्थ है।

प्रश्न—जैसे आपने मोक्ष के साधन माने है, वैसे मिथ्यादृष्टियो ने भी माने है, वे भी मोक्ष साधक होगे?

उत्तर—नही। वे मोक्ष-साधक नही हो सकते, क्योकि वे कर्मबधन के कारणभूत हिंसादि दोषो से दूषित होने से ससार के ही साधक है। इससे जो मोक्षगमन के उपायभूत साधनो को नही मानते, उनका खण्डन होता है।

पूर्वोक्त छ स्थानो की विद्यमानता मे ही सम्यक्त्व सभवित होता है। 'आत्मा है' इत्यादि छ स्थानो के विषय मे बहुत कुछ कहने योग्य है पर ग्रन्थ क्लिष्ट न हो जाय इस भय से इतना ही कहा गया है ॥९४१ ॥

१४९ द्वार : सम्यक्त्व-प्रकार—

एगविह दुविह तिविह चउहा पचविह दसविहं सम्म ।
दव्वाइ कारगाई उवसमभेएहि वा सम्म ॥ ९४२ ॥
एगविहं सम्मरुई निसग्गऽभिगमेहि त भवे दुविह ।
तिविह तं खइयाई अहवावि हु कारगाईहि ॥ ९४३ ॥
सम्मत्तमीसमिच्छत्तकम्मक्खयओ भणति त खइय ।
मिच्छत्तखओवसमा खाओवसम ववइसति ॥ ९४४ ॥
मिच्छत्तस्स उवसमा उवसमय त भणति समयन्नू ।
त उवसमसेढीए आइमसम्मत्तलाभे वा ॥ ९४५ ॥
विहिआणुट्ठाण पुण कारगमिह रोयग तु सद्दहणं ।
मिच्छद्दिट्ठी दीवइ ज तत्ते दीवग त तु ॥ ९४६ ॥
खइयाई सासायणसहिय त चउविह तु विन्नेय ।
त सम्मत्तब्भसे मिच्छत्ताऽऽपत्तिरूव तु ॥ ९४७ ॥
वेययसजुत्तं पुण एय चिय पचहा विणिद्दिट्ठं ।
सम्मत्तचरिमपोग्गलवेयणकाले तयं होइ ॥ ९४८ ॥
एय चिय पचविह निस्सग्गाभिगमभेयओ दसहा ।
अहवावि निसग्गरुई इच्चाइ जमागमे भणिअ ॥ ९४९ ॥
निस्सग्गु वएसरुई आणरुई सुत्त बीय रुईमेव ।
अहिगम वित्थाररुई किरिया सखेव धम्मरुई ॥ ९५० ॥
जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहेइ सयमेव ।
एमेव नन्नहत्ति य स निसग्गरुइत्ति नायव्वो ॥ ९५१ ॥
एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ ।

छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइत्ति नायव्वो ॥ ९५२ ॥
रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो सो खलु आणारुई नाम ॥ ९५३ ॥
जो सुत्तमहिज्जंतो सुएणमोगाहई उ सम्मत्तं।
अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइत्ति नायव्वो ॥ ९५४ ॥
एगपएऽणेगाइं पयाइं जो पसरई उ सम्मत्ते।
उदएव्व तिल्लबिंदू सो बीयरुइत्ति नायव्वो ॥ ९५५ ॥
सो होइ अहिगमरुई सुयनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइ पइन्नगा दिट्ठिवाओ य ॥ ९५६ ॥
दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहि नयविहीहि वित्थाररुई मुणेयव्वो ॥ ९५७ ॥
नाणे दंसणचरणे तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम ॥ ९५८ ॥
अणभिग्गहियकुदिट्ठी संखेवरुइत्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे अणभिग्गहिओ य सेसेसुं ॥ ९५९ ॥
जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्म च।
सद्दहइ जिणाभिहिय सो धम्मरुइत्ति नायव्वो ॥ ९६० ॥
आईपुढवीसु तीसु खय उवसम वेयग च सम्मत्त।
वेमाणियदेवाण पणिंदितिरियाण एमेव ॥ ९६१ ॥
सेसाण नारयाण तिरियत्थीण च तिविहदेवाण।
नत्थि हु खइय सम्मं अन्नेसिं चेव जीवाण ॥ ९६२ ॥

—गाथार्थ—

सम्यक्त्व के प्रकार —द्रव्य, कारक, उपशम आदि भेदो के द्वारा सम्यक्त्व के एक, दो, तीन, चार, पॉच और दस प्रकार होते है ॥ ९४२ ॥

'सम्यक्त्वरुचि' यह एक प्रकार है। निसर्ग और अधिगम ये दो प्रकार है। क्षायिक आदि अथवा कारक आदि तीन प्रकार है ॥ ९४३ ॥

सम्यक्त्व मोह, मिश्रमोह और मिथ्यात्वमोह के क्षय से जन्य सम्यक्त्व क्षायिक है। मिथ्यात्वमोह के क्षयोपशम से जन्य सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है ॥ ९४४ ॥

मिथ्यात्वमोह के उपशम को सिद्धान्तविद् उपशम समकित कहते है। यह सम्यक्त्व उपशम श्रेणी में तथा प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय होता है ॥ ९४५ ॥

आगमोक्त अनुष्ठान करना कारक सम्यक्त्व है। श्रद्धा करना रोचक सम्यक्त्व है। मिथ्यादृष्टि आत्मा जो तत्त्व का दीपन करता है वह दीपक सम्यक्त्व है॥ ९४६॥

क्षायिकादि तीन और सास्वादान ये सम्यक्त्व के चार प्रकार है। सास्वादान सम्यक्त्व, सम्यक्त्व से पतित जीव को मिथ्यात्व प्राप्ति से पूर्व होता है॥ ९४७॥

वेदक सम्यक्त्व सहित पूर्वोक्त चार, सम्यक्त्व के पाँच प्रकार है। सम्यक्त्व मोह के अन्तिम दलिकों का भोग करते समय वेदक सम्यक्त्व होता है॥ ९४८॥

पूर्वोक्त पाँचों सम्यक्त्व निसर्ग और अधिगम के भेद से दो-दो प्रकार के होने से सम्यक्त्व के दस प्रकार होते है। अथवा आगमोक्त निसर्गरुचि आदि के भेद से भी सम्यक्त्व के दस प्रकार होते है॥ ९४९॥

१. निसर्गरुचि २. उपदेशरुचि ३. आज्ञारुचि ४. सूत्ररुचि ५. बीजरुचि ६. अधिगम रुचि ७. विस्ताररुचि ८. क्रियारुचि ९. सक्षेपरुचि एव १०. धर्मरुचि॥ ९५०॥

जिनेश्वरों द्वारा दृष्ट पदार्थों को द्रव्यादि चारों भेद से श्रद्धा करना। यथा 'यह पदार्थ ऐसा ही है अन्यथा नही हो सकता'—यह निसर्गरुचि है॥ ९५१॥

जिनेश्वर परमात्मा अथवा अन्य द्वारा उपदिष्ट तत्त्वो पर श्रद्धा करना उपदेशरुचि सम्यक्त्व है॥ ९५२॥

जिनके राग, द्वेष, मोह, और अज्ञान का नाश हो चुका है ऐसे जीवो की जिनाज्ञा में रुचि वह आज्ञारुचि सम्यक्त्व है॥ ९५३॥

अंगसूत्र या अंगबाह्य-सूत्रों का अध्ययन करते-करते जिनप्ररूपित तत्त्वों के प्रति जो श्रद्धाभाव पैदा होता है वह सूत्ररुचि सम्यक्त्व है॥ ९५४॥

जल में तेलबिंदु की तरह एक पद के द्वारा अनेक पदों में जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह बीजरुचि सम्यक्त्व है॥ ९५५॥

ग्यारह अग, प्रकीर्णकसूत्र तथा दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान जिसने अर्थ से पढे हो उसका सम्यक्त्व अधिगमरुचि कहलाता है॥ ९५६॥

सभी नय और सभी प्रमाणों के द्वारा जिसने समस्त द्रव्य और पर्यायो का ज्ञान कर लिया है वह विस्ताररुचि सम्यक्त्व है॥ ९५७॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, समिति एव गुप्तिरूप क्रिया में भाव से रुचि होना, क्रियारुचि सम्यक्त्व है॥ ९५८॥

अन्य दर्शन के प्रति अनभिगृहीत, जिनशासन में अकुशल तथा अन्य दर्शनो को उपादेय न मानने वाला संक्षेपरुचि सम्यक्त्व है॥ ९५९॥

जो आत्मा जिनोक्त अस्तिकायधर्म, श्रुतधर्म एव चारित्रधर्म की श्रद्धा करता है .स्वीकार करता है वह धर्मरुचि सम्यक्त्व है॥ ९६०॥

प्रथम तीन नरक में १. क्षायिक २. औशमिक और ३. वेदक—ये तीन सम्यक्त्व होते हैं। वैमानिक देव और पंचेन्द्रिय तिर्यच में भी ये तीन सम्यक्त्व हैं। शेष नरक जीवो के, तिर्यचस्त्रियो

तथा त्रिविध देवों के क्षायिक सम्यक्त्व नही होता। शेष जीवों में इन तीन सम्यक्त्व में से एक भी सम्यक्त्व नही होता॥ ९६१-६२ ॥

—विवेचन—

अपेक्षा भेद से एकविध, द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध, पचविध और दशविध भी सम्यक्त्व है।

- **एकविध**—तत्त्वार्थश्रद्धारूप सम्यक्त्व।
- **द्विविध**—द्रव्य और भाव से दो प्रकार का सम्यक्त्व है। अध्यवसायो की विशुद्धि के द्वारा शुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गल द्रव्य सम्यक्त्व हैं।
- शुद्ध किये हुए पुद्गलो से जन्य जीव का श्रद्धा रूप परिणाम भाव सम्यक्त्व है। निश्चय और व्यवहार के भेद से भी दो प्रकार का सम्यक्त्व है।

नैश्चयिक—देश-काल व सहनन के अनुरूप अविकल मुनि-आचार।

व्यावहारिक—उपशम आदि लक्षणो से गम्य केवल शुभ आत्म-परिणाम ही सम्यक्त्व नही है किन्तु परमात्मा के शासन के प्रति प्रीति, सम्मान रखना भी कारण मे कार्य के उपचार से सम्यक्त्व कहलाता है। कारण अन्ततोगत्वा विशुद्ध आत्माओ के लिए यह भी मोक्ष का साधक है। कहा है—मुनिपन सम्यक्त्व है और जो सम्यक्त्व है वही मुनिपन है। यह निश्चय सम्यक्त्व है। किन्तु व्यवहारनय के अनुसार सम्यक्त्व व सम्यक्त्व के जो कारण है वे भी सम्यक्त्व है। यदि जिनमत का अनुसरण करना हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो को मानना होगा। व्यवहार को नही मानने से भविष्य मे तीर्थ (शासन) के नाश का प्रसग आ सकता है।

व्यवहारनयमतमपि च प्रमाणं, तद्बलेनैव तीर्थप्रवृत्ते अन्यथा तदुच्छेदप्रसगात्।

जैनशासन मे व्यवहारनय भी प्रमाणरूप है क्योकि उसी के आधार पर तीर्थप्रवर्तन होता है। व्यवहारनय को न मानने पर तीर्थनाश का प्रसग आ सकता है।

इस प्रकार पौद्गलिक व अपौद्गलिक, नैसर्गिक व अधिगम के भेद से भी द्विविध सम्यक्त्व है।

(i) **पौद्गलिक**—जिसमे सम्यक्त्व के पुद्गलो का वेदन होता है, ऐसा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्गलिक है।

(ii) **अपौद्गलिक**—मिथ्यात्व, मिश्र और समकित इन तीनो के पुद्गलो के क्षय या उपशम से होने वाला आत्म-परिणाम रूप क्षायिक या उपशम सम्यक्त्व है।

नैसर्गिक व अधिगम सम्यक्त्व का स्वरूप आगे कहा जायेगा।

त्रिविध—कारक, रोचक व दीपक अथवा औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक।

चतुर्विध—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक व सास्वादन।

पंचविध—वेदक सहित पूर्वोक्त चार।

दशविध—पूर्वोक्त पाँचो सम्यक्त्व निसर्ग व अधिगम के भेद से द्विविध होने से सम्यक्त्व के दस प्रकार है।

एक प्रकार—विविध-उपाधियो से रहित अज्ञान, सशय और विपर्यास से शून्य 'यही तत्त्व है' ऐसा जिन प्रणीत तत्त्वो के प्रति दृढ श्रद्धान एकविध सम्यक्त्व है।

दो प्रकार—**नैसर्गिक**—तीर्थकर व गुरु आदि के उपदेश, प्रतिमा दर्शन आदि निमित्तो के बिना स्वभावत तत्त्वरुचि पैदा होना (नारकादिवत्) नैसर्गिक सम्यक्त्व है।

आधिगमिक—गुरु का उपदेश आदि निमित्तो के द्वारा उत्पन्न होने वाली तत्त्व-श्रद्धा आधिगमिक सम्यक्त्व है।

तात्पर्य—तीर्थकर, गुरु आदि के उपदेश के बिना ही स्वत कर्म के उपशम या क्षय द्वारा जिनवचन पर श्रद्धा होना निसर्ग सम्यक्त्व है और उपदेश, जिन प्रतिमा के दर्शन, जाति-स्मरण ज्ञान आदि बाह्य-निमित्त जन्य कर्म के उपशम या क्षय से पैदा होने वाला श्रद्धान, अधिगम सम्यक्त्व है।

त्रिविध—क्षायिकादि भेद से अथवा कारकादि भेद से त्रिविध सम्यक्त्व है।

(i) क्षायिक—अनन्तानुबधी कषाय व तीनो दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न आत्मा का परिणाम विशेष क्षायिक सम्यक्त्व है।

(ii) क्षायोपशमिक—उदयगत मिथ्यात्व को भोगकर क्षय करने से तथा अनुदित मिथ्यात्व के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। उपशम के दो अर्थ है—(i) कर्म के उदय को रोकना (ii) कर्मगत मिथ्या स्वभाव को दूर करना। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे दोनो बाते घटित होती है। मिथ्यात्वमोह के जो तीन पुज किये जाते है उनमे से मिथ्यात्व व मिश्रपुज के विषय मे उपशम का प्रथम अर्थ घटित होता है क्योकि उनका उदय अध्यवसायवश रोक दिया जाता है। परन्तु सम्यक्त्वपुज (शुद्धपुज) के विषय मे उपशम का द्वितीय अर्थ घटित होता है क्योकि कर्मगत मिथ्यास्वभाव के दूर होने से ही शुद्धपुज बना है। इसीलिये उदीर्ण मिथ्यात्व के क्षय से व अनुदीर्ण मिथ्यात्व के उपशम से जिसका मिथ्या स्वभाव नष्ट हो चुका है ऐसा शुद्धपुजरूप मिथ्यात्व भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। जैसे अत्यत स्वच्छ वस्त्र के भीतर से वस्तु को देखने मे कोई बाधा नही होती वैसे शुद्ध बने मिथ्यात्व के पुद्गल भी 'तत्त्वरुचि' रूप आत्मपरिणाम की उत्पत्ति मे बाधक नही बनते। इसी कारण वे पुद्गल भी उपचार से सम्यक्त्व कहलाते है।

(iii) औपशमिक—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के विपाकोदय व प्रदेशोदय दोनो के अभाव मे होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष औपशमिक सम्यक्त्व है। जैसे राख से प्रच्छन्न आग सर्वथा निष्क्रिय हो जाती है, वैसे इस सम्यक्त्व की विद्यमानता मे मिथ्यात्व का प्रदेशोदय व विपाकोदय दोनो अवरुद्ध हो जाते है। यहाँ उपशम का अर्थ है कर्म के उदय को रोकना।

- **प्रदेशोदय**—प्रदेशोदय मे जीव कर्मफल का उदय होने पर उसका सुख-दु खात्मक अनुभव नही करता है। यथा—मूर्च्छावस्था मे किया गया ऑपरेशन। यहा चीर-फाड होने के कारण पीडा की घटना घटित होती है, पर बेहोशी के कारण व्यक्ति को उसका अनुभव नही होता। जो कर्म बिना सुख दु ख का अनुभव कराये उदय मे आकर निर्जरित हो जाते है, उनका प्रदेशोदय मानना चाहिये-जैसे ईर्यापथिक कर्म।
- **विपाकोदय**—विपाकोदय मे जीव कर्म के फल का अनुभव करता है। जैसे विना वेहोश किये ऑपरेशन करने पर चीर फाड की वेदना का अनुभव होता है।

आगम मते— यह सम्यक्त्व उपशम श्रेणी चढने वाले आत्मा को अनन्तानुवधी चार कपाय एव तीन दर्शनमोहनीय का उपशम करने के पश्चात् होता है।

प्रश्न—क्या उपशम श्रेणी चढने वालो को ही यह सम्यक्त्व होता है?

उत्तर—नही, अनादि मिथ्यात्वी को प्रथम बार यही सम्यक्त्व होता है। सर्वप्रथम आयु कर्म को छोडकर शेष सात कर्म की स्थिति यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा पल्योपम के असख्यात भाग न्यून एक कोटाकोटि

सागरोपम की होती है। तत्पश्चात् अपूर्वकरण द्वारा अतिनिबिड राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन होता है। उसके बाद जीव का अनिवृत्तिकरण मे प्रवेश होता है। वहाँ अतिविशुद्ध अध्यवसाय के बल से प्रतिसमय जीव उदित मिथ्यात्व को भोगकर क्षय करता है तथा अनुदित का उपशमन करता है। इसके बाद जीव अन्तरकरण मे प्रवेश करता है। अनिवृत्तिकरण का समय अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। इसके अन्तिम भाग मे अन्तरकरण की क्रिया प्रारभ होती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग जिसमे अन्तरकरण की क्रिया प्रारभ होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही होता है। अन्तर्मुहूर्त्त के असख्यात भेद है। इसलिये यह स्पष्ट है कि अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त्त की अपेक्षा उसके अन्तिमभाग का अन्तर्मुहूर्त्त छोटा होता है।

विशेष—जिस प्रकार वेग से प्रवाहित होने वाली सरिता की धारा मे पर्वत से गिरा कोई पत्थर लुढकते-लुढकते गोल चिकना एव चमकदार हो जाता है उसी प्रकार पुद्गल परावर्तन काल-प्रवाह मे अनेक कष्टो या दु खो को सहता हुआ जीव चरमावर्त मे पहुच जाता है। इस समय उसके अध्यवसाय शुद्ध हो जाते है। इन शुद्ध अध्यवसायो मे से ग्रथि-स्थान तक पहुचाने वाले अध्यवसाय को यथाप्रवृत्तिकरण कहते है। जीव के विशेष पुरुषार्थ के बिना ही अपने आप प्रवर्तमान होने वाला यह यथाप्रवृत्तिकरण जीव को अनन्त बार हो सकता है। परन्तु जो जीव ग्रन्थिभेद करने वाला होता है उसके अध्यवसाय अपूर्व होते है। इस अपूर्व अध्यवसाय के कारण ही इस करण को अपूर्वकरण कहा जाता है। अपूर्वकरण की कालावधि अन्तर्मुहूर्त्त की है। ग्रन्थिभेद के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त मे ही जीव को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है किन्तु उसकी प्राप्ति हेतु अनिवृत्तिकरण की अवस्था मे जीव को अन्तरकरण की विशिष्ट प्रक्रियायें करनी पडती है।

अन्तरकरण—अन्तरकरण का अर्थ है अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयगत है, उसके उन दलिको को जो कि अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त्त तक उदय मे आने वाले है, आगे-पीछे करना अर्थात् अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाणकाल मे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के जितने दलिक उदय मे आने वाले हैं उनमे से कुछ दलिको को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त उदय मे आने वाले दलिको मे स्थापित किया जाता है और कुछ दलिको को उस अन्तर्मुहूर्त्त के बाद उदय मे आने वाले दलिको के साथ मिला दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाणकाल ऐसा हो जाता है कि जिसमे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का दलिक रहता ही नही है तथा मिथ्यात्व मोहनीय के दो भाग हो जाते है। प्रथम भाग तो अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय मे आता है। दूसरा भाग, अन्तरकरण के बाद आता है। प्रथम भाग को प्रथम स्थिति कहते है, दूसरे भाग को द्वितीय स्थिति कहते है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से शून्य जो अन्तर्मुहूर्त्त काल है, वह अन्तरकरण काल कहलाता है। इसी समय मे जीव औपशमिक-सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

औपशमिक सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। इस काल मे आत्मा अपने सामर्थ्य से सत्तागत मिथ्यात्व के दलिकों (जो अन्तरकरण के बाद उदय मे आने वाले है) के तीन भाग करता है। जैसे कोई व्यक्ति औषधि के द्वारा मदनकोद्रवो का शोधन करता है, उसमे कुछ कोद्रव सर्वथा शुद्ध बन जाते है, कुछ अर्द्धशुद्ध बनते हैं तो कुछ सर्वथा अशुद्ध ही रहते है, वैसे जीव भी अपने अध्यवसायो के द्वारा सम्यक्त्व के प्रतिबधक रस का उच्छेद करके मिथ्यात्व का शोधन करता है। मिथ्यात्व के दलिक भी शुद्ध, अर्द्धशुद्ध व अशुद्ध तीन भागो मे विभक्त हो जाते हैं।

- **शुद्ध पुज**—सम्यक्त्व मोहनीय रूप है। जिन-धर्म मे रुचि का कारण होने से शुद्ध है।
- **अर्द्ध शुद्ध-पुज**—मिश्र-मोहनीय रूप है। जिन-धर्म के प्रति उदासीनता का कारण होने से अर्द्ध-शुद्ध है।
- **अशुद्ध-पुंज**—मिथ्यात्व-रूप है। सुदेव, सुगुरु व सुधर्म के प्रति अरुचि का कारण है।

कर्मग्रन्थ के मत मे —अन्तरकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण उपशम सम्यक्त्व होता है। उसके बाद निश्चित रूप से जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी, मिश्र-दृष्टि या मिथ्यात्वी बनता है।

सिद्धान्त के मत से—अनादि मिथ्या-दृष्टि जीव अध्यवसाय विशेष से ग्रथि का भेदन करके अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व के तीन भाग करता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण के सामर्थ्य से शुद्ध-पुज के पुद्गलो का वेदन करने वाला जीव औपशमिक सम्यक्त्व बिना पाये ही सर्वप्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

अन्यमतानुसार—यथाप्रवृत्ति वगैरह तीनो करणो के क्रम मे अन्तरकरण मे औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, परन्तु उसे तीनपुज करने की आवश्यकता नही रहती। औपशमिक सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने के बाद जीव का निश्चित पतन होता है और वह निश्चित मिथ्यात्व मे जाता है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व मे विशेष क्या बात है? क्योकि दोनो मे उदित मिथ्यात्व का क्षय व अनुदित मिथ्यात्व का उपशम होता है?

उत्तर—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे मिथ्यात्व का प्रदेशोदय होता है, जबकि औपशमिक सम्यक्त्व मे प्रदेशोदय भी नही होता।

अन्यमतानुसार—श्रेणि चढने वाले औपशमिक सम्यक्त्वी को ही मिथ्यात्व का प्रदेशानुभव नही होता पर प्रथम बार औपशमिक सम्यक्त्व पाने वाले को तो प्रदेशानुभव होता है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे भी मिथ्यात्व का प्रदेशोदय होता है और उपशम मे भी, तो फिर उपशम सम्यक्त्व मे और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे क्या अतर रहेगा?

उत्तर—उपशम सम्यक्त्व मे सम्यक्त्व मोहनीय के अणु की भी अनुभूति नही होती, जवकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे सम्यक्त्व मोहनीय का विपाकोदय होता है ॥९४२-९४५॥

कारक आदि के भेद से भी सम्यक्त्व तीन प्रकार का है।

(i) कारक—देश-काल सहनन के अनुरूप, शक्ति को छुपाये बिना आगमोक्त-अनुष्ठान को कराने वाला परिणाम-विशेष (यह साधुओ के होता है) है।

(ii) रोचक—श्रेणिक आदि की तरह जिसके उदय मे सद्-अनुष्ठान रुचिकर तो लगते है, किन्तु आचरण का भाव पैदा नही होता है।

(iii) दीपक—जिस परिणाम-विशेष से जीव स्वय तो मिथ्या-दृष्टि, अभव्य, जैसे अगारमर्दक आचार्य की तरह होता है किन्तु धर्मकथा, माया या अतिशय के द्वारा शासन की प्रभावना करता है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वी कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर—कारण मे कार्य का उपचार है, यद्यपि दीपक सम्यक्त्व वास्तव मे मिथ्यादृष्टि है, किंतु दूसरो के सम्यक्त्व का कारण होने से सम्यक्त्व कहलाता है। जैसे शास्त्र का वचन है कि 'घृतमायु' अर्थात् घृत-आयु है। वास्तव मे घी आयुष्य नही है, किंतु आयुष्य वृद्धि का कारण हैं और कारण मे कार्य के उपचार से 'घी आयु है' ऐसा कहा जाता है ॥९४६ ॥

चार प्रकार—क्षायिकादि तीन + सास्वादन एक = चार।

अनतानुबधी कषाय के उदय से औपशमिक सम्यक्त्व का नाश होने के बाद जब तक जीव मिथ्यात्वी नही बनता उसकी मध्य की स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व है अर्थात् जिसमे सम्यक्त्व का स्वाद है वह सास्वादन है।

अन्तरकरण मे वर्तमान कोई जीव अनतानुबधी-कषाय के उदय से मिथ्यात्वाभिमुख होता है, किंतु जब तक वह मिथ्यात्व मे नही पहुँच जाता, वहाँ तक वह सास्वादन गुणस्थान मे रहता है। उसका काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छ आवलिका है। तत्पश्चात् जीव निश्चित मिथ्यादृष्टि बन जाता है ॥९४७ ॥

पॉच प्रकार—पूर्वोक्त चार प्रकार + वेदक सम्यक्त्व = पॉच।

वेदक सम्यक्त्व—सम्यक्त्व के पुद्गलो का वेदन-अनुभव करने वाला जीव वेदक है और उससे अभिन्न होने से सम्यक्त्व भी वेदक है। यह सम्यक्त्व, सम्यक्त्वपुज के अतिम दलिक का अनुभव करते समय होता है। अथवा 'वेद्यते इति वेदकम्' अर्थात् जिसका वेदन—अनुभव किया जाये वह वेदक सम्यक्त्व है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्गल 'वेदक' कहलाते है। इसका तात्पर्य यह है कि—

क्षपक श्रेणि मे अनन्तानुबधी चार कषाय, मिथ्यात्वपुज, मिश्रपुज तथा उदीरणा द्वारा सम्यक्त्वपुज का क्षय करता हुआ आत्मा उदीरणा पूर्ण होने के बाद जब सम्यक्त्व-पुज के अतिम दलिक का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम 'वेदक' सम्यक्त्व है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व मे क्या अतर है, क्योकि सम्यक्त्व-पुज के पुद्गलो का अनुभव जीव दोनो मे करता है?

उत्तर— वेदक सम्यक्त्व मे जीव उदित पुद्गलो का ही अनुभव करता है, जबकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में उदित, अनुदित दोनो का अनुभव करता है, यह अन्तर है।

वस्तुत. वेदक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दोनो एक से ही है, क्योकि वेदक सम्यक्त्व मे भी मिथ्यात्व के अचरम पुद्गलो का भोग द्वारा क्षय होता है तथा चरम पुद्गलो के मिथ्या स्वभाव का नाश रूप उपशम होता है ॥९४८ ॥

औपशमिकादि पॉच सम्यक्त्व निसर्गजन्य और निमित्तजन्य के भेद से ५ × २ = १० प्रकार के है। अथवा **प्रज्ञापनोपांग** के अनुसार सम्यक्त्व के निम्न दस प्रकार है ॥९४९-९५० ॥

१. निसर्गरुचि—जिनेश्वर भगवान के द्वारा प्ररूपित जीवादि तत्त्वो पर जातिस्मरणज्ञान या सहज बुद्धि से श्रद्धा करना **एवमेवैतत् जीवादि यथा जिनैर्दृष्टं नान्यथेति**। जीवादि पदार्थो का स्वरूप जैसा जिनेश्वर परमात्मा ने देखा है, वास्तव मे वैसा ही है, इस प्रकार दृढ श्रद्धा रखना ॥९५१ ॥

२. उपदेशरुचि— गुरु आदि के तथा तीर्थकरो के उपदेश से जीवादि तत्त्वो पर श्रद्धा करना। गुरु आदि छद्मस्थो का नाम तीर्थकर के नाम से प्रथम ग्रहण करना इस बात का सूचक है कि तीर्थकर भी पहिले तो छद्मस्थ ही होते है। अथवा तीर्थकर की अपेक्षा छद्मस्थ-उपदेशक अधिक मात्रा मे है ॥९५२ ॥

३. आज्ञारुचि—मदकषाय वाले आत्मा का कदाग्रह के अभाव मे जिनाज्ञा के अनुसार जीवादि तत्त्वो पर श्रद्धा करना। राग, द्वेष, मोह व अज्ञान न्यून हो जाने पर आत्मा कदाग्रही नही रहता। इससे माषतुषादि की तरह तीर्थकर परमात्मा की आज्ञा मे उसकी स्वत रुचि हो जाती है।

वृत्तिकार— 'आज्ञारुचि' का अर्थ आज्ञा मे रुचि ऐसा करते है।

ग्रन्थकार—आज्ञा द्वारा रुचि 'आज्ञा रुचि' ऐसा करते है ॥९५३ ॥

४. सूत्र-रुचि— गोविन्दाचार्य की तरह अग प्रविष्ट या अग बाह्य सूत्रो का अध्ययन करने से प्राप्त सम्यक्त्व। सूत्र-रुचि आत्मा जैसे-जैसे पढता है, वैसे वैसे प्रसन्न-प्रसन्नतर अध्यवसायी बनता जाता है ॥९५४ ॥

५. बीज-रुचि—जीव आदि एक पद के ज्ञान से अनेक पदो के प्रति रुचि जगना। जिस प्रकार एक तैल का बिन्दु समूचे जल पर फैल जाता है, वैसे किसी एक तत्त्व मे रुचि पैदा होने से तथाविध क्षयोपशम के द्वारा अनेक तत्त्वो मे स्वत रुचि पैदा होना। जैसे एक बीज अनेक बीजो को पैदा करता है, वैसे एक विषय की रुचि अनेक विषयो मे रुचि पैदा करती है ॥९५५ ॥

६. अधिगमरुचि—श्रुतज्ञान का सम्यक् परिशीलन करने से जो रुचि पैदा होती है वह अधिगमरुचि सम्यक्त्व है। श्रुतज्ञान से यहाँ आचाराग आदि ग्यारह अग, उत्तराध्ययन, नन्दी आदि एव प्रकीर्णक तथा दृष्टिवाद सस्कारसूत्र का ग्रहण किया जाता है। यद्यपि दृष्टिवाद अग के अन्तर्गत है तथापि उसका पृथक् ग्रहण उसकी प्रधानता का सूचक है। 'च' शब्द औपपातिक आदि उपागो का सग्राहक है ॥९५६ ॥

७. विस्ताररुचि— धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य व उनके सभी पर्यायो को यथायोग्य प्रमाण के द्वारा जानना तथा सभी भावो को यथायोग्य नयो के द्वारा जानना विस्ताररुचि सम्यक्त्व है। सभी वस्तु व उसके सभी पर्यायो का ज्ञान होने से ज्ञाता की रुचि अत्यन्त निर्मल हो जाती है ॥९५७ ॥

८. क्रियारुचि—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, विनयधर्म, समिति और गुप्ति के पालन करने मे भाव से रुचि होना क्रियारुचि सम्यक्त्व है। कही 'सच्चसमिइगुत्तीसु' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ है कि—वास्तव मे जो समिति-गुप्ति है उनमे रुचि होना, इससे आभासरूप समिति-गुप्ति का निराकरण हो जाता है अथवा 'सच्च' का अर्थ है—मन, वचन और काया तीनो की विसवादिता से रहित समिति-गुप्ति का पालन करना।

'तप' आदि का चारित्र मे समावेश होने पर भी उनका अतिरिक्त ग्रहण उन्हे मोक्ष का विशेष अग सिद्ध करता है ॥९५८ ॥

९. सक्षेपरुचि—जिसे न तो बौद्ध आदि दर्शन का पक्षपात है, न जिनधर्म का ही राग है तथा जो कपिलादि के दर्शन के ज्ञान को भी उपादेय रूप नही मानता, ऐसा आत्मा अनाग्रही होने से अल्प

उपदेश से ही धर्म के प्रति रुचि वाला बन जाता है। जैसे चिलातीपुत्र को उपशम, विवेक और सवर इन तीन पदो के श्रवणमात्र से ही तत्त्व रुचि पैदा हो गई थी।

यहाँ मूल मे *'अणभिग्गहिय कुदिट्ठी'* तथा *'अणभिग्गहियो य सेसेसु'* इस प्रकार दो बार 'अनभिगृहीत' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमे प्रथम 'अनभिगृहीत' का अर्थ है, अन्यमतो के स्वीकार का निषेध तथा द्वितीय का अर्थ है अन्यमत सम्बन्धी ज्ञानमात्र का भी निषेध।

विशेष ज्ञान न होने से जिसे न तो जिनमत का पक्षपात है, न अन्यमत का, ऐसे आत्मा को सक्षेप मे धर्म-श्रवण करने से ही रुचि पैदा हो जाती है ॥९५९ ॥

१०. धर्म-रुचि—जो आत्मा धर्मास्तिकाय आदि के गति सहायक आदि स्वभाव मे, अगप्रविष्टादि आगमरूप श्रुत-धर्म मे तथा सामायिकादि चारित्र-धर्म मे जिन-वचन के अनुसार श्रद्धा रखता है वह धर्म-रुचि सम्यक्त्व है।

पूर्वोक्त दस भेद शिष्यो के बुद्धि-विकास के लिये कहे गये है। अन्यथा निसर्ग, उपदेश या अधिगम मे इनका अन्तर्भाव हो सकता है ॥९६० ॥

नारकादि में सम्यक्त्व—रत्न-प्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा मे क्षायिक, औपशमिक, और वेदक (क्षायोपशमिक) ये तीन सम्यक्त्व होते है।

- यहाँ वेदक का अर्थ है कि जिस सम्यक्त्व मे सम्यक्त्व के पुद्गलो का अनुभव हो, ऐसा सम्यक्त्व क्षायोपशमिक ही है। औपशमिक और क्षायिक मे तो पुद्गलो का वेदन होता ही नहीं है और 'वेदक' सम्यक्त्व का क्षायोपशमिक मे ही समावेश हो जाता है। क्योकि पुद्गल का 'वेदन' दोनो मे समान है।
- अनादि मिथ्यादृष्टि नारक को सर्वप्रथम अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण औपशमिक सम्यक्त्व होता है, उसके बाद शुद्ध सम्यक्त्व-पुज के पुद्गलो का वेदन करने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। ये ताद्भविक है।
- क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी मनुष्य या तिर्यच नरक मे उत्पन्न होता है तो उसे वहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पारभविक (परभव-सम्बधी) होता है।

सैद्धान्तिक मते—विराधित सम्यक्त्वी जीव सम्यक्त्व लेकर छठी नरक तक जा सकता है।

- **कर्मग्रन्थ** के मतानुसार तिर्यच या मनुष्य वैमानिक देव के सिवाय अन्य किसी भी गति मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व लेकर नही जा सकते उसे वमन करके ही जाते है। इसके अनुसार नरक मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पारभविक नही हो सकता, ताद्भविक ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व पारभविक ही होता है। जैसे कोई मनुष्य नरकायु बाधने के पश्चात् क्षपक श्रेणि आरभ करता है तो वह केवलज्ञान प्राप्त नही कर सकता। परन्तु दर्शन सप्तक का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य प्राप्त कर लेता है। पश्चात् आयु पूर्ण होने पर मरकर नरक मे जाता है। वहाँ वह क्षायिक सम्यक्त्व लेकर जाता है। इस प्रकार प्रथम तीन नरक मे पारभविक क्षायिक सम्यक्त्व होता है। नरक मे तद्भव सम्बन्धी क्षायिक सम्यक्त्व नही हो

सकता। क्योकि तद्‌भव सम्बन्धी क्षायिक सम्यक्त्व मनुष्य को ही होता है।

- वैमानिक देवो के तथा सख्याता वर्ष की आयु वाले पचेन्द्रिय तिर्यच व मनुष्य के औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक तीन सम्यक्त्व होते है।
- वैमानिक देव मे उपशम व क्षायिक सम्यक्त्व तो नरक की तरह ही होता है। वैमानिक देवताओ का उपशम सम्यक्त्व तद्‌भव सम्बन्धी होता है, क्योकि अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व नरक की तरह देवो के भी पारभविक ही है। परन्तु उपशम सम्यक्त्व के पश्चात् होने वाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वैमानिक देवो मे तद्‌भव सम्बन्धी होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी मनुष्य या तिर्यच मरकर यदि वैमानिक देव मे उत्पन्न होते है तो उनका क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पारभविक होता है।
- मनुष्य दो प्रकार के है। सख्यात वर्ष की आयु वाले तथा असख्यात वर्ष की आयु वाले। सख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य का उपशम सम्यक्त्व तद्‌भव सम्बन्धी है क्योकि उन्हे सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है अथवा उपशम श्रेणि करने वाले को भी उपशम सम्यक्त्व होता है। पर मनुष्य मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तद्‌भव सम्बन्धी व पारभविक दोनो होता है। उपशम सम्यक्त्व के पश्चात् होने वाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तद्‌भव सम्बन्धी है तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी देव से निकलकर मनुष्य मे उत्पन्न होने वाले आत्मा की अपेक्षा पारभविक है। मनुष्य मे क्षायिक सम्यक्त्व भी दोनो भव सम्बन्धी होता है। क्षपक श्रेणी करने वाले को तद्‌भव सबधी होता है तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव या नरक से निकलकर मनुष्य होने वाले की अपेक्षा पारभविक है।
- असख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य मे उपशम सम्यक्त्व नारक जीवो की तरह होता है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तद्‌भवसम्बन्धी होता है, क्योकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तिर्यच व मनुष्य मरकर वैमानिक देव मे ही जाते है, अन्यत्र नही। जो तिर्यच व मनुष्य मिथ्यादृष्टि अवस्था मे युगलिक मनुष्य की आयु बॉधने के पश्चात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करते है वे मृत्यु के समय सम्यक्त्व का वमन (मिथ्यात्व की स्पर्शना) करके ही मरते है। अत वहॉ उत्पन्न होने के बाद कर्मग्रन्थ के मतानुसार जीव मिथ्यात्वी ही रहते है। उन्हे पारभविक क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पुन प्राप्त नही होता।
- सिद्धान्त के मतानुसार तो युगलिक मे भी पारभविक क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। क्योकि सख्याता वर्ष की आयु वाले बद्धायु क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी युगलिक मनुष्य मे पैदा होते है।
- युगलिक तिर्यचो मे तीनो सम्यक्त्व होते है। उनकी प्राप्ति युगलिक मनुष्य की तरह समझना चाहिये।
- शेष चार नरक—पकप्रभा, धूमप्रभा, तमस्प्रभा, तमस्तमप्रभा, युगलिक पचेन्द्रिय-तिर्यच, उनकी स्त्रियॉ तथा भवनपति, व्यतर व ज्योतिषी देवो मे क्षायिक सम्यक्त्व दोनो भव सम्बन्धी नही

होता। तद्भव सम्बन्धी क्षायिक सम्यक्त्व सख्याता आयु वाले मनुष्य को ही होता है तथा पारभविक क्षायिक सम्यक्त्व इसलिये नहीं होता कि क्षायिक सम्यक्त्वी मरकर इनमें उत्पन्न नही होता। इनमे उपशम व क्षायोपशमिक दो सम्यक्त्व ही होते है।

- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असज्ञी पचेन्द्रिय मे तद्भव सम्बन्धी या परभव सम्बन्धी तीनो मे से एक भी सम्यक्त्व नही होता।
- बादर पृथ्वी, पानी, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय की अपर्याप्तावस्था मे पारभविक तथा पर्याप्ता सज्ञी पचेन्द्रिय मे तद्भव सम्बन्धी सास्वादन सम्यक्त्व होता है।
- सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर तेजस्-वायु मे लेशमात्र भी सम्यक्त्व वाला आत्मा उत्पन्न नही होता, अत इनमे सास्वादन सम्यक्त्व भी नही होता, ऐसा कर्म-ग्रन्थकार का मत है।
- सिद्धात के मतानुसार तो पृथ्वी आदि एकेन्द्रियमात्र मे सास्वादन सम्यक्त्व नही होता। जैसे कि प्रज्ञापना मे कहा है—

पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा! पुढविकाइया नो सम्मदिट्ठी,
मिच्छादिट्ठी, नो सम्ममिच्छदिट्ठी, एवं जाव वणप्फइकाइया।

अर्थ—हे गौतम! पृथ्विकाय के जीव सम्यग्दृष्टि वाले, मिश्रदृष्टिवाले नहीं होते पर मिथ्यादृष्टिवाले ही होते हैं। अप्काय से लेकर वनस्पतिकाय तक ऐसा ही समझना चाहिये॥ ९६१-९६२॥

१५० द्वार : कुलकोटि—

बारस सत्त य तिन्नि य सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं।
नेया पुढविदगागणिवाऊणं चेव परिसंखा॥ ९६३॥
कुलकोडिसयसहस्सा सत्तट्ठ य नव य अट्ठवीसं च।
बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिदिय-हरियकायाणं॥ ९६४॥
अद्धत्तेरस बारस दस दस नव चेव सयसहस्साइ
जलयरपक्खिचउप्पयउरभुयसप्पाण कुलसंखा॥ ९६५॥
छव्वीसा पणवीसा सुरनेरइयाण सयसहस्साइ।
बारस य सयसहस्सा कुलकोडीण मणुस्साण॥ ९६६॥
एगा कोडाकोडा सत्ताणउई भवे सयसहस्सा।
पन्नासं च सहस्सा कुलकोडीण मुणेयव्वा॥ ९६७॥

—विवेचन—

कुल = सजातीय जीवो का समूह। कोटि = जाति विशेष

१	पृथ्विकाय	=	१२ लाख कुलकोटि
२	अप् काय	=	७ लाख कुलकोटि
३	तेउकाय	=	३ लाख कुलकोटि
४	वायुकाय	=	७ लाख कुलकोटि
५	वनस्पतिकाय	=	२८ लाख कुलकोटि
६	द्वीन्द्रिय	=	७ लाख कुलकोटि
७	त्रीन्द्रिय	=	८ लाख कुलकोटि
८	चतुरिन्द्रिय	=	९ लाख कुलकोटि
९	जलचर	=	१२$\frac{१}{२}$ लाख कुलकोटि
१०	खेचर	=	१२ लाख कुलकोटि
११	चतुष्पद	=	१० लाख कुलकोटि
१२	भुजपरिसर्प	=	९ लाख कुलकोटि
१३	उर परिसर्प	=	१० लाख कुलकोटि
१४	देवो की (चार) निकाय	=	२६ लाख कुलकोटि
१५	नारक	=	२५ लाख कुलकोटि
१६	मनुष्य	=	१२ लाख कुलकोटि

कुल मिलाकर सर्व जीवो की एक करोड सत्ताणु लाख पचास हजार कुल कोटि होती है ॥ ९६३-९६७ ॥

१५१ द्वार : जीव-योनि—

पुढविदगअगणिमारुय एक्केक्के सत्त जोणिलक्खाओ।
वणपत्ते य अणते दस चउदस जोणिलक्खाओ ॥ ९६८ ॥
विगलिदिएसु दो दो चउरो चउरो य नारयसुरेसु।
तिरिएसु होंति चउरो चउदस लक्खा य मणुएसु ॥ ९६९ ॥
समवन्नाइसमेया वहवोऽवि हु जोणिलक्खभेयाओ।
सामन्ना घिप्पतिह एक्कगजोणीइ गहणेणं ॥ ९७० ॥

—गाथार्थ—

जीवो की योनि—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की सात-सात लाख योनियाँ है। प्रत्येक वनस्पति की दस लाख, साधारण वनस्पति की चौदह लाख, विकलेन्द्रिय की दो-दो लाख, नारक की चार लाख, देवता की चार लाख, तिर्यंच पंचेन्द्रिय की चार लाख तथा मनुष्य की चौदह लाख योनियाँ है॥ ९६८-६९ ॥

सामान्य वर्ण गंधादि वाली लाखों योनियाँ होने पर भी वर्णादि की समानता के कारण वे सभी एक ही योनिरूप मानी जाती है॥ ९७० ॥

—विवेचन—

योनि = जहाँ तैजस्-कार्मण शरीर वाले जीवो का औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर प्रायोग्य पुद्गल स्कन्धो के साथ मिश्रण होता है वह योनि कहलाती है। अर्थात् जीवो का उत्पत्तिस्थान 'योनि' है।

१. पृथ्विकाय	७ लाख	८ त्रीन्द्रिय	२ लाख
२. अप् काय	७ लाख	९ चतुरिन्द्रिय	२ लाख
३ तेउकाय	७ लाख	१० नारक	४ लाख
४ वायुकाय	७ लाख	११. देवता	४ लाख
५ प्रत्येक वनस्पति	१० लाख	१२ तिर्यंच पचेन्द्रिय	४ लाख
६ साधारण वनस्पति	१४ लाख	१३ मनुष्य	१४ लाख
७ द्वीन्द्रिय	२ लाख		
कुल ८४ लाख जीवयोनि है।			

प्रश्न—जीव अनन्त है इसलिये उनके उत्पत्तिस्थान भी अनन्त होने चाहिये, ८४ लाख ही कैसे?

उत्तर—यद्यपि जीव अनन्त है तथापि उनके उत्पत्ति स्थान अनन्त नही हो सकते। कारण सभी जीवो का सामान्य आधारभूत लोक असख्य प्रदेशी है तथा विशेष आधारभूत नरक निष्कुट (नारको का उत्पत्ति स्थान), देवशय्या (देवताओ का उत्पत्ति स्थान), साधारण व प्रत्येक जीवो के शरीर भी असख्याता ही है। अत सभी जीवो के उत्पत्ति स्थान कुल मिलाकर भी अनन्त नही हो सकते।

प्रश्न—*पूर्व कथनानुसार यद्यपि उत्पत्ति स्थान अनन्त नही है तथापि असख्याता तो है ही। अत असख्याता क्यो नही कहा?*

उत्तर—सभी जीवो के उत्पत्ति स्थान (योनि) यद्यपि अलग-अलग है तथापि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि की साम्यता के कारण कई उत्पत्ति स्थान परस्पर एक माने जाते है। अत ज्ञानियो की दृष्टि मे परस्पर वर्णादि की भिन्नता वाले उत्पत्ति स्थान ८४ लाख ही होते है॥ ९६८-९६९ ॥

सामान्यत समान वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाली लाखो योनियाँ अलग-अलग होने पर भी जातीय दृष्टि से सभी एक मानी जाती है।

प्रश्न—योनि और कुल मे क्या अन्तर है?

उत्तर—जीवो का उत्पत्ति स्थान 'योनि' कहलाती है। गोबर आदि बिच्छु का उत्पत्ति स्थान होने से उसकी योनि है। समान योनि वाले जीवो की अनेक जातियाँ पृथक्-पृथक् कुल है। जैसे गोबर मे कृमि, कीट, बिच्छू आदि अनेक जाति वाले जीव उत्पन्न होते है, उनकी योनि एक होने पर भी कुल अलग-अलग है। कृमिकुल, कीटकुल, बिच्छूकुल आदि। अथवा एक योनि मे उत्पन्न होने वाले सजातीय जीवो मे भी जिनका वर्णादि समान होता है वे परस्पर एक कुल के माने जाते है। जैसे गोबर मे उत्पन्न होने वाले लाल बिच्छुओ का एक कुल माना जाता है। पीतवर्ण वालो का एक कुल माना जाता है। इस प्रकार वर्णादि की भिन्नता से सजातीय जीवो के भी कुल अलग-अलग हो जाते है।

प्रज्ञापना सूत्र के अनुसार योनि तीन प्रकार की है—

(i) शीतयोनि (ii) उष्णयोनि (iii) मिश्रयोनि।

इनमे से नारको की शीत और उष्णयोनि है।

(क) प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरक मे उष्णवेदना होने से उनकी 'शीतयोनि' है।

(ख) चतुर्थ नरक के उष्णवेदना वाले नरकावास की 'शीतयोनि' है।

(ग) चतुर्थ नरक के शीतवेदना वाले नरकावास की 'उष्णयोनि' है।

(घ) पञ्चम नरक के शीतवेदना वाले नरकावास की 'उष्णयोनि' है।

(ड) पञ्चम नरक के उष्णवेदना वाले नरकावास की 'शीतयोनि' है।

(च) षष्ठ और सप्तम नरक के शीतवेदना वाले नरकावास की 'उष्णयोनि' है।

- शीतयोनि वाले नारको को उष्णवेदना और उष्णयोनि वालो को शीतवेदना अत्यत कष्टप्रद होती है। पापकर्म की अधिकता के कारण, नरक के जीवो को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सभी वस्तुये प्रतिकूल ही मिलती है ताकि उन्हे वेदना अधिक हो, यही कारण है कि योनि भी उन्हे प्रतिकूल ही मिलती है।

(छ) देवता, गर्भज मनुष्य व गर्भज तिर्यच की 'मिश्रयोनि' है।

(ज) पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति, विकलेन्द्रिय, समूर्च्छिम तिर्यच व समूर्च्छिम मनुष्य की शीत, उष्ण व मिश्र तीनो योनियाँ है।

(झ) तेउकाय की उष्णयोनि है।

अथवा (i) सचित्त (ii) अचित्त (iii) मिश्र के भेद से योनि तीन प्रकार की है—

१ देवता व नारकी की अचित्तयोनि है। कारण उनका उत्पत्ति स्थान अन्य जीवो से अपरिगृहीत (जीवरहित) होता है। यद्यपि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव चौदह राजुलोक मे व्याप्त होने से देवता व नारकी के उपपात क्षेत्र मे भी है ही तथापि वे अपने उपपात क्षेत्र के पुद्गलो के साथ अनुविद्ध नही रहते, इसलिये देवता व नारकी की योनि अचित्त कहलाती है।

२ एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, समूर्च्छिम तिर्यच व समूर्च्छिम मनुष्य की तीनो प्रकार की योनि है।

जैसे—

(क) जीवित गाय आदि के शरीर मे उत्पन्न होने वाले कृमि आदि की 'सचित्तयोनि' है।

(ख) अचित्तकाष्ठ आदि मे उत्पन्न होने वाले 'घुण' आदि की अचित्तयोनि है।

(ग) सचित्त-अचित्त काष्ठ व गाय के 'व्रण' मे उत्पन्न होने वाले 'घुण' 'कृमि' आदि की तथा गर्भज मनुष्य-तिर्यच की मिश्रयोनि है।

- योनि द्वारा आत्मसात् किये गये शुक्र (वीर्य) मिश्रित शोणित (रक्त) के पुद्गल सचित्त योनि है।
- सचित्त से विपरीत पुद्गल अचित्त योनि है।

अथवा सवृतादि के भेद से भी योनि के तीन प्रकार है—

(i) सवृत (ii) विवृत (iii) सवृतासवृत (उभय)

(i) नारक, देव और एकेन्द्रिय की सवृत योनि है। नारक जीवो का उत्पत्ति स्थान (निष्कुट) ढके हुए गवाक्ष की तरह है। देवता, देवदूष्य के अन्दर प्रच्छन्न जन्मते है तथा एकेन्द्रियो का उत्पत्ति स्थान सर्वथा अनुपलक्षित है, अत इन तीनो की सवृतयोनि है।

(ii) विकलेन्द्रिय, समूर्च्छिम मनुष्य व समूर्च्छिम तिर्यच की विवृतयोनि है क्योकि इनके उत्पत्ति स्थान—(जलाशय, गटर आदि) स्पष्ट दिखाई देते है, अत उनकी विवृत योनि है।

(iii) गर्भज तिर्यच और गर्भज मनुष्य की उभय रूप योनि है। उनका आन्तरिक गर्भस्थरूप दिखाई नही देता अत सवृतयोनि है। उदरवृद्धि आदि लक्षणो से बाहर गर्भ का ज्ञान होता है अत विवृतयोनि है। इस प्रकार इनकी योनि उभयरूप है।

मनुष्य योनि के सम्बन्ध मे विशेष—

मनुष्य की तीन प्रकार की योनि होती है—

(i) कूर्मोन्नता (कछुए की पीठ की तरह जिसका मध्य भाग उन्नत है)।

(ii) शखावर्त्ता (शख की तरह आवर्त्त वाली)।

(iii) वशीपत्रा (बास के दो पत्रो को जोडने पर जो आकार बनता है वैसे आकार वाली)।

(अ) तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव कूर्मोन्नता योनि मे उत्पन्न होते है।

(व) सामान्य मनुष्य वशीपत्रा योनि मे उत्पन्न होते है।

(स) शखावर्तायोनि 'स्त्रीरत्न' की ही होती है। इस योनि मे गर्भ-उत्पादक क्षमता नही होती। कदाचित् गर्भ उत्पन्न हो जाये तो भी उसकी निष्पत्ति नही हो सकती। कहा है—

प्रबलतमकामाग्निपरितापतो ध्वसगमनात् इति वृद्धप्रवाद ।

प्रबलतम काम की आग से जलकर गर्भ नष्ट हो जाता है। ऐसी वृद्ध पुरुषो की मान्यता है ॥९७० ॥

१५२ द्वार :

त्रैकाल्यवृत्त-विवरण—

त्रैकाल्य द्रव्यषट्कं नवपदसहित जीवषट्कायलेश्या:
पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदा: ।
इत्येते मोक्षमूल त्रिभुवनमहितै. प्रोक्तमर्हद्भिरीशै;
प्रत्येति श्रद्धाति स्पृशति च मतिमान् य. स वै शुद्धदृष्टि: ॥ ९७१ ॥
एयस्स विवरणमिण तिक्कालमईयवट्टमाणेहि ।
होइ भविस्सजुएहि दव्वच्छक्क पुणो एय ॥ ९७२ ॥
धम्मत्थिकायदव्व दव्वमहम्मत्थिकायनाम च ।
आगास-काल-पोग्गल जीवदव्वस्सरूव च ॥ ९७३ ॥
जीवाजीवा पुन्न पावाऽऽसव-सवरो य निज्जरणा ।
बधो मोक्खो य इमाइ नवपयाइ जिणमयम्मि ॥ ९७४ ॥
जीव छक्क इग बि ति चउ पणिदिय अणिदियसरूव ।
छक्काया पुढवि जलानल वाउ वणस्सइ तसेहिं ॥ ९७५ ॥
छल्लेसाओ कण्हा नीला काऊ य तेउ पउम सिया ।
कालविहीण दव्वच्छक्क इह अत्थिकायाओ ॥ ९७६ ॥
पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहेहि इह ।
पच वयाइ भणियाइ पच समिईओ साहेमि ॥ ९७७ ॥
इरिया भासा एसण गहण परिट्ठवण नामिया ताओ ।
पच गईओ नारय तिर नर सुर सिद्ध नामाओ ॥ ९७८ ॥
नाणाइं पच मइ सुय ओहि मण केवलेहि भणियाइ ।
सामइय छेय परिहार सुहुम अहक्खाय चरणाइ ॥ ९७९ ॥

—गाथार्थ—

त्रिकाल द्रव्यषट्क—तीन काल, छ द्रव्य, नवतत्त्व, छ जीव, छ काय, छ लेश्या, पॉच अस्तिकाय, पॉच व्रत, पॉच समिति, पॉच गति, पॉच ज्ञान, पॉच चारित्र इन्हे त्रिभुवन पूज्य अरिहत भगवन्तों ने मोक्ष का मूल कहा है। जो बुद्धिमान आत्मा इन्हे जानता है, मानता है, इनका आदर करता है, और इनकी स्पर्शना करता है वह विशुद्धदृष्टि वाला है ॥ ९७१ ॥

पूर्वोक्त पदार्थों का विवरण इस प्रकार है—भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीन काल है। छ द्रव्य निम्न प्रकार से समझना चाहिये॥ ९७२॥

१. धर्मास्तिकाय २. अधर्मास्तिकाय ३. आकाशास्तिकाय ४. काल ५. पुद्गलास्तिकाय तथा ६. जीवास्तिकाय रूप छ द्रव्य है॥ ९६३॥

१. जीव २. अजीव ३. पुण्य ४. पाप ५. आस्रव ६. संवर ७. निर्जरा ८. बंध और ९. मोक्ष जिनशासन में—ये नवपद है॥ ९७४॥

१. एकेन्द्रिय २. द्वीन्द्रिय ३. त्रीन्द्रिय ४. चतुरिन्द्रिय ५. पचेन्द्रिय एवं अनीन्द्रिय रूप—छ जीव है। १. पृथ्वी २. जल ३. अग्नि ४. वायु ५. वनस्पति एव ६. त्रस—ये छ काय है॥ ९७५॥

१. कृष्ण २ नील ३. कापोत ४. तेज ५. पद्म और ६. शुक्ल—ये छ लेश्यायें है। कालरहित पूर्वोक्त छः द्रव्य ही अस्तिकाय रूप है॥ ९७६॥

१. हिंसा २. असत्य ३. स्तेय ४. मैथुन एवं ५. परिग्रह इनके त्याग रूप—ये पॉच व्रत है। पॉच समितियॉ इस प्रकार कहूँगा॥ ९७७॥

१. ईर्यासमिति २. भाषासमिति ३. एषणासमिति ४. ग्रहणसमिति ५. परिष्ठापना समिति—ये पॉच समितियॉ है। १. नरकगति २. तिर्यचगति ३. मनुष्यगति ४. देवगति एव ५ सिद्धगति—ये पॉच गतियॉ है॥ ९७८॥

१. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनपर्यवज्ञान एवं ५. केवलज्ञान—ये पचविध ज्ञान है। १. सामायिक २. छेदोपस्थापनीय ३. परिहार विशुद्धि ४. सूक्ष्मसंपराय और ५ यथाख्यात—ये पॉच चारित्र है॥ ९७९॥

—विवेचन—

इसमे तीन काल, षट्द्रव्य, जीवादि नवतत्त्व/नवपद, व्रत आदि मोक्ष के कारणभूत पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बताया जायेगा जैसा कि त्रिलोकपूज्य, सहजात, कर्मक्षयजन्य तथा देवताओ से विरचित चौंतीस अतिशय रूप परम ऐश्वर्य से सम्पन्न तीर्थंकर परमात्मा ने बताया है। इन पदार्थों का यथार्थ- बोध मोक्ष का कारण है अत विवेक बुद्धिसपन्न जो आत्मा इन पदार्थों के यथार्थस्वरूप के प्रति श्रद्धा रखते है, यथायोग्य उन्हे आत्मसात् करते है वे निश्चय से सम्यक् दृष्टि है। अब सक्षेप मे उन पदार्थों का स्वरूप क्रमश बताते है॥९७१॥

३ काल—

(i) अतीत	—	जिस काल की वर्तमान पर्याय बीत चुकी हो अर्थात् बीता काल अतीतकाल है।
(ii) वर्तमान	—	जो चल रहा है। सर्वसूक्ष्म, निरश समय प्रमाण वर्तमान काल है।
(iii) भावी	—	जो काल अभी वर्तमान पर्याय को प्राप्त नही हुआ पर होगा वह भावी काल है।

६ द्रव्य—

(i) धर्म — धर्म अर्थात् धर्मास्तिकाय। यहाँ धर्म का अर्थ है स्वभावत गतिक्रिया मे परिणत जीव और पुद्गल को गति करने मे सहायक द्रव्य। अस्ति यानि प्रदेश। काय यानि समूह/प्रदेशो का समूह अस्तिकाय है। स्वभावत गति क्रिया मे परिणत जीव व पुद्गल को सहायक बनने वाला प्रदेश समूह धर्मास्तिकाय है।

(ii) अधर्म — अधर्म अर्थात् अधर्मास्तिकाय। स्वभावत स्थितिशील जीव व पुद्गल को ठहरने मे सहायक बनने वाला प्रदेश समूह अधर्मास्तिकाय है।

- पूर्वोक्त दोनो द्रव्य असख्य प्रदेशी, अमूर्त तथा लोकव्यापी है। चौदह रज्जु परिमाण आकाश प्रदेश की लोकसज्ञा का कारण ही धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय है। इनके कारण ही वहाँ जीव तथा पुद्गलो का प्रचार प्रसार है अन्यथा अलोक मे भी जीव पुद्गल का प्रचार- प्रसार हो जाता और वह भी लोकसज्ञा का भागी बनता।

(iii) आकाश — आङ् का अर्थ है मर्यादा, काश का अर्थ है प्रकाशित होना अर्थात् अपने स्वरूप का परित्याग नही करते हुए पदार्थ समूह जिसमे सयोग सम्बन्ध से रहता है, अपने स्वरूप से दीपित होता है वह आकाश है। यदि यहाँ आङ् का अर्थ अभिविधि करे तो अर्थ होगा कि जो सभी पदार्थो को व्याप्त करके रहता है...प्रकाशित होता है वह आकाश है। यह लोकालोक व्यापी, अमूर्त व अनन्त प्रदेशी द्रव्य है।

(iv) काल — समस्त वस्तु समूह की गणना जिसके द्वारा होती है वह काल है अथवा केवली व छद्मस्थ दोनो के द्वारा होने वाला समय की सीमा से युक्त सजीव व निर्जीव वस्तुओ के ज्ञान का माध्यम काल है। जैसे—इस वस्तु को उत्पन्न हुए आवलिका...मुहूर्त...दिन बीत चुका है इत्यादि कथन काल से सम्बन्धित है। इस प्रकार काल एक द्रव्य विशेष है।

(v) पुद्गल — चय-उपचय स्वभाव वाला द्रव्य विशेष पुद्गल है। परमाणु से लेकर अनत अणु वाले स्कध सभी पुद्गल है। ये अपने सयोग से किसी द्रव्य की वृद्धि तथा अपने वियोग से किसी द्रव्य की हानि करते है ऐसे पुद्गलो का समूह पुद्गलास्तिकाय है।

(vi) जीव — जिसके लिये इन शब्दो का प्रयोग होता है, जैसे जीवन्ति (जी रहा है), जीविष्यन्ति (जीयेगा), जीवितवन्त (जी चुका) वह जीव पदार्थ है। जीव प्रति शरीर भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक जीव असख्यात प्रदेशी, लोकव्यापी तथा अमूर्त है।

- प्रदेशों का समूह अस्तिकाय है। काल निरंश, समयप्रमाण होने से अप्रदेशी है। अतः वह अस्तिकाय नहीं कहलाता।

षड्द्रव्यों का उपयोग—

- जीव व पुद्गलों की गति मे सहायक होने से धर्मास्तिकाय उपयोगी है।
- जीव व पुद्गलों की स्थिति मे सहायक होने से अधर्मास्तिकाय उपयोगी है।
- जीवादि पदार्थों का आधार होने से आकाशास्तिकाय उपयोगी है।
- वकुल, अशोक, चम्पक आदि के फूलों-फलों के लगने व पकने के समय का निर्णायक होने से काल उपयोगी है।
- घट, पटादि के निर्माण के लिये पुद्गलास्तिकाय उपयोगी है।
- प्रत्येक प्राणी मे स्वसवेदनसिद्ध चेतन्य की सिद्धि के लिये जीवद्रव्य उपयोगी है ॥९७२-९७३ ॥

९ पद—

(i) जीव	— सुख, दुःख का उपभोक्ता अर्थात् उपयोग स्वभाव वाला है।
(ii) अजीव	— जड स्वभाव वाला, जैसे धर्मास्तिकाय आदि है।
(iii) पुण्य	— जिसके उदय मे जीव को सुख का अनुभव होता है।
(iv) पाप	— जिसके उदय मे जीव को दुःख का अनुभव होता है।
(v) आस्रव	— जिसके द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आगमन होता हो वे आस्रव है, जैसे हिसा...झूठ आदि।
(vi) सवर	— आस्रव द्वारों का निरोध करने वाला सवर है, जैसे समिति, गुप्ति आदि।
(vii) निर्जरा	— भोगकर या तप द्वारा कर्मों का आशिक क्षय करना निर्जरा है।
(viii) बंध	— कर्म-प्रदेशों का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिलना बध है।
(ix) मोक्ष	— सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से आत्म-स्वरूप का प्रकट होना मोक्ष है।

- जिनशासन मे पूर्वोक्त नवपद अत्यन्त सारभूत है।
- आस्रव, बध, पुण्य व पाप ये चारो ससार के मूल कारण होने से 'हेय' है।
- सवर व निर्जरा जीव के मुख्य साध्य मोक्ष के कारण होने से 'उपादेय' है।
- शिष्य को हेय-उपादेय का ज्ञान सुगमता से हो, इसके लिये जीव-अजीव आदि नव पदार्थ अलग-अलग बताये है। वास्तव मे देखा जाए तो मूल पदार्थ जीव और अजीव दो ही है। पुण्य-पाप आदि का उन्ही मे अन्तर्भाव हो जाता है।

स्थानांगसूत्र में कहा है कि—

"ससार के सभी पदार्थ जीव-अजीव का विस्तार है।" यदि और भी अधिक विस्तार करना चाहे तो पदार्थ अनन्त भी हो सकते है।

प्रश्न—जीव-अजीव मे पुण्य-पाप आदि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है?

उत्तर—पुण्य-पाप कर्मस्वरूप है। बध पुण्य पाप रूप है। कर्म पुद्गल रूप है और पुद्गल अजीव है। अत पुण्य-पाप व बध का अजीव मे समावेश होता है। मिथ्यात्व आदि आत्म-परिणामरूप आस्रव का जीव मे तथा पुद्गल (कर्म) रूप आस्रव का अजीव मे समावेश होता है। आस्रव निरोध रूप सवर भी आत्मा का परिणाम विशेष होने से जीव के अन्तर्गत ही है। निर्जरा भी जीवरूप ही है क्योकि आत्मा ही अपनी शक्ति से कर्म का क्षय करती है। सपूर्ण कर्मो का क्षयरूप मोक्ष भी आत्मस्वरूप होने से जीव है। इस प्रकार मुख्य दो ही तत्त्व है।

- कही सात तत्त्व भी है। पुण्य-पाप का बध मे समावेश करके जीवादि सात तत्त्व माने है ॥९७४॥

६ जीव—

(i) एकेन्द्रिय — मात्र जिनके शरीर होता है वे जीव। जैसे—पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु और वनस्पति।

(ii) द्वीन्द्रिय — जिनके शरीर व जीभ दो इन्द्रियाँ होती है। जैसे—शख, सीप, अक्ष, कौडी, जोक, कृमि, बरसाती कीडे, पानी के पोरे आदि।

(iii) त्रीन्द्रिय — जिनके शरीर, जीभ व नाक तीन इन्द्रियाँ होती है। जैसे—जू, माकड, गोशाला आदि मे उत्पन्न होने वाला जन्तु, इन्द्रगोप, कुन्थुए, मकोडे, कीडियाँ, उदेही, आदि।

(iv) चतुरिन्द्रिय — जिनके शरीर, जीभ, नाक व आँख होती है। जैसे—भौरा, मक्खी, डाँस-मच्छर, बिच्छू, कीडे, पतगे आदि।

(v) पंचेन्द्रिय — जिनके पाँच इन्द्रियाँ—शरीर, जीभ, नाक, आँख व कान है। जैसे—हाथी, मगर, मयूर, मनुष्य आदि।

(vi) अनीन्द्रिय — सपूर्ण कर्मो का क्षय हो जाने से जो शरीर रहित हो चुके है ऐसे सिद्धात्मा अनीन्द्रिय है।

६ काय—

(i) पृथ्विकाय — जिनका शरीर कठिन स्पर्श वाला होता है वे पृथ्विकाय है।

(ii) अप्काय — जल ही है शरीर जिनका वह अप्काय ह।

(iii) तेजस्काय — आग ही है शरीर जिनका वह तेउकाय ह।

(iv) वायुकाय — वायु ही है शरीर जिनका वह वायुकाय ह।

(v) वनस्पतिकाय — वृक्ष, लतादिरूप शरीर हे जिनका वह वनस्पति काय है।

(vi) त्रसकाय — गतिशील शरीर वाला त्रसकाय हे ॥९७५ ॥

६ लेश्या — जिनके द्वारा जीव कर्मो से लिप्त वनता है वे लेश्या है। कृष्ण नील, कापोत, तेज, पद्म व शुक्ल द्रव्य के सयोग से उत्पन्न होने वाले आत्मा के शुभ-अशुभ परिणाम विशेष लेश्या है। कहा है—भिन्न-भिन्न रग के सयोग से जैसे स्फटिक भिन्न-भिन्न रग वाला दिखाई देता है वैसे कृष्णादि द्रव्य के सयोग से आत्मा भी भिन्न-भिन्न परिणाम वाला बनता है। ये परिणाम लेश्या है।

- लेश्या के स्वरूप के सम्बन्ध मे मुख्यतया तीन मत है।

(i) योग परिणाम (ii) कर्मनिष्यन्द तथा (iii) कर्मवर्गणानिष्पन्न।

(i) इस मतानुसार लेश्या योग-वर्गणा के अन्तर्गत स्वतत्र द्रव्य है, क्योकि लेश्या का अन्वय-व्यतिरेक सयोगीपन के साथ है। इस मतवालो का कथन है कि योगवर्गणा के अन्तर्गत कुछ द्रव्य ऐसे है कि जो आत्मा मे तथाविध शुभ-अशुभ परिणाम उत्पन्न करते है। लेश्या कषाय का परिणाम नही है पर योग के अन्तर्गत पित्त आदि द्रव्य जैसे कषाय का उद्दीपन करते है वैसे लेश्याये भी कषाय की उद्दीपक होती है। अन्यथा (यदि लेश्याओ को कषाय का परिणाम माने तो) १२-१३-१४ गुणस्थानो मे लेश्या का अभाव होगा क्योकि वहाँ कषाय का अभाव है, परन्तु वहाँ शुक्ल लेश्या होती है। यह मत हरिभद्रसूरि आदि का है।

(ii) इस मत का आशय है कि लेश्याद्रव्य कर्मनिष्यन्दरूप (बध्यमान कर्म के प्रवाहरूप) है। चौदहवे गुणस्थान मे कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने से लेश्या का अभाव होता है। इस मत के अनुसार लेश्या कर्मप्रवाह रूप है। कर्म के प्रवाह के कारण ही आत्मा मे शुभ-अशुभ परिणाम उत्पन्न होते है।

(iii) तीसरे मत का यह मानना है कि लेश्या द्रव्य कर्मवर्गणा से बने हुए है, परन्तु वे आठ कर्मो से भिन्न है जैसे कि कार्मणशरीर। कहा है—'कार्मणशरीरवत्पृथगेव कर्माष्टकात्कार्मणवर्गणानिष्पन्नानि कृष्णादिद्रव्याणि' इति।

- लेश्या के छ प्रकार है। कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म व शुक्ल।

कृष्ण —कृष्ण-द्रव्यरूप अथवा कृष्ण द्रव्य के सयोग से उत्पन्न परिणाम।

नील —नील-द्रव्य अथवा नील द्रव्य के सयोग से उत्पन्न परिणाम।

कापोत —कापोत-द्रव्य अथवा कापोत द्रव्य के सयोग से उत्पन्न परिणाम।

तेज —तैजस्-द्रव्य अथवा तैजस् द्रव्य के सयोग से उत्पन्न परिणाम।

पद्म —कमल सदृश द्रव्य अथवा वैसे द्रव्य के सयोग से उत्पन्न परिणाम।

शुक्ल —शुक्ल द्रव्य अथवा शुक्ल द्रव्य के सयोग से उत्पन्न परिणाम।

- प्रथम तीन लेश्या अशुभ है व अन्तिम तीन लेश्या शुभ है। इन लेश्याओ का स्वरूप समझाने हेतु जामुन खाने के इच्छुक छ पुरुषो का तथा ग्रामघातक छ पुरुषो का दृष्टान्त बताते है।

१. कृष्ण लेश्या

२. नील लेश्या

३. कापोत लेश्या

४. तेजो लेश्या

५. पद्म लेश्या

६. शुक्ल लेश्या

६ लेश्या

कोई छ पुरुष जामुन खाने की इच्छा करते हुए चले जा रहे थे। इतने मे पके हुए, रसपूर्ण जामुनो के भार से झुक गई है शाखाये जिसकी, ऐसे कल्पवृक्ष के समान जामुन के पेड को देखा। सभी खुश होकर वोले—अच्छा हुआ समय पर पेड मिल गया। अव जामुन खाकर हमे अपनी भूख मिटानी चाहिये। सभी पेड के पास आये और फल पाने का उपाय सोचने लगे।

एक पुरुष वोला इस वृक्ष पर चढना मौत को वुलाना है अत इस पर चढने की अपेक्षा फलो से लदी हुई बडी-बडी शाखा वाले इस वृक्ष को काट गिराना ही अच्छा है।

यह सुनकर दूसरे ने कहा—वृक्ष काटने से क्या लाभ? केवल फलो से लदी शाखाओ को काटने से ही हमारा काम पूर्ण हो जायेगा।

तीसरे ने कहा—बडी शाखाओ को क्यो काटा जाये, छोटी-छोटी शाखाओ को काटने से ही अपना काम चल सकता है।

चौथे ने कहा—शाखाओ को भी क्यो काटना? फलो के गुच्छो को ही तोड लीजिये।

पॉचवा बोला—गुच्छो से क्या प्रयोजन है? उनमे से पके फलो को ही चुन लेना अच्छा है।

अन्त मे छठे पुरुष ने कहा—ये सब विचार व्यर्थ है। हम लोगो को चाहिये उतने फल तो नीचे भी गिरे हुए है। क्या उनसे हमारा काम नही चल सकता?

दूसरा दृष्टान्त—

छ पुरुष धन लूटने के इरादे से कहीं जा रहे थे। रास्ते मे किसी गॉव को देखकर एक व्यक्ति बोला—'पशु-पक्षी, पुरुष, स्त्री, बाल और वृद्ध जो कोई भी दिखे उसे मारो और धन लूट लो।'

दूसरे ने कहा—पशु-पक्षी आदि को मारने से क्या लाभ है? केवल जो विरोध करे उन्हे मारो और धन लूट लो।

यह सुनकर तीसरा बोला—बिचारी स्त्रियो को क्यो मारना, केवल पुरुषो को ही मारो।

चौथा बोला—सब पुरुषो को नही, जो सशस्त्र हो, उन्ही को मारो।

पॉचवें ने कहा—जो सशस्त्र पुरुष विरोध नही करते उन्हे क्यो मारना अत जो विरोध करे उन्हे ही मारो।

अंत मे छठे पुरुष ने कहा—किसी को मारने से क्या लाभ? अपने को तो धन से काम है। जैसे भी हो सके धन लूट लो। किसी को मारो मत।

दोनो दृष्टान्तो में विचारो की छ स्थितियॉ क्रमश कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म व शुक्ल लेश्या की परिचायक है। इनसे लेश्याओ का स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है। प्रत्येक दृष्टात के छह-छह पुरुषो मे पूर्व-पूर्व पुरुष के परिणामो की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ-शुभतर व शुभतम है।

५ अस्तिकाय — काल द्रव्य को छोडकर शेष द्रव्य ही अस्तिकाय है, जैसे, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय व जीवास्तिकाय।

प्रश्न—कालद्रव्य के साथ अस्तिकाय का प्रयोग क्यो नही होता?

उत्तर—अनेक प्रदेश वाले द्रव्य के लिये ही 'अस्तिकाय' का प्रयोग होता है। काल एक समय रूप होने से 'अस्तिकाय' नही कहलाता। अतीत व अनागत समय क्रमश नष्ट व अनुत्पन्न होने से प्रज्ञापक पुरुष के द्वारा की जाने वाली प्ररूपणा की अपेक्षा वर्तमान समय रूप काल ही यथार्थ है।

प्रश्न—यदि काल एक समयरूप है तो आवलिका, मुहूर्त्त, दिवस आदि का व्यवहार ही समाप्त हो जायेगा? क्योकि आवलिका आदि असख्येय समय प्रमाण होने से अस्तिकाय रूप होगे।

उत्तर—स्थिर, स्थूल व त्रैकालिक वस्तु को स्वीकार करने वाले व्यवहारनय की अपेक्षा से आवलिका, मुहूर्त्त आदि की प्ररूपणा होती है। निश्चयनय के अनुसार तो आवलिका आदि यथार्थ कालद्रव्य नही है ॥९७६ ॥

५ व्रत — व्रत = शास्त्रविहित नियम। व्रत पॉच है। अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह।

५ समिति — ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेप समिति व परिष्ठापना समिति। ये पॉच समिति भी व्रत स्वरूप ही है। समिति का विस्तृत स्वरूप ६६वे और ६७वे द्वार मे कहा गया है।

५ गति — नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति व सिद्धगति। गति = कर्मरूपी रस्सी से आकृष्ट प्राणियो के द्वारा जहॉ जाया जाता है वह गति है।

- नारक जीवो की गति नरक गति है।
- एकेन्द्रिय आदि तिर्यचो की गति तिर्यचगति है।
- मनुष्यो की गति मनुष्यगति है।
- देवो की गति देवगति है।
- जो कर्मोदय जन्य नही है परन्तु जहॉ जीव कर्मरहित हो गमन करता है वह 'सिद्धिगति' है। गमन करने रूप साम्यता के कारण ही इसे 'गति' रूप माना गया है ॥९७७-९७८ ॥

५ ज्ञान — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान व केवलज्ञान। इनका स्वरूप आगे कहा जायेगा।

५ चारित्र — जिसके द्वारा भवसागर पार किया जाये वह चारित्र है। वे पॉच है। एक पद का ग्रहण पूरे पदसमुदाय का बोध कराता है अत यहॉ पद के एक देश का ग्रहण होने पर भी सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसपराय व यथाख्यात चारित्र का ग्रहण होता है।

(i) **सामायिक** — राग-द्वेष रहित जीवन सामायिक है अथवा जिस अनुष्ठान से ज्ञान, दर्शन, चारित्र का लाभ होता हो वह सामायिक चारित्र है।

- यद्यपि सभी चारित्र सामायिकरूप है तथापि छेद आदि विशेषण से युक्त होने से अर्थ व शब्द दोनो की अपेक्षा से परस्पर भिन्न है। सामायिक चारित्र दो प्रकार का है—इत्वरिक व यावत्कथिक।
- **इत्वरिक**—बडी दीक्षा से पूर्व का चारित्र। यह चारित्र भरत व ऐरवत क्षेत्र मे प्रथम व अतिम तीर्थकर के समय मे होता है।
- **यावत्कथिक**—यावज्जीव का चारित्र। यह चारित्र भरत व ऐरवत क्षेत्र मे २२ तीर्थकर के काल मे तथा महाविदेह मे होता है।

प्रश्न—*इत्वरिक चारित्र भी ग्रहण करते समय तो यावज्जीव का ही लिया जाता है। 'यथा—सामायिक* करोमि भदत? यावज्जीव.....।' बडी दीक्षा के समय पॉच महाव्रत स्वीकार करने पर सामायिक चारित्र का त्याग हो जाता है। क्या वहॉ यावज्जीव के लिये गृहीत प्रतिज्ञा का भग नही होता?

उत्तर—यह पहिले ही कह दिया गया कि—सभी चारित्र सामान्यत सामायिकरूप है, क्योकि सभी चारित्र सावद्ययोगो की विरतिरूप होते है। परन्तु विशुद्धि के तारतम्य से वे छेदोपस्थापनीय आदि भिन्न-भिन्न नामो से कहे जाते है। अत जैसे यावत्कथिक सामायिक अथवा छेदोपस्थापनीय सयम, विशिष्ट विशुद्धिवाले सूक्ष्मसपराय आदि चारित्र का पालन करने पर भग नही होते, वैसे इत्वर सामायिक चारित्र भी विशुद्धिरूप 'छेदोपस्थापनसयम' का पालन करने पर भग नही होता। हॉ, यदि दीक्षा छोड दी जाये तो उसका भग अवश्य हो जाता है। परन्तु चारित्र के उत्तरोत्तर विशुद्ध रूप को स्वीकार करने पर पूर्व स्वीकृत चारित्र का कदापि भग नही होता।

(ii) **छेदोपस्थापन** — जिस चारित्र मे पूर्वपर्याय का नाश तथा पॉच महाव्रतो का स्वीकार होता है वह छेदोपस्थापन चारित्र है। वह दो प्रकार का है सातिचार व निरतिचार।

- **सातिचार**—जिसके अहिसादि मूल गुणो का नाश हो चुका हो उसको पुन व्रतधारण करवाना।
- **निरतिचार**—इत्वर सामायिक वाले नूतनदीक्षित मुनि को पॉच महाव्रत उच्चराना अथवा एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ मे जाते समय उस तीर्थ सम्बन्धी महाव्रतो को ग्रहण करना। जैसे, पार्श्वनाथ के तीर्थ से भगवान महावीर के तीर्थ को स्वीकार करते समय पॉच महाव्रतरूप धर्म को स्वीकार करना।

(iii) **परिहार विशुद्धि** — परिहार = तप विशेष। विशुद्धि = कर्मनिर्जरारूप। जिस चारित्र मे तप विशेष के द्वारा कर्मनिर्जरा की जाती हो वह परिहार विशुद्धि चारित्र है। इसका विस्तृत विवेचन ६९वे द्वार मे प्रतिपादित कर चुके है।

(iv) सूक्ष्मसंपराय — सपराय = ससार मे भ्रमण कराने वाला कषाय का उदय। सूक्ष्म = लोभ का सूक्ष्म अश। अर्थात् जिस चारित्र मे मात्र लोभाश का उदय हो वह सूक्ष्म-सपराय चारित्र है। उसके दो भेद है—

- विशुद्ध्यमान—क्षपक श्रेणी व उपशम श्रेणि मे चढने वाले का चारित्र।
- सक्लिश्यमान—उपशमश्रेणि से गिरने वाले का चारित्र।

(v) अथाख्यात — अथ = यथार्थ, वास्तविक। आङ् उपसर्ग अभिविधि के अर्थ मे है। ख्यात = कहा गया अर्थात् जैसा बताया गया है वैसा चारित्र। अकषायचारित्र। इसका दूसरा नाम यथाख्यात भी है। यथा = जीवलोक मे चारित्र का जैसा स्वरूप प्रसिद्ध है। ख्यात = वैसा चारित्र। अर्थात् जीवलोक मे कषाय का अभाव भी चारित्र कहा गया है, वैसा चारित्र यथाख्यात है। इसके दो भेद है। छाद्मस्थिक व कैवलिक।

- छाद्मस्थिक—उपशान्तमोह व क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती आत्मा का चारित्र।
- कैवलिक—सयोगी व अयोगी केवली का चारित्र॥ ९७९॥

१५३ द्वार : श्राद्ध-प्रतिमा—

दसण वय सामाइय पोसह पडिमा अबभ सच्चित्ते।
आरभ पेस उद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य॥ ९८०॥
जस्सखा जा पडिमा तस्सखा तीए हुंति मासावि।
कीरतीसुवि कज्जाउ तासु पुव्वुत्तकिरिया उ॥ ९८१॥
पसमाइगुणविसिट्ठ कुग्गहसकाइसल्लपरिहीण।
सम्मदंसणमणहं दसणपडिमा हवइ पढमा॥ ९८२॥
बीयाणुव्वयधारी सामाइकडो य होइ तइयाए।
होइ चउत्थी चउद्दसीअट्ठमिमाईसु दिवसेसु॥ ९८३॥
पोसह चउव्विहंपि य पडिपुण्ण सम्म सो उ अणुपाले।
बधाई अइयारे पयत्तओ वज्जईमासु॥ ९८४॥
सम्ममणुव्वय-गुणवयसिक्खावयवं थिरो य नाणी य।
अट्ठमीचउद्दसीसु पडिम ठाएगराईय॥ ९८५॥

असिणाण वियडभोई मउलियडो दिवसबभयारी य।
रत्ति परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दिवसेसु ॥ ९८६ ॥
झायइ पडिमाए ठिओ तिलोयपुज्जे जिणे जियकसाए।
नियदोसपच्चणीयं अन्नं वा पंच जा मासा ॥ ९८७ ॥
सिगारकहविभूसुक्करिसं इत्थीकह च वज्जितो।
वज्जइ अबभमेगतओ य छट्ठीइ छम्मासे ॥ ९८८ ॥
सत्तम्मि सत्त उ मासे नवि आहारइ सच्चित्तमाहार।
जं जं हेट्ठिल्लाण तं त चरिमाण सव्वपि ॥ ९८९ ॥
आरभसयकरण अट्ठमिया अट्ठ मास वज्जेइ।
नवमा नव मासे पुण पेसारभेऽवि वज्जेइ ॥ ९९० ॥
दसमा दस मासे पुण उद्दिट्ठकयपि भत्त नवि भुजे।
सो होइ उ छुरमुडो सिहलि वा धारए कोई ॥ ९९१ ॥
ज निहियमत्थजाय पुच्छत सुयाण नवरि सो तत्थ।
जइ जाणइ तो साहइ अह नवि तो बेइ नवि याणे ॥ ९९२ ॥
खुरमुडो लोएण व रयहरण पडिग्गह च गिण्हित्ता।
समणो हूओ विहरइ मासा एक्कारसुक्कोस ॥ ९९३ ॥
ममकारेऽवोच्छिन्ने वच्चइ सन्नायपल्लि दट्ठु जे।
तत्थवि साहुव्व जहा गिण्हइ फासु तु आहारं ॥ ९९४ ॥

—गाथार्थ—

श्रावक-प्रतिमा—१. दर्शन २. व्रत ३. सामायिक ४ पौषध ५. प्रतिमा ६. अब्रह्मचर्य ७. सचित्तत्याग ८. आरंभत्याग ९. प्रेष्यत्याग १०. उद्दिष्ट त्याग तथा ११. श्रमणभूत—ये ग्यारह श्रावक प्रतिमाये है ॥ ९८० ॥

जिस प्रतिमा का क्रमांक जितना है उस प्रतिमा का कालमान उतने ही मास का है। उत्तरोत्तर प्रतिमाओ मे पूर्व प्रतिमाओं से सम्बन्धित सभी क्रियाये व प्रस्तुत प्रतिमा सम्बन्धी क्रियायें दोनों ही करनी पड़ती है ॥ ९८१ ॥

प्रशमादि गुणों से विशिष्ट, कुग्रह-शंका आदि शल्यो से रहित होने से निर्दोष ऐसे सम्यग् दर्शन का पालन ही प्रथम दर्शन प्रतिमा है ॥ ९८२ ॥

प्रतिमाधारी श्रावक दूसरी प्रतिमा मे अणुव्रती, तीसरी प्रतिमा मे सामायिक कर्त्ता, चतुर्थ प्रतिमा

में चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्व तिथिओ में पूर्णरूपेण चतुर्विध पौषधधारी होता है तथा प्रतिमाराधनकाल में बंध, वधादि अतिचारों का सर्वथा त्याग करता है॥ ९८३-९८४॥

सम्यक्त्व, अणुव्रत, गुणव्रत एव शिक्षाव्रत का पालन करने वाला, स्थिर, तथा ज्ञानी आत्मा अष्टमी-चतुर्दशी को रात मे प्रतिमावहन करे॥ ९८५॥

अन्य दिवसों में स्नानरहित, दिन में भोजन करने वाला, लुगी की तरह धोती पहिनने वाला, दिन में ब्रह्मचारी एव रात्रि में परिमाणकृत होता है॥ ९८६॥

कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी आत्मा, त्रैलोक्यपूज्य, जितकषायी ऐसे जिनेश्वर परमात्मा का ध्यान करता है। अथवा अपने क्रोधादि दोषों के दुश्मनरूप क्षमादि गुणो का पॉच महीना पर्यत ध्यान करता है॥ ९८७॥

श्रृगारकथा, विभूषा का उत्कर्ष, स्त्रीकथा तथा सभी प्रकार के अब्रह्म का छ मास तक छट्ठी प्रतिमा को धारण करने वाला त्याग करता है॥ ९८८॥

सात मास परिमाण वाली सातवी प्रतिमा में प्रतिमाधारक सचित्त आहार का त्यागी होता है। जो विधि निम्न प्रतिमाओं की है वह ऊपर की प्रतिमाओं में भी करनी चाहिये॥ ९८९॥

आठवी प्रतिमा में प्रतिमाधारी आठ मास तक आरभ का त्यागी होता है। नौवी प्रतिमा मे नौ मास तक प्रेष्यारंभ का त्याग करता है॥ ९९०॥

प्रतिमाधारी दसवी प्रतिमा में दस मास तक उद्दिष्ट भोजन का त्यागी होता है। शिर का मुडन करता है अथवा कोई चोटी भी रखता है। भूमिगत धन के विषय में यदि पुत्रादि पूछे तो जानता हो तो अवश्य बताता है। न जानता हो तो कहे कि—मै नही जानता॥ ९९१-९९२॥

उत्कृष्टत उस्तरे से मुडन करके अथवा लोच करके ग्यारह मास पर्यत रजोहरण और पात्रग्रहण कर साधु की तरह विचरण करता है॥ ९९३॥

ममत्व का नाश न होने के कारण प्रतिमाधारी, स्वजनो को मिलने हेतु गॉव आदि मे जाता है। वहॉ भी साधु की तरह ही प्रासुक आहार-पानी ग्रहण करता है॥ ९९४॥

—विवेचन—

(१) दर्शन........सम्यक्त्व
(२) व्रत........अणुव्रत
(३) सामायिक......सावद्य का त्याग और निरवद्य का सेवन
(४) पौषध......अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिन मे किया जाने वाला अनुष्ठान विशेष
(५) प्रतिमा......कायोत्सर्ग (विधिपूर्वक पॉचो प्रतिमाओ को ग्रहण करना)
(६) अब्रह्मवर्जन......अब्रह्मचर्य का त्याग करना।
(७) सचित्तवर्जन......सचेतन द्रव्य का त्याग करना।
(८) आरभवर्जन......स्वय खेती आदि आरभ नहीं करना।

(९) प्रेष्य.........अन्य को पाप मे प्रवृत्त नही करना

(१०) उद्दिष्ट.......प्रतिमाधारी श्रावक को उद्देश्य बनाकर अचित्त किया हुआ या पकाया हुआ भोजन ग्रहण नही करना।

(११) श्रमण भूत.......साधु की तरह रहना

दर्शन, व्रत आदि के साथ 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग करके दर्शन प्रतिमा..व्रतप्रतिमा इस प्रकार कथन करना चाहिये। पूर्वोक्त ११ श्राद्ध प्रतिमाये है। श्राद्ध = श्रावक, प्रतिमा = अभिग्रह, प्रतिज्ञा विशेष ॥९८० ॥

जो प्रतिमा जितने क्रमाक की है उस प्रतिमा का वहन काल उतने महिने का समझना। उदारणार्थ—९वी प्रतिमा का वहन काल ९ मास, ११वी का ११ मास कुल ११ प्रतिमा का वहन काल ५$\frac{१}{२}$ वर्ष का है।

यद्यपि इन प्रतिमाओ का कालमान **दशाश्रुतस्कंध** आदि मे साक्षात् नही कहा गया है फिर भी **उपासकदशा** आदि मे आनन्दादि श्रावको का प्रतिमावहन काल कुल मिलाकर ५$\frac{१}{२}$ वर्ष का बताया है। यह परिमाण पूर्वोक्त रीति से प्रत्येक प्रतिमा का वहन काल मानने पर ही सगत होता है।

- उत्तर प्रतिमाओ मे उनके लिये विहित आराधना के साथ पूर्व प्रतिमाओ की भी सारी क्रिया-आराधना करनी होती है। जैसे दूसरी प्रतिमा मे, दूसरी प्रतिमा की आराधना के साथ, प्रथम प्रतिमा का भी सारा क्रिया अनुष्ठान करना होता है। यावत् ग्यारहवी प्रतिमा मे दशवी प्रतिमा तक का सम्पूर्ण अनुष्ठान करना पडता है ॥९८१ ॥

१. दर्शन प्रतिमा — शम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य—इन पॉच गुणो से युक्त, कदाग्रह से रहित, शका-काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशसा और सस्तव, इन पॉचो अतिचारो से विशुद्ध सम्यग् दर्शन का स्वीकार करना। कदाग्रह = तत्त्व के प्रति मिथ्या आग्रह रखना। कदाग्रह, शका, काक्षा आदि शल्यरूप है क्योकि इनके कारण आत्मा दु खी होती है।

यद्यपि सम्यग् दर्शन, प्रतिमाधारी को पहले भी था किन्तु दर्शन प्रतिमा का वहन करते समय कदाग्रह शकादि दोष, राजाभियोग आदि छ अपवादो से रहित (निरपवाद) तथा अणु व्रतादि के पालन से विकल मात्र सम्यग्-दर्शन का विशेष रूप से पालन करना आवश्यक है। इसीलिये **उपासकदशा** मे वर्णित ग्यारह ही प्रतिमाओ का साढे पॉच वर्ष का कालमान सगत होता है। अन्यथा सम्यग्दर्शनादि का अस्तित्व पूर्व होने से प्रतिमाओ का कालमान निर्धारण करने की कोई आवश्यकता नही रहती। हॉ, **दशाश्रुतस्कन्ध** मे इस प्रतिमा का कालमान ऐसा नही कहा गया है, क्योकि वहॉ दर्शन प्रतिमा श्रद्धारूप ही मानी गई है ॥९८२ ॥

२. व्रत प्रतिमा — पॉच अणुव्रत, ३ गुणवत और ४ शिक्षा-व्रत, इनका निरपवाद रूप से पालन करना।

३. सामायिक प्रतिमा — सावद्य-योग का त्याग एव निरवद्ययोग का सेवन रूप सामायिक दोनो सध्याकाल मे करना। (जिस दिन पौषध न हो उस दिन)।

४. पौषध प्रतिमा — चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा, इन पर्व-तिथियो मे आहार, शरीर-सत्कार, अब्रह्मचर्य और व्यापार त्याग रूप पौषध विधि पूर्वक करना।

पूर्वोक्त चारो ही प्रतिमा मे बन्ध, वधादि १२ व्रत सम्बन्धी ६० अतिचारो का प्रयत्न-पूर्वक त्याग करना चाहिये ॥९८३-९८५॥

५. कायोत्सर्ग प्रतिमा — पूर्वोक्त ४ प्रतिमायुक्त महान सत्त्वशील आत्मा रात्रि मे चौराहे पर अथवा जीर्ण मकान आदि मे कायोत्सर्ग ध्यान मे खडा रहे। यदि उपसर्ग हो तो सहन करे। इन प्रतिमाओ को धारण करने वाला प्रतिमा-कल्प का पूर्णज्ञाता व प्रवीण होना चाहिये क्योकि अज्ञानी आत्मा सभी कार्यो के लिये अयोग्य माना गया है तो आराधना विशेष के लिये तो कहना ही क्या है? यह प्रतिमा पौषध दिन (अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा) मे वहन की जाती है। प्रतिमाधारी सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग मे रहता है।

अन्य दिनो में (अपर्व दिनों में) काउस्सग्ग प्रतिमा वाले की चर्या कैसी हो?

- स्नानादि परिवर्जक
- दिन मे प्रकाशयुक्त स्थान मे भोजन करने वाला
- रात्रि मे भोजन का त्यागी (प्रतिमा वहन से पूर्व रात्रिभोजन का नियम न हो तो)
- दिन मे ब्रह्मचारी
- रात्रि मे परिमाणकृत ब्रह्मचारी (स्त्रियो का अथवा स्त्री सम्बन्धी भोगो का परिमाण करने वाला)
- मुकुलिबद्ध = बिना लाघ की धोती पहिनने वाला अर्थात् लुगी की तरह धोती पहिनने वाला।

कायोत्सर्ग मे क्या चिन्तन करे?—

(१) त्रिलोक पूज्य, वीतराग परमात्मा का ध्यान करे।

(२) अपने काम-क्रोधादि दोषो के प्रतिपक्षी ब्रह्मचर्य-क्षमा इत्यादि महान् गुणो का चितन करे।

यह प्रतिमा पॉच मास की है ॥९८६-९८७॥

६. ब्रह्मचर्य प्रतिमा — काम-कथा, विभूषा (स्नान-विलेपन-धूपन आदि) आदि का त्याग करे (योग्य विभूषा करे), स्त्री के साथ प्रणय कथा न करे। पूर्व-प्रतिमा मे दिन मे अब्रह्म का त्याग था किन्तु इस प्रतिमा मे रात्रि को भी त्याग समझना। इसीलिये इस प्रतिमा मे चित्त को चचल करने वाली काम-कथा आदि का त्याग बताया गया। यह प्रतिमा ६ मास की है ॥९८८॥

७. सचित्तवर्जक प्रतिमा — सात मास तक सचित्त अशन-पान-खादिम-स्वादिम का पूर्ण त्याग करने रूप सातवी प्रतिमा है ॥९८९ ॥

८. आरंभ त्याग प्रतिमा — पृथ्वीकायादि छ काय का स्वय आरम्भ न करे। आजीविका के लिये दूसरो से आरभ कराना पडे तो करा सकते है पर हिसादि पापो का तीव्र परिणाम नही होना चाहिए।

प्रश्न—यद्यपि प्रतिमाधारी स्वय आरभ नही करता किन्तु दूसरो से कराता है अत उससे हिंसा तो हो ही जाती है ?

उत्तर—आपकी बात सत्य है किंतु पहले वह स्वय भी हिसा करता था व दूसरो से भी करवाता था, इस प्रकार उभयजन्य हिंसा होती थी। पर अब स्वय सावद्य व्यापार मे प्रवृत्त न होने से स्वकृत हिंसा का त्यागी हो जाता है अत आठवी प्रतिमा मे इतना लाभ है। भयकर रोग मे थोडा भी स्वास्थ्य लाभ हो तो वह अपने हित के लिये ही होता है, वैसे थोडा भी आरम्भ त्याग आत्म-हित के लिये होता है।

९. प्रेष्यारंभ त्याग प्रतिमा — स्वय तो पाप व्यापार रूप खेती आदि का काम सर्वथा न करे, किन्तु सेवक आदि से भी नही करावे। अल्प आरम्भ वाले कार्य का निषेध नही है जैसे किसी को आसन इत्यादि देना। नौ महीने तक कुटुम्ब का सारा कार्यभार पुत्र, भ्राता आदि को सौपकर, धन-धान्यादि परिग्रह के प्रति यथाशक्य अनासक्ति रखते हुए आरम्भ करने व कराने के त्याग रूप नवमी प्रतिमा का पालन करे ॥९९० ॥

१०. उद्दिष्ट भोजन वर्जन प्रतिमा — इस प्रतिमा का वाहक प्रतिमाधारी श्रावक उसको उद्देश्य करके बनाया हुआ भोजन न ले। १०वी प्रतिमा के वाहक आराधक मस्तक का मुडन (अस्त्रादि से) करवाते है। कुछ शिखा रखते है। इस प्रतिमा का आराधक सासारिक कोई भी कार्य नही करता। सिर्फ इतनी सी छूट रहती है कि यदि जमीन आदि मे गडे धन के बारे मे पारिवारिक जन पूछे तो जानता हो तो बताये कि अमुक जगह धन गडा हुआ है (अन्यथा आजीविका का अन्तराय होता है)। यदि नही जानता हो तो स्पष्ट कहे कि मै नही जानता, बस, इसके सिवाय और कुछ भी गृह कार्य करना नही कल्पता ॥९९१-९९२ ॥

११. श्रमणभूत प्रतिमा — हाथ से अथवा अस्त्रादि से मस्तक का मुडन करे। साधु की तरह रजोहरण, पात्र आदि उपकरण रखे। इस प्रकार साधु की तरह समाचरण करता हुआ अर्थात् समिति-गुप्ति का पालन करता

हुआ प्रतिमाधारी गृहस्थ घर मे गौचरी के लिये प्रवेश करते समय इस प्रकार बोले—"प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।" यदि कोई पूछे कि तुम कौन हो? तो कहे कि "मै श्रमणोपासक (प्रतिमाधारी) हूँ।"

इस प्रकार ग्यारहवी प्रतिमा का आराधक-मास कल्पादि विधि के अनुसार ग्यारह मास तक साधु की तरह विहार करे। यह कालमान उत्कृष्ट है।

जघन्य—प्रत्येक प्रतिमा का जघन्यकाल अन्तमुहूर्त (४८ मि) है, यह काल मृत्यु के समय अथवा दीक्षा लेने से पूर्व प्रतिमा के अभ्यासी के लिये सभवित होता है अथवा नही। ममत्व का सम्पूर्ण विच्छेद न होने से प्रतिमाधारी स्वजनो को मिलने हेतु उनके गॉव जाता है, किन्तु रहता साधु की तरह है। उनके किसी भी कार्य मे सहभागी नही बनता। जैसे साधु प्रासुक और एषणीय आहारादि लेते है, वैसे वह भी लेता है। स्नेहीजन स्नेहवश अकल्पनीय आहार पानी देने का आग्रह करे तो भी वह नही लेता।

आवश्यक चूर्णि के मत से पीछे की ७ प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार है —

रात्रिभोजन त्याग रूप	—५ वी प्रतिमा
सचित्त आहार त्याग रूप	—६ठी प्रतिमा
दिन मे ब्रह्मचारी और रात्रि मे परिमाणकृत।	—७वी प्रतिमा
दिन और रात ब्रह्मचर्य का पालन, स्नान, केश, रोम, नखादि की विभूषा के त्याग रूप	—८वी प्रतिमा
स्वय आरभ न करने रूप	—९वी प्रतिमा
दूसरो से आरभ न कराने रूप	—१०वी प्रतिमा
उद्दिष्ट भक्त-पान वर्जन, श्रमण भूत	—११वी प्रतिमा ॥९९३-९९४ ॥

१५४ द्वार : अबीजत्व—

जव जवजव गोहुम सालि वीहि धन्नाण कोट्ठयाईसु।
खिविऊण पिहियाण लित्ताण मुद्दियाणं च ॥ ९९५ ॥
उक्कोसेण ठिइ होइ तिन्नि वरिसाणि तयसु एएसि।
विद्धंसिज्जइ जोणी तत्तो जायइ अवीयत्त ॥ ९९६ ॥
तिल मुग्ग मसूर कलाय मास चवलय कुलत्थ तुवरीण।
तह कसिणचणय वल्लाण कोट्ठयाईसु खिविऊणं ॥ ९९७ ॥
ओलित्ताणं पिहियाण लंछियाणं च मुद्दियाण च।

उक्किट्ठठिई वरिसाण पंचगं तो अबीयत्तं ॥ ९९८ ॥
अयसी लट्टा कंगू कोडूसग सण वरट्ट सिद्धत्था।
कोद्दव रालग मूलग बीयाणं कोट्ठयाईसु ॥ ९९९ ॥
निक्खित्ताणं एयाणुक्कोसठिईए सत्त वरिसाइं।
होइ जहन्नेण पुणो अतमुहुत्तं समग्गाण ॥ १००० ॥

—गाथार्थ—

धान्य का अबीजत्व—१. यव २. यवयव ३. गेहू ४. शाली ५. व्रीहि—इन धान्यो को कोठी आदि में डालकर कोठी को बराबर ढंक कर ऊपर से लीपने के पश्चात् भीतर रखा हुआ धान्य तीन वर्ष तक सचित्त रहता है। तत्पश्चात् वह अबीज बन जाता है॥ ९९५-९६ ॥

१. तिल २. मूंग ३. मसूर ४. त्रिपुट ५. उड़द ६. चौले ७. कुलत्थ ८. तूवर ९. काले चने १०. बाल आदि धान्यों को कोठी में ढंक कर उसे ऊपर से लीपकर लांछित एवं मुद्रित कर रखने से अधिक से अधिक पॉच वर्ष के पश्चात् अबीज बनते है॥ ९९७-९८ ॥

१. अयसी २. लट्ट ३. कंगू ४. कोटुसन्न ५.शण ६. बंटी ७. सरसों ८. कोद्रव ९. रालक और १०. मूलक के बीज को कोठी आदि में डालकर रखने से उत्कृष्टतः सात वर्ष पर्यन्त सचित्त रहते है। तत्पश्चात् अबीज बनते है। सभी धान्य जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् अबीज बन जाते है॥ ९९९-१००० ॥

—विवेचन—

(i) गेहूँ
(ii) यव
(iii) शाली (डागर)
(iv) यवयव (यवविशेष)
(v) व्रीहि (चावल)

इन पॉच धान्यो को कोठार, कोठी, मटके आदि मे डालकर, दरवाजे, मुह आदि को गोबर इत्यादि से इस प्रकार बन्द कर दिया जाये कि भीतर वायु का प्रवेश लेशमात्र भी न हो तो ये धान्य तीन वर्ष के पश्चात् अचित्त बनते है। तदनन्तर इन्हे बोने पर भी ये नही उगते ॥९९५-९९६ ॥

(i) तिल	(iv) चौला	(vii) वाल	(x) काले चने।
(ii) मूग	(v) मसूर, अन्य मतानुसार चना	(viii) तूअर	
(iii) उडद	(vi) मटर	(ix) कुलत्थ (अनाज विशेष)	

पूर्वोक्त रीति से इन्हे रखा जाये तो पॉच वर्ष के पश्चात् ये 'अबीज' बनते है ॥९९७-९९८ ॥

(i) अलसी	(iv) कोद्रवविशेष	(vii) सरसो	(x) मूले के बीज
(ii) कुसुभा	(v) शण (धान्यविशेष)	(viii) कोदवी	
(iii) कागनी (पीले रग के चावल)	(vi) वटी	(ix) कगू	

● पूर्वोक्त रीति से रखने पर सात वर्ष के पश्चात् अबीज बनते है। पूर्वोक्त काल धान्य की अचित्तता का उत्कृष्ट काल है। जघन्य से तो सभी धान्य अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् अचित्त हो सकते है। परन्तु इसका ज्ञान अतिशय ज्ञानी ही कर सकते है। छद्मस्थ इसका ज्ञान करने मे असमर्थ है। इसीलिये अचित्त होने पर भी व्यवहार दृष्टि से उनका उपयोग नही किया जा सकता। तालाब का पानी अचित्त होने पर भी भगवान महावीर ने प्यास से व्याकुल मुनियो को पीने की आज्ञा नही दी, क्योकि इस प्रकार की अचित्तता छद्मस्थ आत्माओ के लिये अज्ञात है। ऐसा न हो कि इसे उदाहरण बनाकर परवर्ती साधुगण सचित्त पानी का भी उपयोग करने लगे॥ ९९९-१००० ॥

१५५ द्वार : क्षेत्रातीत का अचित्तत्व—

जोयणसय तु गता अणहारेण तु भडसकती।
वायागणिधूमेहि य विद्धत्थं होइ लोणाई॥ १००१ ॥
हरियालो मणसिल पिप्पली य खज्जूर मुद्दिया अभया।
आइन्नमणाइन्ना तेऽवि हु एमेव नायव्वा॥ १००२ ॥
आरुहणे ओरुहणे निसियण गोणाइण च गाउम्हा।
भोम्माहारच्छेओ उवक्कमेण तु परिणामो॥ १००३ ॥

—गाथार्थ—

धान्यो की क्षेत्र आदि के द्वारा अचित्तता—सौ योजन जाने के पश्चात् आहार के अभाव से, एक स्थान से दूसरे स्थान पर बार-बार सक्रमण करने से, पवन, आग, धुआं आदि लगने से नमक आदि द्रव्य अचित्त बन जाते है॥ १००१ ॥

१. हरताल २. मनशिल ३. पीपर ४. खजूर ५. हरड़े आदि द्रव्य भी सौ योजन उपरान्त पूर्वोक्त कारणो से अचित्त बन जाते है। अचित्त हो जाने पर भी कुछ वस्तुये कल्प्य होती है और कुछ अकल्प्य ही रहती है॥ १००२ ॥

नमक आदि का गाड़ी आदि में चढ़ाने, उतारने, उस पर बैठने, गाय आदि के शरीर की उष्मा लगने तथा योग्य भूमि सम्बन्धी आहार न मिलने रूप उपक्रम के लगने से अचित्तरूप परिणमन हो जाता है॥ ११०३ ॥

—विवेचन—

१. लवण (नमक) आदि पृथ्विकायिक विवक्षित क्षेत्र से सौ योजन उपरान्त ले जाने पर पूर्ण रूप से अचित्त हो जाते है। सौ योजन के पश्चात् उन जीवो को या तो अनुकूल आहार नही मिलता या अनुकूल मौसम नही मिलता, अतः वे मर जाते है।

केचित्—कुछ आचार्यो का मन्तव्य है कि लवण आदि पृथ्विकायिक वस्तुये विवक्षित स्थान से २०० कोस ले जाने पर अचित्त हो जाती है। **निशीथचूर्णि** मे कहा है—'केइ पठति गाउयसयगाहा'।

२. एक पात्र से दूसरे पात्र मे, एक स्थान से दूसरे स्थान मे रखने से, वायु, अग्नि तथा धुआ लगने से भी नमक आदि पृथ्विकाय अचित्त बन जाता है।

- अप्काय, तेऊकाय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय की अचित्तता भी पृथ्विकाय की तरह ही समझना ॥१००१॥
- हरताल, मैनशिल (दोनो धातु विशेष है), दाख, पीपर, हरडे आदि भी सौ योजन ले जाने पर अचित्त हो जाती है। इनकी अचित्तता के भी पूर्वोक्त ही कारण है। परन्तु इनमे कुछ चीजे स्वभावत कल्प्य है तो कुछ चीजे अकल्प्य है। जैसे—पीपर, हरडे आदि कल्प्य होने से अचित्त हो जाने के बाद ग्राह्य है, पर खजूर, दाख आदि अकल्प्य होने से अचित्त हो जाने के बाद भी अग्राह्य ही है॥१००२॥
- **अचित्तता के कारण—**
  गाडी आदि मे अथवा बैल आदि की पीठ पर रखने से अथवा नीचे उतारने से लवणादि अचित्त बनते है।
  नमक आदि पर बैठने से, बैल आदि के शरीर की गर्मी से अथवा लवणादि पृथ्विकायिक जीवो को आहार आदि न मिलने से वे अचित्त बन जाते है।
  उपक्रम लगने से भी अचित्त बन जाते है। उपक्रम = जिससे लबी आयु अल्प समय मे क्षीण हो जाती है वह उपक्रम है। जैसे स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र व उभयकाय शस्त्र।
  स्वकायशस्त्र—सजातीय शस्त्र जैसे—खारा पानी, मीठे पानी का शस्त्र है।
  परकायशस्त्र—विजातीय शस्त्र जैसे वनस्पति के लिये आग शस्त्र है।
  उभयकायशस्त्र—मिट्टीयुक्त जल, शुद्धजल के लिये शस्त्र है॥१००३॥

१५६ द्वार : धान्य-संख्या—

धन्नाइं चउवीस जव गोहुम सालि वीहि सट्ठी य।
कोद्दव अणुया कंगू रालय तिल मुग्ग मासा य॥ १००४॥
अयसि हरिमंथ तिउगड निप्फाव सिलिंद रायमासा य।
इक्खू मसूर तुवरी कुलत्थ तह धन्नय कलाया॥ १००५॥

—विवेचन—

चौबीस प्रकार के धान्य—(१) यव-जौ, (२) गेहूँ, (३) शाली (डागर), (४) व्रीहि (चावल), (५) षष्टिका (६० रात मे पकने वाली शाली विशेष), (६) कोद्रव-कोदरी, (७) युगन्धरी, (८) कागनी, (९) कगूविशेष, (१०) तिल, (११) मूग, (१२) उडद, (१३) अलसी, (१४) काले चने, (१५) त्रिपुटग (धान्यविशेष) (१६) वाल, (१७) शिलिन्द (मोठ), (१८) चौला, (१९) इक्षु-बटी, (२०) मसूर, (२१) तूअर, (२२) कुलत्थ, (२३) कुसुभरी (धनिया) तथा (२४) मटर ॥ १००४-१००५ ॥

१५७ द्वार : मरण—

आवीइ ओहि अंतिय वलायमरण वसट्टमरण च ।
अतोसल्ल तब्भव बाल तह पडिय मीस ॥ १००६ ॥
छउमत्थमरण केवलि वेहायस गिद्धपिट्ठमरण च ।
मरण भत्तपरिन्ना इंगिणि पाओवगमण च ॥ १००७ ॥
अणुसमयनिरतरमाविइसन्निय त भणति पचविह ।
दव्वे खेत्ते काले भवे य भावे य ससारे ॥ १००८ ॥
एमेव ओहिमरणं जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो ।
एमेव आइअतियमरण नवि मरइ ताणि पुणो ॥ १००९ ॥
सजमजोगविसन्ना मरति जे त वलायमरण तु ।
इदियविसयवसगया मरति जे त वसट्ट तु ॥ १०१० ॥
गारवपकनिबुड्डा अइयारं जे परस्स न कहति ।
दसणनाणचरित्ते ससल्लमरण हवइ तेसिं ॥ १०११ ॥
मोत्तु अकम्मभूमिय नरतिरिए सुरगणे य नेरइए ।
सेसाण जीवाण तब्भवमरण च केसिचि ॥ १०१२ ॥
मोत्तूण ओहिमरण आवी (इ) यतियतिय चेव ।
सेसा मरणा सव्वे तब्भवमरणेण नायव्वा ॥ १०१३ ॥
अविरयमरण बालं मरण विरयाण पडिय विंति ।
जाणाहि बालपडियमरण पुण देसविरयाण ॥ १०१४ ॥

मणपज्जवोहिनाणी सुयमइनाणी मरति जे समणा।
छउमत्थमरणमेयं केवलिमरण तु केवलिणो॥ १०१५ ॥
गिद्धाइभक्खणं गिद्धपिट्ठ उब्बंधणाइ वेहासं।
एए दोन्निऽवि मरणा कारणजाए अणुन्नाया॥ १०१६ ॥
भत्तपरिन्ना इंगिणि पायवगमणं च तिन्नि मरणाइ।
कन्नसमज्झिमजेट्ठा धिइसंघयणेण उ विसिट्ठा॥ १०१७ ॥

—गाथार्थ—

सत्रह प्रकार के मरण—१. आवीचिमरण २. अवधिमरण ३. आत्यन्तिकमरण ४. वलन्मरण ५. वशार्त्तमरण ६. अन्त.शल्यमरण ७. तद्भवमरण ८. बालमरण ९. पंडितमरण १०. मिश्रमरण ११. छद्मस्थमरण १२. केवलिमरण १३. वैहायसमरण १४. गृध्रपृष्ठमरण १५. भक्तपरिज्ञामरण १६. इंगिनीमरण तथा १७. पादपोपगमनमरण—ये सत्रह प्रकार का मरण है॥ १००६-७॥

१ आवीचिमरण—प्रतिसमय आयुष्य का घटते जाना आवीचिमरण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से इनके पाँच प्रकार हैं॥ १००८॥

२-३ अवधिमरण और आत्यन्तिक मरण—जिस अवस्था में मृत्यु हुई, पुन उसी अवस्था मे मरना अवधिमरण है। जिस अवस्था में मृत्यु हुई उस अवस्था में पुन कभी नही मरना आत्यन्तिक मरण है॥ १००९॥

४-५ वलन्मरण और वशार्त्तमरण—सयम योग से उद्विग्न होकर मरना वलन्मरण है। विषयाधीन होकर पतंगे आदि की तरह मरना वशार्त्तमरण है॥ १०१०॥

६ अन्त शल्यमरण—गारवरूप कर्दम में निमग्न जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सम्बन्ध मे सेवित दोषों को कभी भी गुरु के समक्ष नही कहते। ऐसे जीवों का मरण, सशल्य मरण कहलाता है॥ १०११॥

७. तद्भवमरण—युगलिक मनुष्य-तिर्यच, देव और नारकी को छोड़कर शेष सभी जीवो का तद्भवमरण होता है॥ १०१२॥

अवधिमरण, आवीचिमरण, आत्यंतिकमरण इन तीनों को छोड़कर शेष सभी मरण तद्भवमरण पूर्वक होता है, ऐसा समझना चाहिये॥ १०१३॥

८-१० बाल-पडित एव मिश्रमरण—अविरतिधारी जीव का बालमरण, विरतिधारी जीव का पंडितमरण तथा देशविरतिधारी जीव का बालपंडितमरण होता है॥ १०१४॥

११-१२ छद्मस्थ और केवलिमरण—मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी तथा मतिज्ञानी श्रमण का मरण छद्मस्थ मरण है। केवलज्ञानी का मरण केवलीमरण है॥ १०१५॥

१३-१४ वैहायस और गृध्रपृष्ठ-मरण—**अपने शरीर को गृध्र आदि का भक्ष्य बनाकर मरना गृध्रपृष्ठ मरण है। वृक्ष, पर्वत आदि से लटककर, गिरकर मरना वैहायस मरण है। आगाढ़ कारण उपस्थिति होने पर इन दोनों मरण की अनुज्ञा परमात्मा ने दी है।। १०१६ ।।**

१५-१६-१७ भक्तपरिज्ञा-इगिनी एव पादपोपगमन मरण—**भक्त परिज्ञामरण, इंगिनीमरण तथा पादपोपगमन मरण—ये तीनो ही मरण धृति और संघयण की उत्तरोत्तर विशिष्टता के कारण से क्रमश जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट कहलाते है।। १०१७ ।।**

—विवेचन—

१. आवीचि-मरण—जिस प्रकार उत्तर लहर का उठना और पूर्व लहर का नष्ट होना सतत चलता रहता है, वैसे आयुकर्म के उत्तर-दलिको का उदय मे आना एव पूर्व-पूर्व दलिको का उदय मे आकर क्षीण होते रहना, आवीचि-मरण कहलाता है। अथवा जैसे लहरो का कोई अत नही होता, वैसे जिस मरण का भी कभी अत नही होता, प्रत्युत प्रतिसमय चलता रहता है, वह आवीचि-मरण कहलाता है। वीचि = अत होना, जिसका अत नही होता वह आवीचि मरण है। इसके पॉच प्रकार है—

द्रव्यत—नरक, तिर्यच आदि चारो गतियो मे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यत, प्रतिसमय अपनी-अपनी आयु के दलिको को भोगकर नाश करना द्रव्य आवीचिमरण है।

क्षेत्रत—अपनी-अपनी आयु के भोगने योग्य क्षेत्र मे प्रतिसमय आयुकर्म के पुद्गलो की निर्जरा करना। चार गति की अपेक्षा से तत्सम्बन्धी क्षेत्र भी चार प्रकार का है।

कालत—अपने-अपने आयुकाल मे प्रतिसमय आयुकर्म की निर्जरा करना। यहॉ काल का अर्थ है आयुकाल, नही कि अद्धाकाल (सूर्य आदि की क्रिया से व्यक्त होने वाला समय) क्योकि अद्धाकाल देवलोक आदि मे नही होता। चार प्रकार की आयु की अपेक्षा यह मरण भी चार प्रकार का है।

भवत—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव भव मे प्रतिसमय आयुकर्म की निर्जरा करना। नरकादि भवो की अपेक्षा से यह मरण चार प्रकार का है।

भावत—नरकादि की आयु क्षय करना। आयु-क्षय रूप भाव की प्रधानता की अपेक्षा से यह भाव आवीचिमरण कहलाता है ॥१००८ ॥

२. अवधिमरण—जैसे आवीचिमरण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पॉच प्रकार का है, वैसे अवधिमरण के भी पॉच भेद है। अवधि अर्थात् मर्यादा। अवधि सापेक्ष मरण अवधि मरण अर्थात् जिन पुद्गलो की अपेक्षा मरा था, उन्ही पुद्गलो की अपेक्षा से पुन कालान्तर मे मरना अवधिमरण है।

(i) **द्रव्यत**—साराश यह है कि नरकादि भवो के हेतुभूत आयुकर्म के जिन पुद्गलो को भोगकर जीव मरा था, उन्ही पुद्गलो को कालान्तर मे भोगकर जब भी वह मरेगा, वह मरण अवधिमरण कहलायेगा। क्योकि उन पुद्गलो को पुन ग्रहण करने की अवधि तक उन पुद्गलो की अपेक्षा से जीव मृत होता है। जैसे मनुष्य आयु के पुद्गलो को भोगकर मरने के पश्चात् पुन जब भी उस आयु के पुद्गलो को भोगकर

जीव मरेगा, उस अवधि मे मनुष्य आयु की अपेक्षा से जीव मृत है और उसका वह मरण अवधिमरण है। द्रव्य सापेक्ष मरण होने से यह द्रव्य अवधिमरण कहलाता है। ग्रहण करके छोडे हुए पुद्गलो का पुनर्ग्रहण अध्यवसायो की विचित्रता के कारण शक्य है।

(ii) क्षेत्रत—एक बार पाये हुए क्षेत्र को पुन पाने तक का अन्तरकाल क्षेत्र की अपेक्षा से अवधिमरण है।

(iii) काल—विशेष प्रमाणयुक्त आयु को एकबार पाकर पुन उतने ही प्रमाण की आयु जब तक न मिले, वह मध्यवर्ती काल, उस काल की अपेक्षा से काल-अवधिमरण है।

(iv) भव—किसी विशेष भव को छोडकर दुबारा उसे नही पाये तब तक की अवधि उस भव की अपेक्षा से भव-अवधिमरण है।

(v) भाव—एक बार नरकादि आयु को क्षयकर दुबारा उसी आयु को क्षय करने की अवधि भाव-अवधि-मरण है।

३. आत्यन्तिक मरण—आयु के जिन दलिको को एकबार भोग लिया उन्हे दुबारा कभी भी ग्रहण न करना। यह भी पूर्ववत् ५ प्रकार का है ॥१००९ ॥

४. वलन्मरण—बिना भाव से मात्र, लज्जावश सयम का पालन करना जैसे—'इस कष्ट से मुझे कब मुक्ति मिलेगी?' ऐसा चिन्तन करते हुए अन्त मे मृत्यु का वरण करना। यह सयम से पीछे हटते हुए जीव का मरण होने से वलन्मरण है। यह मरण भग्नपरिणामी व्रती को ही सभव है, क्योकि अव्रती के सयम ही नही होता तो उससे मुक्त होने का वह विषाद कैसे करेगा? विषाद के अभाव मे वलन्मरण सभव नही होता।

५. वशार्त्त-मरण—इन्द्रियो की गाढ आसक्ति से पीडित होकर मृत्यु का वरण करना। जैसे, रूप की आसक्ति के कारण पतगो का मरना ॥१०१० ॥

६. अन्त.शल्य-मरण—ऋद्धि, रस और शाता के अतिरेक से गर्वित बनकर रत्नत्रय मे लगे हुए अतिचारो का प्रायश्चित्त किये बिना ही मरना। ऐसा आत्मा अभिमानवश या लज्जावश प्रायश्चित्त नहीं करता, जैसे 'यदि प्रायश्चित्त लूँगा तो आचार्य आदि के पास जाना पडेगा, वन्दनादि करना पडेगा। प्रायश्चित्त के रूप मे मिला हुआ तप-आराधन आदि करना पडेगा अथवा मैं बहुश्रुत हूँ, आचार्य अल्पश्रुत है, ये क्या मुझे प्रायश्चित्त देगे? अल्पश्रुत आचार्य को मेरे जैसा कैसे वन्दन करेगा?' इस प्रकार अभिमान से अथवा लज्जा के कारण 'लोग क्या कहेगे कि मेरे जैसा बहुश्रुत भी ऐसा पाप करता है?' प्रायश्चित्त नहीं करता। जैसे कील आदि द्रव्य-शल्य शरीर में चुभन पैदा करते हे, तथा कालान्तर मे शरीर के अगो को सडा देते है, वैसे अनालोचित पाप (भाव-शल्य) भी आत्मा को कालान्तर मे हानि पहुँचाते है। ऐसे भाव-शल्यो की आलोचना किये बिना ही मरना अन्त शल्य मरण हे। अभिमानरूपी कीचड मे फसे हुए व्यक्तियो का यही मरण होता है ॥१०११ ॥

७. तद्भव-मरण—जिस भव का आयु पूर्ण कर जीव मरा हो, पुन उसी भव मे आकर मरना,

यह मरण कर्मभूमि मे उत्पन्न अयुगलिक तिर्यंच और मनुष्य को ही होता है, क्योकि वे ही पुन उस भव का आयुष्य बॉध सकते है। देवता, नारकी और युगलिक नर-तिर्यंच मरकर पुन उसी भव मे नही जा सकते अत उनका तद्भव मरण नही होता।

'गाथागत 'तु' शब्द इस बात का ज्ञापक है कि सख्यातावर्ष की आयु वाले तिर्यंच व मनुष्यो का ही तद्भवमरण होता है। असख्यात वर्ष की आयु वाले युगलिक होने से अकर्मभूमि के जीवो की तरह देव मे ही उत्पन्न होते है। सख्याता वर्षायु वाले सभी का तद्भव मरण नही होता पर जिन्होने तद्भव का आयुष्य बॉधा हो, उन्ही का होता है ॥१०१२ ॥

८. **बाल-मरण**—बाल का अर्थ है विरतिरहित, अत विरतिरहित मिथ्यात्वी या समकिती का मरण।

९. **पंडित-मरण**—सर्वविरति-सयमी का मरण।

१०. **बाल-पंडितमरण**—देशविरति श्रावको का मरण ॥१०१४ ॥

११. **छद्मस्थ-मरण**—ज्ञानावरणादि कर्मो से युक्त मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मतिज्ञानी श्रमणो का मरण। यहाँ मनपर्यवज्ञान का नाम प्रथम इसलिये दिया गया कि वह ज्ञान मति आदि अन्य छाद्मस्थिक ज्ञानो की अपेक्षा अधिक विशुद्ध है तथा वह सयमियो को ही होता है। अवधि आदि के विषय मे इसी प्रकार समझना चाहिये।

१२. **केवली-मरण**—केवलज्ञानी का मरण। समस्त कर्मपुद्गलो के क्षय से जो निर्वाण होता है ॥१०१५ ॥

१३. **वैहायस-मरण**—वृक्ष की शाखा से लटक कर, वृक्ष या पर्वत से छलाग लगाकर आत्म-हत्या करना। गिरना, लटकना आदि क्रिया आकाश से सम्बन्धित होने से इस मरण को वैहायस-मरण कहते है। 'व्योमनि भव = वैहायस।'

१४. **गृध्रपृष्ठ-मरण**—गीध, शृगाल इत्यादि हिंसक पशु-पक्षियो का भक्ष्य बनकर मृत्यु का वरण करना। इसके दो भेद है—

(i) अपने पीठ, पेट इत्यादि अवयवो को अलता इत्यादि के रस से रक्त, मास की तरह लाल रगकर जान-बूझकर हिंसक पशु-पक्षियो का भक्ष्य बनना।

(ii) शरीर को खाने के लिये आये हुए हिंसक प्राणियो का प्रतिरोध न करना अथवा हिंसक प्राणियो के भक्ष्यरूप हाथी, ऊँट इत्यादि के कलेवर मे प्रवेश करके स्वय को भक्ष्य वनाना।

प्रश्न—वैहायस और गृधपृष्ठ दोनो ही मरण आत्मघात रूप है तो इन्हे अलग क्यो वताया?

उत्तर—यद्यपि दोनो आत्मघातरूप है फिर भी साहस की दृष्टि से इनमे अन्तर है। गृधपृष्ठ मरण महाशक्तिशाली व्यक्ति स्वीकार कर सकता है, जबकि वैहायस मरण मे इतने साहस की अपेक्षा नही रहती। यह भेद बताने के लिये दोनो को अलग से बताया।

प्रश्न—आगम मे कहा है कि जिनाज्ञा से भावित आत्मा के लिये स्व-पर का कोई भेद नही होता। अत वह स्व और पर दोनो के सुख-दुख को समान भाव से ग्रहण करता है। जसे वह दूसरो

की पीडा को पाप समझता है, वैसे अपनी पीडा को भी पाप समझता है, कहा है "**भावियजिणवयणाण, ममत्तरहियाण नत्थि हु विसेसो। अप्पाणंमि परंमि य, तो वज्जे पीडमुभओऽवि।**" ऐसी स्थिति मे पूर्वोक्त मरण आत्म-पीडन रूप होने से उन्हे स्वीकार करना आगम विरुद्ध है तथा आत्मा पीडित न बने इसलिये तो भक्त-परिज्ञादि मरण स्वीकारने से पहले सलेखना आदि करना अनिवार्य बताया है। इस तरह मरने से शासन की निंदा भी होगी अत. इस प्रकार की मृत्यु आगम-सम्मत कैसे हो सकती है?

उत्तर—धर्म पर लगे हुए लाछन को धोने के लिये तथा धर्म सकट की स्थिति मे बचाव के अन्य उपाय न होने पर अगत्या पूर्वोक्त मरण को स्वीकारना भी शास्त्र-सम्मत है। जैसे उदायी राजा की हत्या के पश्चात् धर्म की निन्दा के भय से आचार्य भगवन्त ने भी आत्महत्या का मार्ग अपना लिया था ॥१०१६ ॥

१५. भक्त-परिज्ञा मरण—भक्त-परिज्ञा अर्थात् भोजन-विषयक ज्ञान। यह दो प्रकार का है—

(i) ज्ञ-परिज्ञा और **(ii)** प्रत्याख्यान परिज्ञा।

(i) ज्ञ-परिज्ञा—इस जीव ने खाने की लालसा के कारण अनेक पाप किये है। भोजन के विषय मे इस प्रकार का चिंतन करना ज्ञ-परिज्ञा है।

(ii) प्रत्याख्यान-परिज्ञा—ज्ञ-परिज्ञापूर्वक चतुर्विध-आहार, बाह्य-उपधि, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अन्तरग-परिग्रह एव त्रिविध-आहार का यावज्जीव-त्याग कर मृत्यु का वरण करना प्रत्याख्यान-परिज्ञा है।

१६. इंगिनी-मरण—उठने-बैठने की निश्चित मर्यादा रखते हुए, अनशन-पूर्वक मृत्यु का वरण करना इगिनी-मरण है।

भक्त-परिज्ञा मरण मे चतुर्विध या त्रिविध आहार का त्याग होता है। शरीर की सेवा-शुश्रूषा साधक स्वय कर सकता है या दूसरो से भी करवा सकता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा-आ सकता है, किंतु इंगिनी-मरण मे साधक निश्चित स्थान को छोडकर एक कदम भी इधर-उधर नही जा सकता। इस मरण मे दूसरो से सेवा करवाना सर्वथा निषिद्ध है। यथासमाधि स्वय ही स्वय का काम करता है।

१७. पादपोपगमन—जैसे वृक्ष टूट कर गिरने के बाद भूमि सम हो या विषम वह पडा ही रहता है, वैसे साधक का एकबार सम या विषम स्थान पर सोने के बाद हिले-डुले बिना ऐसी ही स्थिति मे मरना, पादपोपगमन मरण कहलाता है।

अन्तिम तीन-मरण, धृति (संयम के प्रति स्थिरता) और सघयणयुक्त आत्मा ही स्वीकार कर सकते है, कहा है—

धीरेणवि मरियव्व, कापुरिसेणावि अवस्समरियव्व।

तम्हा अवस्समरणे, वर खु धीरत्तणे मरिउं॥

अर्थ—धीर पुरुष भी मरते है व कायर पुरुष भी मरते है। जब मृत्यु अवश्यभावी है तो धीरतापूर्वक

मरना ही श्रेष्ठ है—ऐसी शुभ भावना से भावित आत्मा ही पूर्वोक्त अनशन को स्वीकार करते है। इन तीनो मरण का फल वैमानिक देवत्व या मोक्षगमन है, किन्तु इन्हे स्वीकार करने वाले आत्माओ का धैर्य विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्टतम होने से ये मरण क्रमश जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कहलाते है—

जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
१ भक्तपरिज्ञा मरण अप्रथमसघयणी साधु-साध्वी और देश-विरति श्रावक, स्वीकार कर सकते है।	२ इगिनी-मरण। यह मरण विशिष्ट धैर्य और सहननयुक्त साधु भगवत ही स्वीकार कर सकते है, साध्वी नही।	३ पादपोपगमन। यह मरण पर्वत व भीत के समान निश्चल, वज्रऋषभनाराच सघयणी, तीर्थकर या विशिष्ट मुनि ही स्वीकार करते है।

कहा है—प्रथम सघयण पर्वत व दीवार के समान मजबूत है। १४ पूर्वी के विच्छेद के साथ उसका भी विच्छेद होता है।

सभी तीर्थकर परमात्मा कर्मभूमि मे उत्पन्न होते है, सर्वज्ञ सभी के गुरु व सभी से पूजित है। सभी का मेरु पर अभिषेक होता है। सर्व लब्धियुक्त होते है। सभी परिषहो को जीतकर पादपोपगमन द्वारा मोक्ष जाते है। शेष तीनो कालो मे होने वाले अनगार तीनो मरण को वरण करते है। तीर्थकर द्वारा सेवित होने से पादपोपगमन ज्येष्ठ है। भक्तपरिज्ञा और इगिनीमरण साधुओ द्वारा सेवित होने से ज्येष्ठ नही कहलाते ॥१०१७॥

१५८ द्वार : पल्योपम—

पलिओवम च तिविह उद्धारऽद्ध च खेत्तपलिय च।
एक्केक्क पुण दुविह बायर सुहुम च नायव्व ॥ १०१८ ॥
ज जोयणविच्छिन्न त तिउण परिरएण सविसेस।
तावइय उव्विद्ध पल्लं पलिओवम नाम ॥ १०१९ ॥
एगाहियबेहियतेहियाण उक्कोस सत्तरत्ताण।
सम्मट्ठ सनिचिय भरिय वालग्गकोडीहि ॥ १०२० ॥
तत्तो समए समए इक्किक्के अवहियमि जो कालो।
सखिज्जा खलु समया बायरउद्धारपल्लमि ॥ १०२१ ॥
एक्केक्कमओ लोमं कट्टुमसखिज्जखडमदिस्स।

समछेयाणंतपएसियाण पल्लं भरिज्जाहि ॥ १०२२ ॥
तत्तो समए समए एक्केक्के अवहियंमि जो कालो ।
संखिज्ज वासकोडी सुहुमे उद्धारपल्लमि ॥ १०२३ ॥
वाससए वाससए एक्केक्के बायरे अवहियमि ।
बायर अद्धापलिय संखेज्जा वासकोडीओ ॥ १०२४ ॥
वाससए वाससए एक्केक्के अवहियम्मि सुहुममि ।
सुहुमं अद्धापलियं हवंति वासा असखिज्जा ॥ १०२५ ॥
बायरसुहुमायासे खेत्तपएसाणुसमयमवहारे ।
बायरसुहुमं खेत्तं उस्सप्पिणीओ असखेज्जा ॥ १०२६ ॥

—गाथार्थ—

पल्योपम—पल्योपम के तीन भेद है। उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम एवं क्षेत्रपल्योपम। पूर्वोक्त तीनों ही बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के है॥ १०१८॥

एक योजन विस्तृत, कुछ अधिक तीन गुणा परिधिवाला तथा एक योजन गहरा खड्डा पल्य कहलाता है॥ १०१९॥

एक दिन, दो दिन, तीन दिन या अधिक में अधिक सात रात-दिन के बालक के केशो के सूक्ष्म अग्रभागों से आकण्ठ दबा-दबा कर उस पल्य को भरना चाहिये॥ १०२०॥

तत्पश्चात् प्याले में से प्रतिसमय एक-एक बालाग्र को निकालना चाहिये। जितने समय में वह प्याला रिक्त होता है, वह समय की इकाई बादर उद्धार पल्योपम कहलाती है। यह सख्याता समय प्रमाण है॥ १०२१॥

एक-एक बालाग्र के चर्मचक्षु से दिखाई न दे ऐसे असंख्यात खड करके पूर्वोक्त परिमाणवाले पल्य को ठूंस-ठूंस कर भरना चाहिये। प्रत्येक खंड अनन्त प्रदेश रूप, एक सदृश होते है॥ १०२२॥

तत्पश्चात् प्रतिसमय एक-एक खंड प्याले में से निकालते-निकालते जितने समय मे प्याला खाली होता है वह कालखंड सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहलाता है। सूक्ष्म उद्धारपल्योपम सख्याताक्रोड वर्ष परिमाण होता है॥ १०२३॥

एक एक वादर वालाग्र को सौ-सौ वर्ष के पश्चात् निकालने पर संख्याता क्रोड वर्ष में प्याला खाली होता है। यह वादर अद्धापल्योपम का परिमाण है॥ १०२४॥

सौ-सौ वर्ष के पश्चात् एक-एक सूक्ष्म वालाग्र को निकालने पर असंख्यात क्रोड वर्ष व्यतीत होते है। यह सूक्ष्म अद्धापल्योपम का परिमाण है॥ १०२५॥

सूक्ष्म एवं वादर वालाग्र से ठसाठस भरे हुए प्याले के आकाश प्रदेशों को प्रति समय निकालने

पर जितना समय व्यतीत होता है वह सूक्ष्म बादर क्षेत्र पल्योपम का परिमाण है। इसमे असंख्यात उत्सर्पिणी व्यतीत होती है॥ १०२६ ॥
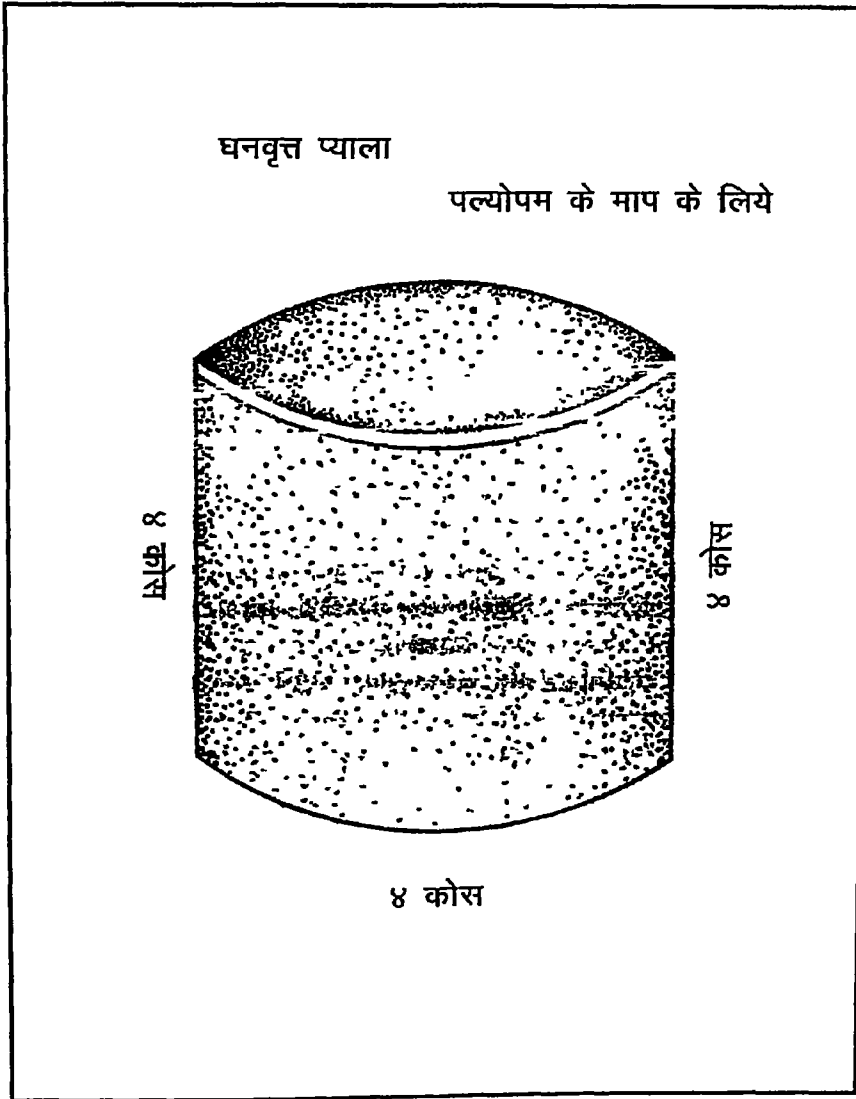
—विवेचन—

पल्य = धान्य रखने का गोलाकार पात्र विशेष।

उपमा = पात्र विशेष से जिस कालपरिमाण को उपमित किया जाये वह कालावधि पल्योपम है। इसके तीन भेद है—

(i) उद्धारपल्योपम (ii) अद्धापल्योपम तथा (iii) क्षेत्र पल्योपम। पूर्वोक्त तीनो पल्योपम सूक्ष्म व बादर के भेद से दो-दो प्रकार के है ॥१०१८॥

(i) बादर उद्धार पल्योपम—

उत्सेधागुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लबा, एक योजन चौडा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य = प्याला बनाना चाहिये। जिसकी परिधि कुछ कम ३$\frac{१}{६}$ योजन होती है (गोलाकार वस्तु की परिधि अपने परिमाण से ६ भाग अधिक तीन गुणी होती है)। एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालाग्रो से उस पल्य को आकठ इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न उन्हे आग जला सके, न वायु उडा सके और न जल उसमे प्रवेश पा सके। उस पल्य से प्रति समय एक-एक बालाग्र निकालने पर जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उस काल को बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं। यह पल्योपम सख्याता समय प्रमाण ही होता है क्योकि बालाग्र सख्याता ही है ॥१०१९-१०२१॥

(ii) सूक्ष्म उद्धार पल्योपम—

बादर उद्धारपल्य से सम्बन्धित एक-एक केशाग्र के अपनी बुद्धि के द्वारा असख्यात-असख्यात टुकडे करने चाहिये। द्रव्य की अपेक्षा से ये टुकडे इतने सूक्ष्म होते है कि अत्यन्त विशुद्ध ऑखो वाला पुरुष अपनी ऑख से जितने सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य को देखता है, उसके भी असख्यातवे भाग प्रमाण होते है तथा क्षेत्र की अपेक्षा से सूक्ष्म पनक जीव का शरीर जितने क्षेत्र को रोकता है, उससे असख्यातगुणी अवगाहना वाले होते है। वृद्धमतानुसार बालाग्रो का प्रमाण बादर पर्याप्ता पृथ्वीकाय के शरीर तुल्य होता है। **अनुयोगद्वार** की टीका मे **हरिभद्रसूरिजी** ने कहा है कि—"बादर-पृथिवीकायिकपर्याप्त-शरीरतुल्यान्यसख्येयखण्डानि।" फिर भी ये बालाग्र अनतप्रदेश रूप अर्थात् अनतपरमाणु रूप हैं। इन केशाग्रो को पहले की ही तरह पल्य में ठसाठस भर देना चाहिये। पहले ही की तरह प्रति समय केशाग्र के एक-एक खण्ड को निकालने पर सख्यात करोड वर्ष मे वह पल्य खाली होता है। अत इस काल को सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहते है। इसमे एक बालाग्र के असख्याता खड किये जाते है। अत एक बालाग्र के खडो को निकालने मे असख्याता समय लग जाता है तो सपूर्ण बालाग्रो को निकालने मे सख्याता करोड वर्ष लगे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? ॥१०२२-१०२३॥

(iii) बादर अद्धा पल्योपम—

पूर्वोक्त वादर उद्धारपल्य मे से सौ-सौ वर्ष के वाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली होता है उतने समय को वादर अद्धा पल्योपम काल कहते है। वादर अद्धापल्योपम सख्याता करोड वर्ष का होता है ॥१०२४॥

(iv) सूक्ष्म अद्धा पल्योपम—

पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धार पल्य मे से सो-सो वर्ष के वाद केशाग्र का एक-एक खड निकालने पर जितने समय मे वह पल्य खाली होता है, उतने समय को सूक्ष्म अद्धा पल्योपमकाल कहते है। यह असख्याता करोड वर्ष का होता है ॥१०२५॥

(v) बादर क्षेत्र पल्योपम—

पूर्ववत् एक योजन लबे-चौडे और गहरे प्याले मे एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालो के अग्र भाग को पहले की ही तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशो को स्पर्श करे, उनमे से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते करते जितने समय मे समस्त प्रदेशो का अपहरण किया जा सके, उतने समय को बादर क्षेत्र पल्योपम कहते है। यह काल असख्यात उत्सर्पिणी और असख्यात अवसर्पिणी काल के बराबर होता है। कारण क्षेत्र अतिसूक्ष्म है, एक-एक बालाग्र पर स्थित आकाश प्रदेशो का अपहार करने मे अगुल के असख्यातवे भाग मे असख्याती उत्सर्पिणी समाप्त होती हो तो सपूर्ण प्याले के बालाग्रो पर स्थित आकाश प्रदेशो का अपहार करने मे असख्याती उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी लगे तो आश्चर्य ही क्या है?

(vi) सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम—

बादर क्षेत्र के बालाग्रो मे से प्रत्येक के असख्यात खड करके उन्हे उसी पल्य मे पहले की तरह भर दो। उस पल्य मे वे खड आकाश के जिन प्रदेशो का स्पर्श करे और जिन प्रदेशो को स्पर्श न करे, उनमे से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय मे स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशो का अपहरण किया जा सके, उतने समय को एक सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम काल कहते है। इसका काल भी असख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बराबर होता है, पर पूर्व की अपेक्षा यह काल असख्यातगुणा है। कारण, स्पृष्ट आकाश प्रदेशो की अपेक्षा अस्पृष्ट आकाश प्रदेश असख्यात गुण अधिक है।

प्रश्न—जो पल्य इतना ठसाठस भरा है कि जिसमे आग-पानी आदि का भी लेशमात्र प्रवेश नही हो सकता तो वहाँ अस्पृष्ट आकाश प्रदेश कैसे सभवित हो सकते है?

उत्तर—बालाग्रो के असख्यातवे भाग की अपेक्षा आकाश प्रदेश अत्यन्त सूक्ष्म होते है। **अनुयोगद्वार सूत्र** मे सोदाहरण इस बात को स्पष्ट किया है कि पल्य मे बालाग्रो से अस्पृष्ट आकाश प्रदेशो का अस्तित्व है। जैसे—प्रश्नकर्ता पूछता है कि 'क्या पल्य मे बालाग्रो से अस्पृष्ट आकाश प्रदेश है?' सूत्रकार कहते है—हॉ, है। प्रश्नकर्ता—उदाहरण देकर समझाइये। सूत्रकार—कद्दू (कोला) से भरे पल्य मे किसी ने बीजोरे (नीबू) डाले, वे अन्दर समा गये। फिर क्रमश बिल्व..आवले..बेर..चने डाले वे भी समा गये, इससे स्पष्ट हो जाता है कि पल्य मे बालाग्रो से अस्पृष्ट आकाश प्रदेश असख्यात है। यद्यपि स्थूलबुद्धि वालो की अपेक्षा यथोक्त पल्य मे लेशमात्र भी अवकाश न होने के कारण अस्पृष्ट आकाश प्रदेश की यत्किंचित् भी सभावना नही रहती तथापि ज्ञानियो की दृष्टि मे सूक्ष्म बालाग्र की अपेक्षा आकाश प्रदेश अतिसूक्ष्म होने के कारण अस्पृष्ट असख्यात आकाश प्रदेश पल्य मे होते हैं। देखा भी जाता है कि अत्यन्त ठोस दिखाई देने वाले खभे, भीत आदि मे कील ठोकी जाये तो भीतर घुस जाती है। यदि वे सर्वथा ठोस होते तो कील आदि भीतर प्रवेश नही पा सकते।

यहाँ एक शका उत्पन्न होती है कि यदि बालाग्रो से स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते है तो बालाग्रो का कुछ भी प्रयोजन नही रहता। इस शका और उसके समाधान का चित्रण

अनुयोगद्वार की टीका मे इस प्रकार किया है—

प्रश्न—यदि आकाश के स्पृष्ट और अस्पृष्ट प्रदेशो का ग्रहण करना है तो बालाग्रो का कोई प्रयोजन नही रहता, क्योकि उस दशा मे पूर्वोक्त पल्य के अन्दर जितने प्रदेश हो, उनके अपहरण करने से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है ?

उत्तर—आपका कहना ठी्क है, किंतु प्रस्तुत पल्योपम से **दृष्टिवाद** मे द्रव्यो के प्रमाण का विचार किया जाता है। उनमे से कुछ द्रव्यो का प्रमाण तो उक्त बालाग्रो से स्पृष्ट आकाश के प्रदेशो के द्वारा ही मापा जाता है। अत दृष्टिवाद मे वर्णित द्रव्यो के मान मे उपयोगी होने के कारण बालाग्रो का निर्देश करना सप्रयोजन है, निष्प्रयोजन नही है ॥१०२६ ॥

१५९ द्वार : सागरोपम—

उद्धारपल्लगाणं कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिया।
तं सागरोवमस्स उ एक्कस्स भवे परीमाण ॥ १०२७ ॥
जावइओ उद्धारो अड्ढाइज्जाण सागराण भवे।
तावइआ खलु लोए हवंति दीवा समुद्दा य ॥ १०२८ ॥
तह अद्धापल्लाणं कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिया।
तं सागरोवमस्स उ परिमाणं हवइ एगस्स ॥ १०२९ ॥
सुहुमेण उ अद्धासागरस्स माणेण सव्वजीवाणं।
कम्मठिई कायठिई भवट्ठिई होइ नायव्वा ॥ १०३० ॥
इह खेत्तपल्लगाण कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया।
त सागरोवमस्स उ एक्कस्स भवे परीमाण ॥ १०३१ ॥
एएण खेत्तसागरउवमाणेणं हविज्ज नायव्व।
पुढविदगअगणिमारुयहरियतसाणं च परिमाण ॥ १०३२ ॥

—गाथार्थ—

सागरोपम—उद्धारपल्योपम को दस कोटाकोटी (दस करोड × दस करोड) से गुणा करने पर जो संख्या आती है वह एक सागरोपम का परिमाण है॥ १०२७॥

ढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम के जितने समय होते है उतने लोक में द्वीप समुद्र है॥ १०२८॥

सूक्ष्म एवं वादर अद्धापल्योपम को दस कोटाकोटी से गुणा करने पर क्रमश वादर अद्धासागरोपम तथा सूक्ष्म अद्धासागरोपम होता है॥ १०२९॥

सूक्ष्म अद्धासागरोपम के द्वारा सभी जीवो की कर्मस्थिति, कायस्थिति तथा भवस्थिति का माप किया जाता है॥ १०३०॥

बादर क्षेत्रपल्योपम को दस कोटाकोटी से गुणा करने पर सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम का परिमाण आता है। सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम के द्वारा पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एव त्रसकाय के जीवों का परिमाण किया जाता है॥ १०३१-३२॥

—विवेचन—

सागरोपम = परिमाप की अपेक्षा से जिसे सागर की उपमा दी जाये वह सागरोपम है। पल्योपम की तरह इसके भी छ भेद है।

(i) बादर उद्धार सागरोपम — (ii) सूक्ष्म उद्धार सागरोपम।
(iii) बादर अद्धा सागरोपम — (iv) सूक्ष्म उद्धार सागरोपम।
(v) बादर क्षेत्र सागरोपम — (vi) सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम।

(i) दश कोटा-कोटी बादर उद्धार पल्योपम का एक बादर उद्धार सागरोपम होता है। बादर उद्धार पल्योपम व सागरोपम का केवल यही उपयोग है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सूक्ष्म उद्धार सागरोपम सरलता से समझ मे आ जाते है॥१०२७॥

(ii) दस कोटा-कोटी सूक्ष्म उद्धार पल्य का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है। सूक्ष्म उद्धार पल्योपम व सागरोपम से द्वीप व समुद्रो की गणना की जाती है। ढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम के अथवा पच्चीस कोटा-कोटी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम के जितने समय होते हैं उतने तिर्च्छालोक मे द्वीप व समुद्र है॥१०२८॥

(iii) दस कोटा-कोटी बादर अद्धा पल्योपम का एक बादर अद्धासागरोपम होता है॥१०२९॥

(iv) दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धा पल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धासागरोपम होता है। दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपम की एक अवसर्पिणी और उतने की ही एक अवसर्पिणी होती है। सूक्ष्म अद्धा पल्योपम तथा सागरोपम के द्वारा देव, तिर्यच और नारको की आयु, ज्ञानावरणादि कर्मो की स्थिति, पृथ्वीकाय आदि जीवो की कायस्थिति आदि का ज्ञान किया जाता है॥१०३०॥

(v) दस कोटा-कोटी बादर क्षेत्र पल्योपम का एक बादर क्षेत्र सागरोपम काल होता है।

(vi) दस कोटी-कोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है। सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम तथा सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद मे द्रव्यो के परिमाप—पृथ्वी, जल, तेऊ, वायु, वनस्पति और त्रसजीवो के परिमाप का विचार किया जाता है।

- सूक्ष्म उद्धार, सूक्ष्म अद्धा व सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम का भी यही प्रयोजन बताया गया है॥ १०३१-१०३२॥

१६० द्वार : अवसर्पिणी—

दसकोडाकोडीओ अद्धाअयराण हुंति पुन्नाओ।
अवसप्पिणीए तीए भाया छच्चेव कालस्स ॥१०३३॥
सुसमसुसमा य सुसमा तइया पुण सुसमदुस्समा होइ।
दूसमसुसम चउत्थी दूसम अइदूसमा छट्ठी ॥१०३४॥
सुसमसुसमाए कालो चत्तारि हवंति कोडिकोडीओ।
तिन्नि सुसमाए कालो दुन्नि भवे सुसमदुसमाए ॥१०३५॥
एक्का कोडाकोडी बायालीसाए जा सहस्सेहि।
वासाण होइ ऊणा दूसमसुसमाइ सो कालो ॥१०३६॥
अह दूसमाए कालो वाससहस्साइ एक्कवीस तु।
तावइओ चेव भवे कालो अइदूसमाएवि ॥१०३७॥

—गाथार्थ—

अवसर्पिणी का स्वरूप—दस कोड़ाकोड़ी अद्धा-सूक्ष्मसागरोपम से एक अवसर्पिणी पूर्ण होती है। एक अवसर्पिणी के छ: भाग होते है॥१०३३॥

१. सुषम-सुषमा २. सुषमा ३. सुषम-दु षमा ४. दु:षम-सुषमा ५. दु षमा तथा ६. अति दु:षमा—ये अवसर्पिणी काल के छ: भाग है॥१०३४॥

सुषमा-सुषमा, चार कोड़ाकोड़ी सूक्ष्म अद्धा-सागरोपम काल परिमाण है। सुषमा तीन कोडा-कोडी सागर परिमाण है। सुषम-दुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागर का है। दु षम-सुषमा बयालीस हजार वर्ष न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागर परिमाण है। दु षमा और अतिदु षमा का काल परिमाण पृथक्-पृथक् इक्कीस हजार वर्ष का है॥१०३५-१०३७॥

—विवेचन—

अवसर्पिणी = जिसमे आरो का प्रमाण क्रमश न्यून होता जाता है अथवा जिस काल मे जीवो के आयु, शरीर, बल आदि भावो का ह्रास होता जाता है वह अवसर्पिणी काल है।

अतर = जिसका पार पाना अशक्य है वह अतर-सागरोपम। दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपम की एक अवसर्पिणी होती है। एक अवसर्पिणी के छ काल खड है। जिनके लिये शास्त्रो मे 'आरा' शब्द का प्रयोग हुआ है।

१. सुषम-सुषमा—एकान्त सुखरूप काल। इसका कालप्रमाण चार कोडाकोडी सागरोपम है। इस

आरे के मनुष्यो का देहमान तीन कोस का तथा आयु तीन पल्योपम की होती है। कल्पवृक्ष आदि अनेक शुभ-श्रेष्ठ वस्तुओ का सद्भाव इस आरे मे होता है।

२. सुषमा—सुखरूप काल। यह अवसर्पिणी का द्वितीय भाग है। इसका काल प्रमाण तीन कोडाकोडी सागरोपम का है। इस आरे के मनुष्यो का देहमान तथा आयु क्रमश दो कोस, दो पल्योपम का है। कल्पवृक्ष आदि श्रेष्ठ वस्तुये पूर्वापेक्षा हीनतर होती है।
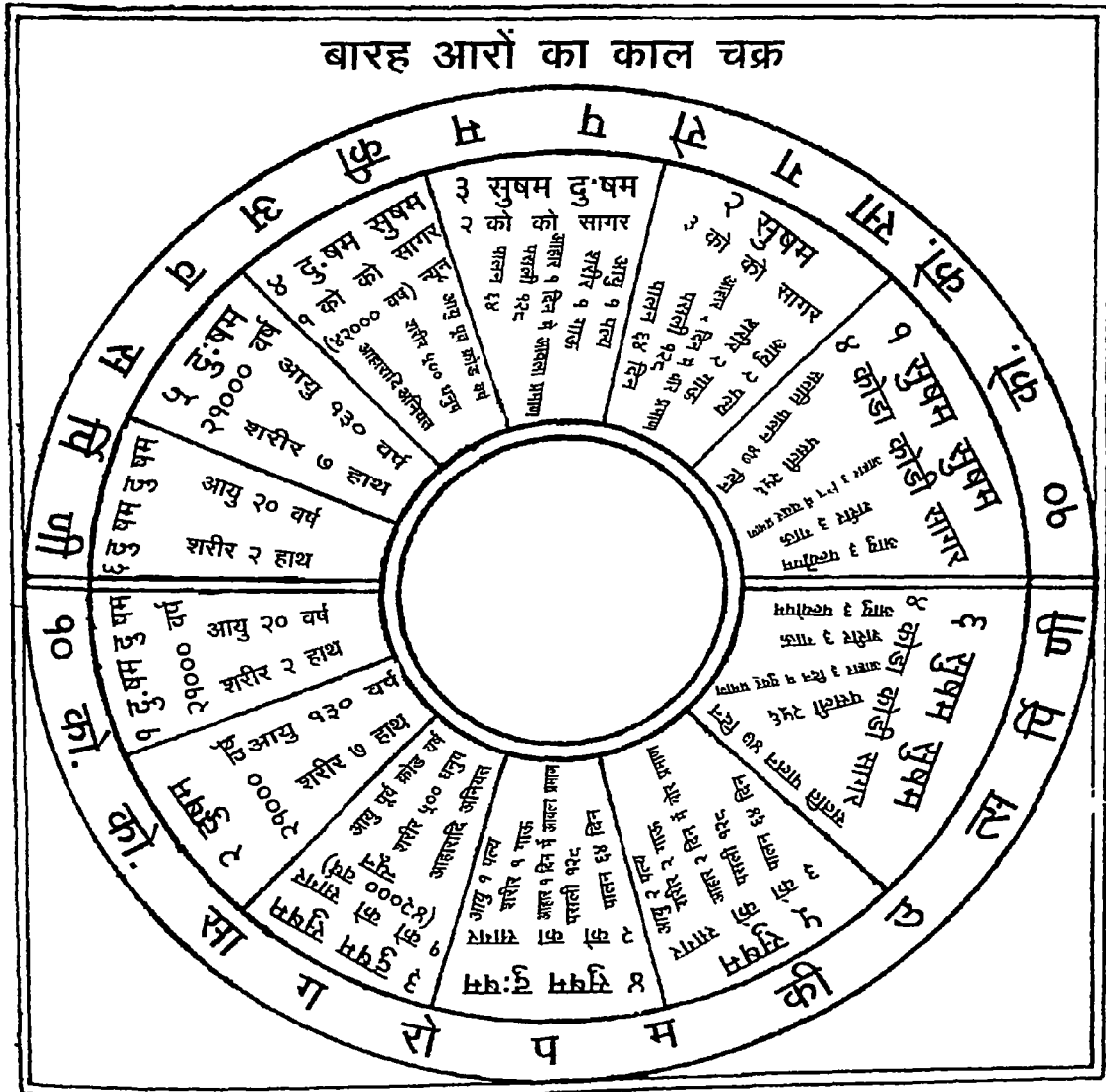
३. **सुषम-दु षमा**—सुख-दु खरूप काल। यह अवसर्पिणी का तृतीय भाग है। यह दो कोडाकोडी सागर प्रमाण है। इस आरे के मनुष्यो का देह माप एक कोस का तथा आयु प्रमाण एक पल्योपम का है। कल्पवृक्ष आदि श्रेष्ठ वस्तुओ का प्रभाव हीनतम होता है।

४. **दुःषम-सुषमा**—दु:ख-सुख रूप काल। यह अवसर्पिणी का चतुर्थ भाग है। इसका कालमाप बयालीस हजार वर्ष न्यून एक कोडाकोडी सागर का हे। मनुष्यो का देहमान पॉच सौ धनुष से सात हाथ पर्यत तथा आयु पूर्वक्रोड वर्ष की होती है। कल्पवृक्ष आदि का प्रभाव प्राय नष्ट हो जाता है।

५. **दुःषमा**—दु ख रूप काल। यह अवसर्पिणी का पञ्चम भाग है। इसका कालमान इक्कीस हजार वर्ष का है। मनुष्यो का देहमान व आयु (सौ वर्ष से पूर्व) अनियत है। अन्त मे बीस वर्ष की आयु तथा देहमाप दो हाथ का है। इस ओर मे श्रेष्ठ वस्तुओ की अनन्तगुण हानि होती है।

६. **दुःषम-दु षमा**—अत्यन्त दु:खरूप काल। यह अवसर्पिणी का छठा भाग है। इसका कालमान इक्कीस हजार वर्ष का है। इस आरे के मनुष्यो का देहमान अनियत है। अन्त मे एक हाथ का ही देहमान होता है। आयु प्रमाण सोलह वर्ष का है। औषधि आदि शुभ वस्तुओ की हानि हो जाती है।

छ आरो का विशेष स्वरूप आगमो से जानना चाहिये ॥१०३३-३७॥

१६१ द्वार : उत्सर्पिणी—

अवसप्पिणीव भागा हवंति उस्सप्पिणीइवि छ एए।
पडिलोमा परिवाडी नवरि विभाएसु नायव्वा ॥१०३८॥

—गाथार्थ—

उत्सर्पिणी का स्वरूप—**अवसर्पिणी की तरह उत्सर्पिणी के भी छ भाग है परन्तु उनका क्रम पूर्वापेक्षया विपरीत समझना चाहिये ॥१०३८॥**

—विवेचन—

उत्सर्पिणी—जिसमे आरो का कालमाप क्रमश बढता जाता है। अथवा जिस काल मे जीवो की आयु, देहमान आदि क्रमश बढते जाते है, वह उत्सर्पिणी काल है। इसके भी छ भाग होते हैं जो कि पूर्ववत् आरे कहलाते है। पर इतना अन्तर है कि इसमे आरो का क्रम पूर्व की अपेक्षा विपरीत होता है जैसे, दुःषम-दु षमा, दु षमा, दु षम-सुषमा, सुषम-दु षमा, सुषमा, सुषम-सुषमा।

इस प्रकार बीस कोडाकोडी सूक्ष्म अद्धा सागरोपम प्रमाण बारह आरे होते है तथा बारह आरे अर्थात् उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी मिलकर एक कालचक्र होता है। जिस प्रकार चक्र मे आरे होते है तथा वह गोलाकार (अतहीन) होता है, कालचक्र भी बारह आरो वाला तथा अन्तहीन सतत गतिमान होता है। कालचक्र का प्रवर्तन पॉच भरत व पॉच ऐरवत क्षेत्र मे अनादि अनन्त काल तक होता रहता हे। जैसे अहोरात्रि मे प्रथम दिन हैं या रात बताना असभव होता हैं वेसे कालचक्र में प्रथम उत्सर्पिणी हे या

अवसर्पिणी, बताना असभव है। यह चक्र तो सतत गतिशील है। इसका कभी अन्त नहीं होता। यदि कहीं प्रारम्भ व अन्त होता तो प्रथम कौन है बताना शक्य था ॥१०३८ ॥

१६२ द्वार :

पुद्गल-परावर्त—

ओसप्पिणी अणंता पोग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो।
तेऽणता तीयद्धा अणागयद्धा अणतगुणा ॥१०३९ ॥
पोग्गलपरियट्टो इह दव्वाइ-चउव्विहो मुणेयव्वो।
थूलेयरभेएहि जह होइ तहा निसामेह ॥१०४० ॥
ओरालविउव्वा-तेयकम्म-भासाण-पाण-मणएहि।
फासेवि सव्वपोग्गल मुक्का अह बायरपरट्टो ॥१०४१ ॥
अहव इमो दव्वाई ओरालविउव्वतेयकम्मेहि।
नीसेसदव्वगहणमि बायरो होइ परियट्टो ॥१०४२ ॥
दव्वे सुहुमपरट्टो जाहे एगेण अह सरीरेणं।
फासेवि सव्वपोग्गल अणुक्कमेण नणु गणिज्जा ॥१०४३ ॥
लोगागासपएसा जया मरतेण एत्थ जीवेण।
पुट्ठा कमुक्कमेण खेत्तपरट्टो भवे थूलो ॥१०४४ ॥
जीवो जइया एगे खेत्तपएसमि अहिगए मरइ।
पुणरवि तस्साणतरिं बीयपएसमि जइ मरए ॥१०४५ ॥
एव तरतमजोगेण सव्वखेत्तंमि जइ मओ होइ।
सुहुमो खेत्तपरट्टो अणुक्कमेण नणु गणेज्जा ॥१०४६ ॥
ओसप्पिणीए समया जावइया ते य नियमरणेण।
पुट्ठा कमुक्कमेणं कालपरट्टो भवे थूलो ॥१०४७ ॥
सुहुमो पुण ओसप्पिणी पढमे समयमि जइ मओ होइ।
पुणरवि तस्साणतरबीए समयंमि जइ मरइ ॥१०४८ ॥
एवं तरतमजोएण सव्वसमएसु चेव एएसु।
जइ कुणइ पाणचायं अणुक्कमेण नणु गणिज्जा ॥१०४९ ॥

एग समयंमि लोए सुहुमागणिजिया उ जे उ पविसति।
ते हुंतऽसखलोयप्पएसतुल्ला असंखेज्जा ॥१०५० ॥
तत्तो असंखगुणिया अगणिक्काया उ तेसि कायठिई।
तत्तो सजमअणुभागबधठाणाणिऽसखाणि ॥१०५१ ॥
ताणि मरतेण जया पुट्ठाणि कमुक्कमेण सव्वाणि।
भावंमि बायरो सो सुहुमो य कमेण बोद्धव्वो ॥१०५२ ॥

—गाथार्थ—

पुद्गल परावर्तन का स्वरूप—अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी मिलकर एक पुद्गल परावर्तन होता है। ऐसी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी भूतकाल में अनन्त हुई और भविष्य मे अनन्तगुणा होगी ॥१०३९ ॥

जिनेश्वर परमात्मा के शासन में पुद्गल परावर्तन के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार हैं। चारों ही पुद्गल परावर्तन बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के है ॥१०४० ॥

औदारिक, वैक्रिय, तैजस्, कार्मण, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन के रूप में सर्व पुद्गलो को स्पर्श करके जितने समय में जीव विसर्जित करता है, वह कालखण्ड बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन कहलाता है ॥१०४१ ॥

अथवा औदारिक, वैक्रिय, तैजस् और कार्मण शरीर के रूप में सर्वद्रव्यो को जीव ग्रहण करके जितने समय में विसर्जित करता है, वह काल बादर पुद्गल परावर्तन कहलाता है ॥१०४२ ॥

किसी एक शरीर के द्वारा अनुक्रम से सभी पुद्गलो का स्पर्श करके विसर्जित करने मे जितना समय लगता है वह द्रव्य सूक्ष्म पुद्गल परावर्त कहलाता है ॥१०४३ ॥

इस जगत मे जीव लोकाकाश के सर्व प्रदेशों को क्रम या उत्क्रम से जितने समय मे स्पर्श करता है वह काल परिमाप बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त है ॥१०४४ ॥

कोई जीव किसी एक क्षेत्र प्रदेश को आश्रय करके मरा हो और पुन उसी के समीपस्थ दूसरे प्रदेश में मरे—इस प्रकार तरतम योग से जितने समय में सर्व आकाश प्रदेशों को अपने मरण के द्वारा स्पर्श करता है वह कालखण्ड सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहलाता है ॥१०४५-४६ ॥

जितने समय मे एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के सभी समय को क्रम या उत्क्रम से अपनी मृत्यु के द्वारा स्पर्श करता है वह काल विशेष बादर काल पुद्गल परावर्त कहलाता है ॥१०४७ ॥

अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरने के पश्चात् पुन उसके समीपस्थ दूसरे समय मे मरना—इस प्रकार अनुक्रम से उत्सर्पिणी के सभी समयो में मृत्यु का वरण करना—इसमे जितना समय लगता है वह समय विशेष सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त कहलाता है ॥१०४८-४९ ॥

इस लोक में एक समय में जितने जीव सूक्ष्म अग्निकाय में प्रवेश करते है वे असख्यात लोकाकाश के प्रदेशतुल्य असख्याता होते हैं ॥१०५० ॥

एक समय उत्पन्न सूक्ष्म अग्निकाय जीवों की अपेक्षा पूर्वोत्पन्न अग्निकाय जीव असख्यगुणा अधिक है। उनसे उनकी कायस्थिति असंख्यगुण है। कायस्थिति की अपेक्षा सयमस्थान एव रसबंध के स्थान असंख्यगुण है ॥१०५१ ॥

उन सभी रसबंध के स्थानों को जीव जितने समय मे क्रम या अक्रम से स्पर्श करते हुए मरता है वह समय विशेष बादर भाव पुद्गल परावर्त कहलाता है। सूक्ष्मभाव पुद्गल परावर्त मे उन स्थानो की स्पर्शना क्रमपूर्वक होती है ॥१०५२ ॥

—विवेचन—

पुद्गलपरावर्त = अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी मिलकर एक पुद्गल परावर्त होता है।

- अतीतकाल अनन्त पुद्गल परावर्त प्रमाण है। अतीत की अपेक्षा भविष्य काल अनन्तगुणा अधिक है।

प्रश्न—भगवती सूत्र मे कहा है कि अनागत काल अतीत की अपेक्षा एक समय ही अधिक है। वैसे अतीत व अनागत काल अनादि अनन्त होने से समान है पर प्रश्न का मध्यकालीन समय बच जाता है। वह अविनष्ट होने से अतीत मे समाविष्ट नही हो सकता, पर अनागत मे ही समाविष्ट होता है। अत अतीत की अपेक्षा अनागत काल समयाधिक होता है। यहाँ आप उसे अनन्तगुणा अधिक कैसे कह रहे हो? आपके इस कथन का आगम से विरोध नही होगा क्या?

उत्तर—जैसे अनागत काल का अन्त नही है वैसे अतीत काल की ,आदि नही है। इस प्रकार अन्तहीनता की दृष्टि से दोनो समान होने से आगम मे दोनो को तुल्य कहा गया है। यदि समय सख्या की अपेक्षा वर्तमान मे दोनो को समान मान लिया जाय तो आपत्ति होगी। यथा—एक समय बीतने के बाद अनागत काल अतीत की अपेक्षा एक समय न्यून होगा, दो समय बीतने के बाद दो समय न्यून होगा। न्यूनता का क्रम प्रतिसमय चलता रहेगा। एक समय ऐसा होगा कि अनागत काल क्षीण हो जायेगा। ऐसा कदापि नही होता अत मानना होगा कि समय सख्या की अपेक्षा अतीत अनागत काल कदापि समान नही है। पर अतीत की अपेक्षा अनागत काल अनन्त गुणा अधिक है और इसी कारण अनन्तकाल बीतने पर भी वह क्षीण नही होता। वर्तमान काल एक समय रूप होने से उसका अलग से प्रतिपादन नही किया ॥१०३९ ॥

- पूर्वोक्त पुद्गल परावर्त के चार भेद है। द्रव्य पुद्गल परावर्त, क्षेत्र पुद्गल परावर्त, काल पुद्गल परावर्त तथा भाव पुद्गल परावर्त। इनमे से प्रत्येक के दो-दो भेद होते है—बादर और सूक्ष्म। इस प्रकार पुद्गल परावर्त के कुल आठ भेद हुए ॥१०४० ॥
- यह लोक अनेक प्रकार की पुद्गलवर्गणाओ से भरा हुआ है। वर्गणा का अर्थ है समानजातीय पुद्गलो का समूह। उन वर्गणाओ मे आठ वर्गणाएँ ग्रहण योग्य बतलाई है, अर्थात् वे जीवो के द्वारा ग्रहण की जाती है। जीव उन्हे ग्रहण करके उनसे अपना शरीर, वचन, मन आदि की रचना करता है। वे वर्गणाये है—औदारिक ग्रहण योग्य वर्गणा, वैक्रिय ग्रहण योग्य

वर्गणा, आहारक ग्रहण योग्य वर्गणा, तैजस् ग्रहण योग्य वर्गणा, भाषा ग्रहण योग्य वर्गणा, श्वासोच्छ्वास ग्रहण योग्य वर्गणा, मनोग्रहण योग्य वर्गणा और कार्मण ग्रहण योग्य वर्गणा।

१. बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त—जितने समय मे एक जीव समस्त परमाणुओ को अपने औदारिक, वैक्रिय, तैजस्, भाषा, आनपान, मन और कार्मणशरीर रूप मे परिणमाकर उन्हे भोगकर छोड देता है उस समय की इकाई को बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते है। यहाँ आहारक शरीर को छोड दिया है, क्योकि आहारक शरीर एक जीव के अधिक से अधिक चार बार ही हो सकता है। अत वह पुद्गल परावर्त के लिये उपयोगी नही है ॥१०४१-१०४२ ॥

२. सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त—जितने समय मे जीव समस्त परमाणुओ को औदारिक आदि सात वर्गणाओ मे से किसी एक वर्गणारूप मे परिणत कर उन्हे ग्रहण करके छोड देता है, उतने समय को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते है। बादर मे तो समस्त परमाणुओ को सात रूप से भोगकर छोडता है और सूक्ष्म मे उन्हे केवल किसी एक रूप से ग्रहण करके छोड देता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि समस्त परमाणुओ को एक औदारिक शरीर रूप मे परिणत करते समय मध्य-मध्य मे कुछ परमाणुओ को वैक्रिय आदि शरीर रूप मे ग्रहण करके छोड दे, या समस्त परमाणुओ को वैक्रिय शरीर रूप मे परिणत करते समय मध्य-मध्य मे कुछ परमाणुओ को औदारिक आदि शरीर रूप से ग्रहण करके छोड़ दे तो वे गणना में नही लिये जाते। जिस शरीर रूप मे परिवर्तन चालू है, उसी शरीर रूप मे जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करके छोडे जाते है, उन्ही का सूक्ष्म मे ग्रहण किया जाता है।

द्रव्य पुद्गल परावर्त के बारे मे एक दूसरा मत भी है, जो इस प्रकार है—समस्त पुद्गल परमाणुओ को औदारिक, वैक्रिय, तैजस् और कार्मण इन चार शरीर रूप मे ग्रहण करके छोड देने मे जीव को जितना काल लगता है, उसे बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते है और समस्त पुद्गल परमाणुओ को उक्त चारो शरीरो मे से किसी एक शरीर रूप मे परिणत कर छोड देने मे जितना काल लगता है उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते है।

- शव्द के अर्थ बोध के दो निमित्त है—(i) व्युत्पत्ति निमित्त (ii) प्रवृत्ति निमित्त। i समस्त पुद्गल परमाणुओ को औदारिकादि विवक्षित किसी एक शरीर के रूप मे परिणत कर छोड देने मे जितना काल लगता है वह काल पुद्गल परावर्त है। यह पुद्गल परावर्त का व्युत्पत्ति निमित्त है। ii. अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण काल, पुद्गल परावर्त शव्द का प्रवृत्ति निमित्त है। 'क्षेत्र पुद्गल परावर्त' मे शव्द का व्युत्पत्ति निमित्त घटित न होने पर भी प्रवृत्तिनिमित्त घटित होता है अत उसे 'पुद्गल परावर्त' कहने मे कोई विरोध नही आता। जैसे 'गौ' शव्द का व्युत्पत्ति निमित्त है 'गमन करना', किन्तु उसका प्रवृत्ति निमित्त है खुर, ककुद, पूँछ व गलकवल युक्त पिण्ड। अत वैठी हुई गाय को 'गो' कहने मे कोई विरोध नही आता क्योकि उसमे 'गो' शव्द का प्रवृत्ति निमित्त घटित हो रहा है ॥१०४३ ॥

३. वादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त—कोई एक जीव संसार मे भ्रमण करते-करते आकाश के किसी एक प्रदेश मे मरा, वही जीव पुन आकाश के किसी दूसरे प्रदेश मे मरा, फिर तीसरे मे मरा, इस प्रकार

जब वह लोकाकाश के समस्त प्रदेशो मे क्रम-उत्क्रम से मर चुकता है तो उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहते है ॥१०४४॥

४. सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त—कोई जीव भ्रमण करते-करते आकाश के किसी एक प्रदेश मे मरण करके पुन उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश मे मरण करता है, पुन उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश मे मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश मे क्रमश मरण करते-करते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशो मे मरण कर लेता है, तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त होता है।

इन दोनो क्षेत्र-पुद्गलपरावर्तो मे केवल इतना अन्तर है कि बादर मे तो क्रम का विचार नही किया जाता, उसमे व्यवहित प्रदेश मे मरण करने पर भी यदि वह प्रदेश पूर्व स्पृष्ट नही है तो उसका ग्रहण होता है। अर्थात् वहाँ क्रम से या बिना क्रम से समस्त प्रदेशो मे मरण कर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु सूक्ष्म मे समस्त प्रदेशो मे क्रम से ही मरण करना चाहिये। अक्रम से जिन प्रदेशो मे मरण होता है उनकी गणना नही की जाती। इससे स्पष्ट है कि पहले से दूसरे मे समय बहुत अधिक होता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त के सम्बन्ध मे एक बात और भी ज्ञातव्य है। वह यह कि एक जीव की जघन्य अवगाहना लोक के असख्यातवे भाग की बतलाई है। अत यद्यपि एक जीव लोकाकाश के एक प्रदेश मे नही रह सकता, तथापि किसी देश मे मरण करने पर उस देश का कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। अत यदि उस विवक्षित प्रदेश से दूरवर्ती किन्ही प्रदेशो मे जीव मरण करता है तो वे प्रदेश गणना मे नही लिये जाते। किन्तु अनन्तकाल बीत जाने पर भी जब कभी विवक्षित प्रदेश के अनन्तर जो प्रदेश है, उसी मे मरण करता है, तो वह गणना मे लिया जाता है। किन्ही-किन्ही का मत है कि लोकाकाश के जितने प्रदेशो मे जीव मरण करता है, वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते है, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नही किया जाता ॥१०४५-१०४६॥

५. बादर काल पुद्गल परावर्त—जितने समय मे एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयो मे क्रम या बिना क्रम के मरण कर चुकता है, उतने काल को बादर-काल पुद्गल परावर्त कहते है ॥१०४७॥

६. सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त—कोई जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी काल के पहले समय मे मरा, पुन उसके दूसरे समय मे मरा, पुन तीसरे समय मे मरा। इस प्रकार क्रमश अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयो मे जब मरण कर चुकता है तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्त कहते है।

यहाँ भी समयो की गणना क्षेत्र की तरह क्रमश ही की जाती है, व्यवहित की गणना नही की जाती। आशय यह है कि कोई जीव अवसर्पिणी के प्रथम समय मे मरा, उसके बाद एक समय कम बीस कोटा कोटी सागर के बीत जाने पर जब पुन अवसर्पिणी काल प्रारम्भ हो, उस समय यदि वह जीव उसके दूसरे समय मे मरे तो वह द्वितीय समय गणना मे लिया जाता है। मध्य के शेष समयो मे उसकी मृत्यु होने पर भी वे गणना मे नहीं लिये जाते। किन्तु यदि वह जीव उक्त अवसर्पिणी के द्वितीय समय मे मरण को प्राप्त न हो, किन्तु अन्य समय मे मरण करे तो उसका भी ग्रहण नहीं किया जाता

है। परन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के बीतने पर भी जब कभी अवसर्पिणी के दूसरे समय मे ही मरता है, तब उस समय का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार तीसरे चौथे आदि समयो मे मरण करके जितने समय मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयो मे मरण कर चुकता है, उस काल को 'सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्त' कहते हैं ॥१०४८-१०४९ ॥

७. बादर भाव पुद्गल परावर्त—तरतम भेद को लिये हुए अनुभाग-बधस्थान असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की सख्या के बराबर है। उन अनुभाग बध स्थानो मे से एक-एक अनुभाग बध स्थान मे क्रम से या अक्रम से मरण करते-करते जीव जितने समय मे समस्त अनुभाग-बध स्थानो मे मरण कर चुकता है, उतने समय को बादर भावपुद्गल परावर्त कहते है।

८. सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त—सबसे जघन्य अनुभाग-बधस्थान मे वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभाग बंध स्थान मे वह जीव मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभाग बध स्थान मे मरा। इस प्रकार क्रम से जितने समय मे समस्त अनुभाग बध स्थानो मे जीव मरण कर लेता है, वह काल सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त कहलाता है।

यहाँ पर भी कोई जीव सबसे जघन्य अनुभाग बध स्थान मे मरण करके, उसके बाद अनन्तकाल बीत जाने पर भी जब प्रथम अनुभाग बध स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभाग बध स्थान मे मरण करता है, तभी वह मरण गणना मे लिया जाता है। किन्तु अक्रम से होने वाले अनतानत मरण भी गिनती मे नही आते। इसी तरह कालान्तर मे द्वितीय अनुभागबंध स्थान के अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभाग बंध स्थान मे जब मरण करता है तो वह मरण गिनती मे आता है। इस प्रकार बादर व सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तो का स्वरूप जानना चाहिये।

● **अनुभाग बंध के स्थान का परिमाप**—

अनुभाग बध के स्थान का परिमाप जानने से पूर्व उस परिमाप की इकाई क्या है, यह जानना आवश्यक है। अत सर्वप्रथम इसे ही बताते हैं।

सूक्ष्म तेऊकाय मे एक समय मे असख्याता पृथ्विकायिक जीव उत्पन्न होते है। यहाँ असख्याता का अर्थ है असख्याता लोक के आकाश प्रदेशो की राशितुल्य। प्रवेश का अर्थ है विजातीय जीवो का अन्य जातीय जीवो के रूप मे उत्पन्न होना। भगवती मे प्रवेश शब्द की यही व्याख्या की गई है। पृथ्वी आदि अन्यकाय तथा बादर तेऊकाय से निकलकर सूक्ष्म तेऊकाय मे उत्पन्न होने वाले जीव ही यहाँ ग्रहण किये गये है, पर जो जीव पहिले ही सूक्ष्म तेऊकाय मे थे ओर मरकर पुन उसी मे उत्पन्न हुए हो ऐसे जीवो का यहाँ ग्रहण नही होता, कारण वे सूक्ष्म तेऊकाय मे पहिले ही प्रविष्ट हो चुके थे।

अत एक समय मे उत्पन्न सूक्ष्म अग्निकाय के जीव सब से अल्प हे। उनकी अपेक्षा पूर्वोत्पन्न सभी अग्निकाय के जीव असंख्यात गुणा अधिक हं। क्योंकि सूक्ष्म अग्निकाय जीव की आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है और एक समय मे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण सूक्ष्म अग्निकाय के जीव उत्पन्न होते हैं, अत सिद्ध है कि एक समय मे उत्पन्न अग्निकाय जीवो की अपेक्षा पूर्वोत्पन्न सूक्ष्म अग्निकाय के जीव असख्यातगुणा अधिक है। सभी सूक्ष्म अग्निकाय के जीवो की अपेक्षा प्रत्येक जीवो का

कायस्थिति असख्यात गुणा है। क्योकि उत्कृष्ट से एक जीव की कायस्थिति असख्याता उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण है। एक जीव की कायस्थिति की अपेक्षा सयम स्थान व अनुभाग बध के स्थान असख्यात गुणा है, क्योकि एक जीव एक कायस्थिति मे असख्याता स्थितिबध करता है और एक स्थिति-बध मे असख्याता अनुभागबध के स्थान है। सयम स्थान व अनुभाग बध के स्थान सख्या मे समान है यह बताने के लिये यहाँ उनका ग्रहण किया गया। सयम स्थान का स्वरूप आगे कहेगे।

प्रश्न—अनुभाग बध के स्थान का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जहाँ जीव ठहरता है वह स्थान है। अनुभाग बध का अर्थ है रसबध। अर्थात् कषाय सहित किसी एक अध्यवसाय विशेष से गृहीत पुद्गलो का विवक्षित एक समय मे बद्ध रस का परिमाण। वे अनुभाग बध के स्थान असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की सख्या के बराबर है। कारण मे कार्य के उपचार की अपेक्षा अनुभागबध के स्थानो (रस) के उत्पादक काषायिक अध्यवसाय विशेष भी अनुभागबध के स्थान कहलाते है।

सूक्ष्म पुद्गल परावर्त का सरलता से अवबोध कराने के अतिरिक्त बादर पुद्गल परावर्त का अन्य कोई प्रयोजन नही है। चारो सूक्ष्म पुद्गल परावर्त मे से भी जहाँ कही सूक्ष्म पुद्गल परावर्त की चर्चा है वहाँ क्षेत्र पुद्गल परावर्त का ही ग्रहण किया गया है। जैसे **जीवाभिगम** मे क्षेत्रमार्गणा के सदर्भ मे कहा है कि—सादि सात मिथ्यादृष्टि जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट से अनन्त उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी तथा क्षेत्र की अपेक्षा देशोन अर्धपुद्गल परावर्त तक ससार मे रहता है। इससे प्राय यह सिद्ध होता है कि जहाँ विशेष निर्देश नही है, वहाँ पुद्गल परावर्त से क्षेत्र पुद्गल परावर्त का ही ग्रहण किया जाता हे। तत्त्व बहुश्रुतगम्य है।

जैन वाङ्मय मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का बडा महत्त्व है। किसी भी विषय की चर्चा तव तक पूर्ण नही समझी जाती जब तक उसमे उस विषय का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र वगैरह की अपेक्षा से न किया गया हो। यहाँ परावर्तन का प्रकरण है। परिवर्त का अर्थ होता है—परिणमन अर्थात् उलटफेर, रद्दोबदल इत्यादि। कहावत प्रसिद्ध है कि यह ससार परिवर्तनशील या परिणमनशील है। उसी परिवर्त या परिवर्तन का वर्णन यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से किया है। द्रव्य से यहाँ पुद्गल द्रव्य का ग्रहण किया है, क्योकि एक तो प्रत्येक परिवर्त के साथ ही पुद्गल शव्द लगा हुआ ह और उसके ही द्रव्य पुद्गल परिवर्त वगैरह चार भेद वतलाये है। दूसरे जीव के परिवर्तन या ससार परिभ्रमण का कारण एक तरह से पुद्गल द्रव्य ही है, ससारदशा मे उसके विना जीव रह ही नही सकता। अस्तु, उस पुद्गल का सबसे छोटा अणु-परमाणु ही यहाँ द्रव्य पद से अभीष्ट हे। वह परमाणु आकाश के जितने भाग मे समाता है उसे प्रदेश कहते है और वह प्रदेश, क्षेत्र अर्थात् लोकाकाश का ही, क्योकि जीव लोकाकाश मे ही रहता है, एक अश है। पुद्गल का एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश से उसी के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश मे जितने समय मे पहुँचता है, उसे समय कहते है। यह काल का सबसे छोटा हिस्सा है। भाव से यहाँ अनुभागवन्ध के कारणभूत जीव के कषायरूप भाव लिये गये है। इन्ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवर्तन को लेकर चार परिवर्तनो की कल्पना की गई है। जब जीव पुद्गल के

एक-एक करके समस्त परमाणुओ को भोग लेता है तो वह द्रव्य पुद्गल परावर्त कहलाता है। जब आकाश के एक-एक प्रदेश मे मरण करके समस्त लोकाकाश के प्रदेशो मे मर चुकता है, तब एक क्षेत्र पुद्गल-परावर्त कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। वास्तव मे जब जीव अनादिकाल से इस ससार मे परिभ्रमण कर रहा है तो अब तक एक भी परमाणु ऐसा नही बचा है, जिसे इसने न भोगा हो, आकाश का एक भी प्रदेश ऐसा बाकी नहीं है, जहाँ यह मरा न हो, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का एक भी ऐसा समय बाकी नहीं है, जिसमे यह न मरा हो और ऐसा एक भी कषाय स्थान बाकी नहीं है, जिसमे यह न मरा हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कषाय स्थानो को यह जीव अनेक बार अपना चुका है। उसी को दृष्टि मे रखकर द्रव्य पुद्गल परावर्त आदि नामो से काल का विभाग कर दिया है। जो पुद्गल परावर्त जितने काल मे होता है उतने काल के परिमाण को उस पुद्गल परावर्त के नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि द्रव्य पुद्गल परावर्तन के सिवाय अन्य किसी भी परावर्त मे पुद्गल का परावर्तन नही होता, क्योकि क्षेत्र पुद्गल परावर्त मे क्षेत्र का, काल पुद्गल परावर्त मे काल का और भाव पुद्गल परावर्त मे भाव का परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गल परावर्तन का काल अनन्त उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल के बराबर बतलाया है। क्षेत्र, काल और भाव परावर्त का काल भी अनन्त उत्सर्पिणी अनन्त अवसर्पिणी होता है, अत इन परावर्तो की भी पुद्गलपरावर्त सज्ञा रख दी है ॥१०५०-१०५२॥

१६३ द्वार : कर्मभूमि—

भरहाइ विदेहाइं एरवयाइं च पच पत्तेय।
भन्नंति कम्मभूमी धम्मजोग्गा उ पन्नरस ॥१०५३॥

—गाथार्थ—

पन्द्रह कर्मभूमि—भरतक्षेत्र, महाविदेह क्षेत्र एवं ऐरवत क्षेत्र प्रत्येक पाँच-पाँच होने से धर्म के योग्य कर्मभूमियाँ पन्द्रह होती है ॥१०५३॥

—विवेचन—

कर्मभूमि = जहाँ कृषि, व्यापार आदि होते हैं अथवा जहाँ श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की आराधना होती है। व्यावहारिक और धार्मिक क्रिया प्रधान भूमि कर्मभूमि कहलाती है।

भरत = ५ ऐरवत = ५ महाविदेह = ५	१ भरत २ भरत २ भरत	१ ऐरावत २ ऐरवत २ ऐरवत	१ महाविदेह २ महाविदेह २ महाविदेह	= जबुद्वीप मे = धातकी खड मे = अर्ध पुष्कर मे
१५ कर्म भूमि	५ भरत	५ ऐरवत	५ महाविदेह	

॥१०५३॥

१६४ द्वार : अकर्मभूमि—

हेमवय हरिवास देवकुरू तह य उत्तरकुरूवि।
रम्मय एरन्नवय इय छब्भूमी उ पचगुणा ॥१०५४॥
एया अकम्मभूमीउ तीस सया जुअलधम्मजणठाण।
दसविहकप्पमहद्दुमसमुत्थभोगा पसिद्धाओ ॥१०५५॥

—गाथार्थ—

तीस अकर्मभूमि—हिमवन्त, हरिवास, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यकवास और ऐरण्यवत—इन छ. भूमिओं को पॉच से गुणा करने पर तीस अकर्मभूमि होती है। ये सतत युगलिको का निवास स्थान है तथा दशविध कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगो के कारण यह भूमि भोगभूमि के नाम से प्रसिद्ध है ॥१०५४-५५॥

—विवेचन—

अकर्मभूमि—कृषि, व्यापार आदि से रहित अथवा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म की आराधना से विहीन क्षेत्र अकर्मभूमि है। वहॉ युगलिक मनुष्य और तिर्यच होते है तथा उनके जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षो द्वारा होती है।

हेमवत	=	५	उत्तरकुरु	=	५	
हरिवर्ष	=	५	रम्यक	=	५	= ३० अकर्मभूमि
देवकुरु	=	५	ऐरण्यवत	=	५	

॥१०५४-१०५५॥

१६५ द्वार : मद—

जाइ कुल रूव बल सुय तव लाभिस्सरिय अट्ठ मयमत्तो।
एयाइं चिय बधइ असुहाइ बहु च ससारे ॥१०५६॥

—गाथार्थ—

आठ प्रकार के मद—१. जाति २. कुल ३ रूप ४ बल ५. श्रुत ६. तप ७. लाभ आंर ८ ऐश्वर्य—इन आठ मदो से उन्मत्त जीव वहुविध अशुभकर्मो का वधन करके ससार मे परिभ्रमण करता है ॥१०५६॥

—विवेचन—

१ जातिमद	५ श्रुतमद
२ कुलमद	६ तपमद
३ रूपमद	७. लाभमद
४ बलमद	८ ऐश्वर्यमद

- जाति आदि आठ मदो से उन्मत्त आत्मा जन्मान्तर मे इन आठो से हीन बनते है तथा दीर्घ काल तक इस ससार मे परिभ्रमण करते रहते है।

जाति = माता से सम्बन्धित। कुल = पिता से सम्बन्धित उग्र, भोग आदि कुल। रूप = शारीरिक सौन्दर्य। बल = सामर्थ्य। श्रुत = अनेक शास्त्रों का अवबोध। तप = अनशनादि। लाभ = इच्छित वस्तु की प्राप्ति। ऐश्वर्य = प्रभुत्व ॥१०५६॥

१६६ द्वार : प्राणातिपात-भेद—

भू जल जलणानिल वण बि ति चउ पंचिदिएहि नव जीवा।
मणवयणकाय गुणिया हवंति ते सत्तवीसंति ॥१०५७॥
एक्कासीई सा करणकारणाणुमइताडिया होइ।
सच्चिय तिकालगुणिया दुन्नि सया होंति तेयाला ॥१०५८॥

—गाथार्थ—

प्राणातिपात के २४३ भेद—१. पृथ्वी २. जल ३. अग्नि ४. वायु ५. वनस्पति ६. द्वीन्द्रिय ७. त्रीन्द्रिय ८. चतुरिन्द्रिय तथा ९ पञ्चेन्द्रिय—इन नौ को मन-वचन और काया से गुणा करने पर सत्तावीस भेद होते है। पूर्वोक्त सत्तावीस भेदों को करना-कराना और अनुमोदन करना—इन तीन से गुणा करने पर इक्यासी भेद हुए। इक्यासी को तीन काल से गुणा करने पर प्राणातिपात के २४३ भेद होते है ॥१०५७-५८॥

—विवेचन—

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय, पचेद्रिय	इन ९ जीवों की ३ करण (करना-कराना और अनुमोदन), ३ योग (मन-वचन और काया) से हिसा ९ × ३ = २७ × ३ = ८१ इसे तीन काल से सम्बन्धित करने पर (भूत, भविष्य और वर्तमान) ८१ × ३ = २४३ हिसा के भेद होते है। ॥१०५७-५८॥

१६७ द्वार : परिणाम-भेद—

सकप्पाइतिएण मणमाईहि तहेव करणेहिं।
कोहाइचउक्केण परिणामेऽट्ठोत्तरसय च ॥१०५९ ॥
संकप्पो सरभो परितावकरो भवे समारभो।
आरभो उद्दवओ सुद्धनयण च सव्वेसिं ॥१०६० ॥

—गाथार्थ—

परिणाम के १०८ भेद—**संकल्प आदि तीन को मन आदि तीन योग, करना आदि तीन करण तथा क्रोध आदि चार कषायो के द्वारा गुणा करने पर परिणाम के एक सौ आठ भेद होते है ॥१०५९ ॥**

संरभ अर्थात् संकल्प, पीडाप्रद क्रिया समारंभ तथा जीव की हिंसा करना आरभ है। यह अर्थ सभी शुद्धनयों को मान्य है ॥१०६० ॥

—विवेचन—

परिणाम = मन के अध्यवसाय अर्थात् भाव। धर्मक्रिया व अधर्मक्रिया दोनो मे परिणामो की प्रमुख भूमिका है। एक सी दिखाई देने वाली क्रियाओ का भी परिणाम भेद के कारण फलभेद हो जाता है। इस द्वार मे १०८ परिणामो की चर्चा की गई है। मूल तीन परिणाम हैं। १ सकल्प या सरभ, २ समारभ व ३ आरभ। ये तीनो योग से होते है अत ३ × ३ = ९ भेद हुए। पूर्वोक्त ९ तीनो करणो से होते है, अत ९ × ३ = २७ हुए। २७ भेद मे से प्रत्येक भेद क्रोध, मान, माया व लोभ वश होने से २७ × ४ = १०८ परिणाम के भेद हुए। भागो के प्रकार—

क्रोधवश जीव का काया से सरभ करना
मानवश जीव का काया से सरभ करना
मायावश जीव का काया से सरभ करना
लोभवश जीव का काया से सरभ करना

- इस प्रकार चार करने के, चार कराने के, चार अनुमोदन के = १२, इस प्रकार वचन आर मन के १२-१२ जोडने से = ३६ हुए। + ३६ सरभ के, + ३६ समारभ के, + ३६ आरभ के, = १०८ ॥१०५९ ॥

१. सरभ — "मै हिसा करू" ऐसा सकल्प करना।
२. समारभ — दूसरो को पीडा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना।
३. आरभ — दूसरो के प्राण का नाश करने वाली प्रवृत्ति करना।

ये तीनो नैगमादि शुद्ध नय से समत हैं।

१. **शुद्धनय**—नैगम, सग्रह, व्यवहार ये तीन नय शुद्ध नय है। शुद्ध अर्थात् कर्म से मलिन जीवात्मा को शोधन करने वाले। यहाँ शुद्ध शब्द मे अन्तर्निहित प्रेरणा होने से इसका अर्थ होता है—दूसरो को शुद्ध करने वाला।

नैगमादि तीन नय विविध पर्यायो मे अनुगत द्रव्य को मान्यता देते है। इससे कृतकर्म फल-भोग और अकृत का अनागमन सभव होता है अर्थात् कृत-नाश और अकृत-आगम जैसे दोष यहाँ पर नही आते। इन नयो की अपेक्षा से धर्म-देशनादि मे प्रवृत्त होने वाले आत्मा की वास्तविक शुद्धि हो सकती है, अत ये शुद्ध नय कहलाते है।

ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायमात्र को मानने वाले हैं। पर्याये परस्पर भिन्न होने से अशुद्ध है। इसमे कृतनाश और अकृत आगम के दोष आते है। मानव-पर्याय मे किये गये कर्म का फल मानव को न मिलकर देव पर्याय को मिलता है, जिसने कि कर्म किया ही नही है। तब तो कोई धर्म करने मे प्रवृत्त ही नही होगा। क्योकि कृत कर्म का फल तो उसे मिलता ही नही, ऐसी स्थिति मे जीव की शुद्धि नही होगी। अत ये नय अशुद्ध कहलाते है।

अथवा 'सुद्धनयाण च सव्वेसि' इस मूल पाठ मे प्राकृत के नियमानुसार 'सुद्धनयाण' से पूर्व 'अ' का लोप हो चुका है। अत इसका अर्थ पूर्व की अपेक्षा सर्वथा भिन्न हो जाता है। उसका साराश यह है कि—अशुद्धनयो की अपेक्षा से सरभ आदि तीन मान्य है। शुद्ध नयो को नही। नैगम, व्यवहार और सग्रह रूप प्रथम तीन नय व्यवहारपरक होने से अशुद्ध है तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ व एवभूत—ये चार नय निश्चयपरक होने से शुद्ध है। उनके मत मे मात्र सरभ ही हिंसारूप है, समारभ और आरभ नही। ये चारो नय निश्चय प्रधान होने से हिंसा के विचार से युक्त आत्मा को ही हिंसा मानते है। "आया चेवउ हिसा ....।" समारभ और आरभ हिंसात्मक क्रियारूप होने से ये नय उन्हे वास्तविक हिंसा नही मानते ॥१०६० ॥

१६८ द्वार : ब्रह्मचर्य-भेद—

दिव्वा कामरइसुहा तिविहं तिविहेण नवविहा विरई।
ओरालियाउवि तहा तं बंभं अट्ठदसभेय ॥१०६१ ॥

—गाथार्थ—

ब्रह्मचर्य के १८ भेद—दिव्यकामरति सुख का त्रिविध-त्रिविधेन त्याग करने रूप नौ प्रकार की विरति तथा औदारिक शरीर संम्बन्धी नौ प्रकार की विरति—इस प्रकार ब्रह्मचर्य के १८ भेद है ॥१०६१ ॥

—विवेचन—

वैक्रिय शरीर सम्बन्धी, दिव्यविषयो की भोगासक्ति का, तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन करना) और तीन योग (मन, वचन, काया) से त्याग करना = ९ भेद ब्रह्मचर्य के।

इसी प्रकार औदारिक शरीर सम्बन्धी भोगो का तीन करण व तीन योग से त्याग करना = ९ भेद। ९ + ९= १८ भेद ब्रह्मचर्य के।

दिव्यात् कामरतिसुखात्, त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।

औदारिकादपि तथा, तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम्।

अर्थात् मन से वैक्रिय सम्बन्धी अब्रह्म का सेवन १ न करू २ न कराऊ और न अनुमोदू। इसी प्रकार वचन और काया से कुल ९।

इसी तरह औदारिक के भी समझना ९ + ९ = १८ ॥१०६१॥

१६९ द्वार : काम-भेद—

कामो चउवीसविहो संपत्तो खलु तहा असपत्तो।
चउदसहा संपत्तो दसहा पुण होअसपत्तो ॥१०६२॥
तत्थ असपत्तेऽत्था चिता तह सद्ध सभरण मेव।
विक्कवय लज्जनासो पमाय उम्माय तब्भावो ॥१०६३॥
मरणं च होइ दसमो संपत्तंपि य समासओ वोच्छ।
दिट्ठीए सपाओ दिट्ठीसेवा य सभासो ॥१०६४॥
हसिय ललिओवगूहिय दंत नहनिवाय चुबण चेव।
आलिंगण मादाण कर सेवणऽणगकीडा य ॥१०६५॥

—गाथार्थ—

काम के २४ प्रकार—**काम के २४ प्रकार है। मुख्य दो भेद है। असंप्राप्त और सप्राप्त। असप्राप्त के १० भेद है और संप्राप्त के १४ भेद है॥१०६२॥**

असप्राप्त के १. अर्थ २. चिंता ३ श्रद्धा ४ स्मरण ५ विकल्प ६. लज्जानाश ७. प्रमाद ८. उन्माद ९. तद्भाव और १०. मृत्यु—ये दस भेद है। सप्राप्त काम के १. दृष्टिसपादन २. दृष्टिसेवा ३. संभाषण ४. हास्य ५. ललित ६. अवगूहन ७. दंतक्षत ८ नखक्षत ९. चुबन १०. आलिंगन ११. आदान १२. करसेवन १३. आसेवन और १४. अनगक्रीडा—ये १४ भेद है॥१०६३-६५॥

—विवेचन—

१ काम—इसके दो भेद है—(i) सयोग और (ii) विप्रयोग।

● **संयोग**—कामियो के परस्पर सयोग से उत्पन्न सुख। यह १४ प्रकार का है।

(i) **दृष्टिसंपात** — स्री के विकारवर्धक स्तनादि अगो का अवलोकन करना।

(ii) **दृष्टिसेवा** — हाव-भाव से युक्त दृष्टि मिलाना।

(iii) संभाषण — कामवर्धक वार्तालाप करना।
(iv) हसित — व्यग्यपूर्ण मधुर-मधुर मुस्कुराना।
(v) ललित — पाशा आदि खेलना।
(vi) उपगूढ़ — कसकर आलिगन देना।
(vii) दंतपात — दन्तक्षत करना।
(viii) नखनिपात — नख आदि से घात करना।
(ix) चुम्बन — चूमना।
(x) आलिंगन — स्पर्श करना।
(xi) आदान — स्तन आदि को रागवश पकडना।
(xii) करण — वात्स्यायन के कामशास्त्र मे वर्णित कामक्रीडा की पूर्वभूमिका रूप ८४ आसन करना।
(xiii) आसेवन — मैथुन क्रिया करना।
(xiv) अनंगक्रीड़ा — विषय सेवन के मुख्य अगो के अतिरिक्त मुख, स्तन कूख आदि से क्रीडा करना।

पूर्वोक्त १४ प्रकारों से प्राप्त होने वाला सुख सयोग-काम है।

२. वियोग—परस्पर वियोग मे उत्पन्न स्थिति विशेष। इसके १० भेद है।

(i) अर्थ — स्त्री की अभिलाषा करना। किसी स्त्री के विषय मे मात्र सुनकर ही पाने की इच्छा करना।
(ii) चिन्ता — उसका कैसा सुन्दर रूप है। उसके कैसे गुण है। इस प्रकार रागवश चिन्तन करना।
(iii) श्रद्धा — स्त्री सभोग की अभिलाषा करना।
(iv) संस्मरण — स्त्री के रूप की कल्पना करके अथवा चित्र आदि देखकर स्वय को सान्त्वना देना।
(v) विक्लव — वियोग जन्य व्यथा के कारण आहार आदि की उपेक्षा करना।
(vi) लज्जानाश — गुरुजनो की लज्जा छोडकर उनके समुख प्रेमिका के गुणगान करना।
(vii) प्रमाद — स्त्री के लिये विविध क्रियाये करना।
(viii) उन्माद — विक्षिप्त की तरह प्रलाप करना।
(ix) तद्भावना — स्त्री की कल्पना से स्तभादि का आलिगन करना।
(x) मरणं — राग की तीव्रता के कारण असह्य व्यथा से मूर्च्छित हो जाना। यहाँ मरण का अर्थ प्राणत्याग नहीं है। अन्यथा शृगाररस का भग हो जायेगा।

वृत्तिकार अभिनवगुप्त ने भी इनकी व्याख्या इसी प्रकार की है ॥१०६२-६५॥

१७० द्वार : प्राण—

इदिय बल ऊसासा उ पाण चउ छक्क सत्त अट्ठेव।
इगि विगल असन्नी सन्नी नव दस पाणा य बोद्धवा ॥१०६६॥

—गाथार्थ—

प्राण दस—५ इन्द्रिय, ३ बल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये दस प्राण है। इनमे से एकेन्द्रिय के चार, विकलेन्द्रिय के क्रमश छ, सात और आठ, असंज्ञी के नौ तथा संज्ञी के दस प्राण होते है ॥१०६६॥

—विवेचन—

(i)	इन्द्रिय	=	५ स्पर्शेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय
(ii)	बल	=	३ मनबल, वचनबल और कायबल
(iii)	श्वासोच्छ्वास	=	१
(iv)	आयु	=	१

किसमें कितने प्राण है?

(i)	एकेन्द्रिय	=	४ प्राण (स्पर्शनिन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास, आयु)
(ii)	द्वीन्द्रिय	=	६ प्राण (रसनेन्द्रिय, वचनबल सहित पूर्वोक्त ४ = ६)
(iii)	त्रीन्द्रिय	=	७ प्राण (घ्राणेन्द्रिय सहित पूर्वोक्त ६ = ७)
(iv)	चतुरिन्द्रिय	=	८ प्राण (चक्षुरिन्द्रिय सहित पूर्वोक्त ७ = ८)
(v)	असज्ञी पञ्चेन्द्रिय	=	९ प्राण (श्रोत्रेन्द्रिय सहित पूर्वोक्त ८ = ९)
(vi)	सज्ञी पञ्चेन्द्रिय	=	१० प्राण (मनवल सहित पूर्वोक्त ९ =१०) ॥१०६६॥

१७१ द्वार : कल्पवृक्ष—

मत्तगया य भिगा तुडियगा दीव जोइ चित्तगा।
चित्तरसा मणियंगा गेहागारा अणियणा य ॥१०६७॥
मत्तगएसु मज्ज सुहपेज्ज भायणा य भिंगेसु।
तुडियंगेसु य संगयतुडियाइं वहुप्पगाराइं ॥१०६८॥

दीवसिहा जोइसनामगा य एए करेंति उज्जोयं।
चित्तंगेसु य मल्लं चित्तरसा भोयणट्ठाए ॥१०६९ ॥
मणियंगेसु य भूसणवराइं भवणाइ भवणरुक्खेसु।
तह अणियणेसु धणियं वत्थाइं बहुप्पयाराइं ॥१०७० ॥

—गाथार्थ—

दस कल्पवृक्ष—१. मत्तांगक २. भृतांग ३. त्रुटितांग ४. दीप ५. ज्योति ६. चित्रांग ७. चित्ररसा ८. मणिअंग ९. गेहाकार तथा १०. अनग्ना—ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष है ॥१०६७ ॥

मत्तांगक कल्पवृक्ष में से सुखदायी पेय मद्य, भृतांग से बर्तन, त्रुटितांग से अनेक प्रकार के वादित्र प्राप्त होते है। दीपशिखा और ज्योतिरंग कल्पवृक्ष प्रकाश देते है। चित्रांग से माला और चित्ररस से भोजन मिलता है। मणिअंग से श्रेष्ठ आभूषण, भवनवृक्ष से घर, अनग्न से अनेकविध वस्त्र मिलते है ॥१०६८-७० ॥

—विवेचन—

कल्पवृक्ष—इच्छित वस्तुओ को देने वाले पेड। ये १० प्रकार के है।

१. मत्तांगदा या मत्तांगा—मत्त = मद, अंग = कारण, दा = देने वाले, अर्थात् मादक पदार्थो को देने वाले मत्तागदा अथवा मत्त = मद, अग = कारण अर्थात् मादक पदार्थ जिनमे है वे मत्ताग। इन कल्पवृक्षों के फल स्वभावत· विशिष्ट बल-कान्ति को देने वाले रस से युक्त एव सुगन्धित मद्य से पूर्ण होते हैं। परिपक्व होने के कारण इनसे सतत मद झरता रहता है।

२. भृतांगा—भृत = भरना, अग = कारण अर्थात् वस्तुओ को भरने के पात्र, भाजन को देने वाले 'भृतागा' कल्पवृक्ष है। इन वृक्षो पर सहज स्वाभाविक सोने, चादी व रत्नमय, थाली, कटोरी, कलश, चम्मच आदि विविध आकार मे परिणत, अनेक पात्र फल की तरह शोभायमान लगे रहते है। पात्रो के उत्पादक होने से वृक्ष भी भृताग कहलाते हैं।

३. त्रुटितांगा—त्रुटिता = वादित्र, अग = कारण, अर्थात् ऐसे वृक्ष जो तत, वितत, घन, शुषिर आदि अनेक प्रकार के वादित्रो से फल की तरह लदे रहते है। तत = वीणादि, वितत = पटह आदि, घन = झालर, शुषिर = ढोल।

४ दीपांगा—सुवर्ण और मणियो से निर्मित दीपक जिस प्रकार प्रकाश फैलाते है वैसे 'दीपाग' कल्पवृक्ष स्वाभाविक प्रकाशमान होते है। इनमे 'दीप' फल की तरह लगे रहते हैं।

५. ज्योतिषांगा—सूर्य मण्डल की तरह सर्वत्र प्रकाश करने वाले। इनमे फल की तरह 'सूर्य के आकार वाले' फल लगे रहते हैं।

६. चित्रांगा—नानावर्णयुक्त कुसुममालाओं से सुशोभित कल्पवृक्ष।

७. चित्ररसा—युगलिको के भोजन योग्य, दाल-भात, मिष्टान्न आदि मे भी अति सुस्वादु, इन्द्रियो के पोषक, बलवर्धक विविधरसपूर्ण फलवाले।

८. **मण्यंगा**—स्वाभाविक परिणाम से परिणत मणिमय अनेकविध आभूषण जैसे कडे, कुण्डल, मुकुट, बाजूबन्द, हार आदि से फलो की तरह सुशोभित।

९. **गेहाकार**—इन कल्पवृक्षो का स्वाभाविक परिणमन घरो की तरह होता है। उन्नत प्राकार, सीढियॉ, चित्रशाला बडे-बडे गवाक्ष, अनेक गुप्त व प्रकट अन्तर गृह, अत्यन्त स्निग्ध आगन वाले महलवत् घरो से युक्त ये कल्पवृक्ष होते है। जिनमे युगलिक निवास करते है।

१०. **अनग्ना**—विविध प्रकार के वस्त्रो को देने वाले जिससे निवास करने वाले लोग नग्न नही रहते वे 'अनग्ना' कल्पवृक्ष है। इन कल्पवृक्षो मे स्वाभाविक रूप से देवदूष्य की तरह सुन्दर, कोमल व मनोहर अनेक प्रकार के वस्त्र पैदा होते है ॥१०६७-७० ॥

१७२ द्वार : नरक—

घम्मा वसा सेला अजण रिट्ठा मघा य माघवई।
नरयपुढवीण नामाइ हुति रयणाइ गोत्ताइ ॥१०७१ ॥
रयणप्पह सक्करपह वालुयपह पकपहभिहाणाओ।
धूमपह तमपहाओ तह महातमपहा पुढवी ॥१०७२ ॥

—गाथार्थ—

नरक—**१. घम्मा २. वंसा ३. शैला ४. अजना ५. रिष्टा ६. मघा ७. माघवती—ये नरकपृथ्वी के नाम है।**

१. रत्नप्रभा २ शर्कराप्रभा ३ वालुकाप्रभा ४. पकप्रभा ५ धूमप्रभा ६. तमप्रभा तथा ७. महातमप्रभा—ये नरकपृथ्वी के गोत्र है ॥१०७१-७२ ॥

—विवेचन—

नाम—अर्थ निरपेक्ष किन्तु वस्तु का बोध कराने वाला, अनादि काल से प्रसिद्ध नाम कहलाता है।

गोत्र—अर्थ सापेक्ष, अन्वर्थक वस्तु का बोध कराने वाला गोत्र है।

गो = अपने अभिधायक शब्द की, त्राणाद् = यथार्थता का पालन करने वाला।

जैसे—घम्मा, वशा आदि नरक के नाम अर्थ निरपेक्ष होते हुए भी अनादिकाल से प्रथम, द्वितीय आदि नरक का बोध कराते है अत वे नाम है। परन्तु गोत्र जसे 'रत्नप्रभा' यह प्रथम नरक के लिये इसलिये प्रयुक्त हुआ कि प्रथम नरक रत्नो की अधिकता वाली ह। इस तरह सभी नाम-गोत्रो के लिये समझना चाहिये।

	नरक के नाम	नरक गोत्र	
(i)	घमा	रत्नप्रभा	(रत्नो की अधिकता वाली)
(ii)	वशा	शर्कराप्रभा	(पत्थरो की अधिकता वाली)
(iii)	शैला	वालुकाप्रभा	(रेत की अधिकता वाली)
(iv)	अजना	पकप्रभा	(कीचड की अधिकता वाली)
(v)	रिष्ठा	धूमप्रभा	(धूएँ की अधिकता वाली)
(vi)	मघा और	तम प्रभा	(अधकार बहुल)
(vii)	माघवती	तम तमप्रभा	(गाढ अधकार वाली)

- 'प्रभा' शब्द बाहुल्य का वाचक है। अर्थात् जहाँ रत्नो का बाहुल्य है वह 'रत्नप्रभा' नरक है.... इत्यादि ॥१०७१-७२ ॥

१७३ द्वार : नरकावास—

तीसा य पन्नवीसा पन्नरस दस चेव तिन्नि य हवति।
पंचूण सयसहस्सं चेव अणुत्तरा नरया ॥१०७३ ॥

—गाथार्थ—

नारको के आवास—सात नरक में क्रमश. ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, ९९,९९५ तथा अनुत्तर अर्थात् अंतिम नरक मे ५ नरकावास है ॥१०७३ ॥

—विवेचन—

प्रथम नरक मे	३०,००,०००	नरकावास ह।
द्वितीय नरक मे	२५,००,०००	"
तृतीय नरक मे	१५,००,०००	"
चतुर्थ नरक मे	१०,००,०००	"
पचम नरक मे	३,००,०००	"
षष्ठ नरक मे	९९,९९५	"

सप्तम नरक मे जो पाच नरकावास है वे निम्न है—

पूर्व दिशा मे	=	काल नरकावास,
पश्चिम दिशा मे	=	महाकाल नरकावास,
दक्षिण दिशा में	=	रोरुक नरकावास,
उत्तर दिशा मे	=	महारोरुक नरकावास,
मध्य दिशा मे	=	अप्रतिष्ठान नरकावास
कुल सख्या ८४,००,०००	=	नरकावास है।

॥१०७३॥

१७४ द्वार : नरक-वेदना—

सत्तसु खेत्तसहावा अन्नोऽन्नुद्दीरिया य जा छट्ठी।
तिसु आइमासु वियाणा परमाहम्मियसुरकया य ॥१०७४॥

—गाथार्थ—

नरक की वेदना—**क्षेत्र स्वभावजन्य वेदना सातो ही नरक में होती है। छट्ठी नरक तक परस्पर कृत वेदना भी होती है तथा प्रथम तीन नरक पर्यन्त परमाधामीकृत वेदना भी होती है।।१०७४।।**

—विवेचन—

नरक में तीन प्रकार की वेदना होती है।

(i) क्षेत्र के प्रभाव से होने वाली वेदना। पहली से सातवी तक क्षेत्रजन्य वेदना होती है।

- पहली नरक से तीसरी नरक तक उष्ण वेदना होती है। पहली, दूसरी और तीसरी नरक के नारक शीत-योनि वाले है और वहाँ की धरती योनि-स्थान के सिवाय सर्वत्र अगारे की तरह तपी हुई होती है।
- पक-प्रभा के ऊपर वाले नरकावासो मे उष्ण वेदना है और नीचे के नरकावासो मे शीत वेदना है।
- धूमप्रभा के बहुत से नरकावास शीत-वेदना वाले है, और थोडे उष्ण वेदना वाले है।
- छट्ठी और सातवी नरक शीत वेदना वाली है।

क्षेत्र का स्पर्श योनि स्थान से विपरीत होने के कारण नरक के जीवो को क्षेत्रजन्य वेदना होती है। क्षेत्र स्वभावजा वेदना नीचे की नरको मे तीव्र, तीव्रतर व तीव्रतम होती है।

१. क्षेत्र-स्वभावजन्य वेदना के दस प्रकार—

(i) उष्ण — भयकर गर्मी मे, मध्याह्न काल के समय, चारो ओर जलती हुई अग्नि ज्वालाओ के वीच किसी पित्तरोगी मनुष्य को विठाने पर उसे जो वेदना होती है, उससे अनन्तगुणी उष्ण वेदना प्रतिपल नरक के जीवो को होती है।

- नरक के जीवो को उष्ण वेदना वाले स्थान से उठाकर यदि जलते हुए अगारो पर सुला दिया जाये तो उन्हे कुछ शाति का अनुभव होता है और नींद आ जाती है। इससे नरक की उष्ण वेदना का अनुमान लगता है।

(ii) शीत — पोष, माह की रात्रि मे चारो ओर हिमपात हो रहा हो, भयकर हवा चल रही हो, ऐसे समय मे हिमाचल-पर्वत की चोटी पर रहे हुए निर्वस्त्र मनुष्य को वहाँ जो शीत वेदना का अनुभव होता

है, उससे अनन्तगुणी शीतवेदना का अनुभव नरक के जीवो को होता है।

- नरक के जीवो को शीत वेदना वाले स्थान से उठाकर हिमालय की चोटी पर सुलाया जाये तो वे वहाँ अत्यत सुख का अनुभव करते हुए गहरी नीद मे सो जाते है।

(iii) क्षुधा — ढाई द्वीप मे पैदा होने वाला सम्पूर्ण अनाज खा ले तो भी नरक के जीवो की भूख नही मिटती।

(iv) तृषा — सम्पूर्ण समुद्र, सरोवर और नदी का पानी पी ले तो भी नरक के जीवो की प्यास नही बुझती।

(v) खुजली — नरक के जीवो के शरीर पर छुरियो द्वारा खुजली की जाये तो भी वह नही मिटती।

(vi) परवशता — वे जीव सदा परवश होते है।

(vii) ज्वर — मनुष्य को अधिक से अधिक जितना ज्वर आ सकता है, उससे अनन्तगुणा अधिक ज्वर नरक के जीवो को हमेशा रहता है।

(viii) दाह — भीतर से सदा जलते रहते है।

(ix) भय — अवधिज्ञान और विभगज्ञान के द्वारा आगामी दु ख का ज्ञान होने से नरक के जीव सतत भयभीत रहते है।

(x) शोक — भय के कारण सदा शोकातुर रहते है।

२. परस्पर कृत वेदना—

नरक के जीवो के द्वारा परस्पर पैदा की जाने वाली वेदना। इसके दो भेद है—

(i) प्रहरण कृत — शस्त्रादि द्वारा कृत वेदना। पहली नरक से पाँचवीं नरक पर्यंत होती है।

(ii) शरीर कृत — शरीर द्वारा कृत वेदना। सामान्यत यह वेदना सातो नरक म होती है। यह कथन अशास्त्रीय नही है। जैसा कि **जीवाभिगम** मे कहा है—हे भदन्त! रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक एक रूप की विकुर्वणा करने मे समर्थ है या अनेक रूपो की विकुर्वणा करने मे समर्थ है?—दोनो मे समर्थ है। यदि एक रूप की विकुर्वणा करते है तो एक बडे मुद्गर, करवत, खड्ग, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, बाण, भाला, तोमर, शूल, दड, भिंडीमाल रूप की विकुर्वणा करते हैं। यदि अनेक रूपो की विकुर्वणा करते है तो वे मुद्गर, मुषण्ढी, करवत, असि, शक्ति, हल, गदा, मृशल, चक्र, धनुष, भाला, शूल आदि सख्याता, स्वशरीर सबद्ध व समानाकार शस्त्रो की विकुर्वणा करते हैं तथा परस्पर उनका प्रयोग करते

वेदना उत्पन्न करते है। प्रहरणकृत वेदना पहली नरक से पाँचवी नरक तक होती है। छठी व सातवी नारकी के नैरइये मृतगाय के कलेवर मे उत्पन्न होने वाले वज्रमुखी, क्षुद्र जन्तुओ के रूप की विकुर्वणा करके परस्पर एक दूसरे के शरीर पर घोडे की तरह आरोहण कराते है। काटते है। इक्षु के कीडो की तरह एक दूसरे के शरीर मे प्रवेश कराते है। नारकी के जीव अपने शरीर से सबद्ध समानाकार व सख्याता शस्त्रो की ही विकुर्वणा कर सकते है, पर असख्याता, असमानाकार व शरीर से भिन्न शस्त्रो की विकुर्वणा नहीं कर सकते, स्वभावत उनका ऐसा ही सामर्थ्य होता है।

- एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखकर लड पडता है, वैसे एक नरक का जीव दूसरे नरक के जीव को देखकर उस पर टूट पडता है।
- क्षेत्र के प्रभाव से प्राप्त होने वाले शस्त्रो को लेकर नरक के जीव एक दूसरे के टुकडे कर डालते है। जैसे कि कत्लखाना (Slaughter-house) हो।
- परस्पर कृत वेदना मिथ्यादृष्टि नारको मे ही होती है। जो सम्यग्दृष्टि जीव होते है, वे तत्त्वचिन्तन द्वारा दूसरो से की गई वेदना शाति पूर्वक सहन करते है किन्तु अपनी ओर से वे किसी को वेदना नही पहुँचाते। वे वेदना और दुख को अपना कर्मजन्य प्रसाद मानते है। यही कारण है कि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग् दृष्टि आत्मा मानसिक पीडा से अधिक पीडित रहते है।

३. **परमाधामी कृत वेदना**—पहली, दूसरी और तीसरी नरक मे होती है।
- तपी हुई लोहे की पुतली के साथ आलिंगन करवाना।
- पिघले हुए शीशे का रस पिलाना।
- शस्त्रो से शरीर पर घाव करके उस पर नमक डालना।
- गरम-गरम तेल से स्नान करवाना।
- घाणी मे पीलना।
- चने की तरह भट्टी मे भूजना।
- करवत से चीरना।
- भाले की तीक्ष्ण नोक पर पिरोना।
- अग्नि के समान जलती रेत पर चलाना।
- पर्वत या ताल के पेड पर चढाकर नीचे गिराना।
- घन या कुल्हाडी से चोट करना।
- सिह, वाघ आदि हिंसक जानवरो का रूप बनाकर अनेक प्रकार से नरक के जीवो की कदर्थना करना।

- मुर्गो की तरह नरक के जीवो को परस्पर लडाना।
- तलवार की धार तुल्य तीक्ष्ण असि पत्रो पर उन्हे चलाना।
- वैतरणी नदी मे उन्हे तिराना।
- जब परमाधामी कुभी में डालकर नरक के जीवो को पकाते है, तब वे जीव दारुण वेदना के कारण पाँच सौ योजन ऊपर तक उछलते है और गिरते है। उस समय अपने द्वारा विकुर्वित व्याघ्र, सिंह द्वारा उन्हे मरवाना। **जीवाभिगम** मे कहा है कि—विभिन्न वेदनाओ से घिरे हुए, दु खार्त्त नरक के जीव उत्कृष्टत ऊपर ५०० योजन तक उछलते है। नीचे गिरते समय परमाधामियो के द्वारा विकुर्वित, वज्रमुखी पक्षी चोच द्वारा उन्हे टाच देते है। जब वे जमीन पर गिरते है तो वहाँ व्याघ्र आदि हिसक पशु उन्हे फाड डालते है ॥१०७४॥

१७५ द्वार : नरकायु—

सागरमेगं तिय सत्त दस य सत्तरस तह य बावीसा।
तेत्तीसं जाव ठिई सत्तसु पुढवीसु उक्कोसा ॥१०७५॥
जा पढमाए जेट्ठा सा बीयाए कणिट्ठिया भणिया।
तरतमजोगो एसो दसवाससहस्स रयणाए ॥१०७६॥

—गाथार्थ—

नरक के जीवो की आयु—**सातों नरक की उत्कृष्ट आयु क्रमश १. सागर, ३ सागर, ७ सागर, १० सागर, १७ सागर, २२ सागर तथा ३३ सागर की है ॥१०७५॥**

पूर्व नरक का उत्कृष्ट आयु उत्तर नरक का जघन्य आयु होता है। इस प्रकार तरतम योग से रत्नप्रभा का जघन्य आयु दस हजार वर्ष का है ॥१०७६॥

—विवेचन—

- अपनी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के बीच की स्थिति नरक के जीवो की मध्यम स्थिति होती है।
- सातवी नरक के काल, महाकाल, महारोर और रोर, इन चारो नरकावासो की जघन्य स्थिति २२ सागर की है।

नारकी	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु
१ रत्नप्रभा	१ सागरोपम	१०००० वर्ष
२ शर्कराप्रभा	३ सागरोपम	१ सागरोपम

३ वालुकाप्रभा	७ सागरोपम	३ सागरोपम
४ पकप्रभा	१० सागरोपम	७ सागरोपम
५ धूमप्रभा	१७ सागरोपम	१० सागरोपम
६. तम प्रभा	२२ सागरोपम	१७ सागरोपम
७ तमस्तमप्रभा	३३ सागरोपम	२२ सागरोपम ॥१०७५-७६ ॥

१७६ द्वार : अवगाहना—

पढमाए पुढवीए नेरइयाण तु होइ उच्चत्त ।
सत्त धणु तिन्नि रयणी छच्चेव य अगुला पुण्णा ॥१०७७ ॥
सत्तमपुढवीए पुणो पचेव धणुस्सयाइ तणुमाण ।
मज्झिमपुढवीसु पुणो अणेगहा मज्झिम नेय ॥१०७८ ॥
जा जम्मि होइ भवधारणिज्ज अवगाहणा य नरएसु ।
सा दुगुणा बोद्धवा उत्तरवेउव्वि उक्कोसा ॥१०७९ ॥
भवधारणिज्जरूवा उत्तरविउव्विया य नरएसु ।
ओगाहणा जहन्ना अंगुल अस्सखभागो उ ॥१०८० ॥

—गाथार्थ—

नरक के जीवो के शरीर का परिमाण—प्रथम पृथ्वी के नारकों के शरीर की ऊँचाई ७ धनुष, ३ हाथ एव ६ अंगुल की है। सातवी पृथ्वी के नारको के शरीर की उंचाई पॉच सौ धनुष की है। मध्य नरक के जीवो की मध्यम उचाई अनेक प्रकार की है ॥१०७७-७८ ॥

जिस नरक में जितनी भवधारणीय अवगाहना होती है, उससे दोगुनी उस नरक की उत्कृष्ट उत्तरवैक्रिय अवगाहना समझनी चाहिये ॥१०७९ ॥

नरक मे भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय शरीर की जघन्य अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग परिमाण है ॥१०८० ॥

—विवेचन—

अवगाहना = जिसमे जीव रहते है। अवगाहना, तनु, शरीर एकार्थक शब्द है।

अवगाहना के दो भेद है—(i) भवधारणीय और (ii) उत्तरवैक्रिय।

(i) भवधारणीय—जिस शरीर को जीव जीवन पर्यन्त धारण करता है अर्थात् जन्म से प्राप्त शरीर।

(ii) उत्तरवैक्रिय—स्वाभाविक शरीर ग्रहण करने के बाद, कार्य विशेष के अनुरूप वैक्रियशक्ति के द्वारा निर्मित विविध प्रकार के शरीर।

ये दोनो ही शरीर जघन्य और उत्कृष्ट भेद से दो प्रकार के है—

नरक	भवधारणीय उत्कृष्ट अवगाहना	उत्तरवैक्रिय उत्कृष्ट अवगाहना
१ रत्नप्रभा	७ धनुष ३ हाथ ६ अगुल	१५ धनुष २ हाथ १२ अगुल
२ शर्कराप्रभा	१५ धनुष २ हाथ १२ अगुल	३१ धनुष और एक हाथ
३ वालुकाप्रभा	३१ धनुष और १ हाथ	६२ धनुष और २ हाथ
४ पकप्रभा	६२ धनुष और २ हाथ	१२५ धनुष
५ धूम प्रभा	१२५ धनुष	२५० धनुष
६ तम प्रभा	२५० धनुष	५०० धनुष
७ तमस्तमप्रभा	५०० धनुष	१००० धनुष

- सातो नरक की भवधारणीय जघन्य अवगाहना, उत्पत्तिकाल की अपेक्षा अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण होती है।
- सातो नरक की उत्तरवैक्रिय जघन्य अवगाहना अगुल के सख्यातवे भाग प्रमाण होती है। करण, उत्तरवैक्रिय के प्रारम्भ मे इतनी ही अवगाहना होती है। इससे कम नही हो सकती, क्योकि जीव प्रदेशो का इतना ही सकोच होता है। कुछ आचार्य उत्तरवैक्रिय के प्रारम्भ मे असख्यातवे भाग की अवगाहना मानते है, वह ठीक नही है, क्योकि प्रज्ञापना और अनुयोगद्वार से विरोध आता है। प्रज्ञापना मे कहा है—नरक के जीवो की उत्तरवैक्रिय के प्रारम्भ मे जघन्य अवगाहना अगुल के सख्यातवे भाग की है तथा उत्कृष्ट अवगाहना १००० धनुष की है। अनुयोगद्वार की टीका मे आचार्य भगवत हरिभद्रसूरि जी ने कहा है कि—तथाविध प्रयत्न नही हो पाने के कारण उत्तरवैक्रिय के प्रारभ मे नरक के जीवो की जघन्य अवगाहना अगुल के सख्यातवे भाग की ही होती है ॥१०७७-८० ॥

१७७ द्वार : विरह-काल—

चउवीसई मुहुत्ता सत्त अहोरत्त तह य पन्नरस।
मासो य दोय चउरो छम्मासा विरहकालो उ ॥१०८१ ॥,
उक्कोसो रयणाइसु सव्वासु जहन्नओ भवे समयो।
एमेव य उव्वट्टणसंखा पुण सुरवराण समा ॥१०८२ ॥

—गाथार्थ—

नारको के उत्पत्ति और च्यवन का विरहकाल—**रत्नप्रभा आदि सातो ही नरक मे, उत्पत्ति और च्यवन का उत्कृष्ट विरहकाल क्रमश २४ मुहूर्त्त, ७ अहोरात्र, १५ दिन, १ मास, २ मास, ४ मास तथा ६ मास का है। जघन्य विरहकाल सर्वत्र एक समय का है। सातो ही नरक मे च्यवन-मरण देवो के तुल्य समझना चाहिये ॥१०८१-८२॥**

—विवेचन—

मनुष्य व तिर्यचगति से आकर जीव नरक मे निरन्तर जन्मते है वैसे नरक के जीव निरन्तर मरते है, पर यदा-कदा उनके जन्म-मरण का अन्तर भी पडता है। वह इस प्रकार है।

सामान्य रूप से सातो नरको का जन्म और मरण का विरह काल—उत्कृष्ट १२ मुहूर्त्त और जघन्य एक समय है। **समवायॉगसूत्र** मे भी इसी प्रकार कहा है।

विशेष रूप से जन्म और मरण का उत्कृष्ट विरह काल निम्न है—

रत्नप्रभा	२४ मुहूर्त्त
शर्कराप्रभा	७ दिन
वालुकाप्रभा	१५ दिन
पकप्रभा	१ महीना
धूमप्रभा	२ महीना
तम प्रभा	४ महीना
तमस्तमप्रभा	६ महीना

विशेष रूप से सातो नरको का उपपात और मरण का विरह काल जघन्य एक समय हं।

एक समय मे जन्मने वाले व मरने वाले नारको की सख्या जघन्य १-२ हे तथा उत्कृष्ट सख्याता-असख्याता है ॥१०८१-८२॥

१७८ द्वार : लेश्या—

काऊ काऊ तह काऊनील नीला य नीलकिण्हा य।
किण्हा किण्हा य तहा सत्तसु पुढवीसु लेसाओ ॥१०८३॥

—गाथार्थ—

नारको की लेश्या—**कापोत, कापोत, कापोतनील, नील, नीलकृष्ण, कृष्ण तथा कृष्ण—ये क्रमश सातो नरक की लेश्याये है ॥१०८३॥**

—विवेचन—

१ रत्नप्रभा	कापोत लेश्या		
२ शर्कराप्रभा	कापोत लेश्या	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	
३ वालुकाप्रभा	कापोत, नील ले	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	ऊपर के प्रतरो मे कापोत,
४ पकप्रभा	नील लेश्या	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	नीचे के प्रतरो मे नील,
५ धूमप्रभा	नील, कृष्ण ले	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	ऊपर के प्रतरो मे नील,
६ तम प्रभा	कृष्ण लेश्या	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	नीचे के प्रतरो मे कृष्ण,
७ तमस्तमप्रभा	कृष्ण लेश्या	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतम	लेश्या समझनी चाहिए।

पूर्व नरको की अपेक्षा उत्तरवर्ती नरको मे सजातीय व विजातीय दोनो लेश्यायें क्लिष्टतर और क्लिष्टतम होती है।

किसी का मत है कि—नारकी और देवो की जो लेश्याएँ बताई गई है वे द्रव्यलेश्या ही है। अन्यथा सातवी नारकी के जीवो को सम्यक्दर्शन की प्राप्ति का उल्लेख जो आगमो मे है, वह कैसे घटेगा ? कारण, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या मे ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, प्रथम की तीन लेश्याओ मे नही। **आवश्यक सूत्र** मे कहा है कि—

सम्मत्तस्स य तिसु उवरिमासु पडिवज्जमाणओ होई।

पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए॥

"सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला आत्मा तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाला ही होता है। पूर्व प्रतिपन्न अन्य लेश्यावर्ती भी हो सकता है।"

सातवी नरक के जीवो मे तेज, पद्म, शुक्ल लेश्या होती ही नही है। उनमे तो मात्र कृष्ण लेश्या ही होती है, अत उन्हे सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

तथा सौधर्म देवलोक मे केवल तेजोलेश्या ही होती है, किन्तु वह परमात्मा महावीर देव पर भयकर उपसर्ग करने वाले सगम आदि देवो मे नही हो सकती, क्योकि तेजोलेश्या के सद्भाव मे परिणाम प्रशस्त होते है और प्रशस्त परिणाम मे इस प्रकार उपसर्ग करने का भाव नही आ सकता।

तथा नरक के जीवो मे तीन ही लेश्याये होती है, यह कथन भी सगत नही है। **जीवसमास** मे कहा है—नरक मे तीन लेश्याये, द्रव्य लेश्या की अपेक्षा समझना, भाव परावर्तन की अपेक्षा तो वहाँ भी छ. लेश्याये होती है। अत देव और नरक मे प्रतिनियत लेश्याये बाह्यवर्णरूप द्रव्य लेश्याये ही समझना।

समाधान—पूर्वोक्त कथन आगम ज्ञान की अबोधता के सूचक है। आगम के अनुसार देव और नरक की प्रतिनियत लेश्याओ को बाह्य वर्ण रूप द्रव्य-लेश्या न मानकर ही पूर्वोक्त तीनो शकाओ का समाधान किया जा सकता है।

लेश्या अर्थात् जीव के शुभाशुभ परिणाम। वे परिणाम कृष्ण, नील, पीत आदि द्रव्य के सयोग से उत्पन्न होते है। वे द्रव्य कृष्णादि लेश्या वाले जीवो के सदा सन्निहित रहते है। उन द्रव्यो के साहचर्य से आत्मा मे जो परिणाम उत्पन्न होते है, मुख्यरूप से तो वे ही लेश्या है, किन्तु गौण रूप से उन परिणामो के हेतुभूत द्रव्य भी लेश्या कहलाते है। यहाँ नरक और देवो की जो प्रतिनियत लेश्याएँ बताई गई, वे कृष्णादि द्रव्य रूप लेश्याएँ है, क्योकि उन लेश्या द्रव्यो का उदय देव और नरक के जीवो को अवस्थित होता है। अत देव और नरक की प्रतिनियत लेश्याये द्रव्यलेश्या रूप है, नही कि बाह्य-वर्ण-रूप।

तिर्यच और मनुष्यो के लेश्या द्रव्य अवस्थित नहीं होते, वे अन्य लेश्याद्रव्यो को पाकर अपने स्वरूप का परित्यागकर उस रूप मे परिणत हो जाते है, जैसे श्वेतवस्त्र किरमची आदि रग के सम्पर्क से अपना रूप त्यागकर तद्रूप बन जाते है। यदि ऐसा न माना जाये तो ३ पल्योपम की आयु वाले मनुष्य-तिर्यच की लेश्या की स्थिति जो तीन पल्योपम की बताई है, वह सगत नही होगी, कारण स्वाभाविक रूप मे लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की ही है। मनुष्य और तिर्यचो की लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्योपम की परिणमन की अपेक्षा से घटित होती है।

देव और नरक के सम्बन्ध मे लेश्या का विचार अलग है। देव और नारको के लेश्याद्रव्य अन्य लेश्याद्रव्यो के सपर्क मे आने पर भी अपने स्वरूप का परित्याग कर अन्य रूप मे परिणत नही होते, मात्र तदाकार बन जाते है। उसके प्रतिबिंब को ग्रहण कर लेते हैं। जैसे मणि मे काला धागा पिरो दे तो धागे के कृष्ण वर्ण के सम्बन्ध से मात्र मणि का आकार काला हो जाता है। स्फटिक के पास जपा पुष्पादि (लाल रग का एक फूल) रखने से स्फटिक, पुष्प के प्रतिबिंब के कारण लाल दिखाई देता है। किन्तु दोनो ही अपने स्वरूप का त्याग कर अन्य रूप मे परिणत नहीं होते। अर्थात् प्रथम उदाहरण मे मणि का रग नही बदलता और दूसरे उदाहरण मे स्फटिक अपने स्वरूप का त्याग नही करता। वैसे यहाँ भी कृष्ण-लेश्या के द्रव्य, नील-लेश्या के द्रव्यो को पाकर कदाचित् नील-लेश्या का आकार ग्रहण कर लेते है और कदाचित् उसके प्रतिबिंब को ग्रहण कर लेते है, परन्तु कृष्ण-लेश्या के द्रव्य, सर्वथा नील-लेश्या के वर्ण, गध, रस और स्पर्श रूप मे परिणत नही होते। स्वरूप से तो वे कृष्ण लेश्या के द्रव्य ही रहते है। **प्रज्ञापनासूत्र** के लेश्यापद मे यही बताया है। विस्तारभय से वह पाठ यहाँ नहीं दिया।

इस प्रकार सातवी नरक के जीवो से सम्बन्धित कृष्णलेश्या के द्रव्य, तेजोलेश्या के द्रव्य को पाकर जब तदाकार या तत्प्रतिबिंब भाव से युक्त बनते है, तब सदा अवस्थित कृष्ण लेश्या के द्रव्य का सम्पर्क होने पर भी तेजो-लेश्या के द्रव्य का प्राबल्य होने से सातवी नरक के जीवो मे भी शुभ-भाव की जागृति होती है, और इसी कारण उनमे सम्यक्त्व पाने की सभावना रहती है। इसमे किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

इस प्रकार प्रतिनियत कृष्णलेश्या के द्रव्य का योग होने पर भी सातवी नरक के जीवो को सम्यक्त्व प्राप्ति मे कोई विरोध नही है।

प्रश्न—इस प्रकार तो सातवीं नरक मे भी तेजोलेश्या का सद्भाव सिद्ध होता है और यह बात आगम विरोधी होने से असगत है, क्योकि सूत्र मे सातवीं नरक मे मात्र कृष्ण-लेश्या का ही सद्भाव बताया है, अत पूर्वोक्त बात कैसे सगत होगी?

उत्तर—सातवी नरक के जीवो का सम्पर्क सदा कृष्ण-लेश्या के द्रव्यो के साथ ही रहता है। तेजो-द्रव्य का सम्पर्क तो मात्र आकार या प्रतिबिब रूप से ही होता है। वह भी यदा-कदा अल्प-समय के लिये। जबकि कृष्ण-लेश्या के द्रव्य तेजो-लेश्या के सम्पर्क काल मे भी अपने स्वरूप मे विद्यमान रहते है। इसीलिए सूत्र मे सातवी नरक के जीवो मे केवल कृष्ण-लेश्या ही बताई गई है।

उपर सगम के उपसर्ग को अघटित बताया वह भी ठीक नही है। पूर्व कथन के अनुसार वह भी सत्य घटित हो जाता है। प्रतिनियत तेजो-लेश्या के द्रव्यो का सम्पर्क होने पर भी आकार एव प्रतिबिब रूप से यदा-कदा कृष्ण-लेश्या का भी सभव रहता है। उस समय अप्रशस्त परिणाम होने से उपसर्ग करने की बात घटित हो सकती है।

भावपरावर्तन की अपेक्षा नारक और देवो मे छ ही लेश्याये होती है। इस कथन का नारक और देवो मे तीन लेश्या मानने वाले आगम वचन के साथ विरोध होता है। यह बात भी पूर्वोक्त मान्यता से असत्य प्रमाणित हो जाती है, क्योकि आकार या प्रतिबिंब रूप से भले अन्यान्य लेश्याये आती जाती है, किन्तु सूत्र-सम्मत लेश्या के द्रव्य तो उस समय भी अपने स्वरूप मे विद्यमान रहते ही है और उन लेश्याओ के परिणाम नष्ट हो जाने के बाद भी वे अपने स्वरूप मे यथावस्थित रहते है। इस प्रकार प्राय· अवस्थित होने के कारण सातवी नरक मे तीन लेश्याओ का होना भी सग है तथा आकार एव प्रतिबिब के आधार से सभी लेश्याये नरक एव देव मे घट सकती है। इसमे किसी प्रकार का विरोध नही है।

देव और नारक की द्रव्य लेश्याये बाह्य-वर्ण रूप न होकर कृष्णादि द्रव्य रूप है। इसका सबल प्रमाण है **भगवती** का वह पाठ, जिसमे वर्ण की चर्चा करने के पश्चात् लेश्या की चर्चा की गई है। यदि द्रव्य-लेश्याये बाह्य-वर्ण रूप होती तो वर्ण की चर्चा से अलग लेश्या की चर्चा करना निरर्थक हो जाता।

देखे—**भगवतीसूत्र** १-२-२१ सूत्र। इसमे प्रथम नारको के वर्ण की चर्चा करने के पश्चात् लेश्या के बारे मे पृथक् चर्चा की है। यथा—

हे भगवन्त। नरक के जीव समानवर्ण वाले है? हे गौतम। ऐसा नही है। हे भगवन्। ऐसा नही होने का क्या कारण है? हे गौतम! नरक के जीव दो प्रकार के है—पूर्वोत्पन्न और पश्चात् उत्पन्न। इनमे से जो पूर्वोत्पन्न है वे विशुद्धतर वर्ण वाले हैं और जो पश्चात् उत्पन्न है वे अविशुद्धतर वर्ण वाले है। इसीलिए कहा गया है कि सभी नरक के जीव समान वर्ण वाले नही होते।

इस प्रकार वर्ण का स्वरूप बतलाने के पश्चात् लेश्या का स्वरूप बताते है। यथा—

हे भगवन्। नरक के जीव समान लेश्या वाले है? हे गौतम। ऐसा नही है। हे भगवन्। ऐसा नहीं होने का क्या कारण है? हे गौतम। नरक के जीव दो प्रकार के है। पूर्वोत्पन्न और पश्चात् उत्पन्न।

जो पूर्वोत्पन्न है वे विशुद्धतर लेश्या वाले है और जो पश्चात् उत्पन्न है वे अविशुद्धतर लेश्या वाले है। इसीलिये कहा गया है कि सभी नरक के जीव समान लेश्या वाले नहीं हैं।

इस सूत्र मे नारको की लेश्या का वर्णन किया गया है। यदि वर्ण और लेश्या एक होते तो लेश्या का वर्ण से अलग वर्णन करना व्यर्थ सिद्ध होता। अत लेश्या का वर्ण से अलग वर्णन यह सिद्ध करता है कि द्रव्य लेश्या शारीरिक-वर्णरूप नही है और जो परिवर्तित होती है वह भाव-लेश्या है ॥१०८३॥

१७९ द्वार : नारकों का अवधिज्ञान—

चत्तारि गाउयाइ अद्धुट्ठाइ तिगाउय चेव।
अड्ढाइज्जा दोन्नि य दिवड्ढ मेग च नरयोही ॥१०८४॥

—गाथार्थ—

नारको का अवधिज्ञान—**सातो नरक में क्रमश ४ कोस, ३$\frac{१}{२}$ कोस, ३ कोस, २$\frac{१}{२}$ कोस, १$\frac{१}{२}$ कोस तथा १ कोस क्षेत्र परिमाण वाला अवधिज्ञान होता है ॥१०८४॥**

—विवेचन—

नरक	उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र	जघन्य अवधि क्षेत्र
१	४ कोश	३ $\frac{१}{२}$ कोश
२	३ $\frac{१}{२}$ कोश	३ कोश
३	३ कोश	२ $\frac{१}{२}$ कोश
४	२ $\frac{१}{२}$ कोश	२ कोश
५	२ कोश	१ $\frac{१}{२}$ कोश
६	१ $\frac{१}{२}$ कोश	१ कोश
७	१ कोश	० $\frac{१}{२}$ कोश

नरक के जीवो को अपने अवधिज्ञान से पूर्वोक्त दूरी मे रहे हुए रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है ॥१०८४॥

१८० द्वार : परमाधामी—

अंबे अंबरिसी चेव, सामे य सबलेइ य।
रूद्दो वरुद्द काले य महाकालित्ति आवरे ॥१०८५॥
असिपत्ते धणू कुभे वालू वेयरणी इय।
खरस्सरे महाघोसे पन्नरस परमाहम्मिया ॥१०८६॥

—गाथार्थ—

परमाधामी—१. अंब २. अंबरीष ३. श्याम ४. शबल ५. रौद्र ६. उपरौद्र ७. काल ८. महाकाल ९. असिपत्र १०. धनु ११. कुंभ १२. वालुक १३. वैतरणी १४. खरस्वर तथा १५. महाघोष—ये पन्द्रह परमाधामी है ॥१०८५-८६॥

—विवेचन—

परमाधामी—सक्लिष्ट परिणामी और अत्यत अधार्मिक वृत्ति वाले देव विशेष। ये पन्द्रह प्रकार के है—

(i) अम्ब — जो नारकों को आकाश मे उछालते है।

(ii) अम्बरीष — जो नारको के टुकडे-टुकडे करके भट्टी मे भूजने लायक बनाते है।

(iii) श्याम — जो चाबुक या शस्त्रादि के प्रहार से नारको के टुकडे करके इधर-उधर फेकते है और वर्ण से श्याम है।

(iv) शबल — जो नारको की आते, मेद, कलेजा आदि क्रूरतापूर्वक काटते है और वर्ण से कर्बुर है।

(v) रौद्र — जो भाला, त्रिशूल इत्यादि की नोक पर नारको को पिरोते है। अतिक्रूर होने से इन्हे रौद्र कहा जाता है।

(vi) उपरौद्र — जो नारकों के अग-उपाग को तोडते-मरोडते है। ये अत्यन्त रौद्र होने से उपरौद्र कहलाते है।

(vii) काल — जो नरक के जीवों को हांडी इत्यादि मे पकाते है तथा वर्ण से काले है।

(viii) महाकाल — जो नारको के नरम-नरम मांस को काटकर खाते है और वर्ण से अत्यन्त काले है।

(ix) असिपत्र — जो तलवार की धार तुल्य तीक्ष्ण पत्ता वाले वन की [illegible]

करके उन पर नरक के जीवो को चलाते है अथवा वे पत्ते उन पर गिराकर उनके शरीर के टुकडे-टुकडे करते है।

(x) धनु — जो अर्ध-चन्द्रादि आकार वाले बाण फेककर नारको के कान, नाक आदि का छेदन करते है।

(xi) कुम्भ — जो नारको को कुभी मे डालकर पकाते है।

(xii) वालुक — कदम्ब पुष्प के आकार वाली या वज्र समान आकार वाली जलती रेत पर चने की तरह नरक के जीवो को सेकते है।

(xiii) वैतरणी — गर्म किया हुआ रक्त या पिघले हुए शीशे से भरी हुई नदी मे नरक के जीवो को अत्यन्त कदर्थना पूर्वक तिराते है।

(xiv) खरस्वर — जो वज्र-तुल्य तीक्ष्ण कॉटो से व्याप्त शाल्मली वृक्ष पर नरक के जीवो को चढाकर तीव्र आवाज करते है।

(xv) महाघोष — जो भय से भागते हुए नारको को घोर आवाज करके रोकते है।

- **भगवती सूत्र** मे महाकाल के पश्चात् नौवा असि है (जो नारको को तलवार से काटता है) १०वा असिपत्र है। शेष पूर्ववत् है अर्थात् धनु के स्थान पर **भगवती** मे असि नाम है।
- पूर्व भव मे पचाग्नि तप आदि अज्ञान कष्ट को करने वाले मनुष्य मरकर अति निर्दय, पापात्मा परमाधामी बनते है। आसुरी स्वभाव के कारण प्रथम तीन नरक मे ये परमाधामी, नरक के जीवो को विविध प्रकार की वेदना देते है।
- अत्यन्त दुख से पीडित नरक के जीवो को देखकर ये परमाधामी, परस्पर झगडने वाले मुर्गे, कुत्ते, साड आदि को देखकर हर्षित होने वाले मुनष्यो की तरह अट्टहास्य करते है, उछलते है, कूदते है। नारको की कदर्थना को देखकर उन्हे जितना आनन्द आता है, उतना आनन्द रमणीय नाटक देखने मे भी नही आता है ॥१०८५-८६॥

१८१ द्वार : लब्धि-संभव—

तिसु तित्थ चउत्थीए केवल पचमीए सामन्न।
छट्ठीए विरइऽविरई सत्तमपुढवीए सम्मत्त ॥१०८७॥
पढमाओ चक्कवट्टी बीयाओ रामकेसवा हुति।
तच्चाओ अरहता तहऽतकिरिया चउत्थीओ ॥१०८८॥
उवट्टिया उ सता नेरइया तमतमाओ पुढवीओ।
न लहति माणुसत्त तिरिक्खजोणि उवणमति ॥१०८९॥

छट्ठीओ पुढवीओ उव्वट्टा इह अणंतरभवमि ।
भज्जा मणुस्सजम्मे संजमलंभेण उ विहीणा ॥१०९० ॥

—गाथार्थ—

नरक से आगत जीवो को लब्धि-प्राप्ति—**प्रथम तीन नरक से आगत जीव तीर्थंकर बन सकता है। चतुर्थ नरक से आगत जीव केवलज्ञानी हो सकता है। पाँचवी नरक से निकलकर साधु, छट्ठी नरक से निकलकर श्रावक तथा सातवी नरक से निकल कर समकिती बन सकता है ॥१०८७॥**

प्रथम नरक से निकलकर चक्रवर्ती, द्वितीय नरक से निकलकर बलदेव, तृतीय नरक से निकल कर अरिहंत एवं चतुर्थ नरक से निकलकर जीव मोक्ष पद प्राप्त करता है। ।१०८८ ॥

—विवेचन—

नारकी	क्या बन सकते हैं?
पहली से तीसरी नरक तक के जीव	तीर्थंकर
पहली से चौथी नरक तक के जीव	केवलज्ञानी (४थी नरक के जीव तीर्थंकर नही बनते)
पहली से पाँचवी नरक तक के जीव	साधु
पहली से छट्ठी नरक तक के जीव	देश विरति
पहली से सातवी नरक तक के जीव	सम्यक्त्वी
विशेष लब्धि संभव—	
पहली नरक से निकले हुए जीव	चक्रवर्ती
दूसरी नरक तक के जीव	बलदेव, वासुदेव
तीसरी नरक तक के जीव	तीर्थंकर
चौथी नरक तक के जीव	मुक्तिगामी
पाँचवी नरक तक के जीव	साधु बन सकते है (केवली नही)
छट्ठी नरक तक के जीव	कदाचित् मनुष्य बनते हैं, कदाचित नही भी बनते। यदि मनुष्य बनते है तो भी सर्वविरति प्राप्त नही कर सकते।
सातवी नरक के जीव	नियमत तिर्यंच ही बनते है।

श्रेणिक की तरह पूर्वबद्ध नरकायु वाले जीव ही पहली, दूसरी और तीसरी नरक से निकलकर तीर्थंकर बनते है ॥१०८७-९० ॥

१८२ द्वार : उपपात—

असन्नी खलु पढम दोच्च च सरिसिवा तइय पक्खी।
सीहा जति चउत्थि उरगा पुण पचमि पुढवि ॥१०९१॥
छट्ठि च इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमि पुढविं।
एसो परमुववाओ बोद्धव्वो नरयपुढवीसु ॥१०९२॥
वालेसु य दाढीसु य पक्खीसु य जलयरेसु उववन्ना।
सखिज्जाउठिईया पुणोऽवि नरयाउया हुंति ॥१०९३॥

—गाथार्थ—

कौन जीव किस नरक मे जाता है? असज्ञी जीव प्रथम नरक मे, सरीसृप द्वितीय नरक पर्यन्त, पक्षी तृतीय नरक पर्यन्त, सिंह चार नरक पर्यन्त, सर्प पॉच नरक पर्यन्त, स्त्रियॉ छ नरक पर्यन्त तथा मानव और मत्स्य सात नरक पर्यन्त माने जाते है। इस प्रकार नरक का उत्पाद समझना चाहिये ॥१०९१-९२॥

नरक मे से निकलकर सख्याता आयु वाले साप, सिंह, गृद्ध तथा मत्स्य आदि बनकर पुन नरक मे उत्पन्न होते है ॥१०९३॥

—विवेचन—

(i)	असज्ञी (समूर्च्छिम) पर्याप्ता पञ्चेन्द्रिय तिर्यच	पहली नरक मे
(ii)	गर्भज भुजपरिसर्प (गोधा, नोलिया आदि)	दूसरी नरक पर्यत
(iii)	गर्भज-पक्षी (गृध आदि)	तीसरी नरक पर्यत
(iv)	गर्भज चतुष्पद (सिंह आदि)	चोथी नरक पर्यत
(v)	गर्भज उरपरिसर्प (सर्प आदि)	पॉचवी नरक पर्यत
(vi)	स्त्री (स्त्रीरत्न आदि)	छट्ठी नरक पर्यत
(vii)	गर्भज जलचर (मत्स्य आदि) और मनुष्य	सातवी नरक पर्यत

यह आगति उत्कृष्ट समझना। जघन्यत रत्नप्रभा के प्रथम प्रतर तक और मध्यम रूप से अपने उत्कृष्ट उत्पाद से पूर्व की नरक तक उत्पन्न होते हैं।

- **विशेष**—नरक से निकलकर जीव सख्याता आयुष्य वाले साप, सिह, गीध, मत्स्य आदि मे उत्पन्न होते है। वहाँ क्रूरता पूर्वक जीव वधादि करने से पुन नरक मे जाते हैं। यह बहुमत की अपेक्षा से घटित होता है। ऐसे तो साप आदि भी सम्यक्त्व को प्राप्त करके शुभ गति मे जाते है ॥१०९१-९३॥

१८३ द्वार : १८४ द्वार : उत्पद्यमान— उद्वर्तमान—

एमेव य उव्वट्टणसंखा पुण सुरवराण समा ॥१०८२ ॥

—गाथार्थ—

नारको की उत्पत्ति एव च्यवन की सख्या—नरक जीवो की उत्पत्ति एव च्यवन की संख्या १०८२ गाथा में देवताओं की उत्पत्ति एव च्यवन की संख्या के तुल्य बताई गई है।

—विवेचन—

सातो ही नरक मे एक समय मे जघन्यत: १-२-३ जीव जन्मते और मरते है।	उत्कृष्ट सख्याता और असख्याता जीव जन्मते और मरते है।

इन दोनो द्वारो का वर्णन १७७वे द्वार मे आ चुका है अत पुन यहाँ नही किया गया है।

१८५ द्वार : कायस्थिति—

अस्सखोसप्पिणिसप्पिणीउ एगिदियाण य चउण्ह।
ता चेव ऊ अणता वणस्सइए उ बोद्धव्वा ॥१०९४ ॥
वाससहस्सासखा विगलाण ठिइउ होइ बोद्धव्वा।
सत्तट्ठभवा उ भवे पणिंदितिरिमणुय उक्कोसा ॥१०९५ ॥

—गाथार्थ—

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय तथा सज्ञी जीवो की कायस्थिति—चार एकेन्द्रियों की कायस्थिति असंख्याता उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाण, वनस्पतिकाय की अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाण, विकलेन्द्रिय की संख्याता हजार वर्ष तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यच-मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति सात-आठ भव की होती है ॥१०९४-९५ ॥

—विवेचन—

कायस्थिति—पृथ्विकायादि के जीव मरकर जितने समय तक एक काय मे पुन पुन पैदा हो सकते हैं, वह काल जीव की 'कायस्थिति' है।

कायस्थिति का परिमाप, काल और क्षेत्र दो तरह से समझा जाता है।

- पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायुकाय के जीवो की कायस्थिति, काल की अपेक्षा असख्याता उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।
- असख्यात-लोकाकाश के प्रदेशो मे से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहार करने पर जितना समय लगता है इतनी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल प्रमाण पृथ्वी आदि जीवो की कार्यस्थिति है।
- काल की अपेक्षा वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट काय-स्थिति अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।
- क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त लोकाकाश मे से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहार करने पर जितना समय लगता है अर्थात् क्षेत्र की अपेक्षा वनस्पतिकाय की कायस्थिति असख्येय पुद्गल परावर्त है। यह असख्याता का प्रमाण आवलिका के असख्यात भाग मे जितने समय होते है, तत्तुल्य समझना।
- सूक्ष्म निगोद के जीव दो प्रकार के होते है—साव्यवहारिक और असाव्यवहारिक।

सांव्यवहारिक—सूक्ष्म निगोद से निकलकर जो जीव पृथ्वी आदि मे उत्पन्न हो चुके हो अर्थात् जो जीव 'यह पृथ्विकायिक है'_'यह अप्कायिक है' इत्यादि व्यवहार के योग्य बन चुके हो वे साव्यवहारिक है। एक बार व्यवहार राशि मे आने के बाद पुन निगोद मे चले जाने पर भी वह साव्यवहारिक कहलाता है।

असाव्यवहारिक—जो जीव अनादिकाल से सूक्ष्म निगोद मे ही पडे है, अभी तक पृथ्वी आदि व्यवहार दशा मे नही आये है वे असाव्यवहारिक है।

पूर्वोक्त कायस्थिति साव्यवहारिक जीवो की अपेक्षा से है। असाव्यवहारिक जीवो की अपेक्षा से तो वह अनादि है।

अत मरुदेवी माता के प्रसग से कोई व्यभिचार नही होगा। मरुदेवी माता का जीव वनस्पति से निकलकर मोक्ष गया था किन्तु साव्यवहारिक जीव होने के कारण उनके मोक्षगमन मे किसी प्रकार की बाधा नही है। श्री **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** ने कहा है कि—कायस्थिति का कालमान भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न है। जो जीव सव्यवहार से बाह्य है, अर्थात् असव्यावहारिक है, उनकी कायस्थिति अनादि अवश्य है पर कुछ जीवो की अनादि अनत है व कुछ जीवो की अनादि सात है। अनादि अनत कायस्थिति वाले जीव असव्यवहार राशि से निकलकर कभी भी सव्यवहार राशि मे नही आयेगे। जो अनादि सात स्थिति वाले है वे एक दिन अवश्य सव्यवहार राशि मे आवेगे।

- जो असाव्यवहारिक जीव कभी भी व्यवहार राशि मे नही आयेगे, उनकी अपेक्षा से कायस्थिति अनादि अनन्त है तथा जो असाव्यवहारिक जीव समय आने पर व्यवहार राशि (पृथ्वी आदि) मे उत्पन्न होगे, उनकी अपेक्षा से कायस्थिति अनादि सान्त है।

प्रश्न—अव्यवहार राशि से निकलकर जीव व्यवहार राशि मे कैसे आता है?

समाधान— **विशेषणवती ग्रंथ** मे कहा है—यह प्रकृति का नियम है कि जितने जीव व्यवहार राशि से निकलकर सिद्ध बनते है, उतने ही जीव अव्यवहार राशि से निकलकर व्यवहार राशि मे आ जाते है। जो जीव अनादि सूक्ष्म निगोद से निकलकर अन्य जीवनिकाय अर्थात् पृथ्विकाय आदि मे उत्पन्न होते है, वे जीव पृथ्वि_अप् आदि विविध व्यवहार के योग्य बन जाने के कारण साव्यवहारिक कहलाते है। किन्तु जो अनादिकाल से सूक्ष्म निगोद मे है, वे असाव्यवहारिक कहलाते है।

पृथ्वि आदि मे उत्पन्न हुए साव्यवहारिक जीव यद्यपि पुन निगोद मे जा सकते है तथापि वहा वे जीव सव्यवहार राशि के ही कहलाते है, क्योकि अब वे पृथ्वि अप् इत्यादि विविध व्यवहार के योग्य बन चुके हैं। अत गाथा मे उक्त कायस्थिति का कालमान साव्यवहारिक जीवो का है। असाव्यवहारिक जीव तो अनादि अनतकाल तक पुन-पुन निगोद मे ही जन्म-मरण करते रहते है, पर कभी भी त्रसादि भाव को प्राप्त नही होते।

विकलेन्द्रिय की कायस्थिति सख्याता हजार वर्ष की है। पंचसंग्रह मे कहा है कि 'विगलाण य वाससहस्स सखेज्ज' अर्थात् विकलेन्द्रिय की सख्याता हजार वर्ष की कायस्थिति हैं।

सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च व सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति सात-आठ भव है।

यथा—सज्ञी पंञ्चेन्द्रिय तिर्यच व मनुष्य यदि सात भव तक सतत तिर्यच व मनुष्य बने तो सख्याता वर्ष की आयु वाले ही बनते है। आठवा भव करे तो युगलिक मनुष्य (असख्याता वर्ष की आयु वाले) का करते है। वहाँ से मरकर देवता बनते है। आठो भवो का उत्कृष्ट कालमान पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक (दो पूर्व क्रोड से नौ पूर्व क्रोड) तीन पल्योपम है।

- सभी जीवो की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ॥१०९४-९५॥

१८६ द्वार : भव-स्थिति—

बावीसई सहस्सा सत्तेव सहस्स तिन्निऽहोरत्ता।
वाए तिन्नि सहस्सा दसवाससहस्सिया रुक्खा ॥१०९६॥
संवच्छराइं बारस राइदिय हुति अउणपन्नास।
छम्मास तिन्नि पलिया पुढवाईण ठिउक्कोसा ॥१०९७।
सण्हा य सुद्ध वालुय मणोसिला सक्करा य खरपुढवी।
एक्कं बारस चउदस सोलस अट्ठार बावीसा ॥१०९८॥

—गाथार्थ—

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय और सज्ञी जीवो की भवस्थिति—श्लक्ष्ण, शुद्ध, बालुका, मनःशिला, शर्करा तथा खरपृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश एक हजार, बारह हजार, चौदह हजार, सोलह हजार, अठारह हजार तथा बावीस हजार वर्ष है ॥१०९८॥

—विवेचन—

जीव-नाम	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
पृथ्वीकाय	२२ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त
श्लक्ष्णपृथ्वी	१ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त

शुद्धा (कुमारमृत्तिका)	१२ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
बालुरेत	१४ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
मन शिल	१६ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
शर्करा	१८ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
खर पृथ्वी	२२ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
अप्काय	७ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
तेउकाय	३ अहोरात्र	अन्तर्मुहूर्त्त
वायुकाय	३ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
वनस्पतिकाय	१० हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
द्वीन्द्रिय	१२ वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
त्रीन्द्रिय	४९ अहोरात्रि	अन्तर्मुहूर्त्त
चतुरिन्द्रिय	६ मास	अन्तर्मुहूर्त्त
पञ्चेन्द्रिय (तिर्यच व मनुष्य)	३ पल्योपम	अन्तर्मुहूर्त्त

॥१०९६-९८ ॥

१८७ द्वार : शरीर-परिमाण—

जोयणसहस्समहिय ओहपएगिदिए तरुगणेसु ।
मच्छजुयले सहस्स उरगेसु य गब्भजाईसु ॥१०९९ ॥
उस्सेहगुलगुणिय जलासय जमिह जोयणसहस्स ।
तत्थुप्पन्न नलिणं विन्नेय भणिय मित्ततु ॥११०० ॥
ज पुण जलहिदहेसु पमाणजोयणसहस्समाणेसुं ।
उप्पज्जइ वरपउमं तं जाणसु भूवियारति ॥११०१ ॥
वणऽणतसरीराण एगमनिलसरीरग पमाणेण ।
अनलोदगपुढवीण असखगुणिया भवे वुड्ढी ॥११०२ ॥
विगलिंदियाण बारस जोयणा तिन्नि चउर कोसा य ।
सेसाणोगाहणया अगुलभागो असखिज्जो ॥११०३ ॥
गब्भचउप्पय छग्गाउयाइ भुयगेसु गाउयपुहुत्त ।
पक्खीसु धणुपुहुत्तं मणुएसु य गाउया तिन्नि ॥११०४ ॥

—गाथार्थ—

एकेन्द्रिय आदि का शरीर-परिमाण—वनस्पतिकाय रूप एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट देहमान साधिक एक हजार योजन का है। मत्स्य आदि संमूर्च्छिम और गर्भज जलचरों का तथा सर्प आदि गर्भज उरपरिसर्प का उत्कृष्ट देहमान एक हजार योजन का है ॥१०९९॥

उत्सेधांगुल से निर्मित योजन की अपेक्षा से एक हजार योजन गहरे जलाशय मे उत्पन्न होने वाले कमल की अपेक्षा से वनस्पति का पूर्वोक्त देहमाप घटित होता है। जो समुद्र या जलाशय प्रमाणांगुल की अपेक्षा हजार योजन गहरे है उनमें उत्पन्न कमल पृथ्वीकाय के विकाररूप है ॥११००-११०१॥

अनंतकाय वनस्पति के शरीर की अपेक्षा सूक्ष्मवायुकाय के शरीर का परिमाण असंख्यगुण अधिक है। वायुकाय की अपेक्षा अग्निकाय का शरीर असख्यातगुण अधिक है। अग्निकाय की अपेक्षा अप्काय का शरीर असंख्यातगुण अधिक है तथा अप्काय की अपेक्षा पृथ्वीकाय का शरीर असंख्यातगुण बड़ा है ॥११०२॥

विकलेन्द्रिय का शरीर परिमाप क्रमश बारह योजन, तीन कोस एवं चार कोस है। शेष जीवो की उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल का असंख्यातवा भाग परिमाण है ॥११०३॥

गर्भज चतुष्पद की अवगाहना छ कोस की, भुजपरिसर्प की कोस पृथक्त्व की, पक्षियो की धनुष पृथक्त्व की एवं मनुष्य की अवगाहना तीन कोस की है ॥११०४॥

—विवेचन—

१ एकेन्द्रिय	१००० योजन साधिक	(यह परिमाप प्रत्येक वनस्पति की अपेक्षा से है।अन्यथा पृथ्वि, अप, तेउ, वायु और साधारण वनस्पति समूर्च्छिम मनुष्य तथा सभी अपर्याप्त जीवो का जघन्य और उत्कृष्ट शरीर-प्रमाप अगुल के असख्यातवे भाग का है)
२ द्वीन्द्रिय	१२ योजन उत्कृष्ट	जघन्य
३ त्रीन्द्रिय	३ कोष उत्कृष्ट	अगुल का
४ चतुरिन्द्रिय	४ कोष उत्कृष्ट	असख्यातवा भाग

वनस्पति का साधिक १००० योजन का शरीर प्रमाण गोतीर्थ, पद्मद्रह आदि मे उत्पन्न होने वाली लता, कमलनाल आदि की अपेक्षा से समझना।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यच—

'व्याख्या करने से विशेष ज्ञान होता है'—इस न्याय के अनुसार पञ्चेन्द्रिय तिर्यचो की विस्तार से अवगाहना बताई जाती है।

१ जलचर (गर्भज सम्मूर्च्छिम पर्याप्ता)	१००० योजन	उत्कृष्ट	जघन्य
२ उरपरिसर्प (गर्भज पर्याप्ता)	१००० योजन	उत्कृष्ट	शरीर
३ चतुष्पद (गर्भज पर्याप्ता)	६ कोस	उत्कृष्ट	प्रमाण
४ भुजपरिसर्प (गर्भज पर्याप्ता)	२ से ९ कोस	उत्कृष्ट	अगुल
५ भुजपरिसर्प(सम्मूर्च्छिम पर्याप्ता)	२ से ९ धनुष	उत्कृष्ट	का
६ चतुष्पद (सम्मूर्च्छिम पर्याप्ता)	२ से ९ कोस	उत्कृष्ट	असख्यातवा
७ उरपरिसर्प (सम्मूर्च्छिम पर्याप्ता)	२ से ९ योजन	उत्कृष्ट	भाग
८ खेचर (गर्भज व सम्मूर्च्छिम)	२ से ९ धनुष	उत्कृष्ट	है।

- जघन्य शरीरमान उत्पत्ति के समय होता है।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यच के २० भेद—

१. जलचर — इसके गर्भज व समूर्च्छिम दो भेद है। इनमे से प्रत्येक के पर्याप्ता-अपर्याप्ता दो-दो भेद है। २ × २ = ४ भेद

२. स्थलचर — इसके चतुष्पद, उरपरिसर्प व भुजपरिसर्प तीन भेद है। तीनो के गर्भज व समूर्च्छिम दो-दो भेद है। इनमे से प्रत्येक के पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो-दो भेद है—३ × २ × २ = १२ भेद है।

३. खेचर — गर्भज व समूर्च्छिम द्विविध है। पर्याप्ता अपर्याप्ता के भेद से प्रत्येक के दो-दो भेद है २ × २ = ४ भेद।

कुल मिलाने से ४ + १२ + ४ = २० भेद हुए।

पञ्चेन्द्रिय मनुष्य—

	उत्कृष्ट अवगाहना	**जघन्य अवगाहना**
१ मनुष्य (गर्भज पर्याप्ता)	३ कोस	अगुल
२ मनुष्य (सम्मूर्च्छिम) तथा सभी	अगुल का	का
अपर्याप्ता की अवगाहना	असख्यातवा भाग	असख्यातवा भाग है।

पूर्वोक्त अवगाहना **प्रज्ञापनासूत्र** के अवगाहना-सस्थानपद के अनुसार कही गई है।

प्रश्न—प्रत्येक वनस्पतिकाय के शरीर का परिमाण साधिक एक हजार योजन का है। इनके शरीर का माप 'उस्सेहपमाणओ मिणसु देह' इस आगम वचन के अनुसार उत्सेधागुल से किया जाता है तथा जहाँ ये वनस्पतियाँ उत्पन्न होती है उन समुद्र, पद्मद्रह आदि का माप प्रमाणागुल से माना जाता है। ऐसी स्थिति मे प्रमाणागुल से एक हजार योजन गहरे समुद्र, पद्मद्रह आदि मे उत्पन्न होने वाले कमलनाल आदि की लबाई उत्सेधागुल की अपेक्षा से बहुत अधिक (१००० योजन से बहुत अधिक) होगी क्योंकि

उत्सेधागुल से प्रमाणागुल बहुत अधिक बडा है। अत प्रत्येक वनस्पति की उत्सेधागुल से साधिक एक हजार योजन की अवगाहना कैसे घटित होगी।

उत्तर—पूर्वोक्त दोष यहाँ नही होगा, क्योकि उत्सेधागुल से साधिक एक हजार योजन की ऊँचाई वाले कमल आदि, 'परमाणु रहरेणू' इत्यादि क्रम से निष्पन्न उत्सेधागुल से एक हजार योजन गहरे जो समुद्र गोतीर्थ आदि मनुष्य लोक मे है, उन्ही मे उत्पन्न होते है। किन्तु प्रमाणागुल से एक हजार योजन गहरे समुद्र, पद्मद्रह आदि मे जो कमल उत्पन्न होते है वे पृथ्वी के विकार रूप है। साराश यह है कि—प्रमाणागुल से एक हजार योजन गहरे समुद्र आदि मे होने वाले कमल पृथ्विकायरूप है जैसे, पद्मसरोवर मे लक्ष्मीदेवी का कमल है। किन्तु अन्य गोतीर्थ आदि मे जो कमल है वे वनस्पति रूप है। पूर्वोक्त शरीर परिमाण उन्ही की अपेक्षा से है। क्योकि वहाँ लता आदि भी साधिक एक हजार योजन लबी होती है।

विशेषणवती ग्रन्थ मे भी कहा है कि—लक्ष्मीदेवी का निवासरूप कमल पृथ्वी-परिणामं रूप है, किन्तु गोतीर्थ आदि मे उत्पन्न होने वाले कमल वनस्पतिरूप है। उत्सेधागुल से एक हजार योजन गहरे शेष जलाशयो मे उत्पन्न होने वाली लताये भी लबाई की अपेक्षा एक हजार योजन की होती है।

यहाँ पृथ्वीकाय आदि का देहमान जघन्य और उत्कृष्ट दोनो ही अगुल का असख्यातवा भाग बताया है, किन्तु जघन्य से उत्कृष्ट असखयातवा भाग असख्यात गुण अधिक होता है, क्योकि असख्यात के भी असख्यात प्रकार है। जैसे सूक्ष्म साधारण वनस्पति के असख्यात शरीर = सूक्ष्म वायुकाय का शरीर।

- अर्थात् वायुकाय के शरीर का प्रमाप रूप अगुल का असख्यातवा भाग इतना बडा है कि उसमे सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय के असख्यात शरीर का समावेश हो जाता है। आगे भी इसी तरह समझना है।

सूक्ष्म वनस्पतिकाय के शरीर से असख्यात गुण अधिक बडा	=	सूक्ष्म तेउकाय का शरीर है।
सूक्ष्म तेउकाय के शरीर से असख्यात गुण अधिक	=	सूक्ष्म अप्काय का शरीर है।
सूक्ष्म अप्काय के शरीर से असखयात गुण अधिक	=	सूक्ष्म पृथ्वीकाय का शरीर है।
सूक्ष्म पृथ्वीकाय के शरीर से असख्यात गुण अधिक	=	बादर वायुकाय का शरीर है।
बादर वायुकाय के शरीर से असख्यात गुण अधिक	=	बादर अग्निकाय का शरीर है।
बादर अग्निकाय के शरीर से असख्यात गुण अधिक	=	बादर अप्काय का शरीर है।
बादर अप्काय के शरीर से असख्यात गुण अधिक	=	बादर पृथ्वीकाय का शरीर है।
बादर पृथ्वीकाय के शरीर से असख्यात गुण अधिक	=	बादर निगोद का शरीर है।

वनस्पति के जीव अनन्त है, किन्तु उनके शरीर असख्याता है, कारण एक से लेकर असख्यात शरीर मे वनस्पति के अनत जीव रहते है ॥१०९९-११०४॥

१८८ द्वार :

इन्द्रिय-स्वरूप—

कायबपुप्फगोलय मसूर अइमुत्तयस्स कुसुम च।
सोय चक्खू घाण खुरप्पपरिसठिअ रसण ॥११०५ ॥
नाणागारं फासिदियं तु बाहल्लओ य सव्वाइ।
अंगुलअसखभाग एमेव पुहुत्तओ नवर ॥११०६ ॥
अगुलपुहुत्त रसण फरिस तु सरीरवित्थड भणिय।
बारसहि जोयणेहि सोय परिगिण्हए सद्दं ॥११०७ ॥
रूव गिण्हइ चक्खू जोयणलक्खाओ साइरेगाओ।
गध रस च फास जोयणनवगाउ सेसाणि ॥११०८ ॥
अगुलअसखभागा मुणंति विसय जहन्नओ मोत्तुं।
चक्खु त पुण जाणइ अगुलसंखिज्जभागाओ ॥११०९ ॥

—गाथार्थ—

इन्द्रियो का स्वरूप तथा विषयग्रहण—कदंब पुष्प के गोलक के आकार वाले कान, मसूर के समान ऑख, शिरीष पुष्प के समान नाक, खुरपे जैसी जीभ तथा स्पर्शेन्द्रिय विभिन्न आकृति की होती है। सभी इन्द्रियॉ अगुल के असंख्यातवें भाग जितनी मोटी एव चौडी होती है ॥११०५-०६ ॥

रसनेन्द्रिय अंगुलपृथक्त्व विस्तार वाली है। स्पर्शेन्द्रिय शरीर परिमाण विस्तृत है। श्रोत्रेन्द्रिय बारह योजन से आगत शब्द ग्रहण कर सकती है। ऑख साधिक लाख योजन दूरस्थ रूप को ग्रहण कर सकती है। शेष इन्द्रियॉ अपने विषय रूप रस, गध एव स्पर्श को नौ योजन दूर से ग्रहण कर सकती है ॥११०७-०८ ॥

ऑख को छोडकर शेष चार इन्द्रियॉ जघन्य से अगुल के असंख्यातवे भाग की दूरी पर स्थित स्व-स्व विषयो को ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय अगुल के सख्यातवे भाग की दूरी पर स्थित अपने विषय को ग्रहण करती है ॥११०९ ॥

—विवेचन—

इन्द्र = 'इदि' ऐश्वये धातु से वना है। अर्थात् जो ज्ञानादि अनत ऐश्वर्य से युक्त है वह इन्द्र है। प्रत्येक जीव तीन लोक के ऐश्वर्य से सपन्न होता है। इसलिये उसे इन्द्र कहते हैं। इन्द्र-जीव जिस चिह्न से पहचाना जाये, उसे इन्द्रिय कहते है। यह इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति है।

जिससे अपने विषय का ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते है। यह इन्द्रिय की परिभाषा है। इसके मुख्य पॉच भेद है—

१. स्पर्शनेन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है वह स्पर्शन-इन्द्रिय—त्वचा।
२. रसनेन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है वह है रसन-इन्द्रिय—जीभ।
३. घ्राणेन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से गध का ज्ञान होता है वह है घ्राण-इन्द्रिय—नाक।
४. चक्षुरिन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है वह है चक्षु-इन्द्रिय—ऑख।
५. श्रोत्रेन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है वह है श्रोत्र-इन्द्रिय—कान।

इन्द्रिय के दो भेद है—

१. द्रव्येन्द्रिय — नाक, कान आदि इन्द्रियो की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना (आकार विशेष) को द्रव्येन्द्रिय कहते है।
२. भावेन्द्रिय — आत्मा के क्षयोपशम विशेष को भावेन्द्रिय कहते है।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद है—निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

इन्द्रिय की आकार रचना को निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय कहते है। आकार भी दो प्रकार के है—(i) बाह्य और (ii) आभ्यतर

(i) बाह्य निर्वृत्ति — ऑख, कान आदि इन्द्रियो का बाह्य आकार। भिन-भिन्न जीवो की अपेक्षा इन्द्रियो का आकार भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरणार्थ मनुष्य के कान लबे-गोल व सीप के आकार के होते है। किन्तु घोडे के कान नीचे से चौडे और ऊपर की ओर जाते-जाते एकदम पतले व तीखे होते है।

(ii) आभ्यंतर निर्वृत्ति — ऑख, कान आदि इन्द्रियो के बाह्य आकारो के भीतर मे स्थित, स्वच्छतर पुद्गलो की रचना। इन्द्रियो का आभ्यतर आकार निम्न है। जैसे—

- श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यतर आकार कदब के फूल जैसा है।
- चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा है।
- घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्तक पुष्प जैसा है।
- रसनेन्द्रिय का खुरपे जैसा है।
- स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का होता है क्योकि जीवो के शरीर का आकार अलग-अलग है। यही कारण है कि स्पर्शन-इन्द्रिय के बाह्य-आभ्यतर दो भेद नही होते क्योकि उसका आभ्यतर आकार, बाह्य आकार के समान ही होता है।

(२) उपकरण द्रव्येन्द्रिय — आभ्यतर निर्वृत्ति के भीतर रहने वाली अपने-अपने विषय को ग्राहक पौद्गलिक शक्ति विशेष उपकरण द्रव्येन्द्रिय है।

प्रश्न—आभ्यतर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय मे क्या भेद है।

उत्तर—आभ्यतर निर्वृत्ति है इन्द्रियो की भीतरी पौद्गलिक सरचना और उपकरण है उसके भीतर विद्यमान अपने-अपने विषयो को ग्रहण करने वाली पौद्गलिक शक्ति। वात, पित्त आदि से उपकरण

द्रव्येन्द्रिय का नाश हो जाने पर मात्र आभ्यतर द्रव्येन्द्रिय से विषयो का ग्रहण नही होता। उदाहरणार्थ—बाह्यनिर्वृत्ति है तलवार, आभ्यतर निर्वृत्ति है तलवार की धार और उपकरण है तलवार की छेदन-भेदन शक्ति।

उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय और आभ्यतर निर्वृत्ति अपेक्षा भेद से भिन्न और अभिन्न दोनो है। भिन्न इस दृष्टि से है कि आभ्यतर निर्वृत्ति इन्द्रिय का सद्भाव होने पर भी यदि उपकरण इन्द्रिय आहत हो जाती है तो विषय का ज्ञान नही होता है। अभिन्न इस दृष्टि से है कि उपकरण इन्द्रिय, आभ्यतर निर्वृत्ति इन्द्रिय की शक्ति रूप है और शक्ति व शक्तिमान के मध्य अभेद सम्बन्ध होता है।

भावेन्द्रिय के दो भेद है—

(१) लब्धि-भावेन्द्रिय — इन्द्रियो से सबद्ध ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम लब्धि भावेन्द्रिय है।

(२) उपयोग-भावेन्द्रिय — ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति की प्रवृत्ति को उपयोग भावेन्द्रिय कहते है।

नाम	विस्तार	जघन्य विषयमान	उत्कृष्ट विषयमान
१ श्रोत्र	अगुल का असख्यातवा भाग	अगुल के असख्यातवे भाग की दूरी से आगत शब्द	१२ योजन से आगत शब्द
२ चक्षु	अगुल का असख्यातवा भाग	अगुल के सख्यातवे भाग की दूरी पर स्थित रूप	साधिक १ लाख योजन मे स्थित रूप
३ घ्राण	अगुल का असख्यातवा भाग	अगुल के असख्यातवे भाग से आगत गध को	९ योजन से आगत गध को
४ रसन	२ से ९ अगुल	रस को, स्पर्श को	रस को तथा स्पर्श को ग्रहण
५ स्पर्शन	स्व-शरीर प्रमाण	ग्रहण करती है।	करती है।

- श्रोत्र, चक्षु, घ्राण व रसन इन चारो इन्द्रियो का विस्तार आत्मागुल से तथा स्पर्शनिन्द्रिय का विस्तार उत्सेधागुल से मापा जाता है। यदि अन्य इन्द्रियां का विस्तार भी उत्सेधागुल से ही लिया जाये तो तीन कोस की अवगाहना वाले मनुष्यो को तथा छ कोस की अवगाहना वाले हाथियो को विषय का ज्ञान नही होगा। जीभ शरीर के अनुपात मे होती ह तभी वह अपने विषय को ग्रहण कर सकती है। यदि उसका प्रमाण उत्सेधागुल से माना जाये तो जीभ शरीर की अपेक्षा अतिअल्प होगी और इतने अल्प प्रमाणवाली जीभ अपने विषय का ज्ञान करने मे समर्थ नही हो सकती। अत पूर्वोक्त चारो इन्द्रियो का विस्तार आत्मागुल मे ही लिया जाता है। परन्तु विषयग्रहण का परिमाप सभी इन्द्रियो का आत्मागुल से ही समझना चाहिये।
- श्रोत्रेन्द्रिय अधिक से अधिक १२ योजन दूर से आये हुए मेघ आदि के शब्द को ग्रहण कर सकती है। इससे अधिक दूर का नहीं। इससे अधिक दूर से आगत शब्द कमजोर हो जाने से इन्द्रिय ग्राह्य नही बनता।

- 'चक्षुरिन्द्रिय १ लाख योजन से अधिक दूर रहे हुए विषय को ग्रहण करती है' यह कथन निस्तेज पदार्थों की अपेक्षा से है। तेजस्वी चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थ तो प्रमाणागुल से निष्पन्न २१ लाख योजन की दूरी से भी ग्राह्य होते है। जैसे पुष्करवरद्वीप के निवासी मनुष्य (मानुषोत्तर पर्वत के निकटवर्ती) कर्क सक्रान्ति के दिन २१३४५३७ योजन दूर से उदय-अस्त होते हुए सूर्य को देख सकते है।
- घ्राण-रसन व स्पर्शन ९ योजन दूर स्थित विषय को ही ग्रहण कर सकते है। इससे अधिक दूरस्थ को नही।
- चक्षुरिन्द्रिय जघन्य से आत्मागुल के सख्यातवे भाग प्रमाण दूर रहे हुए विषय को ही ग्रहण कर सकती है। इससे अधिक समीपस्थ को नही। कारण, चक्षु अप्राप्यकारी होने से असयुक्त विषय को ही ग्रहण कर सकती है। अत्यन्त सयुक्त काजल आदि का ज्ञान नही कर सकती। अन्यथा इनका भी ज्ञान होने लगेगा।

प्रश्न—स्पर्शनेन्द्रिय की जाडाई उत्सेधागुल के असख्यातवे भाग प्रमाण है तो शरीर पर लगे हुए तलवार आदि के घाव की वेदना जो भीतर तक होती है, वह किस प्रकार घटित होगी?

उत्तर—यह प्रश्न वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही उठा है। अन्यथा नही उठता। वस्तुत स्पर्शनेन्द्रिय का विषय शीत, उष्ण आदि स्पर्श है। न कि वेदना का अनुभव। तलवार के घात से भीतर शरीर मे जो वेदना होती है, वह शीतादि स्पर्शजन्य नहीं है, जो कि त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य हो। वह दु खानुभव रूप है, जिसे आत्मा अपनी समग्र चेतना से अनुभव करता है। किसी भी शारीरिक वेदना को जीव अपनी समग्र चेतना से ही अनुभव करता है। यही कारण है कि शरीर के किसी एक अग मे पीडा होने पर सम्पूर्ण शरीर मे पीडा का अनुभव होता है।

प्रश्न—शीतल पेय-पदार्थ का पान करते समय भीतर जो शीतलता का अनुभव होता है, वह कैसे घटेगा?

उत्तर—स्पर्शनेन्द्रिय की जाडाई पूर्वोक्त है, किंतु शीतलता के अनुभव का कारण अन्य है। केवल बाह्य चमडी ही त्वगिन्द्रिय नही कहलाती किन्तु शरीर के भीतर की चमडी भी स्पर्शेन्द्रिय कहलाती है। स्पर्शेन्द्रिय शरीरव्यापी है। यही कारण है कि शीतल जलादि पीते समय भीतर मे शीतलता का अनुभव होता है ॥११०५-११०९॥

१८९ द्वार : जीवों में लेश्या—

पुढवीआउवणस्सइबायरपत्तेसु लेस चत्तारि।
गब्भे तिरियनरेसुं छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥१११०॥

—गाथार्थ—

जीवो की लेश्या—**बादर पृथ्विकाय, बादर अप्काय, बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय में चार लेश्याये है। गर्भज तिर्यच और मनुष्य में छ. लेश्याये होती है तथा शेष जीवों में तीन लेश्यायें है ॥१११० ॥**

—विवेचन—

१. बादर पर्याप्ता पृथ्वीकाय मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजो चार लेश्याये है।

२ बादर पर्याप्ता अप्काय मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजो चार लेश्याये है।

३ प्रत्येक पर्याप्ता वनस्पति मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजो चार लेश्याये है—

४ बादर पर्याप्ता तेउकाय मे—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्याये है।

५ बादर पर्याप्ता वायुकाय मे —कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्याये है।

६ पॉच सूक्ष्म स्थावर के पर्याप्ता, अपर्याप्ता मे—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्याये है।

७ पॉच बादर स्थावर के अपर्याप्ता और साधारण वनस्पतिकाय मे—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्याये है।

८ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मे—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्याये है।

९ सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय, तिर्यच और मनुष्य मे—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्याये है।

१० गर्भज तिर्यच और मनुष्य मे—छ लेश्याये है।

प्रश्न—बादर पर्याप्ता पृथ्वी आदि मे तेजो लेश्या कैसे सभव होगी ?

उत्तर—ईशान देवलोक तक के देवता मर कर बादर पर्याप्ता पृथ्वी, पानी और वनस्पति मे उत्पन्न होते है। देव और नारकी के लिये यह नियम है कि वे स्वभव सम्बन्धी लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहने पर दूसरे भव मे जाते है, इस कारण बादर पर्याप्त पृथ्वी आदि मे उत्पन्न होने वाले देव-देवभव सम्बन्धी तेजो लेश्या लेकर आते है। आगम मे कहा है कि—जिन लेश्या द्रव्यो को लेकर जीव मरता है, उत्पन्न होते समय उसकी वही लेश्या होती है। तिर्यच व मुनष्य आगामी भवसवधी लेश्या परिणाम आ जाने के अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् मरते है और देव नारक स्वभव सम्बन्धी लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहने पर मरते है। अत तिर्यच व मनुष्य मे मरने के बाद पूर्वभव सम्वन्धी लेश्या नहीं होती। जबकि देव-नरक के जीवो मे मरने के बाद पूर्व भव सम्बन्धी लेश्याये अन्तर्मुहूर्त्त तक रहती है।

लेश्या की स्थिति—

नाम	जघन्य	उत्कृष्ट
१ कृष्ण लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
२ नील लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
३ कापोत लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
४ तेजो लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
५ पद्म लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्न

६. शुक्ल लेश्या	अन्तर्मुहूर्त	नौ वर्ष न्यून पूर्व क्रोड-वर्ष

- पूर्व क्रोड वर्ष की आयु वाले आत्मा जो आठ वर्ष की उम्र में दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त करते है उनकी अपेक्षा से शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून पूर्व क्रोड वर्ष की है। शुक्ल लेश्या की स्थिति पूर्वोक्त स्थिति से अधिक नही हो सकती। कारण सयम की स्थिति इतनी ही है। अन्य आत्माओ की अपेक्षा शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही है ॥१११० ॥

१९० द्वार :

गति—

एगेंदियजीवा जंति नरतिरिच्छेसु जुयलवज्जेसु ।
अमणतिरियावि एवं नरयमिवि जंति मे पढमे ॥११११ ॥
तह संमुच्छिमतिरिया भवणाहिववंतरेसु गच्छंति ।
जं तेसिं उववाओ पलियासखेज्जआऊसुं ॥१११२ ॥
पंचिंदियतिरियाणं उववाउक्कोसओ सहस्सारे ।
नरएसु समग्गेसुवि वियला अजुयलतिरिनरेसु ॥१११३ ॥
नरतिरिअसखजीवी जोइसवज्जेसु जंति देवेसु ।
नियआउयसमहीणाउएसु ईसाण अतेसु ॥१११४ ॥
उववाओ तावसाण उक्कोसेण तु जाव जोइसिया ।
जावंति बभलोगो चरगपरिव्वायउववाओ ॥१११५ ॥
जिणवयउक्किकट्ठतवकिरियाहि अभव्वभव्वजीवाण ।
गेविज्जेसुक्कोसा गई जहन्ना भवणवईसु ॥१११६ ॥
छउमत्थसंजयाण उववाउक्कोसओ उ सव्वट्ठे ।
उववाओ सावयाणं उक्कोसेणऽच्चुओ जाव ॥१११७ ॥
उववाओ लंतगंमि चउदसपुव्विस्स होइ उ जहन्नो ।
उक्कोसो सव्वट्ठे सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१११८ ॥
अविराहियसामन्नस्स साहुणो सावयस्सऽवि जहन्नो ।
सोहम्मे उववाओ वयभंगे वणयराईसु ॥१११९ ॥

सेसाण तवसाईण जहन्नओ वतरेसु उववाओ।
भणिओ जिणेहि सो पुण नियकिरियठियाण विन्नेओ ॥११२० ॥

—गाथार्थ—

एकेन्द्रिय आदि की गति—एकेन्द्रिय जीव अयुगलिक मनुष्य-तिर्यच मे जाते है। असज्ञी तिर्यच अयुगलिक मनुष्य, तिर्यच एव प्रथम नरक मे जाते है। संमूर्च्छिम तिर्यच भवनपति और व्यन्तर मे जाते है। वहाँ उनकी उत्पत्ति पल्योपम के असंख्यातवे भाग की आयु वालो मे ही होती है॥१११९-१२ ॥

उत्कृष्टत. पञ्चेन्द्रिय तिर्यच सहस्रार देवलोक तक जाते है तथा नीचे सातवी नरक तक जाते है। विकलेन्द्रिय जीव अयुगलिक मनुष्य और तिर्यच मे उत्पन्न होते है॥१११३ ॥

असंख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य-तिर्यच, ज्योतिष् देवो को छोडकर, समान अथवा हीन आयु वाले ईशानदेवलोक में देव बनते है॥१११४॥

उत्कृष्टत तापस ज्योतिष् देव तक जाते है। चरक और परिव्राजक ब्रह्मदेवलोक तक उत्पन्न होते है॥१११५॥

जिनेश्वर देव के द्वारा कथित व्रत, उत्कृष्ट तप-क्रिया के द्वारा भव्य और अभव्य जीव उत्कृष्टत ग्रैवेयक तक तथा जघन्यत भवनपति मे जाते है॥१११६ ॥

छद्मस्थ मुनिओं की गति उत्कृष्टत सर्वार्थसिद्ध विमान है एव श्रावको की उत्कृष्ट गति अच्युत देवलोक की है॥१११७॥

जघन्यत चौदह पूर्वधरो की गति लांतक देवलोक तथा उत्कृष्ट गति सर्वार्थसिद्ध विमान की है। कर्मक्षय होने पर मोक्ष भी जाते है॥१११८॥

अविराधक साधु एव श्रावक जघन्यत सौधर्मदेवलोक मे उत्पन्न होते है। व्रतभग होने पर व्यन्तर आदि मे भी जाते है॥१११९॥

शेष तापस आदि की जघन्य गति व्यन्तरदेव की है। पूर्वोक्त गतियाँ अपने-अपने आचार का पालन करने मे उपयुक्त आत्माओं की अपेक्षा से जिनेश्वर देवो ने कही है॥११२०॥

—विवेचन—

१ पृथ्वी, अप्, वनस्पति मरकर सख्याता आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यच मे जाते है। तेउ-वायु मरकर मनुष्य मे नही जाते। कहा है कि सातवी नरक के नैरइये, तेउ, वायु तथा असख्याता वर्ष की आयु वाले नर-तिर्यच मरकर मनुष्य नही बनते।

२ असज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यच मरकर सख्याता आयुष्य वाले नर-तिर्यच मे तथा प्रथम नरक, भवनपति और व्यन्तर मे जाते है। इससे आगे नही जा सकते, कारण ये जीव उत्कृष्ट से भी पल्योपम के असख्यातवे भाग की आयु वाले देव मे तथा नरक मे ही जाते हैं।

३. सख्यातावर्ष की आयु वाले सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यच मरकर चारो गति मे उत्पन्न होते है। देव मे इनका उपपात आठवे सहस्रार देवलोक तक ही होता है।

४. विकलेन्द्रिय, मरकर सख्याता वर्ष वाले मनुष्य और तिर्यच मे ही जाते है।

५. युगलिक खेचर व अन्तर्द्वीप मे उत्पन्न होने वाले नर-तिर्यच, इन का नियम है कि वे मरकर अपनी स्थिति से समान अथवा हीन स्थिति वाले देव मे ही उत्पन्न होते है। अत भवनपति और व्यन्तर मे ही उत्पन्न होते है। कारण ऊपर के देवो की जघन्य स्थिति भी इनकी उत्कृष्ट स्थिति से अधिक होती है। युगलिक खेचर व अन्तर द्वीप मे उत्पन्न नर-तिर्यचो की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असख्यातवा भाग मात्र है, जबकि ज्योतिष्, सौधर्म व ईशान देवलोक की जघन्य स्थिति क्रमश पल्योपम का आठवा भाग तथा एक पल्योपम है।

६ तीस अकर्मभूमि एव सुषम-सुषमादि तीनो आरो के भरत-ऐरवत क्षेत्रवर्ती युगलिक नर-तिर्यच मरकर ईशान देवलोक तक जाते है क्योकि ऊपर के देवो की जघन्य स्थिति दो सागर की है जबकि इन युगलिको की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम से अधिक नही होती ॥१११-१११४॥

७ तापस अर्थात् वनवासी, कन्द-मूल फलाहारी बालतपस्वी मरकर उत्कृष्ट रूप से ज्योतिष देवलोक तक जाते है। सामान्यत चारो गति मे जाते है।

८. चरक-परिव्राजक मरकर उत्कृष्ट से ब्रह्मलोक तक जाते है। भिक्षा से जीवन निर्वाह करने वाले त्रिदण्डी, चरक परिव्राजक कहलाते हैं। सामान्यत चारो गति मे जाते है।

परिव्राजक = कपिल मुनि के अनुयायी और चरक = मात्र लगोटधारी ॥१११५॥

९ मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य श्रमण, उत्कृष्ट से ग्रैवेयक तक (सम्यक्त्व व चारित्र के भाव से शून्य होने पर भी क्रिया के प्रभाव से ग्रैवेयक तक) जाते है। जघन्य से भवनपति मे जाते है। यह देव गति की अपेक्षा से समझना। अन्यथा तो यथाध्यवसाय अन्य गतियो मे भी जाते है ॥१११६॥

१०. अविराधक छद्मस्थ सयत, उत्कृष्ट से सर्वार्थसिद्ध तक तथा जघन्य से सौधर्म देवलोक तक जाते है।

११ अविराधक देशविरति श्रावक, उत्कृष्ट से बारहवे देवलोक तक, जघन्य से सौधर्म देवलोक तक जाते है।

- जिसने सयम और व्रतो का पालन अखड रूप से किया हो, ऐसे साधु व श्रावक की जघन्य स्थिति क्रमश २ से ९ पल्योपम व एक पल्योपम की है ॥१११७॥

१२. चौदह पूर्वी, उत्कृष्टत सर्वार्थसिद्ध तक व जघन्यत लान्तक देवलोक तक जाते हैं।

१३ क्षीणकर्मा चौदहपूर्वी व अन्य मनुष्य, सिद्धिगति मे जाते हैं ॥१११८॥

१४ विराधक साधु व श्रावक, जघन्य से भवनपति तक जाते हैं ॥१११९॥

- तापस, चरक, परिव्राजक आदि जघन्यत व्यन्तर मे जाते हैं।
- प्रज्ञापना के अनुसार तापस आदि का जघन्यत उपपात भवनपति मे होता हैं। विराधक साधु

जघन्य से भवनपति मे व उत्कृष्ट से सौधर्म देवलोक मे जाते है तथा श्रावक जघन्य से भवनपति मे व उत्कृष्ट से ज्योतिषी मे जाते है। सख्याता वर्ष की आयुष्य वाले गर्भज पर्याप्ता मनुष्य चारो गति मे जाते है। गर्भज अपर्याप्ता और समूर्च्छिम मनुष्य मरकर अयुगलिक नर-तिर्यच मे जाते है।

पूर्वोक्त गति अपने-अपने शास्त्र मे विहित आचार का पालन करने वाले जीवो की ही समझना। आचारहीन जीवो की तो अन्य गतियाँ भी हो सकती है ॥११२० ॥

१९१ द्वार : आगति—

नेरइयजुयलवज्जा एगिंदिसु इंति अवरगइजीवा।
विगलत्तेणं पुण ते हवति अनिरय अमरजुयला ॥११२१ ॥
हुति हु अमणतिरिच्छा नरतिरिया जुयलधम्मिए मोत्तु।
गब्भचउप्पयभाव पावति अजुयलचउगइया ॥११२२ ॥
नेरइया अमरावि य तेरिच्छा माणवा य जायति।
मणुयत्तेणं वज्जित्तु जुयलधम्मियनरतिरिच्छा ॥११२३ ॥

—गाथार्थ—

एकेन्द्रियादि की आगति—नरक के जीव और युगलिकों को छोडकर शेष गति के जीव एकेन्द्रिय में जाते है। नरक के जीव, देव एवं युगलिकों को छोड़कर शेष जीव विकलेन्द्रिय में जाते है ॥११२१ ॥

युगलिक मनुष्य-तिर्यचों को छोड़कर शेष मनुष्य-तिर्यच असज्ञी तिर्यच मे जाते है। युगलिको को छोड़कर चारों गति के जीव गर्भज चतुष्पद मे उत्पन्न होते है ॥११२२ ॥

नारक, देव तथा अयुगलिक मनुष्य-तिर्यच मरकर गर्भज मनुष्य मे उत्पन्न होते है ॥११२३ ॥

—विवेचन—

१ विकलेन्द्रिय मे पॉच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, सख्याता वर्ष की आयु वाले तिर्यच व मनुष्य उत्पन्न होते है।

२ असज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यच व मनुष्य मे सख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य व तिर्यच उत्पन्न होते है।

३ गर्भज चतुष्पद मे युगलिक नर-तिर्यच को छोडकर चारो ही गति के शेष जीव उत्पन्न होते है, देवता सहस्रार तक के ही लेना, कारण इससे ऊपर के देव केवल मनुष्य मे ही उत्पन्न होते है।

४ गर्भज तिर्यच पञ्चेन्द्रिय की आगति भी पूर्ववत् समझना। 'जीवाभिगम' आदि आगमो मे पूर्वोक्त चारो गति के जीवो का उत्पाद जलचरादि मे भी बताया है।

५ एकेन्द्रिय मे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सख्याता वर्ष की आयुष्य वाले पञ्चेन्द्रिय मनुष्य व तिर्यच और ईशान देवलोक तक के देवता उत्पन्न होते है। (देवता तेउ, वाउ को छोडकर मात्र बादर पर्याप्ता, पृथ्वी, अप् और वनस्पति मे ही उत्पन्न होते है (तथा स्वभाव से)।

६. सख्याता वर्ष की आयु वाले गर्भज पर्याप्ता मनुष्य मे नारक, देव अयुगलिक मनुष्य व तिर्यच उत्पन्न होते है। सातवी नरक के नारक तथा तेउकाय के जीवो को छोडकर समझना चाहिये।

७ सख्याता आयुष्य वाले गर्भज पर्याप्ता तिर्यच मे देवता, नारकी और अयुगलिक नर तिर्यच आते है (देवता ८वे देवलोक तक ही लेना) ॥११२१-२३ ॥

१९२-१९३ द्वार : विरहकाल-संख्या—

भिन्नमुहूत्तो विगलेदियाण समुच्छिमाण य तहेव।
बारस मुहुत्त गब्भे सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥११२४ ॥
उव्वट्टणावि एवं संखा समएण सुरवरुत्तुल्ला।
नरतिरियसंख सव्वेसु जंति सुरनारया गब्भे ॥११२५ ॥
बारस मुहुत्त गब्भे मुहुत्त सम्मुच्छिमेसु चउवीसं।
उक्कोस विरहकालो दोसुवि य जहन्नओ समओ ॥११२६ ॥
एमेव य उव्वट्टणसखा समएण सुरवरुत्तुल्ला।
मणुएसुं उववज्जेऽसखाउय मोत्तु सेसाओ ॥११२७ ॥

—गाथार्थ—

उत्पत्ति-मरण का विरहकाल एव सख्या—विकलेन्द्रिय तथा संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय की उत्पत्ति का उत्कृष्ट विरहकाल अन्तर्मुहूर्त्त का है। गर्भज पञ्चेन्द्रिय की उत्पत्ति का उत्कृष्ट विरहकाल बारह मुहूर्त्त का है। पूर्वोक्त सभी का जघन्य विरहकाल एक समय का है ॥११२४ ॥

मरण का विरहकाल उपपात के विरहकाल के तुल्य समझना। इनकी संख्या देवतुल्य समझना। संख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यच सभी गतियो में जाते है। देव और नारक गर्भज में उत्पन्न होते है ॥११२५ ॥

गर्भज मनुष्य एवं संमूर्च्छिम मनुष्य का उत्कृष्ट विरहकाल क्रमश बारह मुहूर्त्त तथा चौबीस मुहूर्त्त का है। दोनों का जघन्य विरहकाल एक समय का है। पूर्वोक्त जीवों की एक समय में उत्पत्ति-मरण की सख्या देवों के तुल्य समझना। असंख्यवर्ष की आयु वालों को छोड़कर शेष सभी जीव मनुष्य में उत्पन्न होते है ॥११२६-२७ ॥

—विवेचन—

जीव	उत्कृष्ट	जघन्य
१ विकलेन्द्रिय, असज्ञी-तिर्यच-पञ्चेन्द्रिय का	अन्तर्मुहूर्त्त	एक समय
२ गर्भज-तिर्यच पञ्चेन्द्रिय व गर्भज मनुष्य का	१२ मुहूर्त्त	एक समय
३. समूर्च्छिम मनुष्य का	२४ मुहूर्त्त	एक समय

- पूर्वोक्त जीवो का मृत्यु-विरह, जन्म-विरह की तरह जानना ॥११२४ ॥

विकलेन्द्रिय, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यच, सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यच, एक समय मे १-२-३ यावत् सख्याता-असख्याता जन्मते है और मरते है। यहाँ असख्याता, गर्भज व सम्मूर्च्छिम दोनो को मिलाकर समझना चाहिये ॥११२५-२७ ॥

१९४ द्वार : स्थिति—

भवणवइवाणमतरजोइसियविमाणवासिणो देवा।
दस अट्ठ पच छव्वीस सखजुत्ता कमेण इमे ॥११२८ ॥
असुरा नागा विज्जू सुवन्न अग्गी य वाउ थणिया य।
उदही दीव दिसाविय दस भेया भवणवासीण ॥११२९ ॥
पिसाय भूया जक्खा य रक्खसा किन्नरा य किपुरिसा।
महोरगा य गधव्वा अट्ठविहा वाणमतरिया ॥११३० ॥
अणपन्निय पणपन्निय इसिवाइय भूयवाइए चेव।
कदिय तह महकदिय कोहडे चेव पयगे य ॥११३१ ॥
इय पढमजोयणसए रयणाए अट्ठ वतरा अवरे।
तेसु इह सोलसिदा रुयगअहो दाहिणुत्तरओ ॥११३२ ॥
चंदा सूरा य गहा नक्खत्ता तारया य पच इमे।
एगे चलजोइसिया घटायारा थिरा अवरे ॥११३३ ॥
सोहंमीसाण सणकुमार माहिद बभलोयभिहा।
लतय सुक्क सहस्सार आणयप्पाणया कप्पा ॥११३४ ॥
तह आरण अच्चुया विहु इण्हि गेविज्जवरविमाणाइ।
पढमं सुदरिसणं तह विईयं सुप्पवुद्धति ॥११३५ ॥

तइयं मणोरमं तह विसालनामं च सव्वओभद्द ।
सोमणसं सोमाणस महपीइकरं च आइच्चं ॥११३६ ॥
विजयं च वेजयंतं जयंतमपराजियं च सव्वट्ठं ।
एयमणुत्तरपणगं एएसिं चउव्विहसुराणं ॥११३७ ॥
चमरबलि सारमहियं सेसाण सुराण आउयं वोच्छं ।
दाहिणदिवड्ढपलिय दो देसूणुत्तरिल्लाणं ॥११३८ ॥
अद्धुट्ठ अद्धपचमपलिओवम असुरजुयलदेवीणं ।
सेसवणदेवयाण य देसूणद्धपलियमुक्कोसं ॥११३९ ॥
दसभवणवणयराणं वाससहस्सा ठिई जहण्णेणं ।
पलिओवममुक्कोसं वंतरियाणं वियाणिज्जा ॥११४० ॥
पलियं सवरिसलक्ख ससीण पलिय खीणससहस्सं ।
गहणक्खत्तताराण पलियमद्धं च चउब्भागो ॥११४१ ॥
तद्देवीणवि तट्ठिइअद्धं अहियं तमंतदेविदुगे ।
पाओ जहन्नमट्ठसु तारयतारीणमट्ठंसो ॥११४२ ॥
दो साहि सत्त साहिय दस चउदस सत्तरेव अयराइं ।
सोहम्मा जा सुक्को तदुवरि एक्केक्कमारोवे ॥११४३ ॥
तेत्तीसऽयरुक्कोसा विजयाइसु ठिइ जहन्न इगतीसं ।
अजहन्नमणुक्कोसा सव्वट्ठे अयर तेत्तीसं ॥११४४ ॥
पलियं अहियं सोहंमीसाणेसुं तओऽहकप्पठिई ।
उवरिल्लंमि जहन्ना कमेण जावेक्कतीसऽयरा ॥११४५ ॥
सपरिग्गहेयराणं सोहंमीसाण पलियसाहीयं ।
उक्कोस सत्त वन्ना नव पणपन्ना य देवीणं ॥११४६ ॥

—गाथार्थ—

भवनपति-व्यतर-ज्योतिषी एव वैमानिक देवो की स्थिति—**भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी एवं वैमानिक देवों के क्रमश· दस, आठ, पाँच और छब्बीस भेद है ॥११२८ ॥**

भवनपति के दस भेद—**असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुवर्णकुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार तथा दिशिकुमार ॥११२९ ॥**

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और *गन्धर्व*—ये *आठ वाणव्यन्तर* है ॥११३० ॥

अप्रज्ञप्तिक, पंचप्रज्ञप्तिक, ऋषिवादित, भूतवादित, क्रदित, महाक्रन्दित, कूष्माड और पतग—ये आठ व्यन्तर रत्नप्रभा के प्रथम सौ योजन मे रहते है। इनके सोलह इन्द्र रुचक पर्वत के नीचे उत्तर-दक्षिण दिशा में रहते है ॥११३१-३२ ॥

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र एव तारा—ये ज्योतिषी देव के पॉच भेद है। ये चल और स्थिर दो प्रकार के है। स्थिर ज्योतिषी घटाकार होते है ॥११३३ ॥

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, शुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण्य और अच्युत—ये बारह देवलोक है। सुदर्शन, सुप्रतिबुद्ध, मनोरम, विशाल, सर्वतोभद्र, सुमन, सौमनस, प्रीतिकर, आदित्य—ये नवग्रैवेयक है। विजय, वैजयत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध—ये पॉच अनुत्तर विमान है। ये चार प्रकार के देव है ॥११३४-३७ ॥

चमरेन्द्र और बलीन्द्र की आयु क्रमश एक सागर और साधिक एक सागर की है। दक्षिण और उत्तरदिशा के देवों का आयुष्य क्रमश डेढ़ पल्योपम एवं देशोन दो पल्योपम का है ॥११३८ ॥

असुर-युगल की देविओं की उत्कृष्ट आयु क्रमश साढे तीन और साढे चार पल्योपम की है। शेष नौ निकाय की देवियों तथा व्यन्तर देवियो की आयु क्रमश देशोन एक पल्योपम और आधा पल्योपम है ॥११३९ ॥

भवनपति और व्यन्तर देव-देवियों का जघन्य आयु दस हजार वर्ष का तथा व्यन्तरो का उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम का है ॥११४० ॥

चन्द्र की आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है। सूर्य की आयु हजार वर्षाधिक एक पल्योपम की, ग्रह की आयु एक पल्योपम की, नक्षत्र की आयु आधा पल्योपम की तथा तारा की आयु पल्योपम का चौथा भाग है। इन की देवियो की उत्कृष्ट आयु देवो की आयु से आधी है। पर नक्षत्र और तारा की देवियों की आयु कुछ अधिक आधी है। तारा देव और देवी को छोड कर शेष आठ की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग है। तारा देव और देवी की जघन्य आयु पल्योपम का आठवां भाग है ॥११४१-४२ ॥

दो सागर, साधिक दो सागर, सात सागर, साधिक सात सागर, दस सागर, चौदह सागर, सत्रह सागर क्रमश सौधर्म से महाशुक्र देवलोक तक के देवो की उत्कृष्ट आयु समझना। इनसे ऊपर के देवलोकों में प्रति देवलोक एक-एक सागर की वृद्धि करने पर विजय आदि चार अनुत्तर विमान में तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु होती है। विजयादि चार की जघन्य आयु इकतीस सागर की है। सर्वार्थसिद्ध की अजघन्य-अनुत्कृष्ट आयु तेंतीस सागरोपम की है ॥११४३-४४ ॥

सौधर्म और ईशान देवलोक के देवो की जघन्य स्थिति क्रमश एक पल्योपम तथा साधिक एक पल्योपम की है। तत्पश्चात् पूर्व देवलोक की उत्कृष्ट स्थिति उत्तर देवलोक की जघन्य स्थिति समझना। इस प्रकार जघन्य स्थिति इकतीस सागर की होती है।

सौधर्म और ईशान देवलोक की देवियों की जघन्य स्थिति क्रमश: एक पल्योपम तथा साधिक एक पल्योपम की है। सौधर्म देवलोक में परिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति सात पल्योपम की तथा अपरिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति पचास पल्योपम की है। ईशान देवलोक में परिगृहीता एवं अपरिगृहीता की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश नौ पल्योपम एवं पचपन पल्योपम की है॥११४५-४६॥

—विवेचन—

देव = पूर्वभव सम्बन्धी विशिष्ट पुण्यबल से महान् सुख को पाने वाले प्राणी विशेष। उनके चार प्रकार हैं—

(i) भवनपति (ii) व्यंतर (iii) ज्योतिष और (iv) वैमानिक।

(i) भवनपति — विशेष रूप से जो भवनों में निवास करते हैं, वे भवनपति कहलाते हैं। (यद्यपि नागकुमार आदि देव, भवनों में निवास करते हैं तथा असुरकुमार 'आवास' में रहते हैं, तथापि बाहुल्य की अपेक्षा से सभी 'भवनपति' कहलाते हैं।)

भवन — जो विमान बाहर से वृत्त, भीतर से समचतुरस्र तथा नीचे से कर्णिका युक्त होते हैं, वे भवन कहलाते हैं। वे अनेकविध मणिरत्नों के प्रकाश से समस्त दिशाओं को आलोकित करते हैं।

आवास — जो विमान देह प्रमाण बडे मण्डप की तरह होते है, वे आवास कहलाते हैं।

(ii) वाणव्यन्तर-व्यन्तर — विविध अन्तरालो मे अर्थात् पर्वत, गुफा, वन आदि के अन्तराल मध्य मे निवास हैं जिनका वे 'वनान्तर' कहलाते है। अथवा चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि पुण्यपुरुषो की दास की तरह सेवा करने से जिनमे मनुष्यो की अपेक्षा कोई अन्तर नही है ऐसे देव 'विगतान्तरा' भी कहलाते है। प्राकृत 'वाणमतर' ऐसा पाठ है अथवा 'वानमतरा' ऐसा सस्कारित पद है। इसका अर्थ है कि—वनो के अन्तर, 'वनान्तर' है और उनमे उत्पन्न होने वाले अथवा रहने वाले देव विशेष 'वानमन्तर' कहलाते है। यहाँ 'वन + अन्तर' के मध्य 'म' पृषोदरादि मान कर हुआ है। यह 'वानमन्तर' शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त है। प्रवृत्ति निमित्त तो सर्वत्र 'जातिभेद' है।

(iii) ज्योतिष — विश्व को आलोकित करने वाले विमानो के वासी देव ज्योतिष् कहलाते है।

(iv) वैमानिक — जिसमे पुण्यवान जीव विविध प्रकार से सुखोपभोग करते है, वे विमान कहलाते है और उनमे रहने वाले देव वैमानिक देव कहलाते है।

भवनपति आदि देवो के क्रमश दस, आठ, पॉच एव छब्बीस भेद है।

	भवनपति के भेद	दक्षिणेन्द्र	स्थिति	उत्तरेन्द्र	स्थिति
(i)	असुरकुमार	चमरेन्द्र	१ सागरोपम	बलीन्द्र	१ सागरोपम साधिक
(ii)	नागकुमार	धरणेन्द्र	डे	भूतानद	दे
(iii)	सुपर्णकुमार	वेणुदेव	ढ	हरिसह	शोन
(iv)	विद्युत्कुमार	हरि		वेणुदाली	दो
(v)	अग्निकुमार	अग्निशिख	प	अग्निमाणव	प
(vi)	वायुकुमार	वेलब	ल्यो	प्रभजन	ल्यो
(vii)	स्तनितकुमार	सुघोष	प	महाघोष	प
(viii)	उदधिकुमार	जलकानत	म	जलप्रभ	म
(ix)	द्वीपकुमार	पूर्ण	आ	वशिष्टक	आ
(x)	दिक्कुमार	अमित	यु	मितवाहन	यु

- ये देव मेरु पर्वत के उत्तर और दक्षिण मे रहते है। दोनो दिशा के इन्द्र अलग-अलग होने से कुल मिलाकर भवनपति निकाय के = २० इन्द्र है। उत्तरवर्ती इन्द्र स्वभाव से शुभ है, पर दक्षिण दिशावर्ती उग्र स्वभाव वाले है।

देवो की स्थिति—

(i)	उत्तर दिशा मे चमरेन्द्र की देवी की	साढे तीन पल्योपम की है।	दक्षिणदिशा मे बलीन्द्र की देवी की	साढे चार पल्योपम की है
(ii)	नागकुमार आदि नव निकाय के अधिपतियो की देवी की	देशोन एक पल्योपम की है।	नागकुमार आदि नव निकाय के अधिपतियो की देवी की	अर्धपल्योपम की है।

प्रश्न—ये देव कुमार क्यो कहलाते है?

उत्तर—ये देव बालक की तरह सतत क्रीडा मग्न रहने से कुमार कहलाते है। जैसे बालक सजने-सवरने का शौकीन होता है वैसे ये भी अनेक प्रकार के रूप बदलते रहते है। अनेक प्रकार की

भाषा बोलते है। तरह-तरह के आभूषण, प्रहरण, वाहन आदि की विकुर्वणा करते है। अत्यन्त क्रीडासक्त रहते है।

जघन्य स्थिति—पूर्वोक्त सभी की जघन्य स्थिति १०००० वर्ष की है।

व्यन्तर, वाण-व्यन्तर—

व्यन्तर — रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर १००० योजन विस्तृत रत्नकाड मे से ऊपर और नीचे १००-१०० योजन छोडकर ८०० योजन के मध्य रुचक पर्वत के उत्तर और दक्षिण मे व्यन्तर देवो के नगर है। दोनो दिशा के इन्द्र अलग-अलग होने से १६ इन्द्र है।

वाणव्यन्तर — रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरवर्ती १०० योजन मे से ऊपर-नीचे १०-१० योजन छोडकर बीच के ८० योजन प्रमाण रत्नकाड के उत्तर, दक्षिण भाग मे, वाणव्यन्तर देवो के नगर है। इनके भी इन्द्र अलग-अलग होने से = १६ है।

व्यन्तर देवों के भेद—

	व्यन्तर	दक्षिणेन्द्र	उ० स्थिति	उत्तरेन्द्र	उ० स्थिति	ज० स्थिति
(i)	भूत	महाकाल	ए	किपुरुष	ए	इन सबकी
(ii)	पिशाच	काल	क	किन्नर	क	जघन्य
(iii)	यक्ष	सुरूप	प	सत्पुरुष	प	स्थिति
(iv)	राक्षस	प्रतिरूपक	ल्यो	महापुरुष	ल्यो	दस
(v)	किन्नर	पूर्णभद्र	प	अतिकाय	प	हजार
(vi)	किंपुरुष	मणिभद्र	म	महाकाय	म	वर्ष की
(vii)	महोरग	भीम	आ	गीतरति	आ	है।
(viii)	गन्धर्व	महाभीम	यु	गीतयश	यु	

	वाणव्यन्तर	दक्षिणेन्द्र	उत्कृष्ट स्थिति	उत्तरेन्द्र	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
(i)	अप्रज्ञप्तिका	सनिहित	ए	सामान	ए	इन
(ii)	पचप्रज्ञप्तिका	धाता	क	विधाता	क	सबकी
(iii)	ऋषिवादी	ऋषि	प	ऋषिपाल	प	जघन्य
(iv)	भूतवादी	ईश्वर	ल्यो	महेश्वर	ल्यो	स्थिति
(v)	क्रन्दित	सुवत्स	प	विशाल	प	दस
(vi)	महाक्रदित	हास्य	म	हास्यरति	म	हजार

(vii)	कूष्माण्ड	श्वेत	आ	महाश्वेत	आ	वर्ष
(viii)	पतग	पतग	यु	पतगपति	यु	की है।

उत्तरदिशा में	उ० स्थिति	दक्षिणदिशा मे	उ० स्थिति	ज०स्थिति
व्यन्तरी वाणव्यन्तरी देवी की स्थिति	अर्ध पल्यो-पम	व्यन्तरी वाणव्यन्तरी देवी की स्थिति	सभी की पल्योपम की है।	सभी की दस हजार वर्ष की है।

'श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य पल्योपमस्थितय ' इस कथन को आधार मानकर कुछ आचार्य वाण-व्यन्तर देवी की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की मानते है वह आगम से असमत है। **प्रज्ञापना** मे कहा है कि—हे भगवन्! वाणव्यन्तर देवी की आयु कितनी है? हे गौतम! वाणव्यन्तर देवी की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु आधापल्योपम है। वास्तव मे श्री आदि देवियाँ भवनपतिनिकाय की है। जैसे कि **सग्रहणी की टीका** मे **हरिभद्रसूरि** जी म ने कहा हे कि 'तासा भवनपतिनिकायान्तर्गतत्वात्।' श्री आदि देवियाँ भवनपतिनिकाय की है।

ज्योतिषी—इनके दो भेद है—**(i)** चर—मनुष्य क्षेत्रवर्ती, मेरु पर्वत के चारो ओर प्रदक्षिणा के रूप मे भ्रमण करने वाले चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा = ५

(ii) स्थिर—मानुषोत्तर पर्वत के बाहर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त घण्टे की तरह आकाश मे स्थिर रहने वाले चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा = ५

चर ज्योतिषी ५ + ५ स्थिर = १० भेद

ज्योतिष् देव	स्थिति उ०	ज्योतिष् देवी	स्थिति उ०	जघन्य
चन्द्र व उसके विमानवासी देव	१ लाख वर्ष अधिक १ पल्योपम की	चन्द्र की देवी तथा विमानवासी देवियाँ	अर्धपल्योपम और पचास हजार वर्ष	पल्योपम का चौथा भाग
सूर्य तथा उसके विमानवासी देव	१ पल्योपम और १ हजार वर्ष अधिक	सूर्य की देवी तथा विमानवासी देवियाँ	अर्धपल्योपम और ५०० वर्ष	पल्योपम का चौथा भाग
ग्रह तथा उसके विमानवासी देव	१ पल्योपम की	ग्रहदेवी तथा विमानवासी देवियाँ	अर्ध पल्योपम की	पल्योपम का चौथा भाग
नक्षत्र तथा उसके विमानवासी देव	अर्ध पल्योपम की	नक्षत्रदेवी तथा विमानवासी देवियाँ	पल्योपम का चौथा भाग कुछ अधिक	पल्योपम का चौथा भाग
तारा तथा विमान-वासी देव	पल्योपम का चौथा भाग	तारा देवी तथा विमानवासी देवियाँ	कुछ अधिक पल्योपम का आठवा भाग	पल्योपम का आठवा भाग

यद्यपि सूर्य-चन्द्र असख्याता है, तथापि सजातीय होने से ज्योतिष् देवो के दो ही इन्द्र होते है—चन्द्र और सूर्य।

वैमानिक—इसके दो भेद है—

(i) कल्पोपपन्न — कल्प अर्थात् आचार, जहाँ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि की व्यवस्था हो। वे बारह है।

- पहले देवलोक से १२वे देवलोक तक के देव कल्पोपपन्न कहलाते है।

(ii) कल्पातीत — जिनमे पूर्वोक्त व्यवहार (सेव्य-सेवक भाव) नही होता किन्तु सभी देव समान होते है वे कल्पातीत है।

- नवग्रैवेयक और पांच अनुत्तर वासी देव कल्पातीत कहलाते है।'ग्रीवायाँ भवानि = ग्रैवेयकानि'
- अनुत्तर—जिनसे श्रेष्ठ अन्य कोई विमान नही है, वे अनुत्तर कहलाते है।

(न विद्यन्ते उत्तराणि प्रधानानि विमानानि येभ्यस्तानि =अनुत्तराणि)

देवलोक १२ + ग्रैवेयक ९ + अनुत्तर ५ = २६ वैमानिक है।

	१२ देवलोक	**उत्कृष्ट स्थिति**	**जघन्य स्थिति**
(i)	सौधर्म	२ सागरोपम	१ पल्योपम
(ii)	ईशान	२ सागरोपम अधिक	साधिक पल्योपम
(iii)	सनत्कुमार	७ सागरोपम	२ सागरोपम
(iv)	महेन्द्र	७ सागरोपम	२ सागरोपम
(v)	ब्रह्मलोक	१० सागरोपम	७ सागरोपम
(vi)	लान्तक	१४ सागरोपम	१० सागरोपम
(vii)	महाशुक्र	१७ सागरोपम	१४ सागरोपम
(viii)	सहस्रार	१८ सागरोपम	१७ सागरोपम
(ix)	आनत	१९ सागरोपम	१८ सागरोपम
(x)	प्राणत	२० सागरोपम	१९ सागरोपम
(xi)	आरण्य	२१ सागरोपम	२० सागरोपम
(xii)	अच्युत	२२ सागरोपम	२१ सागरोपम
	९ ग्रैवेयक	**देवस्थिति उत्कृष्ट**	**देवस्थिति जघन्य**
(i)	सुदर्शन	२३ सागरोपम	२२ सागरोपम
(ii)	सुप्रवुद्ध	२४ सागरोपम	२३ सागरोपम
(iii)	मनोरम	२५ सागरोपम	२४ सागरोपम
(iv)	विशाल	२६ सागरोपम	२५ सागरोपम
(v)	सर्वतोभद्र	२७ सागरोपम	२६ सागरोपम

(vi)	सुमन	२८ सागरोपम	२७ सागरोपम
(vii)	सोमनस्	२९ सागरोपम	२८ सागरोपम
(viii)	प्रीतिकर	३० सागरोपम	२९ सागरोपम
(ix)	आदित्य	३१ सागरोपम	३० सागरोपम
	५ अनुत्तर	**देवस्थिति उत्कृष्ट**	**देवस्थिति जघन्य**
(i)	विजय	३३	३१
(ii)	वैजयत	साग	साग
(iii)	जयन्त	रो	रो
(iv)	अपराजित	प	पम
(v)	सर्वार्थसिद्ध	म	है

वैमानिक देवी की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति—

- वैमानिक देवियो की उत्पत्ति प्रथम व द्वितीय देवलोक मे ही होती है। देवियाँ दो प्रकार की है—(i) परिगृहीता व (ii) अपरिगृहीता।
  (i) परिगृहीता देवियाँ कुलपत्नी की तरह होती हैं।
  (ii) अपरिगृहीता देवियाँ वेश्या की तरह होती हैं।
- सौधर्म देवलोक मे दोनो की जघन्य स्थिति १ पल्योपम की है।
- ईशान देवलोक मे दोनो की जघन्य स्थिति साधिक १ पल्योपम की है।
- सौधर्म देवलोक मे दोनो की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश ७ पल्योपम व ५० पल्योपम की हैं।
- ईशान देवलोक मे दोनो की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश ९ पल्योपम व ५५ पल्योपम की हैं।

अतर—जो तरा न जा सके अथवा जो बहुत समय बाद पूर्ण हो। इस परिभाषा के अनुसार सागरोपम भी 'अतर' कहलाता है।

वैमानिक के १० इन्द्र है। आठ देवलोक के ८ इन्द्र और ९-१०वे का एक और ११-१२वे का एक, इस प्रकार कुल मिलाकर ८ + २ = १० इन्द्र हैं।

चारो निकाय के कुल मिलाकर, भवनपति के २० + ३२ व्यन्तरेन्द्र + २ ज्योतिष + १० वैमानिक के = ६४ इन्द्र है ॥११२८-४६ ॥

१९५ द्वार : भवन—

सत्तेव य कोडीओ हवति बावत्तरी सयसहस्सा।
एसो भवणसमासो भवणवईण वियाणिज्जा ॥११४७ ॥

चउसट्ठी असुराणं नागकुमाराण होइ चुलसीई।
बावत्तरि कणगाणं वाउकुमाराण छन्नउई ॥११४८॥
दीवदिसाउदहीणं विज्जुकुमारिदथणियअग्गीण।
छण्हंपि जुयलयाणं बावत्तरिमो सयसहस्सा ॥११४९॥
इह संति वणयराणं रम्मा भोमनयरा असखिज्जा।
तत्तो सखिज्जगुणा जोइसियाण विमाणाओ ॥११५०॥
बत्तीसऽट्ठावीसा बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
आरेण बंभलोया विमाणसखा भवे एसा ॥११५१॥
पचास चत्त छच्चेव सहस्सा लत सुक्क सहस्सारे।
सय चउरो आणयपाणएसु तिन्नारणच्चुयए ॥११५२॥
एक्कारसुत्तर हेट्ठिमेसु सत्तुत्तर च मज्झिमए।
सयमेगं उवरिमए पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥११५३॥
चुलसीई सयसहस्सा सत्ताणउई भवे सहस्साइं।
तेवीसं च विमाणा विमाणसखा भवे एसा ॥११५४॥

—गाथार्थ—

देवों के भवन—भवनपति देवों के भवन की कुल सख्या सात करोड बहत्तर लाख है ॥११४७॥

असुरकुमार देवों की भवन सख्या चौसठ लाख, नागकुमार की चौरासी लाख, सुवर्णकुमार की बहोत्तर लाख, वायुकुमार की छन्नु लाख, द्वीपकुमार, दिक्कुमार उदधिकुमार, विद्युत्कुमार स्तनित कुमार एवं अग्निकुमार—इनमें से प्रत्येक की भवन संख्या छिहोत्तर लाख है ॥११४८-४९॥

यहाँ व्यन्तरों के अत्यन्त रमणीय असख्याता नगर है। उससे संख्यात गुण अधिक ज्योतिषी के नगर है ॥११५०॥

सौधर्म देवलोक से ब्रह्मदेवलोक पर्यन्त विमानो की संख्या क्रमश बत्तीस लाख, अट्ठावीस लाख, बारह लाख, आठ लाख एवं चार लाख है ॥११५१॥

लांतक, महाशुक्र तथा सहस्रार में क्रमश. पचास हजार, चालीस हजार तथा छ हजार विमान है। आनत-प्राणत और आरण-अच्युत युगल मे क्रमश चार सौ और तीन सौ विमान है ॥११५२॥

निम्न ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ ग्यारह, मध्यम ग्रैवेयक त्रिक मे एक सौ सात एव ऊपरवर्ती ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ विमान है। अनुत्तर पाँच विमान है ॥११५३॥

कुल मिलाकर चौरासी लाख सत्ताणु हजार तेवीस विमान वैमानिक देवो के है। ॥११५४॥

—विवेचन—

भवनपति के भवन-रत्नप्रभा नरक की १,८०,००० योजन की मोटाई मे से ऊपर नीचे १०००-१००० योजन छोडकर शेष बचे हुए १,७८,००० योजन प्रमाण मध्य भाग मे भवनपति देवो के भवन है।

अन्यमतानुसार—ऊपर से ९०००० योजन छोडकर देवो के भवन है।

अन्यमतानुसार—ऊपर नीचे १००० योजन छोडकर सर्वत्र भवन है।

	देव	दक्षिणोत्तर	भवनो की सख्या
(i)	असुरकुमार	६४,००,०००	भवन सख्या
(ii)	नागकुमार	८४,००,०००	भवन सख्या
(iii)	सुवर्णकुमार	७२,००,०००	भवन सख्या
(iv)	वायुकुमार	९६,००,०००	भवन सख्या
(v)	द्वीपकुमार	७६,००,०००	भवन सख्या
(vi)	दिक् कुमार	७६,००,०००	भवन सख्या
(vii)	उदधि कुमार	७६,००,०००	भवन सख्या
(viii)	विद्युत कुमार	७६,००,०००	भवन सख्या
(ix)	स्तनित कुमार	७६,००,०००	भवन सख्या
(x)	अग्नि कुमार	७६,००,०००	भवन सख्या
	कुल भवन	७,७२,००,०००	॥११४७-११४९॥

व्यन्तर नगर—रत्नप्रभा नरक के ऊपर-नीचे के १००० योजन मे से १००-१०० योजन छोडकर शेष ८०० योजन मे व्यन्तर नगर है। वे बडे रम्य है। वहाँ व्यन्तर देव, देवियो के साथ गीत, नृत्यादि का आनन्द लेते हुए सदा मग्न रहते है।

संख्या—असख्याता है। मनुष्य क्षेत्र के वाहर द्वीप-समुद्र मे जो व्यन्तर नगर है उनका स्वरूप 'जीवाभिगम' मे स्पष्ट किया है।

ज्योतिष् के विमान—समभूतला पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर ११० योजन के विस्तार मे ज्योतिष् देवो के विमान है।

सख्या—व्यन्तर नगरो की अपेक्षा से सख्यातगुण अधिक होते है ॥११५०॥

	१२ देवलोक की	विमान सख्या		ग्रैवेयक	विमान सख्या
(i)	सौधर्म	३२,००,०००	(i)	सुदर्शन	१११
(ii)	ईशान	२८,००,०००	(ii)	सुप्रतिबुद्ध	
(iii)	सनत्कुमार	१२,०००००	(iii)	मनोरम	

(iv)	माहेन्द्र	८०,००००	(iv)	विशाल	
(v)	ब्रह्मलोक	४,००,०००	(v)	सर्वतोभद्र	१०७
(vi)	लातक	५०,०००	(vi)	सुमन	
(vii)	महाशुक्र	४०,०००	(vii)	सौमनस्	१००
(viii)	सहस्रार	६,०००	(viii)	प्रीतिकर	
(ix)	आनत	चार सौ	(ix)	आदित्य	
(x)	प्राणत	चार सौ	(x)	अनुत्तर	५
(xi)	आरण	तीन सौ			
(xii)	अच्युत	तीन सौ			

कुल विमानो की सख्या ८४,९७,०२३ है ॥११५१-११५४ ॥

१९६ द्वार : देहमान—

भवणवणजोइसोहम्मीसाणे सत्त हुंति रयणीओ ।
एक्केक्कहाणि सेसे दु दुगे य दुगे चउक्के य ॥११५५ ॥
गेविज्जेसुं दोन्नि य एगा रयणी अणुत्तरेसु भवे ।
भवधारणिज्ज एसा उक्कोसा होइ नायव्वा ॥११५६ ॥
सव्वेसुक्कोसा जोयणाण वेउव्विया सयसहस्सं ।
गेविज्जणुत्तरेसुं उत्तरवेउव्विया नत्थि ॥११५७ ॥
अंगुलअसंखभागो जहन्न भवधारणिज्ज पारंभे ।
संखेज्जा अवगाहण उत्तरवेउव्विया सावि ॥११५८ ॥

—गाथार्थ—

देवो की अवगाहना—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी एवं सौधर्म-ईशान देवलोक के देवों की अवगाहना सात हाथ की है। ऊपर के तीन युगल एव देवलोक चतुष्क मे एक-एक हाथ न्यून अवगाहना होती है। नौ ग्रैवेयक में दो हाथ एव पॉच अनुत्तर विमान मे एक हाथ की अवगाहना है। पूर्वोक्त अवगाहना भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से समझना चाहिये ॥११५५-५६ ॥

चारों निकाय के देवो की उत्तरवैक्रिय अवगाहना एक लाख योजन की है। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में उत्तर वैक्रिय शरीर नही होता ॥११५७ ॥

देवों के भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अगुल के असंख्यातवे भाग की है तथा उत्तर वैक्रिय की जघन्य अवगाहना अंगुल के सख्यातवें भाग की है ॥११५८ ॥

—विवेचन—

देवो का शरीर प्रमाण दो प्रकार का है—(i) भवधारणीय (ii) उत्तरवैक्रिय ।

भवधारणीय—जन्म से उपलब्ध शरीर प्रमाण।

उत्तरवैक्रिय—वैक्रिय शक्ति से बनाया गया शरीरप्रमाण।

(i) भवधारणीय—

(१)	भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी,	७ हाथ
	१-२ देवलोक	७ हाथ
(२)	तीसरा-चौथा देवलोक	६ हाथ
(३)	पॉचवा-छठा देवलोक	५ हाथ
(४)	सातवा-आठवा देवलोक	४ हाथ
(५)	९- १०-११-१२वा देवलोक	३ हाथ
(६)	नौ ग्रैवेयक	२ हाथ
(७)	अनुत्तर विमान	१ हाथ

उपरोक्त देवो की भवधारणीय जघन्य अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण है। जघन्य अवगाहना का यह माप शरीर-रचना के प्रारम्भकालीन है ॥११५५-११५६ ॥

(ii) उत्तरवैक्रिय—

उपरोक्त देवो की (नौ ग्रैवेयक और पॉच अनुत्तर को छोडकर) उत्तरवैक्रिय उत्कृष्ट अवगाहना एक लाख योजन प्रमाण है।

- नौ ग्रैवेयक और पॉच अनुत्तर को छोडकर उपरोक्त देवो की उत्तरवैक्रिय जघन्य अवगाहना अगुल का सख्यातवा भाग है।
- उत्तरवैक्रिय पर्याप्त अवस्था मे ही होता है इसलिये उस समय छोटे से छोटा शरीर भी बनाना चाहे तो अगुल के सख्यातवे भाग जितना ही बनाया जा सकता है, क्योकि जीव प्रदेशो का सकोच इतना ही हो सकता है।
- नौ ग्रैवेयक और पॉच अनुत्तरवासी देवो के उत्तरवैक्रिय शरीर नही होता, क्योकि उत्तरवंक्रिय शरीर गमनागमन तथा परिचारणा (विषय-सेवन) के निमित्त ही वनाया जाता है और इन देवो के ये प्रयोजन नही होते ॥११५७-५८ ॥

१९७ द्वार : लेश्या—

किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया।
जोइससोहंमीसाण तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥११५९ ॥

कप्पे सणंकुमारे माहिंदे चेव बंभलोए य।

एएसु पम्हलेसा तेण परं सुक्कलेसाओ ॥११६० ॥

—गाथार्थ—

देवो की लेश्या—भवनपति और व्यन्तर देवों में कृष्ण, नील, कापोत और तेज—चार लेश्याये हैं। ज्योतिषी, सौधर्म एवं ईशान देवों में तेजो लेश्या है। सनत्कुमार, माहेन्द्र एवं ब्रह्मदेवलोक मे पद्मलेश्या तथा ऊपरवर्ती देवलोक में शुक्ल लेश्या है ॥११५९-६०॥

—विवेचन—

१ भवनपति, व्यन्तर	कृष्ण, नील और कापोत
२ परमाधामी	कृष्ण और नील लेश्या
३. ज्योतिषी, सौधर्म और ईशान	तेजो लेश्या
४ सनत्, महेन्द्र, ब्रह्म	पद्म लेश्या
५. छठे देवलोक से अनुत्तर विमानपर्यन्त	शुक्ल लेश्या

- भाव-लेश्या की अपेक्षा से छ ही लेश्या देवो मे घटती है।
- लेश्याएँ पूर्व देवो की अपेक्षा उत्तर देवो मे विशुद्ध, विशुद्धतर होती जाती है। जैसे—छट्ठे देवलोक से अनुत्तर विमान पर्यन्त देवो मे एक शुक्ल लेश्या ही होती है, किन्तु वह छट्ठे देवलोक की अपेक्षा सातवे देवलोक मे विशुद्ध होती है। इससे आठवे मे अधिक विशुद्धतर होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर समझना है।
- यहाँ देवो की जो प्रति-नियत लेश्याये बतायी गई हैं, वे भावलेश्या के हेतुभूत कृष्ण, नील, पीत आदि द्रव्य रूप है, न कि भाव लेश्या रूप। क्योकि भाव-लेश्या अनवस्थित होती है। ये लेश्याये बाह्य वर्ण रूप भी नही है। कारण, देवो के वर्ण अलग-अलग बताये गये है। यदि ये लेश्याये बाह्य-वर्ण रूप होती तो देवों का वर्ण प्रज्ञापना आदि मे लेश्या से अलग बताने की आवश्यकता नही रहती।

  यह चर्चा १७८वे (नरक मे लेश्या) द्वार मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। भावलेश्याये सभी देवनिकाय में यथासभव छ ही होती है। पू. हरिभद्रसूरि जी ने तत्त्वार्थ-टीका मे कहा है कि—देवो की सभी निकाय मे भाव की अपेक्षा छ ही लेश्याये है ॥११५९-६०॥

१९८ द्वार : अवधिज्ञान—

सक्कीसाणा पढमं दोच्चं च सणंकुमार माहिंदा।

तच्चं च बभलंतग सुक्कसहस्सारय चउत्थि ॥११६१॥

आणयपाणयकप्पे देवा पासति पंचमी पुढवी ।
तं चेव आरणच्चुय ओहिणाणेण पासति ॥११६२ ॥
छट्ठि हिट्ठिममज्झिमगेविज्जा सत्तमि च उवरिल्ला ।
संभिन्नलोगनालि पासंति अणुत्तरा देवा ॥११६३ ॥
एएसिमसंखेज्जा तिरियं दीवा य सागरा चेव ।
बहुययर उवरिमया-उड्ढं च सकप्पथूभाइ ॥११६४ ॥
संखेज्जजोयणाइं खलु देवाण अद्धसागरे ऊणे ।
तेण परमसंखेज्जा जहन्नय पन्नवीस तु ॥११६५ ॥
भवणवइवणयराण उड्ढं बहुओ अहो य सेसाण ।
जोइसिनेरइयाणं तिरिय ओरालिओ चित्तो ॥११६६ ॥

—गाथार्थ—

देवो का अवधिज्ञान—सौधर्म तथा ईशान देवलोक के देवता प्रथम नरक तक, सनत्कुमार और महेन्द्र देवलोक के देव द्वितीय नरक तक, ब्रह्मलोक एव लातक देवलोक के देव तृतीय नरक तक, शुक्र और सहस्रार के देव चतुर्थ नरक तक तथा आनत-प्राणत-आरण और अच्युत के देव पंचम नरक तक अवधिज्ञान से देखते है।

अधस्तन एवं मध्यम ग्रैवेयक-त्रिकवर्ती देव छट्ठी नरक तक, ऊपरवर्ती ग्रैवेयक-त्रिकवासी देव सातवी नरक तक तथा अनुत्तरवासी देव सपूर्ण लोकनाड़ी को अपने अवधिज्ञान से देखते है ॥११६१-११६३ ॥

पूर्वोक्त देव तिर्यक् दिशा मे अपने अवधिज्ञान से असख्यात द्वीप-समुद्र पर्यन्त देखते है। ऊपरवर्ती देवों का अवधिज्ञान उत्तरोत्तर बहु-बहुतर होता है। ऊर्ध्व अपने-अपने देवलोक के स्तूप पर्यन्त देखते है ॥११६४ ॥

अर्ध सागर से कुछ न्यून आयु वाले देवो का अवधिज्ञान सख्याता योजन परिमाण है। उससे अधिक आयु वाले देवों का अवधिज्ञान असख्याता योजन परिमाण है। जघन्य अवधिज्ञान पच्चीस योजन परिमाण है। भवनपति एव व्यतर देवो का अवधिज्ञान ऊर्ध्व दिशा की ओर अधिक होता है। वैमानिक देवो का अवधिज्ञान अधोदिशा की ओर अधिक होता है। ज्योतिषी और नारकों का अवधिज्ञान तिर्यक् दिशा की ओर अधिक होता है तथा औदारिक शरीरवालों का अवधिज्ञान विविध प्रकार का होता है ॥११६५-६६ ॥

—विवेचन—

नाम	ऊर्ध्व लोक सम्बन्धी अवधि-ज्ञान	अधोलोक सम्बन्धी अवधि-ज्ञान	तिर्यक् लोक सम्बन्धी अवधि-ज्ञान
१ सौधर्मेन्द्र, ईशानेन्द्र तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	रत्नप्रभा के तल तक	असख्याता द्वीप समुद्र
२ सनत्कुमारेन्द्र, महेन्द्र तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	शर्कराप्रभा के तल तक	असख्याता द्वीप समुद्र
३ ब्रह्मेन्द्र, लान्तकेन्द्र तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	वालुकाप्रभा के तल तक	असख्याता द्वीप समुद्र
४ शुक्रेन्द्र, सहस्रारेन्द्र तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	पकप्रभा के तल तक	असख्याता द्वीप समुद्र
५ आनत, प्राणत तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	धूम्रप्रभा के तल तक	असख्याता द्वीप समुद्र
६ आरण, अच्युत तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	धूम्रप्रभा के तल तक पूर्व की अपेक्षा कुछ विशुद्ध	असख्याता द्वीप समुद्र
७ ग्रैवेयक प्रथम त्रिक व द्वितीय त्रिक	स्वविमान की ध्वजा स्वविमान की ध्वजा	तमप्रभा के तल तक पूर्व की अपेक्षा कुछ विशुद्ध	असख्याता द्वीप समुद्र
८. तृतीय त्रिक	स्वविमान की ध्वजा	तमस्तमप्रभा के तल तक	असख्याता द्वीप समुद्र
९ पाँच अनुत्तर	स्वविमान की ध्वजा	लोकनालिका के अत तक	स्वयभूरमण समुद्र तक

- **तत्त्वार्थभाष्य** मे ऐसा कहा है। पर कुछ आचार्यो का मानना है कि—अनुत्तरविमानवासी देव ऊर्ध्वलोक में अपने विमान की ध्वजा नही देख सकते अत· वे नीचे सपूर्ण लोक नाड़ी को भी नही देखते, पर कुछ न्यून देखते है।
- पूर्ववर्ती देवताओं की अपेक्षा उत्तरवर्ती देवताओ का अवधिज्ञान विमल—विमलतर होता है।
- पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती देवो का अवधिज्ञान विशुद्धता व पर्याय की दृष्टि से अधिक होता है। अत· पूर्ववर्ती देवो की अपेक्षा से उनमें अधिक देखने की शक्ति होती है।
- पूर्वोक्त सभी देव जघन्य से अङ्गुल के असख्यातवे भाग प्रमाण क्षेत्र को देखते है। **आवश्यकचूर्णि** मे कहा है कि—सौधर्म देवलोक से लेकर अनुत्तर विमान तक के देव अङ्गुल के असख्यातवे भाग प्रमाण क्षेत्र को ही देखते व जानते है।

प्रश्न—अङ्गुल के असख्यातवे भाग प्रमाण क्षेत्र-विषयक अवधिज्ञान सर्व-जघन्य होता है और यह अवधिज्ञान नर और तिर्यच को ही होता है, जैसा कि कहा है—"उक्कोसो मणुएसु मणुस्सतेरिच्छएसु य जहन्नओ" अर्थात् उत्कृष्ट अवधिज्ञान मनुष्य मे व जघन्य अवधिज्ञान मनुष्य तिर्यच मे होता है तो वैमानिक देवो मे सर्वजघन्य अवधिज्ञान कैसे घटेगा ?

उत्तर—सौधर्म आदि देवलोक के देवो को उपपात-काल मे परभव सम्बन्धी भी अवधि-ज्ञान होता है। कोई जीव देव मे उत्पन्न होते समय परभव सम्बन्धी जघन्य अवधिज्ञान लेकर जन्म ले सकता है। इस अपेक्षा से वैमानिक देव मे भी जघन्य अवधि-ज्ञान घट सकता है। उत्पत्ति के बाद तो देवभव सम्बन्धी ही अवधिज्ञान होता है—जिनभद्रगणि ने कहा है—

"वेमाणियाणमगुलभागमसखं जहन्नओ होइ।

उववाओ परभविओ, तब्भवजो होइ तो पच्छा ॥"

वैमानिक देवो मे उत्पत्ति के समय जघन्यत अङ्गुल के असख्यातवे भाग प्रमाण अवधिज्ञान होता है। देवभव सम्बन्धी जघन्य अवधिज्ञान बाद मे होता है। अङ्गुल के असख्यातवे भाग प्रमाण अवधिज्ञान पारभविक होने से सूत्र मे उसकी विवक्षा नही की।

भवनपति-व्यंतर, ज्योतिषियों का अवधिज्ञान—

- किंचित् न्यून अर्धसागरोपम की आयु वाले देवताओ का अवधिक्षेत्र सख्याता योजन का है।
- अर्धसागरोपम की आयु वाले देवताओ का अवधिक्षेत्र असख्याता योजन का है। आयु वृद्धि के साथ असख्याता का परिमाप भी बढ जाता है।
- जिनकी आयु दस हजार वर्ष की है ऐसे भवनपति-व्यन्तरो का अवधिक्षेत्र २५ योजन का है।
- ज्योतिषी देव असख्यात वर्ष की स्थिति वाले होने से उनका जघन्य-उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र सख्याता योजन का है पर जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट सख्याता का परिमाप कुछ अधिक समझना चाहिये।

किस जीव का अवधि क्षेत्र किस दिशा मे अधिक है—

- भवनपति और व्यन्तरो की ऊपर देखने की क्षमता अधिक होती है।
- वैमानिक देवो की नीचे देखने की क्षमता अधिक होती है।
- ज्योतिषी व नारको की तिरछा देखने की क्षमता अधिक होती है।
- तिर्यच व मनुष्यो का अवधिज्ञान औदारिक अवधिज्ञान कहलाता है, वह विचित्र प्रकार का है। जैसे कोई नीचे अधिक देख सकते है तो कोई ऊपर, कोई तिरछा अधिक देख सकते है ॥११६१-६६ ॥

१९९ द्वार :

उत्पत्ति-विरह—

भवणवणजोइसोहंमीसाण चउवीसई मुहुत्ता उ।
उक्कोस विरहकालो सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥११६७॥
नव दिण वीस मुहुत्ता बारस दस चेव दिण मुहुत्ता उ।
बावीसा अद्ध चिय पणयाल असीइ दिवससय ॥११६८॥
संखिज्ज मास आणयपाणय तह आरणच्चुए वासा।
संखेज्जा विन्नेया गेविज्जेसु अओ वोच्छं ॥११६९॥
हिट्ठिमे वाससयाइं मज्झिम सहसाइं उवरिमे लक्खा।
संखिज्जा विन्नेया जहसंखेणं तु तीसुपि ॥११७०॥
पलिया असखभागो उक्कोसो होइ विरहकालो उ।
विजयाइसु निदिट्ठो सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥११७१॥

—गाथार्थ—

उत्पत्ति का विरहकाल—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, सौधर्म एवं ईशान देवलोक के देवों का उत्कृष्ट उपपात-विरहकाल चौबीस मुहूर्त्त है एवं जघन्य विरहकाल सभी देवों का एक समय का है ॥११६७॥

सनत्कुमार देवलोक के देवो का उत्कृष्ट उपपात विरहकाल नौ अहोरात्रि एवं बीस मुहूर्त परिमाण है। माहेन्द्र देवों का विरहकाल बारह दिन दश मुहूर्त्त का है। ब्रह्मदेवलोक में साढा बावीस दिन का, लांतक में पैतालीस दिन का, महाशुक्र में अस्सी दिन का, सहस्रार मे सौ अहोरात्रि का, आनत-प्राणत मे संख्याता मास का तथा आरण-अच्युत में संख्याता वर्ष का विरहकाल है। ग्रैवेयक का संख्याता काल का विरहकाल इस प्रकार है। अधस्तन ग्रैवेयक त्रिक में सैकड़ों वर्ष का, मध्यम ग्रैवेयक त्रिक में हजारों वर्ष का एवं ऊपरवर्ती ग्रैवेयक त्रिक में लाखों वर्ष का उत्कृष्ट उपपात विरहकाल है। विजयादि चार अनुत्तर विमान में उत्कृष्ट विरहकाल पल्योपम का असंख्यातवां भाग परिमाण है। जघन्यत. सनत्कुमार से अनुत्तर पर्यत उपपात का विरहकाल एक समय का है ॥११६८-७१॥

—विवेचन—

यद्यपि देवता प्राय करके सतत उत्पन्न होते रहते है तथापि यदा-कदा अन्तर पडता है।

सामान्य रूप से चारों प्रकार के देवों का उत्पात विरह काल—

उत्कृष्ट = १२ मुहूर्त, जघन्य = १ समय। इसके बाद कोई न कोई देव अवश्य उत्पन्न होता

है। कहा है कि—"गर्भज तिर्यंच, मनुष्य, देव व नारको का विरह काल १२ मुहूर्त्त का है।"

विशेष रूप से देवों का उत्पात-विरह काल—

विशेषत / नाम	उत्कृष्ट	जघन्य
भवनपति	२४ मुहूर्त्त	एक समय
व्यन्तर	२४ मुहूर्त्त	एक समय
ज्योतिषी	२४ मुहूर्त्त	एक समय
सौधर्म	२४ मुहूर्त्त	एक समय
ईशान	२४ मुहूर्त्त	एक समय
सनत्कुमार	९ दिन/२०मुहूर्त्त	एक समय
माहेन्द्र	१२ दिन/१०मुहूर्त्त	एक समय
ब्रह्म	२२$\frac{१}{२}$ दिन	एक समय
लान्तक	४५ दिन	एक समय
महाशुक्र	८० दिन	एक समय
सहस्रार	१०० दिन	एक समय
आनत	सख्याता मास	एक समय
प्राणत	सख्याता मास किन्तु आनत देवलोक से अधिक	एक समय
आरण	सख्याता वर्ष	एक समय
अच्युत	सख्याता वर्ष किन्तु आरण देवलोक से अधिक	एक समय
ग्रैवेयक प्रथम त्रिक	सख्याता सौ वर्ष	एक समय
ग्रैवेयक द्वितीय त्रिक	सख्याता हजार वर्ष	एक समय
ग्रैवेयक तृतीय त्रिक	सख्याता लाख वर्ष	एक समय
चार अनुत्तर	अद्धा पल्योपम का असख्यातवा भाग	एक समय
सर्वार्थसिद्ध	अद्धा पल्योपम का सख्यातवा भाग	एक समय

- यहाँ सख्याता सौ वर्ष का अर्थ है हजार के अन्दर, सख्याता हजार का अर्थ है लाख के अदर और सख्याता लाख का अर्थ है करोड के अदर, अन्यथा करोड वर्ष ही कह देते। यह व्याख्या **हरिभद्रसूरिकृत सग्रहणी की टीका** के अनुसार है। अन्य आचार्य तो सामान्य व्याख्या ही करते है ॥११६७-७१ ॥

२०० द्वार : उद्वर्तना-विरह—

उववायविरहकालो एसो जह वण्णिओ य देवेसु।
उव्वट्टणावि एव सव्वेसि होइ विन्नेया ॥११७२ ॥

—गाथार्थ—

देवो का मरण-विरहकाल—उपपात विरह काल की तरह ही देवो का मरण विरहकाल भी समझना चाहिये ॥११७२ ॥

—विवेचन—

उपपात के विरहकाल की तरह ही मृत्यु का विरह काल भी सामान्य और विशेष दो प्रकार का है। उसका काल परिमाण उपपात-विरह काल की तरह ही होता है ॥११७२ ॥

२०१ द्वार : जन्म-मरण-संख्या—

एक्को व दो व तिन्नि व सखमसंखा य एगसमएण।
उववज्जतेवइया उव्वट्टतावि एमेव ॥११७३ ॥

—गाथार्थ—

देवो के उपपात एव उद्वर्तन की सख्या—देवों के जघन्य उपपात की सख्या एक-दो या तीन है। उत्कृष्ट उपपात संख्या संख्याता व असखयाता है। उद्वर्तन की सख्या उपपातवत् ही समझना चाहिये ॥११७३ ॥

—विवेचन—

(i) भवनपति निकाय मे (ii) व्यन्तर निकाय मे (iii) ज्योतिष् निकाय मे (iv) प्रथम देवलोक से ८वे तक।	जघन्य से एक समय मे १-२-३ जन्मते और मरते है। उत्कृष्ट से सख्याता और असख्याता जन्मते और मरते है।

(v)	नवमे देवलोक से सर्वार्थसिद्ध तक के देवता।	एक समय मे सख्याता जन्मते और मरते है क्योकि इनमे गर्भज-पर्याप्ता मनुष्य ही पैदा होते है और ये मरकर गर्भज पर्याप्ता मनुष्य मे ही जाते है तथा गर्भज पर्याप्ता मनुष्य सख्याता ही है ॥११७३ ॥

२०२ द्वार : गति—

पुढवीआउवणस्सइ गब्भे पज्जत्तसखजीवीसुं।
सग्गच्चुयाण वासो सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥११७४ ॥
बायरपज्जत्तेसु सुराण भूदगवणेसु उप्पत्ती।
ईसाणताण चिय तत्थवि न उवट्टगाणपि ॥११७५ ॥
आणयपभिईहिंतो जाऽणुत्तरवासिणो चवेऊण।
मणुएसुं चिय जायइ नियमा संखिज्जजीविसु ॥११७६ ॥

—गाथार्थ—

देवो की गति—स्वर्ग से च्यवकर देवता, पृथ्वी, जल, वनस्पति, गर्भज पर्याप्ता सख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यच में जाते है। शेष गतियो मे जाने का निषेध है ॥११७४ ॥

बादर पर्याप्ता पृथ्वीकाय, अप्काय एव प्रत्येक वनस्पतिकाय में, ईशान देवलोक तक के देवता ही जाते है। इससे ऊपरवर्ती देवता नही जाते। आनत देवलोक से अनुत्तर पर्यंत के देव च्यवकर सख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्यों मे ही उत्पन्न होते है ॥११७५-७६ ॥

—विवेचन—

१. भवनपति, व्यतर, ज्योतिषी और सौधर्म ईशान के देवता मरकर—सख्याता आयु वाले लब्धि पर्याप्ता गर्भज पचेन्द्रिय तिर्यच, मनुष्य, बादर पर्याप्ता पृथ्वी, पानी और प्रत्येक वनस्पति मे जाते है। इनका अन्यत्र गमन निषिद्ध है।

२. सनत से सहस्रार पर्यन्त के देवता—सख्यातायुषी लब्धि पर्याप्ता गर्भज पचेन्द्रिय नर-तिर्यच मे जाते है।

३. आनत से सर्वार्थसिद्ध पर्यत के देवता—सख्यातायुषी लब्धि पर्याप्ता गर्भज पचेन्द्रिय मनुष्य मे ही जाते है ॥११७४-७६ ॥

२०३ द्वार : आगति—

परिणामविसुद्धीए देवाउयकम्मबंधजोगाए।
पचिदिया उ गच्छे नरतिरिया सेसपडिसेहो ॥११७७॥
आईसाणा कप्पा उववाओ होइ देवदेवीण।
तत्तो परं तु नियमा देवीण नत्थि उववाओ ॥११७८॥

—गाथार्थ—

देवो की आगति—**परिणाम की विशुद्धि के द्वारा देवायु का बंध करने वाले मनुष्य एवं तिर्यंच ही देवगति में उत्पन्न होते है। शेष जीवों का देवगति मे आगमन निषिद्ध है। देव और देवी की उत्पत्ति ईशान देवलोक पर्यन्त ही होती है। उससे ऊपर के देवलोक मे देवियो की उत्पत्ति नही होती** ॥११७७-७८॥

—विवेचन—

परिणाम = मानसिक व्यापार अर्थात् भाव, विशुद्धि = शुद्धता अर्थात् परिणामो की शुद्धता परिणाम विशुद्धि है।

वह दो प्रकार का है। विशुद्ध और अविशुद्ध। विशुद्ध परिणाम देवगति का कारण है। इससे सिद्ध हुआ कि शुभ, अशुभ गति का कारण मानसिक परिणाम है।

परिणाम की उत्कृष्ट विशुद्धि मुक्ति का कारण है। अत उसकी निवृत्ति के लिये कहा है कि—देव आयु के बन्धन योग्य विशुद्धि वाले पचेन्द्रिय तिर्यञ्च व मनुष्य ही देव मे जाते है, अन्य नही। ऐसा समझना चाहिये।

१. १० भवनपति, १६ व्यन्तर, १५ परमाधामी, १० जृम्भक मे—१०१ प्रकार के लब्धि-पर्याप्ता मनुष्य, युगलिक चतुष्पद, गर्भज-समूर्च्छिम लब्धि पर्याप्ता १० तिर्यञ्च (जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प, ५ गर्भज और ५ समूर्च्छिम = १० तिर्यच) उत्पन्न होते है।

२. १० ज्योतिषी और सौधर्म मे—अन्तर्द्वीप सिवाय के गर्भज लब्धि-पर्याप्ता मनुष्य और ५ गर्भज तिर्यच आकर उत्पन्न होते है।

३. ईशान में—हिमवन्त और हिरण्यवन्त को छोडकर २० अकर्मभूमि के लब्धिपर्याप्ता मनुष्य और १५ कर्मभूमिज मनुष्य व ५ सज्ञी तिर्यच उत्पन्न होते है।

४. निम्न किल्विषी में—सख्यातायुषी गर्भज पर्याप्ता मनुष्य और तिर्यच, देवकुरु-उत्तरकुरु के युगलिक नर-तिर्यच उत्पन्न होते है।

५. सनत से सहस्रार में—सख्यातायुषी गर्भज पचेन्द्रिय नर-तिर्यच उत्पन्न होते है।

६. आनत से सर्वार्थसिद्ध में—सख्यातायुषी मात्र मनुष्य उत्पन्न होते है।

देव और देवियों के उत्पत्ति स्थान

- **देवता**—सर्वार्थसिद्ध तक उत्पन्न होते है।
- **देवियाँ**—ईशान देवलोक तक उत्पन्न होती है।
- ईशान से ऊपर के देवो को जब काम की जागृति होती है, तब ईशान की अपरिगृहीता देवियाँ वहाँ जाती है। देवियो का गमनागमन सहस्रार तक ही होता है। इससे ऊपर के देवताओ मे किसी भी प्रकार का प्रविचार (कामक्रीडा) नही हे।
- बारहवे देवलोक से ऊपर देवो का भी गमनागमन नही होता, कारण नीचे के देवताओ की शक्ति ऊपर जाने की नही होती और कारण के अभाव मे ऊपर के देवता नीचे नही आते। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देव परमात्मा के कल्याणको का उत्सव आदि करने के लिये भी नहीं आते। अपने स्थान पर रहकर ही भक्ति करते है। वे अपने सशय का निराकरण या प्रश्न का समाधान अवधि-ज्ञान के द्वारा समाधान के रूप मे व्यवस्थित, परमात्मा के मनोवर्गणा के पुद्गलो की रचना को देखकर कर लेते है। इस प्रकार उनके गमनागमन का कोई कारण नहीं है ॥११७७-७८ ॥

२०४ द्वार : सिद्धिगति-अन्तर—

एक्कसमओ जहन्नो उक्कोसेण तु जाव छम्मासा।
विरहो सिद्धिगईए उव्वट्टणवज्जिया नियमा ॥११७९ ॥

—गाथार्थ—

सिद्धिगति का विरह—सिद्धिगमन का जघन्य विरहकाल एक समय का है तथा उत्कृष्ट विरहकाल छ महीने का है। सिद्धिगमन के पश्चात् उद्वर्तना नही होती ॥११७९ ॥

—विवेचन—

- जघन्य से—१ समय, एक आत्मा के सिद्ध होने के पश्चात् जघन्य से १ समय के पश्चात् ही दूसरा आत्मा सिद्ध होता है।
- उत्कृष्ट से—छ महीने बाद दूसरा सिद्ध होता है।
- सिद्धिगमन के पश्चात् कोई भी जीव पुन संसार मे नही आता क्योंकि जन्म-मरण के कारणभूत उनके सपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते है। कहा है कि—'बीज जल जाने पर जैसे अङ्कुर पैदा नही हो सकता वैसे, कर्मरूपी बीज के जल जाने पर आत्मा का जन्म-मरण नहीं होता ॥११७९ ॥'

२०५ द्वार :

आहार-उच्छ्वास—

सरिरेणोयाहारो तयाय फासेण रोमआहारो।
पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥११८० ॥
ओयाहारा जीवा सव्वे अपजत्तगा मुणेयव्वा।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खे हुंति भइयव्वा ॥११८१ ॥
रोमाहारा एगिदिया य नेरइयसुरगणा चेव।
सेसाणं आहारो रोमे पक्खेवओ चेव ॥११८२ ॥
ओयाहारा मणभक्खिणो य सव्वेऽवि सुरगणा होति।
सेसा हवंति जीवा लोमाहारा मुणेयव्वा ॥११८३ ॥
अपज्जत्ताण सुराणऽणाभोगनिवत्तिओ य आहारो।
पज्जत्ताणं मणभक्खणेण आभोगनिम्माओ ॥११८४ ॥
जस्स जइ सागराइं ठिइ तस्स य तेत्तिएहि पक्खेहि।
ऊसासो देवाणं वाससहस्सेहि आहारो ॥११८५ ॥
दसवाससहस्साइं जहन्नमाऊ धरति जे देवा।
तेसि चउत्थाहारो सत्तहि थोवेहि ऊसासो ॥११८६ ॥
दसवाससहस्साइ समयाई जाव सागर ऊण।
दिवसमुहुत्तपुहुत्ता आहारूसास सेसाण ॥११८७ ॥

—गाथार्थ—

जीवो का आहार और श्वास ग्रहण—शरीर द्वारा ओजाहार, स्पर्श द्वारा लोम आहार एवं कवल के द्वारा प्रक्षेप आहार होता है ॥११८० ॥

सभी अपर्याप्त जीव ओज-आहारी है। सभी पर्याप्ता जीव लोम-आहारी है तथा कवल आहार वालों की भजना है ॥११८१ ॥

एकेन्द्रिय, नारक तथा देवता लोमाहारी है। शेष सभी जीव लोमाहारी और प्रक्षेपाहारी है ॥११८२ ॥

सभी देव ओजाहारी एव मनोभक्षी है। शेष सभी जीव लोमाहारी होते है ॥११८३ ॥

अपर्याप्त देवों का आहार अनाभोग निर्मित होता है तथा पर्याप्त देवो का आहार मनोभक्षणरूप होने से आभोग निर्मित है ॥११८४ ॥

जिस देव की जितने सागरोपम की आयु है, वह देव उतने पक्ष के पश्चात् श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है तथा उतने हजार वर्ष के पश्चात् ही आहार ग्रहण करता है॥११८५॥

दस हजार वर्ष की जघन्य आयु वाले देव एक अहोरात्रि के पश्चात् आहार ग्रहण करते है एवं सात स्तोक के पश्चात् श्वासोच्छ्वास लेते है॥११८६॥

एक समय अधिक दश हजार वर्ष से लेकर किंचित् न्यून एक सागरोपम की आयु वाले देवों का आहार एवं श्वासोच्छ्वास क्रमश दिवस पृथक्त्व तथा मुहूर्त्त पृथक्त्व से होता है॥११८७॥

—विवेचन—

आहार के तीन प्रकार—

(i) ओजाहार—जीव पूर्व शरीर का त्याग कर जब उत्पत्ति स्थान मे आता है तो वहॉ तैजस् और कार्मण शरीर के द्वारा सर्वप्रथम औदारिकादि शरीर के निर्माण योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है। यह ओज आहार है तथा जब तक शरीर पूरा नही बन जाता, तब तक औदारिकमिश्र शरीर के द्वारा शरीर-निर्माण योग्य पुद्गल जीव ग्रहण करता रहता है, यह भी 'ओज आहार' कहलाता है।

ओजाहार—तैजस् शरीर द्वारा गृहीत आहार अथवा अपने उत्पत्ति योग्य 'शुक्र मिश्रित शोणित' के पुद्गलो का ग्रहण करना ओजाहार है। 'ओजस्' शब्द मे 'स्' का लोप हो जाने के कारण 'ओजाहार' शब्द बनता है।

(ii) लोम आहार—स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा शरीर के उपष्टम्भक पुद्गलो का ग्रहण करना। जैसे, सर्दी और वर्षा के समय शीत जलादि के पुद्गलो को रोम-छिद्रो द्वारा ग्रहण करना लोम आहार है।

शिशिर और वर्षा ऋतु मे शीत और जलादि के पुद्गल रोम-छिद्रो के द्वारा प्रवेश करते रहते है। यही कारण है कि उस काल मे मूत्र अधिक आता है।

(iii) कवलाहार—जो मुँह मे ग्रास के रूप मे डाला जाता है, इसे प्रक्षेपाहार भी कहते है।

किस अवस्था में कैसा आहार ?

१. **ओज आहार**—एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त सभी अपर्याप्त जीवो मे। २. **लोम-आहार**—सभी पर्याप्ता जीवो मे। ३. **कवलाहार**—देवता, नारकी और एकेन्द्रिय के सिवाय सभी जीवो मे।	कवलाहार जीवो के सदा नही होता। जव मुँह मे कवल डालते है, तभी कवलाहार होता है। जबकि 'लोमाहार' सदा होता है, कारण रोम-छिद्रो के द्वारा वायु के पुद्गल सदा भीतर प्रवेश पाते रहते हैं। गर्मी से सन्तप्त व्यक्ति को, शीतल वायु से या पानी छाँटने से जो तृप्ति होती है, यह लोम-आहार का सूचक है।

यहाँ अपर्याप्ता, शरीर-पर्याप्ति की अपेक्षा से समझना। आहारपर्याप्ति की अपेक्षा से अपर्याप्ता जीव अनाहारक ही होते है।

अन्यमतानुसार—अपने योग्य पर्याप्तिओ से अपर्याप्ता जीव को ओजाहार होता है।

यहाँ पर्याप्ता जीव शरीर-पर्याप्ति की अपेक्षा से अथवा अपने योग्य पर्याप्ति की पूर्णता कर लेने से जो पर्याप्ता बन चुके है वे लेना चाहिये।

एकेन्द्रिय को कवलाहार मुँह का अभाव होने से नही होता।

देवता और नारकी वैक्रिय-शरीरी होने से स्वभावत ही कवलाहारी नही होते।

देवता अपर्याप्ता अवस्था मे ओज-आहारी और पर्याप्ता अवस्था मे मनोभक्षी होते है। मनोभक्षी = विचारमात्र से सप्राप्त तथा सभी इन्द्रियो को आह्लादजनक मनोज्ञ-पुद्गलो को आत्मसात् करते है। जैसे शीत योनिज को शीत-पुद्गल और उष्ण योनिज को उष्ण-पुद्गल मिलने से आत्मतृप्ति होती है, वैसे देवो को भी मनोज्ञ-पुद्गल आत्मसात् करने पर आत्मतृप्ति और अभिलाषा की निवृत्ति होती है। अत वे मनोभक्षी कहलाते है।

नारकी अपर्याप्ता अवस्था मे ओज-आहारी और पर्याप्तवास्था मे लोमाहारी होते है, किन्तु देवो की तरह मनोभक्षी नही होते। मनोभक्षण का अर्थ = तथाविध शक्ति के द्वारा अपने शरीर को पुष्ट करने वाले पुद्गलो को मन से ग्रहण कर आत्मतृप्ति एव आत्म-सतोष को प्राप्त करना। नरक के जीवो मे अशुभ-कर्म के उदय से ऐसी शक्ति नही होती।

देवों का मनोभक्षण रूप आहार दो तरह का होता है—

(i) आभोग निवर्तित—जो इच्छापूर्वक खाया जाये। यह आहार पर्याप्ता अवस्था मे ही होता है, क्योकि 'मै अमुक पदार्थ खाऊँ,' ऐसी इच्छा पर्याप्तावस्था मे ही हो सकती है।

(ii) अनाभोग निर्वर्तित—जो खाने की विशिष्ट इच्छा के बिना ही खाया जाये, जैसे वर्षा ऋतु मे शीतपुद्गलो का अनायास शरीर मे प्रवेश होना। यह आहार अपर्याप्ता देवो मे होता है, कारण उस समय मनपर्याप्ति न होने से आहार की विशिष्ट इच्छा नही हो सकती ॥११८०-११८४॥

आहार-श्वासोच्छ्वास कालमान—जिस देव की आयु जितने सागरोपम की होती है, वह उतने पक्ष के बाद श्वासोच्छ्वास लेता है, तथा उतने हजार वर्षो के बाद उसे आहार की अभिलाषा होती है। उदाहरण के तौर पर एक सागर की आयुष्य वाला देव एक पक्ष के बाद श्वासोच्छ्वास लेता है और एक हजार वर्ष के बाद आहार ग्रहण करता है। जैसे-जैसे आयुष्य बढती जाती है, वैसे-वैसे आहार और श्वासोच्छ्वास का अन्तर बढता जाता है। देव जितनी अधिक आयु वाले होते है, वे उतने अधिक सुखी होते है। जबकि उच्छ्वास और आहार क्रिया क्रमश दु ख, अतिदु ख रूप है। अत अधिक आयु वाले देवो के उच्छ्वास और आहार का विरह काल अधिक, अधिकतर होता है। आहार और उच्छ्वास सिवाय के समय मे देवता बाधा रहित और स्मितवदन रहते है।

देवों के आयु-आहार और श्वासोच्छ्वास का काल-परिमाण—

देवों के नाम	आयुष्य	आहार	श्वासोच्छ्वास
भवनपति	१०००० वर्ष	अहोरात्रि के बाद	७ स्तोक के बाद, स्तोक
व्यन्तर	१०००० वर्ष	अहोरात्रि के बाद	अर्थात् आधिव्याधि रहित
			मनुष्य के ७
भवनपति से	१०००० वर्ष	२ से ९ दिन	श्वासोच्छ्वास
ईशान पर्यन्त	से अधिक व	के	२ से ९ मुहूर्त मे
	कुछ न्यून एक	बाद	
	सागरोपम		
	१ सागरोपम		
असुर कुमार,	आयुवाले	१००० वर्ष के बाद	
सौधर्म, ईशान	२ सागरोपम		१ पक्ष मे
सौधर्म-ईशान	७ सागरोपम	२००० वर्ष के बाद	
सनत्-महेन्द्र	१० सागरोपम	७००० वर्ष के बाद	२ पक्ष मे
ब्रह्म	१४ सागरोपम	१० हजार वर्ष के बाद	७ पक्ष मे
लान्तक	१७ सागरोपम	१४ हजार वर्ष के बाद	१० पक्ष मे
महाशुक्र	१८ सागरोपम	१७ हजार वर्ष के बाद	१४ पक्ष मे
सहस्रार	१९ सागरोपम	१८ हजार वर्ष के बाद	१७ पक्ष मे
आनत	२० सागरोपम	१९ हजार वर्ष के बाद	१८ पक्ष मे
प्राणत	२१ सागरोपम	२० हजार वर्ष के बाद	१९ पक्ष मे
आरण	२२ सागरोपम	२१ हजार वर्ष के बाद	२० पक्ष मे
अच्युत		२२ हजार वर्ष के बाद	२१ पक्ष मे
ग्रैवेयक	२३ सागरोपम		२२ पक्ष मे
सुदर्शन	२४ सागरोपम	२३ हजार वर्ष के बाद	
सुप्रतिबद्ध	२५ सागरोपम	२४ हजार वर्ष के बाद	२३ पक्ष मे
मनोरम	२६ सागरोपम	२५ हजार वर्ष के बाद	२४ पक्ष मे
सर्वतोभद्र	२७ सागरोपम	२६ हजार वर्ष के बाद	२५ पक्ष मे
सुविशाल	२८ सागरोपम	२७ हजार वर्ष के बाद	२६ पक्ष मे
सुमन		२८ हजार वर्ष के बाद	२७ पक्ष मे
			२८ पक्ष मे

सौमनस्	२९ सागरोपम	२९ हजार वर्ष के बाद	२९ पक्ष मे
प्रीतिकर	३० सागरोपम	३० हजार वर्ष के बाद	३० पक्ष मे
आदित्य	३१ सागरोपम	३१ हजार वर्ष के बाद	३१ पक्ष मे
५ अनुत्तर	३३ सागरोपम	३३ हजार वर्ष के बाद	३३ पक्ष मे
एकेन्द्रिय	द्वार	निरन्तर होता है	अनि
विकलेन्द्रिय	१८६	अन्तर्मुहूर्त मे	य
पचेन्द्रिय-	मे देखे	२ अहोरात्र	मि
तिर्यच-मनुष्य		३ अहोरात्र	त
नारक	द्वार १८५ मे देखे	अन्तर्मुहूर्त मे	निरन्तर ॥११८५-८७ ॥

२०६ द्वार : ३६३ पाखंडी—

असीइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥११८८ ॥
जीवाइनवपयाणं अहो ठविज्जति सयपरयसद्दा ।
तेसिंपि अहो निच्चानिच्चा सद्दा ठविज्जन्ति ॥११८९ ॥
कालस्सहाव नियई ईसर अप्पत्ति पचवि पयाइ ।
निच्चानिच्चाणमहो अणुक्कमेण ठविज्जंति ॥११९० ॥
जीवो इह अत्थि सओ निच्चो कालाउ इय पढमभगो ।
बीओ य अत्थि जीवो सओ अनिच्चो य कालाओ ॥११९१ ॥
एव परओऽवि हु दोन्नि भगया पुव्वदुगजुया चउरो ।
लद्धा कालेणेव सहावपमुहावि पाविति ॥११९२ ॥
पचहिवि चउक्केहि पत्ता जीवेण वीसई भगा ।
एवमजीवाईहिवि य किरियावाई असिइसयं ॥११९३ ॥
इह जीवाइपयाइं पुन्न पावं विणा ठविज्जन्ति ।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्दुग ॥११९४ ॥
तस्सवि अहो लिहिज्जइ काल जहिच्छा य पयदुगसमेयं ।
नियइ-स्सहाव ईसर अप्पत्ति इम पयचउक्कं ॥११९५ ॥
पढमे भगे जीवो नत्थि सओ कालओ तयणु बीए ।
परओऽवि नत्थि जीवो कालाइय भगगा दोन्नि ॥११९६ ॥

एवं जइच्छाईहिवि पएहि भगदुगं दुगं पत्तं।
मिलियावि ते दुवालस सपत्ता जीवतत्तेणं ॥११९७ ॥
एवमजीवाईहिवि पत्ता जाया तओ य चुलसीई।
भेया अकिरियवाईण हुति इमे सव्वसखाए ॥११९८ ॥
संत-मसंत संतासत-मवत्तव्व सयअवत्तव्व।
असयअवत्तव्व सयसयवत्तव्व च सत्त पया ॥११९९ ॥
जीवाइनवपयाण अहोकमेण इमाइं ठविऊणं।
जह कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१२०० ॥
संतो जीवो को जाणइ ? अहवा कि व तेण नाएण ?।
सेसपएहिवि भंगा इय जाया सत्त जीवस्स ॥१२०१ ॥
एवमजीवाईणऽवि पत्तेय सत्त मिलिय तेसट्ठी।
तह अन्नेऽवि हु भगा चत्तारि इमे उ इह हुति ॥१२०२ ॥
संती भावुप्पत्ती को जाणइ किच तीए नायाए?।
एवमसती भावुप्पत्ती सदसत्तिया चेव ॥१२०३ ॥
तह अव्वत्तव्वावि हु भावुप्पत्ती इमेहि मिलिएहि।
भंगाण सत्तसट्ठी जाया अन्नाणियाण इमा ॥१२०४ ॥
सुर निवइ जइ न्नाई थविरा वम माइ पिइसु एएसिं।
मण वयण काय दाणेहि चउव्विहो कीरए विणओ ॥१२०५ ॥
अट्ठवि चउक्कगुणिया बत्तीस हवति वेणइयभेया।
सव्वेहि पिडिएहि तिन्नि सया हुति तेसट्ठा ॥१२०६ ॥

—गाथार्थ—

तीन सौ त्रेसठ पाखडी—क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ एवं विनयवादी के ३२ भेद है॥११८८॥

क्रियावादी के भेद—जीवादि नव पदों के नीचे स्वत एवं परत ये दो शब्द लिखना। उन दोनों के नीचे नित्य और अनित्य ये दो पद लिखना। फिर नित्य-अनित्य पदों के नीचे काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा इन पॉच पदों की स्थापना क्रमश करना चाहिये॥११८९-९०॥

'जीव स्वत नित्य काल से है' यह प्रथम भग है। दूसरा भंग है 'जीव स्वत अनित्य काल से है।' इस प्रकार परत के साथ भी दो भग समझना चाहिये। इस प्रकार काल के साथ चार भंग हुए। काल की तरह स्वभाव आदि चार के साथ भी चार-चार भेद होने से जीव पद के कुल वीस भेद हुए। इस प्रकार अजीवादि आठ पदों के भी बीस भेद होने से क्रियावादी के कुल १८० भेद हुए॥११९१-९३॥

अक्रियावादी के भेद—पुण्य पाप इन दो पदो के सिवाय जीवादि सात पदो की स्थापना करना चाहिये। इन पदों के नीचे स्वत. और परत. ये दो पद लिखकर इन दो के नीचे पुन काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा छ. पदों की स्थापना करनी चाहिये ॥११९४-९५ ॥

'जीव स्वत काल की अपेक्षा नही है' यह प्रथम भंग है। 'जीव परत काल की अपेक्षा नही है' यह द्वितीय भंग है। इस प्रकार यदृच्छा आदि पदों के भी दो-दो भागे होने से छ पदों के कुल बारह भांगे हुए। जीव पद के बारह भागों की तरह अजीवादि पदों के भी बारह-बारह भांगे होने से सात पदों के कुल चौरासी भांगे अक्रियावादी के होते है ॥११९६-९८ ॥

अज्ञानवादी के भेद—सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सत् अवक्तव्य, असत् अवक्तव्य, सदसत् अवक्तव्य—इन सात पदों के नीचे क्रमश जीवादि नौ पदो की क्रमश स्थापना करके भागो का जिस प्रकार अभिलाप किया जाता है वह बताया जा रहा है, उसे सुनो ॥११९९-१२०० ।।

'जीव है' यह कौन जानता है? इसको जानने से क्या लाभ है? इस प्रकार 'असत्' आदि के साथ मिलकर जीव पद के सात भांगे हुए। अजीवादि शेष पदो के भी पूर्ववत् सात-सात भांगे होते है। सभी को एकत्रित करने पर नौ पदो के त्रेसठ भांगे हुए। अन्य चार भांगे इस प्रकार है। आगे कहे जायेंगे ॥१२०१-०२ ॥

'भावोत्पत्ति है' यह कौन जानता है? इसको जानने से क्या लाभ है? इस प्रकार 'भावोत्पत्ति नही है' 'भावोत्पत्ति सदसत् है' तथा 'भावोत्पत्ति अवक्तव्य है' इन चार भांगो को पूर्वोक्त त्रेसठ भांगों के साथ मिलाने से अज्ञानियो के कुल सड़सठ भागे हुए ॥१२०३-०४ ॥

विनयवादी के भेद—देव, राजा, यति, ज्ञातिजन, वृद्ध, दयापात्र, माता एवं पिता इन आठो का मन, वचन, काया एव दान देकर विनय करना चाहिये। पूर्वोक्त आठ का मन आदि चार से गुणा करने पर विनयवादी के बत्तीस भेद होते है। क्रियावादी, अक्रियावादी आदि चारो के भेद मिलाने से कुल तीन सौ त्रेसठ भेद पूर्ण होते है ॥१२०५-०६ ॥

—विवेचन—

१ क्रियावादी..... १८० भेद	पुण्य, पाप के बध रूप क्रिया तथा आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले।
२ अक्रियावादी..... ८४ भेद	आत्मा के अस्तित्व को नही मानने वाले।
३ अज्ञानवादी.... ६७ भेद	अज्ञान को श्रेयस्कर मानने वाले।
४ विनयवादी..... ३२ भेद।	विनय को श्रेष्ठ मानने वाले ॥११८८ ॥

१. क्रियावादी—

ससार की विचित्रता देखने से सिद्ध होता है कि पुण्य-पाप रूप क्रियाये है। कोई भी क्रिया कर्ता के बिना नही हो सकती। अत क्रिया का कोई कर्ता अवश्य है। जो है वह आत्मा है क्योकि आत्मा के सिवाय ये क्रियाये अन्यत्र सभवित नही हो सकती। ऐसा मानने वाले क्रियावादी है। इसके ५ भेद है—(i) कालवादी (ii) स्वभाववादी (iii) नियतिवादी (iv) ईश्वरवादी और (v) आत्मवादी।

(i) कालवादी—ये जगत को कालकृत मानते है। इनका मानना है कि वृक्षो पर फल लगना, स्त्रियो का गर्भवती होना, नक्षत्रो का उदय होना, पानी बरसना, ऋतुओ का बदलना, बाल-कुमार युवा होना, शरीर पर झुर्रियाँ पडना, बाल सफेद होना इत्यादि अवस्थाओ का भेद काल के बिना नही घट सकता। गेहूँ, चना आदि धान्य की फसले भी काल के बिना पैदा नही होती। काल के बिना भोजन आदि भी नही पकता। यदि जगत को कालकृत न माना जाये तो ईधन आदि सामग्री के मिलते ही मूग आदि धान्य पक जाना चाहिये, परन्तु ऐसा कदापि नही होता। इससे सिद्ध होता है कि सपूर्ण जगत काल द्वारा निर्मित होता है।

(ii) स्वभाववादी—सपूर्ण जगत सहज स्वभाव से निर्मित है। इसके निर्माण मे अन्य किसी तत्त्व का कुछ भी योगदान नही होता। देखा जाता है कि घडा मिट्टी मे ही बनता है, सूत से नही। जबकि कपडा सूत से ही बनता है मिट्टी से नही। इसका कारण वस्तु का सहज स्वभाव ही है। मूग इत्यादि धान्य के पकने मे उसका स्वभाव ही कारण है अन्यथा 'कोरडु' भी पकना चाहिये। इस प्रकार स्वभाव के साथ वस्तु का अन्वयव्यतिरेक होने से सिद्ध होता है कि जगत स्वभावकृत है।

(iii) नियतिवादी—नियति एक ऐसा तत्त्व है, जिसके कारण सभी काम नियमित होते हैं। जैसे, जो काम जिस समय, जिससे होना होता है वह काम उस समय उसी से होता है। इस व्यवस्था का कारण नियति है। अन्यथा कार्य-कारणभाव की नियत व्यवस्था भग हो जायेगी। कोई भी काम किसी भी कारण से व कभी भी होने लगेगा, पर ऐसा नही होता। कार्य-कारण की नियत व्यवस्था है। इससे सिद्ध होता है कि इसका नियामक कोई तत्त्व है और वहे नियति है। उसका निराकरण कोई नही कर सकता। कहा है—

"सभी पदार्थ नियतरूप से होते है अत वे नियतिजन्य है। उनका अन्वय-व्यतिरेक नियति के साथ ही घटता है। जो काम, जिस समय, जिससे होना होता है, वह काम, उससे, उसी समय होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षसिद्ध नियति को अस्वीकार करने मे कौन समर्थ है।"

(iv) ईश्वरवादी—इनके मतानुसार जगत का कर्ता ईश्वर है। जिसमे सहज सिद्ध ज्ञान, वैराग्य, धर्म और ऐश्वर्य है वह ईश्वर है। वह प्राणीमात्र के स्वर्ग-अपवर्ग का प्रेरक है। कहा है—

"जिसमे ज्ञान, वैराग्य, धर्म और ऐश्वर्य सहज सिद्ध है वह ईश्वर है। जगत के सभी प्राणी अज्ञान व अपने सुख-दु ख के भोग मे पराधीन है। ईश्वर की प्रेरणा से ही वे स्वर्ग या नरक मे जाते हैं।"

(v) आत्मवादी—सपूर्ण विश्व को आत्मा का परिणाम मानने वाले आत्मवादी है। इनके मतानुसार आत्मा के सिवाय जगत मे अन्य कुछ भी नही है। सपूर्ण जगत ब्रह्म का ही परिणाम है। कहा है—

"अलग-अलग देहो मे व्यवस्थित आत्मा वास्तव मे तो एक ही है। जैसे चन्द्र एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न जलपात्रो मे प्रतिबिंबरूप से अलग-अलग दिखाई देता है, वैसे अलग-अलग देह मे आत्मा भी अलग-अलग दिखाई देता है। जो हुआ है और होगा वह सभी पुरुष-आत्मा ही है।"

१. क्रियावादी के १८० भेद—

(i) जीव (ii) अजीव (iii) पुण्य (iv) पाप (v) आस्रव (vi) सवर (vii) निर्जरा (viii) बध और (ix) मोक्ष। ये नवतत्त्व है। ये नव तत्त्व स्वत और परत दोनो तरह से जाने जाते है। वस्तु का ज्ञान जैसे स्वरूप से होता है, वैसे पररूप से भी होता है। जैसे आत्मा का ज्ञान चेतनालक्षण से होता है वैसे स्तभ, कुभ आदि अजीव से विपरीत लक्षण वाली होने से भी होता है। जैसे दीर्घ को देखकर ह्रस्व का ज्ञान होता है। अत जीवादि पदार्थो का अस्तित्त्व भी स्वत और परत दोनो तरह से जाना जाता है तथा ये पदार्थ अपेक्षा भेद से नित्य और अनित्य दोनो है। इस प्रकार एक जीवतत्त्व ४ तरह से जाना जाता है और इन्हे काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मवादी सभी मानते है अत एक-एक तत्त्व के काल आदि के मतानुसार ४-४ भेद होने से कुल ४ × ५ = २० × ९ = १८० भेद होते है।

बोलने का तरीका—

१ अस्ति जीव नित्य स्वत कालत	११ अस्ति जीव अनित्य स्वत नियते
२ अस्ति जीव नित्य परत कालत.	१२ अस्ति जीव अनित्य परत नियते
३ अस्ति जीव अनित्य स्वत कालत	१३ अस्ति जीव नित्य स्वत ईश्वरात्
४ अस्ति जीव अनित्य परत कालत	१४ अस्ति जीव नित्य परत ईश्वरात्
५ अस्ति जीव नित्य स्वत स्वभावत	१५ अस्ति जीव अनित्य स्वत ईश्वरात्
६ अस्ति जीव नित्य परत स्वभावत	१६ अस्ति जीव अनित्य परत ईश्वरात्
७ अस्ति जीव अनित्य स्वत स्वभावत	१७ अस्ति जीव नित्य स्वत आत्मन
८ अस्ति जीव अनित्य परत स्वभावत	१८ अस्ति जीव नित्य परत आत्मन
९ अस्ति जीव नित्य स्वत नियते	१९ अस्ति जीव अनित्य स्वत आत्मन
१० अस्ति जीव नित्य परत नियते	२० अस्ति जीव नित्य परत आत्मन

अजीवादि ८ के भी इसी तरह भागे बनते है।

इस प्रकार एक जीव पदार्थ के साथ १२० भेद हुए। अजीवादि शेष पदार्थो के साथ भी इसी प्रकार २०-२० भेद होने से क्रियावादी के कुल मिलाकर १८० भेद होते है। जीवादि ९ × २० स्वत-परत, नित्य-अनित्य, काल-स्वभाव-नियति-ईश्वर और आत्मा के भेद = १८० क्रियावादी के भेद होते है ॥११८९-११९३ ॥ चार्ट देखे पृष्ठ २२७ पर।

२. अक्रियावादी के ८४ भेद—

पुण्यबध, पापबधरूप क्रियाओ को नही मानने वाले अक्रियावादी है। उनका मानना है कि जगत के सभी पदार्थ क्षणिक है और क्षणिक पदार्थो मे क्रिया घट नही सकती क्योकि वे तो उत्पन्न होते ही दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाते है। उन्ही पदार्थो मे क्रिया हो सकती है जो उत्पत्ति के पश्चात् कुछ क्षण ठहरते है। ये आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। कहा है कि—

इस प्रकार एक जीव पदार्थ के साथ २० भेद हुए। अजीवाहि शेष पदार्थो के साथ भी इस प्रकार २०-२० भेद होने से क्रियावादी के कुल मिलाहकर १८० भेद होते है। जीवादि ९ × २० स्वत-परत, नित्य-अनित्य, काल-स्वभाव-नियति-ईश्वर और आत्मा के भेद = १८० क्रियावादी के भेद होते है।

"सभी सस्कार क्षणिक है और जो क्षणिक है उनमे क्रिया नही हो सकती। क्षणिक पदार्थो का उत्पन्न होना ही क्रिया है और कारण भी वही है। अक्रियावादी के ८४ भेद है। ये जीव, अजीव, आस्रव, सवर, बध, निर्जरा व मोक्ष सात ही तत्त्व मानते है। इन सात तत्त्वो के स्वत और परत दो ही विकल्प होते है। नित्य और अनित्य ये दो विकल्प नही होते। कारण नित्य अनित्य धर्मरूप है और धर्म, धर्मी के बिना नही रह सकता अत उन्हे मानने पर आत्मारूप धर्मी अगत्या मानना होगा। वह अक्रियावादी को इष्ट नही है। अक्रियावादी मे पूर्वोक्त ५ वादियो के अतिरिक्त एक यदृच्छावादी और है। इस प्रकार ६ है।"

(iv) यदृच्छावादी—यदृच्छावादी वे कहलाते है जो पदार्थो के कार्य-कारण भाव की व्यवस्था को अनियमित मानते है। उनका मानना है कि बिच्छू, बिच्छू से भी पैदा होता है और गोबर से भी होता है। आग, आग से पैदा होती है वैसे अरणि की लकडी से भी पैदा होती है। धूम, धूम से होता है वैसे आग और आर्द्र लकडी के सयोग से भी उत्पन्न होता है। केला, पौध से भी होता है और बीज से भी। वट आदि बीज से होते है वैसे शाखा से भी उत्पन्न होते है। इससे सिद्ध है कि वस्तुओ का कार्यकारण भाव प्रतिनियत नही है। किसी से कुछ भी हो सकता है। बुद्धिमान व्यक्ति जैसी वस्तु है उसे वैसी ही मानते है। विपरीत मानकर व्यर्थ का क्लेश नही करते।

कालादि ६ वादियो के मतानुसार जीवादि सात तत्त्वो के स्वत व परत इन दो विकल्पो के ७ × ६ × २ = ८४ अक्रियावादी के भेद है। चार्ट पृष्ठ २२९ पर देखे।

बोलने का तरीका—

१ अस्ति जीव स्वत कालत	७ अस्ति जीव स्वत नियते
२ अस्ति जीव परत कालत	८ अस्ति जीव परत नियते
३ अस्ति जीव स्वत यदृच्छात	९ अस्ति जीव स्वत ईश्वरात्
४ अस्ति जीव परत यदृच्छात	१० अस्ति जीव परत ईश्वरात्
५ अस्ति जीव स्वत स्वभावत	११ अस्ति जीव स्वत आत्मन
६ अस्ति जीव परत स्वभावत	१२ अस्ति जीव परत आत्मन

जैसे जीव पद के १२ भेद होते है वैसे अजीवादि ६ के भी १२-१२ भेद होते है। अत जीवादि ७ के १२-१२ भेद होने से अक्रियावादी के कुल मिलाकर १२ × ७ = ८४ भेद हुए ॥११९४-११९८॥

३. अज्ञानवादी के ६७ भेद—कुत्सित ज्ञान द्वारा व्यवहार करने वाले अज्ञानी है। ये अज्ञानपूर्वक किये गये कर्मबध को विफल मानते है। इनका मानना है कि ज्ञान होना अच्छा नही हे। ज्ञान होगा तो परस्पर विवाद होगा जिससे राग-द्वेष पैदा होगे और भवभ्रमण बढेगा। जेसे किसी ने वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अन्यथा बात कह दी। यह सुनकर दूसरा ज्ञानी अहकार पूर्वक अपने ज्ञान की महत्ता बताने के लिये उससे विवाद करेगा। जिससे परस्पर तीव्र तीव्रतर राग-द्वेष व अहकार बढेगा। इससे भयकर कर्मो का बध होगा व भवभ्रमण बढेगा। इससे अज्ञान ही श्रेष्ठ है। अज्ञान की स्थिति मे न राग-द्वेष अहकार पैदा होता है और न कर्मबध ही होता है।
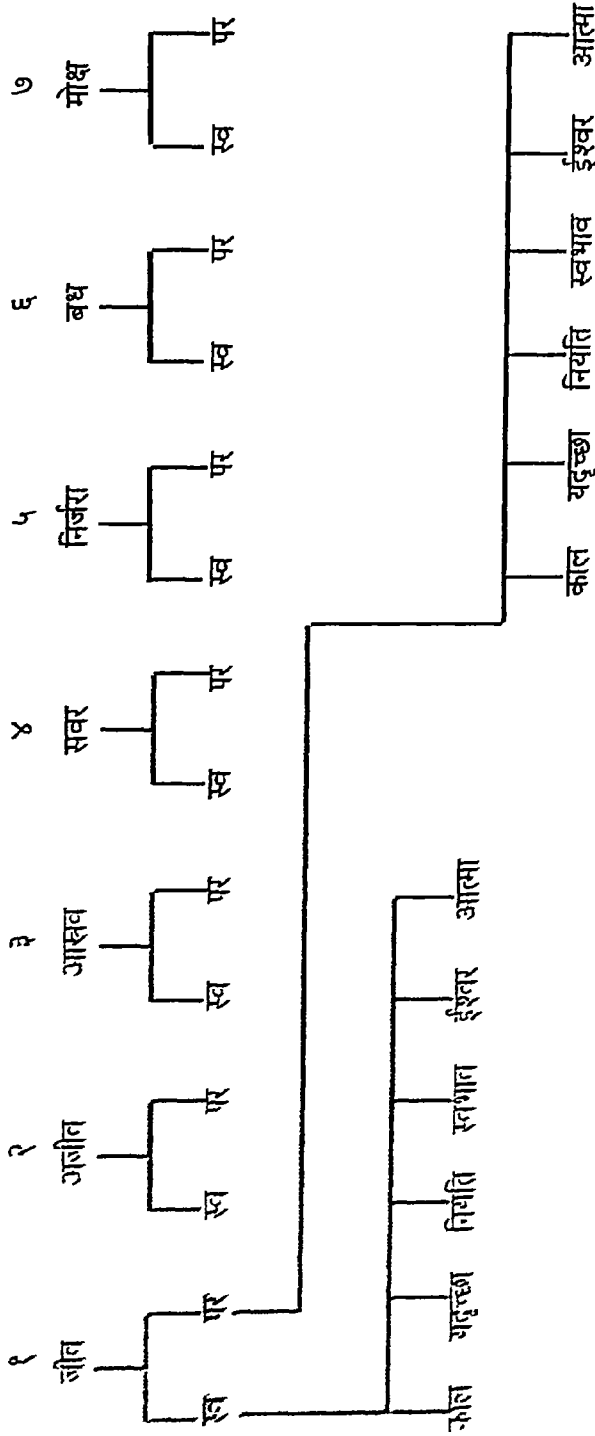
जैसे जीव के १२ भेद होते है वैसे अजीवादि ६ के भी १२-१२ भेद होते है।

अतः जीवादि ७ के १२-१२ भेद होने से अक्रियावादी के कुल मिलाकर १२ × ७ = ८४ भेद हुए।

ज्ञानपूर्वक बॉधा गया कर्म निकाचित-अवश्यमेव भोगने योग्य होता है, क्योकि वह तीव्र अध्यवसाय द्वारा बॉधा जाता है। पर जो कर्म मानसिक सजगता के बिना केवल वचन व काया के व्यापार से बॉधा जाता है वह निकाचित नही होता कि उसे अवश्य भोगना ही पडे। ऐसा कर्म, चूने से लिप्त अत्यन्त शुष्क दीवार पर लगी हुई धूल जैसे हलके से वायु के झोके से साफ हो जाती है वैसे अज्ञानता से बॉधा हुआ कर्म भी शुभ अध्यवसाय के झोके से साफ हो जाता है। अज्ञानी को मानसिक अभिनिवेश नही होता, मानसिक अभिनिवेश ज्ञानी को ही होता है। अत मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त मुमुक्षु के द्वारा अज्ञान को ही स्वीकार करना चाहिये। ज्ञान का स्वीकार तभी हो सकता है जबकि ज्ञान का कोई निश्चित स्वरूप हो। ज्ञान के स्वरूप के विषय मे सभी दार्शनिको का मन्तव्य भिन्न-भिन्न है। अत ज्ञान के विषय मे निर्णय नही किया जा सकता कि कौन सा ज्ञान सम्यग् है और कौन सा मिथ्या है। अत अज्ञान ही श्रेष्ठ है।

इनके मतानुसार जीवादि नौ तत्त्वो के प्रति सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य ये सात विकल्प होते है।

१. **सत्त्व**—प्रत्येक वस्तु स्वरूप से विद्यमान है। जैसे—किनारे, ग्रीवा, कपाल, कुक्षि, बुध्न आदि स्वपर्यायो से विवक्षित घट सत् है।

२. **असत्त्व**—प्रत्येक वस्तु परपर्याय से अविद्यमान है। जैसे त्वचा का रक्षण आदि करने रूप पट के पर्यायो से विवक्षित घट असत् है।

३. **सदसत्**—स्व-पर रूप से विवक्षित प्रत्येक वस्तु विद्यमान व अविद्यमान दोनो है। जैसे स्वपर पर्याय से विवक्षित घट सदसत् है। वस्तु का बोध करने के लिये प्रमाता किसी एक की विवक्षा करता है।

४. **अवक्तव्य**—स्व-पर पर्याय से एक साथ विवक्षित वस्तु अवक्तव्य है जैसे स्व-पर पर्याय की अपेक्षा एक साथ विवक्षित घट का वाचक शब्द न होने से 'घट' अवक्तव्य कहलाता है।

५. **सदवक्तव्य**—एक देश की अपेक्षा स्वपर्याय द्वारा सत्त्व रूप मे विशेषित तथा दूसरे देश की अपेक्षा स्वपर उभय पर्याय द्वारा सत्त्व व असत्त्वरूप मे विशेषित घट, वाचक शब्द के अभाव मे सदवक्तव्य कहलाता है। एक देश की अपेक्षा वह घट है तथा दूसरे देश की अपेक्षा वह अवक्तव्य है।

६. **असदवक्तव्य**—एक देश की अपेक्षा परपर्याय द्वारा असत्त्व रूप से विशेषित तथा दूसरे देश की अपेक्षा स्वपर उभय पर्याय द्वारा एक साथ सत्त्व व असत्त्वरूप मे विशेषित घट वाचक शब्द के अभाव मे 'असदवक्तव्य' कहलाता है। एक देश की अपेक्षा वह 'अघट' है तथा दूसरे देश की अपेक्षा वह अवक्तव्य है।

७. **सदसदवक्तव्य**—एक देश की अपेक्षा स्वपर्याय द्वारा सत्त्व रूप मे विशेषित, दूसरे देश मे पर पर्याय द्वारा असत्त्व रूप मे विशेषित तथा तीसरे देश मे स्व-पर उभय पर्याय द्वारा एक साथ विशेषित 'घट' वाचक शब्द के अभाव मे 'सदसदवक्तव्य' है अर्थात् एक देश मे घट है, दूसरे देश मे घट नहीं है तथा तीसरे देश मे वह अवक्तव्य है। इस प्रकार घट के सात भेद हुए। इस तरह पटादि का भी समझना चाहिये।

अज्ञानवादिओं के ६७ भेद

१	२	३	४	५	६	७	८	९
जीव	अजीव	पुण्य	पाप	आश्रव	सवर	निर्जरा	बध	मोक्ष

सत्त्व	असत्त्व	सत्त्वासत्त्व	अवक्तव्य	सत्त्व अवक्तव्य	असत् अवक्तव्य	सत्त्वासत्त्व-अवक्तव्य
१	२	३	४	५	६	७

जैंसे जीव के सत्त्वादि सात भेद है वैसे अजीवादि आठ पदो के भी सात-सात भेद होते है। इस प्रकार अज्ञानवादी के कुल मिलाकर ९ × ७ = ६३ भेद है।

१ भावोत्पति है — यह कौन जानता है और ऐसा जानने का प्रयोजन भी क्या है ?
२ भावोत्पति नही होती है — कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?
३ भावोत्पति सत्-असत् है — कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?
४ भावोत्पति अवक्तव्य है — कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?

पूर्वोक्त ४ भेदो को ६३ भेदो मे मिलाने पर कुल ६३ + ४ = ६७ भेद अज्ञानवादियो के होते है।

अज्ञानवादियो के मतानुसार जीवादि नो तत्त्वों के विषय मे पूर्वोक्त सात विकल्प होने से ९ × ७ = ६३ भेद हुए।

१ सन् जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ?

२ असन् जीवो इति को वेत्ति, कि वा तेन ज्ञातेन।

३ सदसन् जीवो इति को वेत्ति, कि वा तेन ज्ञातेन।

४ अवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, कि वा तेन ज्ञातेन।

५ सदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन।

६ असदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, कि वा तेन ज्ञातेन।

७ सदसदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन।

- कोई भी ऐसा विशिष्ट ज्ञानी नही है जो अतीन्द्रिय आत्मा का ज्ञान कर सके तथा आत्मा को जानने का कोई फल भी नही है। यदि कोई नित्य, सर्वगत, अमूर्त व ज्ञानादिगुणयुक्त अथवा इनसे विपरीत गुणयुक्त आत्मा को जाने भी तो उससे किस पुरुषार्थ की सिद्धि होगी ? अत आत्मा-जीव के विषय मे अज्ञान ही श्रेष्ठ है। यह प्रथम विकल्प का अर्थ है। इस प्रकार शेष विकल्पो का भी समझना चाहिये।

ये सात जीव तत्त्व के विकल्प हुए। इसी प्रकार अजीवादि आठ के साथ भी समझना। कुल नौ तत्त्वो के त्रेसठ विकल्प हुए। चार विकल्प 'उत्पत्ति' के साथ होते है। यथा—

१ सती भावोत्त्पत्ति को वेत्ति, कि वा तया ज्ञातया।

२ असती भावोत्त्पत्ति को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया।

३ सदसती भावोत्त्पत्ति को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया।

४ अवक्तव्या भावोत्त्पत्ति को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया।

१. **भावोत्त्पत्ति है**—यह कौन जानता है और ऐसा जानने का प्रयोजन भी क्या है ?

२. **भावोत्त्पत्ति नहीं होती है**—कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?

३. **भावोत्त्पत्ति सत्-असत् है**—कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?

४. **भावोत्त्पत्ति अवक्तव्य है**—कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?

'उत्पत्ति' के साथ शेष तीन विकल्प-सदवक्तव्य, असदवक्तव्य तथा सदसदवक्तव्य नही घट सकते, क्योकि ये तीनो विकल्प अवयव सापेक्ष है और उत्पत्तिकाल मे पदार्थ निरवयव होता है। अवयव उत्पत्ति के बाद बनते है। अत पदार्थ के उत्पत्तिकाल मे पिछले तीन विकल्प नही घट सकते।

पूर्वोक्त ४ भेदो को ६३ भेदो मे मिलाने पर कुल ६३ + ४ = ६७ भेद अज्ञानवादियो के होते है ॥११९९-१२०४॥ चार्ट पृष्ठ २३१ पर देखे।

४. **विनयवादी**—ये विनय को ही श्रेष्ठ मानते है। विनय का अर्थ है गर्व रहित विनम्रवृत्ति। इनका कहना है कि सुर = देव, राजा, मुनि, स्वजन, वृद्ध, दयनीय जीव भिखारी आदि, माता और पिता

इन आठो का मन, वचन, काया तथा देश कालोचित दान द्वारा विनय करने से स्वर्ग व मोक्ष मिलता है। इस प्रकार सुरादि आठ के साथ मन-वचन, काया और दान इन चारो के विकल्प करने से ८ × ४ = ३२ भेद विनयवादी के है।

बोलने का तरीका—

१ सुराणा विनय मनसा कर्त्तव्य।

२ सुराणा विनय वचसा कर्त्तव्य।

३ सुराणा विनय कायेन कर्त्तव्य।

४ सुराणा विनय दानेन कर्त्तव्य।

इस प्रकार राजा आदि ७ के साथ भी विनय के ४-४ समझना चाहिये।

- कुल विकल्प १८० + ८४ + ६७ + ३२ = ३६३ पाखडी के भेद होते है। इनके खडन का प्रकार 'सूत्रकृताग' आदि ग्रन्थो से जानना चाहिये ॥१२०५-१२०६ ॥

२०७ द्वार : प्रमाद—

पमाओ य मुणिदेहि, भणिओ अट्ठभेयओ।

अन्नाण ससओ चेव मिच्छानाण तहेव य ॥१२०७ ॥

रागो दोसो मइब्भसो धम्ममि य अणायरो।

जोगाण दुप्पणिहाण अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥१२०८ ॥

—गाथार्थ—

आठ प्रकार के प्रमाद—**तीर्थकर परमात्मा ने प्रमाद के आठ भेद बताये हे। १. अज्ञान, २ संशय, ३. मिथ्या ज्ञान, ४. राग, ५. द्वेष, ६. मतिभ्रश, ७ धर्म मे अनादर तथा ८ योगो की दुष्टप्रवृत्ति—यह आठ प्रकार का प्रमाद त्याज्य है ॥१२०७-०८ ॥**

—विवेचन—

प्रमाद = जो आत्मा को मोक्षमार्ग के प्रति शिथिल वनाता हे वह प्रमाद है। इसके ८ भेद है—

१. अज्ञान	=	मूढता।
२. सशय	=	सदेह, यह है अथवा यह हे।
३. मिथ्याज्ञान	=	विपरीत श्रद्धा
४. राग	=	आसक्ति, लगाव।
५. द्वेष	=	अप्रीति।

६. स्मृतिभ्रंश = विस्मृति।
७. अनादर = अर्हत परमात्मा के द्वारा प्रतिपादित धर्म के प्रति उद्यम न करना।
८. दुष्प्रणिधान = मन-वचन-काया की दुष्ट प्रवृत्ति।

आठो प्रकार का प्रमाद कर्मबंध का हेतु होने से त्याज्य है ॥१२०७-०८॥

२०८ द्वार : चक्रवर्ती—

भरहो सगरो मघव सणंकुमारो य रायसद्दूलो।
संती कुंथू य अरो हवइ सुभूमो य कोरव्वो ॥१२०९॥
नवमो य महापउमो हरिसेणो चेव रायसद्दूलो।
जयनामो य नरवई बारसमो बंभदत्तो य ॥१२१०॥

—विवेचन—

भरताधिप १२ चक्रवती है—

(i)	भरत	(ii)	सगर	(iii)	मघवा	(iv)	सनत्कुमार
(v)	शान्तिनाथ	(vi)	कुन्थुनाथ	(vii)	अरनाथ	(viii)	सुभूम
(ix)	महापद्म	(x)	हरिषेण	(xi)	जय	(xii)	ब्रह्मदत्त

॥१२०९-१०॥

२०९ द्वार : बलदेव—

अयले विजये भद्दे सुप्पभे य सुदसणे।
आणंदे नंदणे पउमे रामे यावि अपच्छिमे ॥१२११॥

—विवेचन—

(i)	अचल	(iv)	सुप्रभ	(vii)	नन्दन
(ii)	विजय	(v)	सुदर्शन	(viii)	रामचन्द्र
(iii)	भद्र	(vi)	आनन्द	(ix)	राम (कृष्णभ्राता-बलदेव) ॥१२११॥

२१० द्वार : वासुदेव—

तिविट्ठू य दुविट्ठू य सयभू पुरिसुत्तमे पुरिससीहे ।
तह पुरिसपुडरीए दत्ते नारायणे कण्हे ॥१२१२ ॥

—विवेचन—

(i)	त्रिपृष्ठ	(iv)	पुरुषोत्तम	(vii)	दत्त
(ii)	द्विपृष्ठ	(v)	पुरुषसिंह	(viii)	नारायण (लक्ष्मण)
(iii)	स्वयभू	(vi)	पुरुष पुडरीक	(ix)	कृष्ण ॥१२१२ ॥

२११ द्वार : प्रतिवासुदेव—

आसग्गीवे तारय मेरय मधुकेढवे निसुभे य ।
बलि पहराए तह रावणे य नवमे जरासधे ॥१२१३ ॥

—विवेचन—

(i) अश्वग्रीव (ii) तारक (iii) मेरक

(iv) मधुकैटभ (इनका नाम मधु ही है, किन्तु कैटभ नामक भ्राता के सम्बन्ध से इन्हे 'मधुकैटभ' कहा जाता है ।)

(v) निशुभ (vi) बलि (vii) प्रभाराज (प्रह्लाद)

(viii) रावण (ix) जरासध

- प्रतिवासुदेव क्रमश वासुदेवो के शत्रु है, सभी प्रतिवासुदेव 'चक्रायुध' है । युद्ध मे वासुदेव को मारने के लिए प्रतिवासुदेव चक्र छोडते है । किन्तु 'चक्र' वासुदेव का सहार करने के बजाय उन्हे प्रणाम करके उनके हाथ मे आ जाता है । वासुदेव उसी चक्र का प्रतिवासुदेव को मारने के लिये उपयोग करते है । इस प्रकार प्रतिवासुदेव अपने ही चक्र द्वारा मरते है ॥१२१३ ॥

२१२ द्वार : १४ रत्न—

सेणावइ गाहावइ पुरोहिय गय तुरय वड्डइ इत्थी ।
चक्कं छत्त चम्मं मणि कागिणि खग्ग दंडो य ॥१२१४ ॥

चक्कं खग्गं च धणू मणी य माला तहा गया संखो।
एए सत्त उ रयणा सव्वेसि वासुदेवाण ॥१२१५॥
चक्कं छत्तं दंडं तिन्निवि एयाइं वाममित्ताइं।
चम्म दुहत्थदीहं बत्तीसं अंगुलाइ असी ॥१२१६॥
चउरंगुलो मणी पुण तस्सद्धं चेव होइ विच्छिन्नो।
चउरगुलप्पमाणा सुवन्नवरकागिणी नेया ॥१२१७॥

—गाथार्थ—

चौदह रत्न—१. सेनापति २. गृहपति ३. पुरोहित ४. हाथी ५. घोड़ा ६. सुथार ७. स्त्रीरत्न ८. चक्र ९. छत्र १०. चर्म ११. मणि १२ काकिणी १३. खड्ग एव १४. दड—ये चौदह रत्न है ॥१२१४॥

वासुदेव के रत्न—१. चक्र २. खड्ग ३. धनुष ४ मणिरत्न ५. माला ६. गदा तथा ७. शंख—ये सात रत्न सभी वासुदेवों के होते है ॥१२१५॥

एकेन्द्रिय रत्नो का परिमाण—चक्र, छत्र एव दड इनका परिमाण तीन वाम का है। चर्मरत्न दो हाथ लंबा होता है। खड्गरत्न बत्तीस अङ्गुल का होता है। मणिरत्न चार अङ्गुल लंबा एवं दो अङ्गुल चौड़ा होता है। चार अङ्गुल परिमाण जाति सुवर्णमय काकिणी रत्न है ॥१२१६-१७॥

—विवेचन—

रत्न = अपनी जाति की सर्वोत्तम वस्तु 'रत्न' कहलाती है। ये १४ है। सेनापति आदि अपनी जाति मे शक्ति से उत्कृष्ट होने के कारण रत्न कहलाते है।

१ सेनापति	८ चक्र
२ गृहपति	९ छत्र
३ पुरोहित	१० चर्म
४ गज	११ मणि
५ तुरग	१२ काकिनी
६ वर्धकि	१३ खड्ग
७ स्त्री	१४ दण्ड

१. सेनापति — सेना का नायक, गगा-सिधु नदी के पारवर्ती देशो को विजय करने मे समर्थ।

२. गृहपति — चक्रवर्ती की गृहव्यवस्था का निर्वाह करने मे कुशल। गृहपति का काम शाली आदि धान्य, आम्र आदि फल तथा शाक आदि का उत्पादन करना है।

३. पुरोहित — शान्ति कर्म करने वाला।

४.-५. गज-तुरग — *अति वेगवान और महापराक्रमी होते है। (गज = हाथी, तुरग = घोडा)*

६. वर्धकि — गृह आदि का निर्माण करने वाला। जो तमिस्रागुफा व खण्ड प्रपातगुफा मे उन्मग्नजला व निमग्नजला नदी पर चक्रवर्ती की सेना को पार जाने के लिये पुल बनाता है।

७. स्त्रीरत्न — अद्‌भुत रूपवती और अतिशय रति-सुख देने वाली।

८. चक्र — समस्त आयुधो मे श्रेष्ठ व दुर्दमनीय शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने वाला।

९. छत्ररत्न — चक्रवर्ती के छत्र की यह विशेषता है कि समय आने पर चक्रवर्ती के हाथ का स्पर्श पाकर १२ योजन तक फैल जाता है। जब चक्रवर्ती दिग्विजय करते हुए वैताढ्य पर्वत पर जाता है तब उत्तर भाग मे रहने वाले म्लेच्छ लोक मेघकुमार का आह्वान करते है। उनके अनुरोध से मेघकुमार चक्रवर्ती के सैन्य पर भयकर वर्षा करता है। उस समय छत्ररत्न फैलकर सेना की रक्षा करता है। इस छत्र मे ९९ हजार स्वर्णमय शलाकाये होती है। इसका दण्ड निश्छिद्र, सुवर्णमय है। बस्तिप्रदेश (नीचे के भाग) मे पञ्जर से सुशोभित, राजलक्ष्मी का चिह्न रूप है। जिसका पृष्ठदेश अर्जुन-सुवर्ण के आस्तरण वाला है। जो छत्र फैलने के बाद ऐसा लगता है मानो पूनम का चॉद चमक रहा हो। जो धूप-वायु-वृष्टि आदि दोषो का नाशक है।

१०. चर्मरत्न — छत्र के नीचे बिछाया जाता है। यह भी छत्र की तरह चक्रवर्ती के हाथ का स्पर्श पाकर १२ योजन तक फैलता है। इसमे सवेरे बोया हुआ अनाज अपराह्न तक पककर तैयार हो जाता है।

११. मणिरत्न — मणिरत्न वैडूर्य का बना होता है। यह त्रिकोण व छह अशो वाला है। इसे छत्र और चर्मरत्न के बीच छत्र की तुवी मे रखते है। यह १२ योजन फैली हुई चक्रवर्ती की सेना को प्रकाश देने का काम करता है। तमिस्रागुफा व खण्डप्रपात गुफा मे प्रवेश करते समय इसे हस्तिरत्न के सिर के दक्षिणभाग मे बॉध देते है। जिससे तीनो दिशा प्रकाशित हो जाती है। जिसके हाथ व शिर मे यह मणि बॉध दी जाये उसको देव-मनुष्य-तिर्यचकृत उपद्रव व रोग कभी नही होते। इसे मस्तक या किसी अङ्ग मे

बाँधकर यदि कोई व्यक्ति युद्ध करने जाये तो उसे कभी शस्त्र नही लगता, वह सभी भय से मुक्त हो जाता है। यह मणि जिसके मणिबध पर बँधा होता है उसका यौवन, केश व नख सदा अवस्थित रहते है।

१२. काकिणीरत्न — सुवर्णरत्न, चौकोर तथा विष-नाशक है। जहाँ सूर्य, चन्द्र व दीपक का प्रकाश उपयोगी नही बनता ऐसी तमिस्रागुफा मे चक्रवर्ती की सेना को प्रवेश करने मे यह रत्न अति उपयोगी है। इसकी किरणे १२ योजन तक प्रकाश फैलाती है। चक्रवर्ती की सेना मे यह रात को दिन की तरह प्रकाशित करता है। काकिणी रत्न के द्वारा चक्रवर्ती तमिस्रा गुफा की पूर्व-पश्चिम की दीवारो पर क्रमश २५ व २४ कुल ४९ मण्डल (प्रकाशपुज) बनाता है। ये मण्डल ५०० धनुष प्रमाण गोल-विस्तृत, एक योजन तक प्रकाश करने वाले, परस्पर एक-एक योजन दूर चक्र की नेमि के आकार वाले, चन्द्र मण्डल सदृश वृत्ताकार, सुवर्णमयी रेखारूप गोमूत्रिका की रचना की तरह व्यवस्थित होते है। जैसे—

ये मण्डल तभी तक यथावस्थित रहते है जब तक चक्रवर्ती अपने पद पर रहता है। गुफा का द्वार भी तभी तक खुला रहता है। बाद मे दोनो क्रमश नष्ट व बन्द हो जाते है।

१३. खड्गरत्न — युद्ध मे जिसकी शक्ति अजेय होती है।

१४. दण्डरत्न — रत्नमय पाँच लताओ वाला, वज्र के सत्त्व से निर्मित शत्रु की सेना का नाशक, चक्रवर्ती की सेना के लिये विषम व उन्नत भू-भाग को समतल बनाने वाला। शान्ति कर्ता व चक्रवर्ती के हितकारी इच्छित मनोरथो को पूरा करने वाला। दिव्यशक्तिसपन्न, अजेय व विशेष प्रयत्न से भूमि मे १००० योजन नीचे तक प्रवेश करने मे समर्थ है।

- प्रत्येक रत्न १००० देवो से अधिष्ठित रहता है। प्रथम सात रत्न पचेन्द्रिय है। चक्रादि सात रत्न एकेन्द्रिय व पृथ्विकाय रूप है। ये सात रत्न जबूद्वीप मे जघन्य से २८ होते है क्योंकि जघन्य से एक साथ ४ चक्रवर्ती हो सकते है। परन्तु उत्कृष्ट से ये रत्न २१० होते है, क्योंकि एक साथ जबूद्वीप मे ३० चक्रवर्ती हो सकते है। २८ विदेह मे और एक-एक भरत व ऐरवत क्षेत्र मे। सात को तीस से गुणा करने पर ३० × ७ = २१० रत्न हुए ॥१२१४॥

• **वासुदेव के रत्न**—वासुदेव के ७ रत्न होते है।

(i) चक्र (ii) खड्ग (iii) धनुष (iv) मणि (v) माला, जो कभी नही कुम्हलाती व देव प्रदत्त होती है (vi) गदा, प्रहरण विशेष, जिसका नाम कौमोदकी है (vii) शख, पॉचजन्य नामक जिसकी ध्वनि १२ योजन तक फैलती है ॥१२१५॥

• **रत्नो का प्रमाण—**
• १ चक्र, छत्र व दण्ड, ये तीनो रत्न व्यामप्रमाण है।
• व्याम = दोनो हाथ फैलाकर खडे हुए पुरुष के दोनो हाथो की अङ्गुलियो का अन्तराल 'व्याम' कहलाता है।

४ चर्म रत्न दो हाथ विस्तृत होता है। ५ खड्गरत्न ३२ अङ्गुल विस्तृत है। ६ मणिरत्न ४ अङ्गुल लम्बा और २ अङ्गुल चौडा है। ७ सुवर्णकाकिणी ४ अङ्गुल प्रमाण है। सातो ही एकेन्द्रिय रत्नो का माप चक्रवर्ती के आत्मागुल से मापा जाता है। पर शेष सात पचेन्द्रिय रत्नो का माप तत् तत् कालीन पुरुषोचित प्रमाण से परिच्छेद्य होता है ॥१२१६-१७॥

२१३ द्वार : नवनिधि ९—

नेसप्पे पडुयए पिगलए सव्वरयण महपउमे।
काले य महाकाले माणवग महानिही सखे ॥१२१८॥
नेसप्पभि निवेसा गामगरनगरपट्टणाण च।
दोणमुहमडबाण खंधाराणं गिहाण च ॥१२१९॥
गणियस्स य गीयाणं माणुम्माणस्स ज पमाण च।
धन्नस्स य बीयाणं उप्पत्ती पंडुए भणिया ॥१२२०॥
सव्वा आहरणविही पुरिसाणं जा य जा य महिलाण।
आसाण य हत्थीण य पिगलगनिहिम्मि सा भणिया ॥१२२१॥
रयणाइ सव्वरयणे चउदस पवराइं चक्कवट्टीण।
उप्पज्जति एगिदियाइ पचिंदियाइ च ॥१२२२॥
वत्थाण य उप्पत्ती निप्फत्ती चेव सव्वभत्तीण।
रंगाण य धाऊण य सव्वा एसा महापउमे ॥१२२३॥

काले कालन्नाण भव्व पुराण च तिसुवि वंसेसु।
सिप्पसयं कम्माणि य तिन्नि पयाए हियकराइं ॥१२२४॥
लोहस्स य उप्पत्ती होइ महाकाल आगराण च।
रूप्पस्स सुवण्णस्स य मणिमोत्तियसिलप्पवालाणं ॥१२२५॥
जोहाण य उप्पत्ती आवरणाण च पहरणाणं च।
सव्वा य जुद्धनीई माणवगे दंडनीई य ॥१२२६॥
नट्टविही नाडयविही कव्वस्स चउव्विहस्स निप्फत्ती।
संखे महानिहिम्मि उ तुडियंगाणं च सव्वेसि ॥१२२७॥
चक्कट्ठपइट्ठाणा अट्ठुस्सेहा य नव य विक्खंभे।
बारस दीहा मंजूससठिया जण्हवीए मुहे ॥१२२८॥
वेरुलियमणिकवाडा कणयमया विविहरयणपडिपुन्ना।
ससिसूरचक्कलक्खण अणुसमवयणोववत्तीया ॥१२२९॥
पलिओवमट्ठिईया निहिसरिनामा य तत्थ खलु देवा।
जेसि ते आवासा अक्केज्जा आहिवच्चाय ॥१२३०॥
एए ते नव निहिणो पभूयधणरयणसंचयसमिद्धा।
जे वसमुवगच्छंति सव्वेसि चक्कवट्टीण ॥१२३१॥

—गाथार्थ—

नवनिधि—१. नैसर्प २. पांडुक ३. पिंगलक ४. सर्वरत्न ५. महापद्म ६. काल ७. महाकाल ८. माणवक एवं ९. शंख—ये नौ महानिधि है ॥१२१८॥

१ नैसर्पनिधि—नैसर्पनिधि में गॉव, खान, नगर, पत्तन, द्रोणमुख, मडंब, स्कंधावार एवं घर आदि के स्थापन की विधि बताई गई है ॥१२१९॥

२ पाडुकनिधि—गणित, संगीत एवं मान-उन्मान का प्रमाण तथा धान्य सम्बन्धी बीजो की उत्पत्ति का वर्णन पांडुकनिधि में कहा गया है ॥१२२०॥

३ पिंगलनिधि—पुरुष, स्त्री, घोड़े, हाथी आदि की यथोचित आभरण-अलंकरण की सपूर्ण विधि, इस निधि में बताई गई है ॥१२२१॥

४ सर्वरत्ननिधि—सभी रत्नों में चक्रवर्ती के चौदह रत्न सर्वश्रेष्ठ होते हैं। ये रत्न इस निधि से उत्पन्न होते हैं ॥१२२२॥

५ महापद्मनिधि—सभी प्रकार के वस्त्रों के निर्माण की विधि, रचना विशेष, रग, धातु आदि के निर्माण की विधि इस निधि में वर्णित हैं।

६ कालनिधि—इस निधि मे काल सम्बन्धी ज्ञान, तीनों वंशों मे होने वाले भूत-भावी-वर्तमान सम्बन्धी महापुरुषों का वर्णन तथा प्रजा के लिये हितकारी शिल्प एवं त्रिविध कर्म का वर्णन किया गया है।।१२२४।।

७ महाकालनिधि—महाकालनिधि में लोहा, चाँदी, सोना, मणि, मोती, स्फटिक आदि शिलायें तथा मूगा आदि की उत्पत्ति तथा इनकी खानों का वर्णन है।।१२२५।।

८ माणवकनिधि—योद्धा, कवच तथा शस्त्रों की उत्पत्ति, सभी प्रकार की युद्धनीति एवं दंडनीति माणवकनिधि में वर्णित है।।१२२६।।

९ शखमहानिधि—सभी प्रकार की नृत्यविधि, नाटकविधि, चतुर्विध काव्यो की रचनाविधि तथा सभी प्रकार के वादित्रों की उत्पत्ति की विधि इस निधि में वर्णित है।।१२२७।।

प्रत्येक निधि आठ चक्रों पर प्रतिष्ठित, आठ योजन ऊँची, नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लंबी पेटी में स्थित है तथा गंगा के मुख प्रदेश में विराजमान है।।१२२८।।

इन निधिओं के दरवाजे वैडूर्यमणि के है। उन पर विविध रत्नो से जड़ित स्वर्णमय चन्द्र, सूर्य एव चक्र के चिह्न है। इन दरवाजो में प्रतिसमय पुद्गलो का चय-उपचय होता रहता है।।१२२९।।

ये निधियाँ निधितुल्य नाम वाले, एक पल्योपम की आयु वाले देवो का आश्रय स्थान है। इन निधियों पर देवों का आधिपत्य अक्रेतव्य है अर्थात् स्वाभाविक है।।१२३०।।

ये निधियाँ प्रभूत धन-रत्नों के संग्रह से समृद्ध है और सभी चक्रवर्तियों के वश मे रहती है।।१२३१।।

—विवेचन—

१ नैसर्प	२ पाण्डुक	३ पिगलक
४ सर्वरत्न	५ महापद्म	६ काल
७ महाकाल	८ माणवक	९ शख

पूर्वोक्त नव-निधानो मे सपूर्ण विश्व की व्याख्या करने वाली कल्प पुस्तके है। इसीलिये ये निधान = अपूर्व खजाना कहलाते है। किस निधि मे किस की व्याख्या बताई है, उसका वर्णन निम्नलिखित है।।१२१८।।

१. नैसर्प — इस निधि मे ग्राम, आकर, नगर, पत्तन, द्रोणमुख, मडम्ब, स्कन्धावार, गृह व आपणो की रचना से सम्बन्धित व्याख्या है।

- ग्राम = जिसके चारो ओर वाड लगी हो। आकर = खान, जहाँ नमक आदि उत्पन्न होते हो। नगर = राजधानी। पत्तन = जहाँ जल-स्थल दोनो मार्गो से निर्गम-प्रवेश अर्थात् गमनागमन होता हो। द्रोणमुख = जहाँ केवल जल मार्ग से ही निर्गम व प्रवेश हो। मडम्ब = जिसके चारो ओर ढाई कोस तक कोई गाँव न हो। स्कधावार = सेना की छावनी। गृह = घर, भवन। आपण = दुकान।।१२१९।।

२. पाण्डुक — इस निधि मे, गणित, गीत, मान-उन्मान तथा देश कालोचित शाली आदि धान्यो की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रक्रियाओं की व्याख्या है।

- गणित = जिसके द्वारा अशर्फियाँ, सुपारी आदि फलो की गणना की जाती है। गीत = स्वर, ताल, लय, विविध प्रकार की राग-रागिनियो से सम्बन्धित व्याख्या। मान = जिससे धान्य मापा जाता है ऐसे माप। उन्मान = जिससे शक्कर, गुड आदि तोला जाता है वह तराजू, बाट, तोला, मापा आदि ॥१२२० ॥

३. पिंगलक — पुरुष, स्त्री, हाथी व घोडो के पहिनने योग्य आभूषण बनाने की विधि जिसमे बताई गई है ॥१२२१ ॥

४. सर्वरत्न — चक्रवर्ती के योग्य चौदह रत्नो की उत्पत्ति का स्वरूप जिसमे वर्णित है। चौदह रत्न इस निधि से उत्पन्न होते है, ऐसा भी किसी का मानना है। उत्पन्न होने का अर्थ है इस निधि के प्रभाव से चौदह रत्न तेजस्वी बनते है ॥१२२२ ॥

५. महापद्म — वस्त्रो के विविध रग, अनेक प्रकार की डिजाइने, लोहा, ताँबा आदि धातुओ की उत्पत्ति की विधि इस निधि मे बताई गई है। कही पर 'धोव्वाण य' ऐसा भी पाठ है, जिसका अर्थ है कि सभी तरह के वस्त्रो को धोने की विधि महापद्म निधि मे बताई है ॥१२२३ ॥

६. काल — कालनिधि मे ज्योतिष् सम्बन्धी ज्ञान है। तीर्थकर, बलदेव व वासुदेव के वश मे जो हो चुका, जो हो रहा है तथा जो होगा इन सब का ज्ञान कालनिधि से होता है। कही पर 'तिसुवि वासेसु' ऐसा भी पाठ है, उसका अर्थ है। अतीत के तीन वर्ष तथा आगामी तीन वर्ष तक का ज्ञान इस निधि से होता है। कही पर 'भव्वपुराण च तिसुवि कालेसु' ऐसा भी पाठ है। जिसका अर्थ है—इस निधि से त्रैकालिक शुभाशुभ का ज्ञान होता है। कुभार, लुहार, चित्रकार, बुनकर व नाई आदि पाच शिल्प अपने सौ-सौ प्रभेदो सहित तथा कृषिकर्म, वाणिज्य आदि प्रजा हितकारी कलाओ का भी इसमे सप्रभेद वर्णन है ॥१२२४ ॥

७. महाकाल — लोहे के अनेक भेदो की उत्पत्ति इस निधि मे वर्णित है। साथ ही इसमे चाँदी, सोना, चन्द्रकान्तादि मणियाँ, मोती स्फटिकादि रत्न तथा मूगे आदि की खानो का भी वर्णन है ॥१२२५ ॥

८. माणवक — इस निधि मे योद्धाओ से सम्बन्धित कवच, खड्ग आदि शस्त्र, व्यूहरचना, साम, दाम, दण्ड, भेद रूप नीति आदि का वर्णन है ॥१२२६ ॥

९. शंख — नाना प्रकार के नृत्य, नाटक, धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष से सम्बन्धित काव्य अथवा सस्कृत-प्राकृत, अपभ्रश व विविध भाषा मे रचित गद्य-पद्य-गेय व चम्पूरूप चतुर्विध काव्यो की रचना विधि इस निधि मे वर्णित है। अनेक प्रकार के वादित्रो को बनाने की विधि भी इसमे बताई गई है। अन्यमते—पूर्वोक्त सभी पदार्थ नौ निधियो मे से साक्षात् उत्पन्न होते है ॥१२२७॥

निधियों का स्वरूप—

प्रत्येक निधि ८-८ चक्र पर प्रतिष्ठित है। इन निधियो की लबाई, चौडाई व ऊँचाई क्रमश· १२, ९ व ८ योजन है। इनका निवास स्थान गगा नदी का मुख है। पाताल से भरत विजय करने के पश्चात् जब चक्रवर्ती अपने नगर की ओर लौटता है तब ये निधियाँ पाताल से निकलकर चक्रवर्ती का स्वत अनुगमन करती है। ये निधियाँ सुवर्णमय है। इनके कपाट वैडूर्यमणि से निर्मित व समतल है। ये विविधरत्नो से परिपूर्ण चन्द्र, सूर्य व चक्र के आकारो से चिह्नित है। कही *'अणुवम'* ऐसा पाठ है। उसका अर्थ है कि—निधियो का स्वरूप अनुपमेय है। कही पर *'अणुसमयचयणोववत्तीय'* ऐसा भी पाठ है। जिसका अर्थ है कि—प्रतिसमय इन निधियो मे से पुद्गलो का पूरण-गलन होता रहता है। **स्थानांग** मे निधियो का वर्णन करते हुए *'अणुसमजुगबाहुवयणा य'* ऐसा पाठ है। इसका अर्थ है कि 'समतल' यज्ञ के खभे की तरह गोल तथा लबी-लबी द्वार शाखाये जिनके मुख पर है। उन निधियो के निधि सदृश नाम वाले, एक पल्योपम की आयु वाले अधिष्ठाता देव है। ये निधियाँ उनका सहज आश्रय स्थान है।

प्रभूत धन-रत्न के समूह से समृद्ध ये निधियाँ चक्रवर्ती बनने के पश्चात् सभी चक्रवर्तियो के वश मे आ जाती है ॥१२२८-३१॥

२१४ द्वार : जीव-संख्या—

नमिउं नेमि एगाइजीवसखं भणामि समयाओ।
चेयणजुत्ता एगे भवत्थसिद्धा दुहा जीवा ॥१२३२॥
तस थावरा य दुविहा तिविहा थीपुंनपुंसगविभेया।
नारयतिरियनरामरगइभेयाओ चउब्भेया ॥१२३३॥
अहव तिवेयअवेयगसरूवओ वा हवंति चत्तारि।
एगबितिचउपणिंदिय रूवा पंचप्पयारा ते ॥१२३४॥

एए च्चिय छ अणिदियजुत्ता अहवा छ भूजलग्गिनिला।
वणतससहिया छप्पिय ते सत्त अकायसंवलिया ॥१२३५ ॥
अंडय रसय जराउय संसेयय पोयया समुच्छिमया।
उब्भिय तहोववाइय भेएण अट्ठहा जीवा ॥१२३६ ॥
पुढवाइ पंच बितिचउपणिंदि जुत्ता य नवविहा हुंति।
नारयनपुंस तिरिनरतिवेय सुरथीपुमेव वा ॥१२३७ ॥
पुढवाइ अट्ठ असन्नि सन्नि दस ते ससिद्ध इगदसउ।
पुढवाइया तसंता अपज्जपज्जत्त बारसहा ॥१२३८ ॥
बारसवि अतणुजुत्ता तेरस सुहुमियरेगिंदिबेइंदी।
तिय चउ असन्नि सन्नी अपज्ज-पज्जत्त चउदसहा ॥१२३९ ॥
चउदसवि अमलकलिया पनरस तह अडगाइ जे अट्ठ।
ते अपज्जत्तगपज्जत्तभेयओ सोलस हवंति ॥१२४० ॥
सोलसवि अकायजुया सतरस नपुमाइ नव अपज्जत्ता।
पज्जत्ता अट्ठारस अकम्म जुअ ते इगुणवीसं ॥१२४१ ॥
पुढवाइ दस अपज्जा पज्जत्ता हुंति वीस सखाए।
असरीरजुएहि तेहि वीसई होइ एगहिया ॥१२४२ ॥
सुहुमियरभूजलानलवाउवणाणंत दस सपत्तेआ।
बिति-चउ-असन्नि-सन्नी अपज्ज-पज्जत्त बत्तीसं ॥१२४३ ॥
तह नरयभवणवणजोइकप्पगेवेज्जऽणुत्तरुप्पन्ना।
सत्तदसऽडपणबारस नवपणछप्पन्नवेउव्वा ॥१२४४ ॥
हुंति अडवन्नसंखा ते नरतेरिच्छसंगया सव्वे।
अपजत्तपजत्तेहि सोलसुत्तरसयं तेहिं ॥१२४५ ॥
सन्निदुगहीण बत्तीससंगयं तं सय छयत्तालं।
त भव्वाभव्वगदूरभव्वा आसन्नभव्व च ॥१२४६ ॥
ससारनिवासीण जीवाण सय इमं छयत्तालं।
अप्पं व पालियव्व सिवसुहकंखीहिं जीवेहि ॥१२४७ ॥

सिरिअम्मएवमुणिवइ विणेयसिरिनेमिचदसूरीहि।
सपरहियत्थं रइय कुलयमिण जीवसखाए॥१२४८॥

—गाथार्थ—

जीव सख्या कुलक—नेमिनाथ परमात्मा को नमस्कार करके एकविध, द्विविध आदि जीवों की संख्या सिद्धान्त के अनुसार कहूँगा। जीव का एक प्रकार चेतना लक्षण है। संसारी और सिद्ध के भेद से जीव, द्विविध है॥१२३२॥

त्रस और स्थावर के भेद से ससारी जीवों के दो भेद है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक के भेद से त्रिविध जीव है। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव गति के भेद से जीव चतुर्विध है॥१२३३॥

अथवा तीन वेद वाले और अवेदी इस प्रकार से भी चतुर्विध है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पञ्चेन्द्रिय के भेद से जीव पंचविध है॥१२३४॥

पूर्वोक्त पंचविध जीवभेद के साथ एक भेद अनीन्द्रिय का जोडने से षड्विध जीव होते है। अथवा जीव के छ भेद इस प्रकार भी होते है—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति एवं त्रस। इनके साथ 'अकाय' जोड़ने से सात प्रकार के जीव होते है॥१२३५॥

अंडज, रसज, जरायुज, संस्वेदज, पोतज, समूर्च्छिम, उद्भिज तथा औपपातिक इस प्रकार अष्टविध जीव भेद है॥१२३६॥

पृथ्विकाय आदि पॉच जीव भेदो के साथ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पचेन्द्रिय—इन चार जीव-भेदों को जोड़ने से नवविध जीव होते है॥१२३७॥

पॉच स्थावर और तीन विकलेन्द्रिय—इन आठ जीव भेदो के साथ पंचेन्द्रिय के सज्ञी और असज्ञी दो जीव भेद जोड़ने से दश प्रकार के जीव होते है। पूर्वोक्त दश भेद सिद्ध सहित ग्यारह होते है। पृथ्वी आदि छ काय के पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलकर कुल बारह प्रकार के जीव होते है॥१२३८॥

पूर्वोक्त बारह जीव भेद के साथ 'अशरीरी' जोडने से तेरह जीव के भेद होते है। सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि तीन तथा सज्ञी-असज्ञी पञ्चेन्द्रिय इन सातो के पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलकर कुल चौदह जीव भेद हुए॥१२३९॥

पूर्वोक्त चौदह जीव भेदों के साथ सिद्ध को मिलाने से पन्द्रह जीव भेद होते है। अडज आदि आठ जीव भेदो के पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो-दो जीवभेद करने से कुल सोलह जीवभेद होते है॥१२४०॥

पूर्वोक्त सोलह भेद में 'अशरीरी' जोड़ने से सत्रह जीव भेद होते है। पूर्वोक्त नपुसकादि नौ भेद के पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलकर अट्ठारह जीवभेद और इनमे सिद्ध का एक भेद जोडने से कुल उन्नीस जीव भेद होते है॥१२४१॥

पृथ्विकाय आदि दस जीवों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता बीस जीव भेद हुए। इनके साथ सिद्ध का एक भेद जोड़ने से इक्कीस जीवभेद होते है॥१२४२॥

सूक्ष्म और बादर पृथ्विकाय, अप्काय, तेउ, वायु, अनत वनस्पति—ये दस भेद तथा प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असंज्ञी-संज्ञी पञ्चेन्द्रिय—इन सभी के पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलाने से कुल जीव भेद बत्तीस होते है ॥१२४३॥

वैक्रिय शरीरी जीवों के छप्पन्न भेद है। यथा सात नरक, दस भवनपति, आठ व्यन्तर पाँच ज्योतिषी, बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने वाले जीव। इनमे मनुष्य और तिर्यच ये दो जीवभेद मिलाने से कुल अट्ठावन जीवभेद होते है। अट्ठावन के पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो-दो भेद होने से कुल एक सौ सोलह जीवभेद होते है ॥१२४४-४५॥

जीवों के बत्तीस भेदों में सञ्ज्ञीद्विक न्यून करके शेष तीस भेदो को एक सौ सोलह जीवभेदो के साथ जोड़ने से जीवों के एक सौ छयालीस भेद भी होते है। पूर्वोक्त एक सौ छयालीस जीवभेदो का समावेश भव्य, अभव्य, दुर्भव्य और आसन्नभव्य इन चार भेदो मे होता है। इन जीवभेदो को समझकर शिवसुख के इच्छुक आत्माओ को इनका आत्मवत् पालन करना चाहिये।।१२४६-४७॥

श्री आम्रदेव मुनिपति के शिष्य श्री नेमिचन्द्रसूरि ने स्वपर के हित के लिये 'जीवसंख्या नामक' कुलक की रचना की है॥१२४८॥

—विवेचन—

नेमिनाथ भगवान को नमस्कार करके एकविध, द्विविध आदि जीवो की सख्या सिद्धातानुसार कहूँगा।

एकविध

द्विविध

त्रिविध

पंचविध — एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पचेन्द्रिय।

षड्विध — एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय (सिद्ध) अथवा पृथ्वी, अप्, तेउ, वाउ, वनस्पति और त्रस।

सप्तविध — पृथ्वी, अप्, तेउ, वाउ, वनस्पति, त्रस और अकाय (सिद्ध)।

अष्टविध—

(i) **अंडज** — अडे मे पैदा होने वाले जीव। जैसे पक्षी, मत्स्य, सर्प, छिपकली आदि।

(ii) **रसज** — रस मे पैदा होने वाले जीव। जैसे छाछ, दही आदि मे पैदा होने वाले कृमि।

(iii) **जरायुज** — जरायु सहित पैदा होने वाले जीव, जैसे गाय, भैस, मनुष्य आदि।

(iv) **संस्वेदज** — पसीने मे पैदा होने वाले जीव। जैसे जू, खटमल, लीख आदि।

(v) **पोतज** — चर्म की थैली के आवरण सहित जन्म लेने वाले जीव, जैसे हाथी, जौक चमगादड़ आदि।

(vi) **संमूर्च्छिम** — तथाविध वर्ण, गध, रस आदि के सयोग से पैदा होने वाले जीव। जैसे मक्खी, मच्छर, चींटी आदि।

(vii) **उद्भेदज** — भूमि के भीतर से उत्पन्न होने वाले जीव। जैसे पतगे, खद्योत आदि।

(viii) **उपपातज** — देव-शय्या मे सहज रूप से पैदा होने वाले देवादि एव कुभी मे उत्पन्न होने वाले नारक।

नवविध—

(i)	पृथ्वीकाय	(iv)	वायुकाय	(vii)	त्रीन्द्रिय
(ii)	अप्काय	(v)	वनस्पतिकाय	(viii)	चतुरिन्द्रिय
(iii)	तेउकाय	(vi)	द्वीन्द्रिय	(ix)	पचेन्द्रिय

दशविध — पूर्वोक्त अष्टविध जीव के भेदो मे असज्ञी, सज्ञी ये दो भेद मिलाने से = दशविध जीव के भेद होते हैं।

एकादशविध — पूर्वोक्त दशविध जीव के भेदो मे सिद्ध का एक भेद मिलाने से = एकादशविध जीव के भेद होते हैं।

द्वादशविध—

(i)	पृथ्वी	(iv)	वाउ
(ii)	अप्	(v)	वनस्पति और
(iii)	तेउ	(vi)	त्रस

इन छ के पर्याप्ता और अपर्याप्ता कुल मिलाकर = १२ जीव भेद।

त्रयोदशविध—

पूर्वोक्त बारह और सिद्ध का एक भेद = १३ भेद।

चतुर्दशविध—

(i)	सूक्ष्म एकेन्द्रिय	(iv)	त्रीन्द्रिय	(vii)	असज्ञी पचेन्द्रिय
(ii)	बादर एकेन्द्रिय	(v)	चतुरिन्द्रिय		
(iii)	द्वीन्द्रिय	(vi)	सज्ञी पचेन्द्रिय		

इन सातो के पर्याप्ता-अपर्याप्ता मिलकर = १४ जीव भेद होते है।

१५ प्रकार — पूर्वोक्त १४ मे एक भेद सिद्ध का जोडने से = १५ जीव भेद होते है।

१६ प्रकार — अडज आदि आठ जीवो के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ८ + ८ = १६ जीव भेद।

१७ प्रकार — पूर्वोक्त सोलह जीव भेदो मे एक भेद सिद्ध का जोडने से = १७ जीव भेद।

१८ प्रकार — निम्न नौ प्रकार के जीवो के पर्याप्ता-अपर्याप्ता।

(i)	मानव स्त्री	(iv)	तिर्यच स्त्री	(vii)	नारक नपुसक
(ii)	मानव पुरुष	(v)	तिर्यच पुरुष	(viii)	देव स्त्री
(iii)	मानव नपुसक	(vi)	तिर्यच नपुसक	(ix)	देव पुरुष

१९ प्रकार — सिद्ध सहित पूर्वोक्त अठारह = १९ जीव भेद।

२० प्रकार — निम्न दशविध जीवो के पर्याप्ता-अपर्याप्ता।

(i)	पृथ्वी	(iv)	वायु	(vii)	त्रीन्द्रिय	(x)	असज्ञी पचेन्द्रिय
(ii)	अप्	(v)	वनस्पति	(viii)	चतुरिन्द्रिय		
(iii)	तेउ	(vi)	द्वीन्द्रिय	(ix)	सज्ञी पचेन्द्रिय		

२१ प्रकार — सिद्ध सहित पूर्वोक्त बीस = २१ जीव भेद।

३२ प्रकार — (i) सूक्ष्म पृथ्वीकाय (ii) बादर पृथ्वीकाय (iii) सूक्ष्म अप्काय (iv) बादर अप्काय (v) सूक्ष्म तेउकाय (vi) बादर तेउकाय (vii) सूक्ष्म वायुकाय (viii) बादर वायुकाय (ix) सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय (x) बादर साधारण वनस्पतिकाय (xi) बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय (xii) द्वीन्द्रिय (xiii) त्रीन्द्रिय (xiv) चतुरिन्द्रिय (xv) सज्ञी पचेन्द्रिय (xvi) असज्ञी पचेन्द्रिय

इन १६ जीव भेदो के पर्याप्ता, अपर्याप्ता दो-दो भेद होने से कुल मिलाकर जीव के १६ × २ = ३२ भेद हुए।

५६ प्रकार—

(i)	नारक	=	७ (रत्नप्रभा आदि ७ नारकी मे पैदा होने वाले जीव)
(ii)	भवनपति	=	१० (असुर आदि १० निकाय के देव)
(iii)	व्यन्तर	=	८ (यक्ष ....राक्षस आदि)
(iv)	ज्योतिष्	=	५ (सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा)
(v)	कल्प	=	१२ (सौधर्म, ईशान आदि १२ देवलोक के देव)
(vi)	ग्रैवेयक	=	९ (सुदर्शन सुप्रतिबद्ध आदि ग्रैवेयक के देव)
(vii)	अनुत्तर	=	५ (विजय ..वैजयन्त आदि के देव)
			— ५६ जीव (वैक्रिय शरीरी हैं)

५८ प्रकार — पूर्वोक्त ५६ भेद मे मनुष्य और तिर्यच ये २ मिलाने से ५८ भेद होते है।

११६ प्रकार — पूर्वोक्त ५८ के पर्याप्ता और अपर्याप्ता = ११६ भेद है।

१४६ प्रकार—

(i) सूक्ष्म पृथ्वीकाय
(ii) बादर पृथ्वीकाय
(iii) सूक्ष्म अप्काय
(iv) बादर अप्काय
(v) सूक्ष्म तेउकाय
(vi) बादर तेउकाय
(vii) सूक्ष्म वायुकाय
(viii) बादर वायुकाय
(ix) सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय
(x) बादर साधारण वनस्पतिकाय
(xi) बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय
(xii) द्वीन्द्रिय
(xiii) त्रीन्द्रिय
(xiv) चतुरिन्द्रिय
(xv) असज्ञी पचेन्द्रिय

पूर्वोक्त जीव पर्याप्ता-अपर्याप्ता के भेद से २-२ प्रकार के है अत कुल जीव भेद १५ × २ = ३० है। इनमे उपर्युक्त ११६ जीव भेद मिलाने से ११६ + ३० = १४६ जीव भेद होते है।

- ११६ के अन्तर्गत देव, मनुष्य, नरक और तिर्यच ये चारो ही आ जाते है, इसलिये सज्ञी पचेन्द्रिय के भेद यहाँ अलग से ग्रहण नही किये।

१४६ जीव भेदो मे भव्य, अभव्य, दूरभव्य और आसन्नभव्य ४ प्रकार के जीव होते है।

(i) भव्य — मोक्ष जाने की योग्यता वाले। ये निश्चित मोक्ष जायेगे ही, ऐसा नियम नही है। भव्यत्व अनादिकालीन है। यह कभी नष्ट नहीं होता। इनमे कुछ जीव ऐसे होते हैं जो भव्य होते हुए भी मोक्ष नही जाते है।

(ii) अभव्य — तीन काल मे भी मोक्ष नही जा सकते (अभव्यत्व भी अनादिकालीन होता है।)

(iii) दूर भव्य — जो मोक्ष तो जाते है, किन्तु लम्बे समय के बाद (गोशालक की तरह)

(iv) आसन्न भव्य — जो उसी भव मे अथवा दो, तीन भव के बाद निश्चित मोक्ष मे जाते है।

पूर्वोक्त चारो का भव्य और अभव्य इन दो भेदो मे समावेश हो सकता है, फिर भी दूर-भव्य और आसन्न-भव्य इन दो मे भव्यत्व का अन्तर बताने के लिये चार भेद बताये गये है।

वृद्धमतानुसार—मोक्षतत्त्व को मानने वाला मोक्ष को पाने की तीव्र अभिलाषा वाला, "मै भव्य हूँ या अभव्य हूँ?" यदि भव्य हूँ तो मेरा सौभाग्य है, अन्यथा दुर्भाग्य है ऐसा चिन्तन करने वाला भव्य जीव है। जिसके हृदय मे पूर्वोक्त चिन्तन कभी भी स्फुरित नहीं होता वह अभव्य है। आचारांगसूत्र की **टीका** मे कहा है कि—अभव्य जीव को 'मै भव्य हूँ या अभव्य हूँ?' ऐसा सदेह कदापि नही होता। मोक्षसुख के अभिलाषी जीवो के द्वारा पूर्वोक्त १५६ प्रकार के जीवो को आत्मतुल्य मानते हुए रक्षा करनी चाहिये।

श्री **आम्रदेवसूरि** के शिष्य श्री **नेमिचन्द्रसूरि** ने स्वपर के हित के लिये, अपने स्मरण के लिये तथा दूसरो के ज्ञान के लिये जीवसख्या का प्रतिपादन किया है ॥१२३१-४८॥

२१५ द्वार : अष्ट-कर्म—

पढमं नाणावरणं बीयं पुण दंसणस्स आवरणं।
तइयं च वेयणीय तहा चउत्थं च मोहणीयं ॥१२४९॥
पंचममाउं गोयं छट्ठं सत्तमगमतरायमिह।
बहुतमपयडित्तेण भणामि अट्ठमपए नाम ॥१२५०॥

—गाथार्थ—

आठ कर्म—१. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयु ६. गोत्र ७. अन्तराय तथा अधिकतम उत्तर प्रकृति वाला होने से आठवें स्थान में नामकर्म का वर्णन करता हूं॥१२४९-५०॥

—विवेचन—

(i) ज्ञानावरणीय—ज्ञान = वस्तुगत विशेष धर्म को जानने वाला आत्मा का विशिष्ट गुण। आवरण = आत्मा के ज्ञान-गुण को आच्छादित करने वाला कर्म। जीव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और

प्रमाद के वश कार्मण-वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण कर कर्म रूप मे परिणत करता है। इसमे से जो कर्म आत्मा के मति आदि ज्ञान को आवृत करता है, वह ज्ञानावरणीय-कर्म कहलाता है।

(ii) दर्शनावरणीय—वस्तुगत सामान्य धर्म को जानने वाला आत्मा का विशिष्ट गुण दर्शन है। उस दर्शन गुण को आवृत्त करने वाला कर्म-पुद्गल दर्शनावरणीय कहलाता है।

(iii) वेदनीय—जिसके फलस्वरूप जीव सुख या दुख का भोग करता है, वह कर्म वेदनीय कहलाता है। यद्यपि सभी कर्मो का अतिम भोग सुख-दुख रूप होता है तथापि रूढिवश वेदनीय शब्द साता, असाता रूप कर्म का ही बोधक है। जैसे कमल और शैवाल दोनो कीचड मे से पैदा होने पर भी पकज शब्द रूढिवश केवल कमल का ही बोधक होता है, शैवाल का नही होता, वैसे वेदनीय कर्म के विषय मे भी समझना चाहिये।

(iv) मोहनीय—आत्मा को विवेक-विकल बनाने वाला कर्म।

(v) आयु—जो कर्म जीव को निश्चित काल तक विभिन्न गतियो मे रोककर रखता है अथवा जो कर्म एक भव से दूसरे भव मे जाते समय उदय आता है।

(vi) गोत्र—जिस कर्म के उदय से जीव कुलीन या अकुलीन, ऊँच या नीच कहलाता है।

(vii) अन्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव, दानादि देने की इच्छा होते हुए भी नही दे सकता अथवा जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप शक्तियो का घात करता है।

(viii) नाम—जिस कर्म के उदय से जीव विविध भावो (पर्यायों) का अनुभव करता है।

प्रश्न—सर्वत्र आयु के पश्चात् नामकर्म आता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इसे सब से अन्त मे क्यो रखा?

उत्तर—अन्य कर्मो की उत्तरप्रकृतियाँ अल्प है 'नामकर्म' की सब से अधिक है। इसी कारण उसे सबसे अन्त मे रखा है ॥१२४९-५० ॥

२१६ द्वार : उत्तर-प्रकृति—

पचविहनाणवरण नव भेया दसणस्स दो वेए।
अट्ठावीसं मोहे चत्तारि य आउए हुति ॥१२५१ ॥
गोयम्मि दोन्नि पंचंतराइए तिगहिय सय नामे।
उत्तरपयडीणेवं अट्ठावन्न सय होइ ॥१२५२ ॥
मइ सुय ओही मण केवलाणि जीवस्स आवरिज्जंति।
जस्सप्पभावओ त नाणावरण भवे कम्मं ॥१२५३ ॥

नयणे यरो हि केवल दंसण आवरणयं भवे चउहा।
निद्दा पयलाहि छहा निद्दाइदुरुत्त थीणद्धी ॥१२५४॥
एवमिह दंसणावरणमेयमावरइ दरिसणं जीवे।
सायमसायं च दुहा वेयणियं सुहदुहनिमित्तं ॥१२५५॥
कोहो माणो माया लोभोऽणताणुबंधिणो चउरो।
एवमपच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य सजलणा ॥१२५६॥
सोलम इमे कसाया एसो नवनोकसायसदोहो।
इत्थी-पुरिस-नपुसकरूव वेयत्तय तमि ॥१२५७॥
हास-रई-अरई-भय-सोग-दुगुछत्ति हास-छक्कमिम।
दरिसणतिग तु मिच्छत्त-मीस-सम्मत्त-जोएण ॥१२५८॥
इय मोह अट्ठवीसा नारयतिरिनरसुराउय चउक्क।
गोयं नीय उच्चं च अतरायं तु पचविह ॥१२५९॥
दाउ न लहइ लाहो न होइ पावइ न भोगपरिभोगं।
निरुओऽवि असत्तो होइ अतरायप्पभावेण ॥१२६०॥
नामे बायालीसा भेयाण अहव होइ सत्तट्ठी।
अहवावि हु तेणउई तिग अहियसय हवइ अहवा ॥१२६१॥
पढमा बायालीसा गइ जाइ शरीर अगुवगे य।
बधण सघायण सघयण संठाण नाम च ॥१२६२॥
तह वन्न गध रस फास नाम अगुरुलहुय च बोद्धव्व।
उवघाय पराघायाऽणुपुव्वि ऊसास नाम च ॥१२६३॥
आयावुज्जोय विहायगई तस थावराभिहाण च।
बायर सुहुम पज्जत्ता-पज्जत्त च नायव्व ॥१२६४॥
पत्तेय साहारण थिरमथिर सुभासुभ च नायव्व।
सूभग दूभग नाम सूसर तह दूसर चेव ॥१२६५॥
आएज्ज मणाएज्ज जसकित्तीनाम अजसकित्ती य।
निम्माण तित्थयर भेयाणवि हुति मे भेया ॥१२६६॥

गइ होइ चउप्पयारा जाईवि य पंचहा मुणेयव्वा।
पच य हुति सरीरा अगोवंगाइ तिन्नेव ॥१२६७॥
छस्संघयणा जाणसु सठाणावि य हवति छच्चेव।
वन्नाईण चउक्क अगुरुलहु वघाय परघाय ॥१२६८॥
अणुपुव्वी चउभेया उस्सास आयव च उज्जोय।
सुह असुहा विहगगई तसाइवीस च निम्माण ॥१२६९॥
तित्थयरेण सहिया सत्तट्ठी एव हुति पयडीओ।
समामीसेहि विणा तेवन्ना सेस कम्माण ॥१२७०॥
एव वीसुत्तरसय बधे पयडीण होइ नायव्व।
बधण-सघायावि य सरीरगहणेण इह गहिया ॥१२७१॥
बधणभेया पच उ सघायावि य हवति पंचेव।
पण वन्ना दो गधा पंच रसा अट्ठ फासा य ॥१२७२॥
दस सोलस छव्वीसा एया मेलिवि सत्तसट्ठीए।
तेणउई होइ तओ बधणभेया उ पन्नरस ॥१२७३॥
वेउव्वाहारोरालियाण सगतेयकम्मजुत्ताण।
नव बधणाणि इयरदुसहियाण तिन्नि तेसिपि ॥१२७४॥
सव्वेहिवि छूढेहि तिगअहियसय तु होइ नामस्स।
इय उत्तरपयडीण कम्मट्ठग अट्ठवन्नसय ॥१२७५॥

—गाथार्थ—

एक सौ अट्ठावन उत्तर प्रकृति—ज्ञानावरण के पाँच भेद, दर्शनावरण के नौ भेद, वेदनीय के दो भेद, मोहनीय के अट्ठावीस भेद, आयु के चार भेद, गोत्र के दो भेद, अन्तराय के पाँच भेद तथा नामकर्म के एक सौ तीन भेद है। इस प्रकार आठ कर्म के कुल मिलाकर एक सौ अट्ठावन उत्तरभेद होते है ॥१२५१-५२॥

जिसके प्रभाव से जीव का मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यव एव केवलज्ञान आवृत हो जाता है वह कर्म 'ज्ञानावरण' है ॥१२५३॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एव केवलदर्शन का आवारक कर्म भी चार प्रकार का है। निद्रा, प्रचला-प्रचला, प्रचला, निद्रानिद्रा, और स्त्यानर्द्धि ये पाँच जीव के दर्शन गुण के आवारक होने से दर्शनावरण है। इस प्रकार दर्शनावरण के नौ भेद हुए। सुख-दुख के निमित्त रूप वेदनीय भी साता-असाता के भेद से द्विविध है ॥१२५४-५५॥

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषायें अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलनरूप होने से कुल सोलह प्रकार की है। नोकषाय के नौ भेद इस प्रकार है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद। हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा ये हास्यादि षट्क है। मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व ये तीन दर्शन मोह है। इन सब को मिलाने से मोहनीय के अट्ठावीस भेद होते है ॥१२५६-५८ ॥

नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु—चार प्रकार का आयुष्यकर्म है। नीच और ऊँच दो प्रकार का गोत्र कर्म है। अन्तरायकर्म के पॉच भेद है—१. दान नही दे सकते २. लाभ नही मिलता, ३.-४. भोग-उपभोग नही कर सकते, ५. निरोगी होने पर भी अशक्त होना, यह अन्तराय कर्म का प्रभाव है ॥१२५९-६० ॥

नाम-कर्म के बयालीस, सडसठ, तिराणवे अथवा एक सौ तीन भेद है ॥१२६१ ॥

बयालीस भेद इस प्रकार है—१. गति २. जाति ३. शरीर ४ अगोपांग ५. बंधन ६. सघातन ७. संघयण ८. संस्थान ९. वर्ण १०. गंध ११. रस १२. स्पर्श १३. अगुरुलघु १४. उपघात १५. पराघात १६. आनुपूर्वी १७. श्वासोच्छ्वास १८. आतप १९. उद्योत २०. विहायोगति २१. त्रस २२. स्थावर २३. बादर २४. सूक्ष्म २५. पर्याप्ता २६. अपर्याप्ता २७. प्रत्येक २८. साधारण २९. स्थिर ३०. अस्थिर ३१. शुभ ३२. अशुभ ३३. सुभग ३४. दुर्भग ३५. सुस्वर ३६. दुःस्वर ३७. आदेय ३८. अनादेय ३९. यशकीर्ति ४०. अयशकीर्ति ४१. निर्माण और ४२. तीर्थकर नामकर्म ॥१२६२-६६ ॥

चार गति, पॉच जाति, पॉच शरीर, तीन अंगोपाग, छ संघयण, छ संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, चार आनुपूर्वी, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभ-अशुभ, विहायोगति, त्रस आदि बीस प्रकृतियॉ, निर्माण और तीर्थकर नामकर्म सहित सड़सठ प्रकृति होती है। समकित मोहनीय और मिश्रमोहनीय को छोड़कर शेष कर्मो की त्रेपन प्रकृतियॉ पूर्वोक्त सडसठ प्रकृतियो मे जोड़ने पर बंध में कुल एक सौ बीस प्रकृति होती है। बधन और संघातन शरीर के अन्तर्गत आ जाते है ॥१२६७-१२७१ ॥

पॉच बंधन, पॉच संघातन कुल दस है। वर्ण के पॉच, गंध के दो, रस के पॉच तथा स्पर्श के आठ कुल बीस है। नामकर्म की पूर्वोक्त सडसठ प्रकृतियों में वर्णादि चार पहले से गृहीत है अत बंधन-संघातन के दस और वर्णादि के सोलह कुल छब्बीस भेद मिलाने से नामकर्म की तिराणवे प्रकृतियॉ होती है। बधन के पन्द्रह भेद है। वैक्रिय, आहारक और औदारिक को स्वय के साथ तथा तैजस् और कार्मण के साथ जोड़ने से नौ भेद होते है। वैक्रिय आदि तीन को तैजस्-कार्मण के साथ जोड़ने से पुन तीन बंधन होते है तथा तैजस् और कार्मण को स्वयं के साथ तथा परस्पर जोड़ने से पुन तीन बधन होते है। नौ, तीन और तीन कुल पन्द्रह बधन हुए। सभी भेदो को एकत्रित करने पर नामकर्म के एक सौ तीन भेद हुए। इस प्रकार आठ कर्म की एक सौ अट्ठावन उत्तर प्रकृतियॉ होती है ॥१२७२-७५ ॥

—विवेचन—

उत्तर-प्रकृति १५८ है—

(i)	ज्ञानावरणीय	=	५	(v)	आयु	=	४
(ii)	दर्शनावरणीय	=	९	(vi)	गोत्र	=	२
(iii)	वेदनीय	=	२	(vii)	अन्तराय	=	५
(vi)	मोहनीय	=	२८	(viii)	नामकर्म	=	१०३

आठ कर्म की कुल = १५८ उत्तरप्रकृतियाँ है ॥१२५१-५२ ॥

१. ज्ञानावरणीय—

जो कर्म जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यवज्ञान व केवलज्ञान को आवृत्त करता है—ढकता है वह ज्ञानावरण कर्म है। उसके ५ प्रकार है—

(i) मतिज्ञानावरण—मतिज्ञान = मनन करना मति है। यहाँ 'मन्' धातु ज्ञानार्थक है। अत जिसके द्वारा ज्ञान किया जाये वह मति है। अथवा इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते है। इसके दो भेद है—श्रुतनिश्रित व अश्रुतनिश्रित।

श्रुतनिश्रित—श्रुताभ्यास से परिनिष्ठित बुद्धि द्वारा व्यवहार काल मे सही ज्ञान होना।

अश्रुतनिश्रित—श्रुताभ्यास के बिना ही विशिष्ट क्षयोपशम द्वारा ज्ञान होना।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के ४ भेद है—(१) अवग्रह (२) ईहा (३) अपाय और (४) धारणा। व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकार का है—

(अ) व्यंजनावग्रह 'व्यजन' के दो अर्थ है।

जिसके द्वारा शब्द, रूपादि पदार्थ प्रकट किये जाते हो, वह 'व्यजन' है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार कदब पुष्पादि के आकारवाली कान, नाक, जीभ, त्वचा आदि उपकरणेन्द्रियो का अपने विषय—शब्द, गध, रस और स्पर्शरूप मे परिणत द्रव्यो के साथ जो स्पर्शरूप सम्बन्ध होता है, वह 'व्यजन' है। दूसरा, इन्द्रियो के द्वारा भी शब्द आदि पदार्थ प्रकट होते है अत वे भी 'व्यजन' कहलाती है। अत अर्थ हुआ कि इन्द्रियरूप 'व्यजन' के द्वारा विषय सम्बन्ध रूप व्यंजन का अवबोध होना 'व्यजनावग्रह' है। यहाँ 'व्यजन' शब्द का दो बार प्रयोग होता है, पर एक 'व्यजन' शब्द का लोप हो जाने से 'व्यजनावग्रह' ऐसा एक 'व्यजन' शब्द वाला ही प्रयोग होता है।

अत इन्द्रियाँ और शब्दादि के रूप मे परिणत पुद्गल द्रव्यो के सम्बन्ध का वोध रूप तथा "यह कुछ है" ऐसे अव्यक्त ज्ञानरूप अर्थावग्रह से पूर्व होने वाला अव्यक्ततर ज्ञान व्यजनावग्रह है। इसके चार प्रकार है—

(i) श्रोत्रेन्द्रिय व्यजनावग्रह (ii) घ्राणेन्द्रिय व्यजनावग्रह (iii) रसनेन्द्रिय व्यजनावग्रह (iv) स्पर्शेन्द्रिय व्यजनावग्रह।

मन और नेत्र का व्यजनावग्रह नही होता। कारण जहाँ विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, वही व्यजनावग्रह होता है, अन्यत्र नही। मन और नेत्र अप्राप्यकारी होने से अपने विषय से सम्बद्ध हुए बिना ही उसे ग्रहण कर लेते है, अत· उनका व्यजनावग्रह नही होता।

(ब) अर्थावग्रह—शब्द, रूपादि विषय का सामान्य ज्ञान, जैसे 'यह कुछ है' अर्थावग्रह कहलाता है। इसके छ भेद है—**(i)** श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह **(ii)** चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह **(iii)** घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह **(iv)** रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह **(v)** स्पर्शेन्द्रिय अर्थावग्रह **(vi)** मन अर्थावग्रह।

(२) ईहा—अवग्रह के द्वारा गृहीत वस्तु के विषय मे 'यह क्या है? लकडे का ठूठ है या पुरुष है?' इस प्रकार का उहापोह करते हुए प्रस्तुत वस्तु के धर्मो का अन्वेषण करना ईहा है।

यह जगल है, सूर्य अस्त हो गया है, इसलिये जो दिखाई दे रहा है, वह आदमी नही हो सकता तथा इस पर पक्षी बैठे हुए है अत सामने दिखाई देने वाली वस्तु कामदेव के शत्रु शकर भगवान की नामराशि वाली है अर्थात् स्थाणु (ठूठ) है। इस प्रकार वस्तुगत अन्वय धर्मो का स्वीकार एव व्यतिरेक धर्मो का परिहार करने वाला ज्ञान विशेष ईहा है। ईहा मन और पॉच इन्द्रियो से उत्पन्न होती है अत इसके भी छ. भेद है।

(३) अपाय—ईहा द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में 'यह वही है' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान अपाय है। पूर्ववत् इसके भी छ. भेद है।

(४) धारणा—अपाय द्वारा निश्चित पदार्थ का कालान्तर मे विस्मरण न हो, इस प्रकार दृढ-ज्ञान करना धारणा है। यह तीन रूप मे होती है। **(i)** अविच्युति **(ii)** वासना और **(iii)** स्मृति।

(i) अविच्युति — किसी एक वस्तु के प्रति उचित काल तक सतत उपयोग रखना।

(ii) वासना — अविच्युति के द्वारा आत्मा मे सगृहीत वस्तु विशेष विषयक सस्कार, जो कालान्तर मे उस वस्तु की स्मृति कराने मे सक्षम है, वासना है।

(iii) स्मृति — जिस पदार्थ का प्रथम अनुभव हो चुका है उस पदार्थ का कालान्तर मे निमित्त पाकर 'वही है' ऐसा स्मरण होना।

धारणा के भी पूर्ववत् ६ भेद है।

इस प्रकार व्यजनावग्रह के = ४ भेद हुए।
अर्थावग्रह के = ६ भेद
ईहा के = ६ भेद
अपाय के = ६ भेद
धारणा के = ६ भेद

इस प्रकार श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के कुल मिलाकर २८ भेद है।

२. अश्रुतनिश्रित—इसके चार भेद है—

(i) औत्पातिकी मति **(ii)** वैनयिकी मति।
(iii) कार्मिकी मति **(iv)** पारिणामिकी मति।

(i) औत्पातिकी मति — प्रसग आने पर उभयलोक हितकारी कार्य-सिद्ध करने मे समर्थ सहसा उत्पन्न मति।

(ii) वैनयिकी मति — गुरुओ का विनय करने से प्राप्त, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विवेक करने मे निपुण उभय लोक हितकारी मति, वैनयिकी है।

(iii) कार्मिकी मति — अभ्यास करते...करते प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(iv) पारिणामिकी मति — उम्र जन्य अनुभवो से विकसित बुद्धि।

पूर्वोक्त श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के २८ भेद मे ४ भेद अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के मिलाने पर मतिज्ञान के कुल भेद २८ + ४ = ३२ होते है।

जातिस्मरणज्ञान—जिस ज्ञान के द्वारा भूतकालीन भवो का स्मरण होता है। इसके द्वारा १-२-३ यावत् सख्याता भव का स्मरण होता है। यह मतिज्ञान का ही एक प्रकार है। **आचारांग** मे कहा है—"जातिस्मरण त्वाभिनिबोधिक"। जातिस्मरण भी आभिनिबोधिक विशेष अर्थात् मतिज्ञान रूप ही है।

पूर्वोक्त भेद सहित 'मतिज्ञान' का आवरणीय कर्म, मतिज्ञानावरण कहलाता है।

(२) **श्रुतज्ञानावरण**—पढने या सुनने से जो अर्थज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है अर्थात् वाच्य-वाचक भाव के ज्ञानपूर्वक शब्द से सबद्ध अर्थबोध का हेतुभूत क्षयोपशमविशेष श्रुतज्ञान है। इस प्रकार के आकार-प्रकार वाली वस्तु 'घट' शब्द से वाच्य है और वह जल धारण आदि क्रिया करने मे समर्थ है। इस प्रकार शब्दार्थ की प्रधानतापूर्वक इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाला ज्ञानविशेष श्रुतज्ञान है। श्रुतरूप जो ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसके भेद नन्दीसूत्र आदि से जानना चाहिये।

श्रुतज्ञान के १४ भेद

१	अक्षर श्रुत	८	अनादि श्रुत
२	अनक्षर श्रुत	९	सपर्यवसित श्रुत
३	सज्ञी श्रुत	१०	अपर्यवसित श्रुत
४	असज्ञी श्रुत	११	गमिक श्रुत
५	सम्यक् श्रुत	१२	अगमिक श्रुत
६	मिथ्या श्रुत	१३	अगप्रविष्ट श्रुत
७	सादि श्रुत	१४	अनगप्रविष्ट श्रुत

श्रुतज्ञान के २० भेद

१	पर्याय श्रुत	६	पद समास श्रुत
२	पर्याय समास श्रुत	७	सघात श्रुत
३	अक्षर श्रुत	८	सघात समास श्रुत
४	अक्षर समास श्रुत	९	प्रतिपत्ति श्रुत
५	पद श्रुत	१०	प्रतिपत्ति समास श्रुत

११	अनुयोग श्रुत	१६	प्राभृत समास श्रुत
१२	अनुयोग समास श्रुत	१७	वस्तु श्रुत
१३	प्राभृतप्राभृत श्रुत	१८	वस्तु समास श्रुत
१४	प्राभृतप्राभृत समास श्रुत	१९.	पूर्व श्रुत
१५.	प्राभृत श्रुत	२०	पूर्व समास श्रुत

सप्रभेद श्रुतज्ञान का आवरणीय कर्म श्रुतज्ञानावरण है।

(३.) अवधिज्ञानावरण—अव = अध, नीचे, धि = ज्ञान अर्थात् नीचे रहे हुए पदार्थो को अधिक विस्तार से जानने वाला ज्ञान अथवा मन और इन्द्रिय की सहायता के बिना मर्यादा मे स्थित रूपी द्रव्यो का ज्ञान, अवधिज्ञान कहलाता है। मुख्यत: इसके छ भेद है—

(i) अनुगामी	**(iii)** वर्धमान	**(v)** प्रतिपाती
(ii) अननुगामी	**(iv)** हीयमान	**(vi)** अप्रतिपाती

असख्येय क्षेत्र और काल विषयक होने से उनकी तरतमता की अपेक्षा से अवधिज्ञान के असख्य भेद है तथा द्रव्य और भाव की तरतमता की अपेक्षा से अनत भेद है। इन सभी भेद-प्रभेदों का आवारक कर्म अवधिज्ञानावरण कहलाता है।

(४.) मन:पर्यायज्ञानावरण—सज्ञी जीव काययोग के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण कर मनोयोग के द्वारा 'मन' रूप मे परिणत कर चिन्तन के लिये जिनका आलबन लेता है वह मन है और 'मन' का चिन्तन के अनुरूप जो परिणमन है उसका बोध कराने वाला ज्ञान मनपर्याय ज्ञान है अर्थात् ढाई द्वीप में रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय के मनोगत भावो को मनोद्रव्य की रचना के माध्यम से जानने वाला ज्ञान, मनपर्याय ज्ञान है। यह ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। सप्रभेद इस ज्ञान का आवरणीय कर्म मनपर्याय ज्ञानावरण कहलाता है।

(५.) केवलज्ञानावरण : केवल = इसके कई अर्थ है—*(i)* मत्यादि ज्ञान से निरपेक्ष केवल एक, **(ii)** आवरण, मलरहित शुद्ध, **(iii)** एक ही साथ सम्पूर्ण आवरण का क्षय होने से, उत्पन्न होते ही अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकट होने वाला, **(iv)** जिसके जैसा अन्य कोई ज्ञान नही है, **(v)** ज्ञेय की अपेक्षा से जो अनन्त है, ऐसा ज्ञान, केवलज्ञान है। इस ज्ञान का आवारककर्म केवलज्ञानावरण कहलाता है।

देशघाती और सर्वघाती के भेद से कर्म दो प्रकार के है—

(i) देशघाती — मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञानावरण देशघाती है, क्योंकि ये अपने-अपने आवरणीय ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से नहीं रोक सकते।

(ii) सर्वघाती — केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। इसके उदय मे सम्पूर्ण केवलज्ञान ढका रहता है।

मतिज्ञानावरणीय आदि पाच उत्तर प्रकृतियाँ है, तथापि सामान्य विवक्षा से ज्ञानावरण मूलप्रकृति है। जैसे अगुलियाँ अलग-अलग होने पर भी मुष्टि मे सभी का समावेश हो जाता है। घी, गुड, आटा आदि अलग-अलग होने पर भी मोदक मे सभी का समावेश हो जाता है, वैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मे मतिज्ञानावरणीय आदि सभी भेदो का समावेश हो जाता है ॥१२५३॥

२. **दर्शनावरणीय**—दर्शनावरणीय कर्म बध, उदय और सत्ता की अपेक्षा से तीन प्रकार का होता है—

(i) बध, उदय और सत्ता मे दर्शनावरणीय कर्म, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल के भेद से कदाचित् चार प्रकार का होता है।

(ii) पूर्वोक्त चार एव निद्रा, प्रचला सहित छ प्रकार का होता है।

(iii) पूर्वोक्त छ. निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि के भेद से नौ प्रकार का है।

(i) चक्षुदर्शनावरण — ऑख के द्वारा वस्तुगत सामान्य धर्म का जो बोध होता है वह चक्षु दर्शन कहलाता है। उस बोध को रोकने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है।

(ii) अचक्षुदर्शनावरण — ऑख को छोडकर शेष इन्द्रियाँ और मन के द्वारा जो पदार्थ के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहते है। उसका आवारक कर्म अचक्षुदर्शनावरण है।

(iii) अवधिदर्शनावरण — इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही आत्मा के द्वारा जो रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का बोध होता है, उसे अवधि-दर्शन कहते है। इसका आवरण अवधिदर्शनावरण है।

(iv) केवलदर्शनावरण — ससार के सम्पूर्ण पदार्थो का जो सामान्य अवबोध होता है, उसे केवलदर्शन कहते है, उसका आवरण केवलदर्शनावरण कहा जाता है।

(v) निद्रा — 'द्रा' धातु कुत्सितगति अर्थ मे है। नियत = निश्चित रूप से, द्राति = कुत्सित भाव को प्राप्त होता है अर्थात् जिसके द्वारा चैतन्य निश्चित रूप से अस्पष्ट भाव को प्राप्त होता है वह निद्रा है। सोया हुआ व्यक्ति सुखपूर्वक जग जाए वह निद्रा है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उपचार से वह कर्म भी निद्रा कहलाता है।

(vi) निद्रानिद्रा — सोया हुआ व्यक्ति बडी कठिनाई से जगे, उसे निद्रानिद्रा कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उस कर्म का नाम निद्रानिद्रा है।

(vii) प्रचला — जिस कर्म के उदय से व्यक्ति को खडे-खडे या बैठे-बैठे भी नीद आती है उसे प्रचला कहते है।

(viii) प्रचलाप्रचला — जिस कर्म के उदय से व्यक्ति को चलते-फिरते नीद आती है, वह प्रचलाप्रचला है।

(ix) स्त्यानगृद्धि — स्त्यान = घनीभूत। गृद्धि = आकाक्षा। जागृत अवस्था मे सोचे हुए काम को नीद की हालत मे कर डालना, स्त्यानगृद्धि निद्रा है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आती है, उस कर्म का भी नाम स्त्यानगृद्धि है। अथवा इसका नाम स्त्यानर्द्धि भी है। स्त्यान = घनीभूत। ऋद्धि = आत्मशक्ति। अर्थात् जिस निद्रा के उदय मे प्रथमसघयणी व्यक्ति वासुदेव का आधा बल पा लेता है, वह स्त्यानर्द्धि निद्रा है। आगम मे आता है कि एक बार कोई हाथी किसी मुनि के पीछे पड गया, इससे मुनि हाथी पर क्रुद्ध हो गये। वे स्त्यानर्द्धि निद्रा वाले थे। रात में नीद मे उठे और अपने सोचे हुए के अनुसार हाथी के दोनो दत-शूड पकडकर उसे पछाड डाला। मृत-हाथी को उपाश्रय के बाहर डालकर पुन भीतर आकर सो गये।

दर्शनावरणीय की नौ प्रकृति मे से चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शन लब्धि की समूल-नाशक है, किन्तु निद्रापचक प्रकट हुई दर्शन-लब्धि का उपघात ही करता है।

३. वेदनीय—इसके दो भेद है—

(i) साता-वेदनीय — जिस कर्म के उदय से आत्मा को स्वास्थ्य लाभ तथा विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव होता है।

(ii) असाता-वेदनीय — जिस कर्म के उदय से आत्मा को रोगादि के कारण से, अनुकूल विषयो की अप्राप्ति से और प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति से दुख का अनुभव होता है, वह असाता-वेदनीय कर्म है ॥१२५४-५५॥

४. मोहनीय-कर्म—मुख्यत इसके दो भेद है—(१) दर्शन मोहनीय, और (२) चारित्र मोहनीय।

(१) **दर्शन मोहनीय**—आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करने वाला कर्म। यहाँ दर्शन का अर्थ है, जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही समझना। इसमे विकलता पैदा करने वाला कर्म दर्शनमोह है। इसके तीन भेद है—

(i) मिथ्यात्व मोहनीय — जिस कर्म के उदय से जिन-प्रणीत तत्त्वो पर अश्रद्धा अथवा विपरीत श्रद्धा हो।

(ii) मिश्र मोहनीय — जिसके उदय से जिन-प्रणीत तत्त्वो पर श्रद्धा या अश्रद्धा कुछ भी न हो।

(iii) सम्यक्त्व मोहनीय — जिसके उदय से जिन-प्रणीत तत्त्व पर सम्यक् श्रद्धा हो।

(२) चारित्र मोहनीय कर्म—सावद्य से निवृत्त होकर निरवद्य मे प्रवृत्ति कराने वाला आत्मा का विरतिरूप-परिणाम चारित्र है, उसे विकल करने वाला कर्म चारित्र-मोहनीय कहलाता है। यह कषाय और नोकषाय के भेद से दो प्रकार का है।

(अ) कषाय—जहाँ परस्पर जीवात्मा एक-दूसरे की हिसा करते है वह कष = ससार है और जिनके द्वारा जीव ऐसे ससार मे आता है वे कषाय कहलाते है। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय मूलत चार प्रकार के है—

(i) **क्रोध** — आत्मा का अक्षमारूप परिणाम।
(ii) **मान** — जाति, कुल आदि की ऊँचता से उत्पन्न गर्व।
(iii) **माया** — कपट, स्वभाव का टेढापन, वचना करने का भाव।
(iv) **लोभ** — धन, कुटुम्ब, शरीर आदि पदार्थो की ममता लोभ है। ये चारो कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सज्वलन के भेद से प्रत्येक चार-चार प्रकार के है।

(i) अनन्तानुबन्धी—जिन कषायो की परम्परा अनन्त भवो तक चलती है, वह अनन्तानुबधी कषाय है। ये कषाय नरक गति के बध का कारण एव सम्यक् दर्शन के घातक है।

(ii) अप्रत्याख्यानी—देशविरति रूप प्रत्याख्यान का घातक एव तिर्यचगति योग्य कर्मो के बध का कारण जो कषाय है वह अप्रत्याख्यानी कहलाता है।

(iii) प्रत्याख्यानी—सर्व-विरतिरूप चारित्र का घातक एव मनुष्यगति योग्य कर्मो के बध का कारण जो कषाय है वह प्रत्याख्यानी कहलाता है।

(iv) संज्वलन—परीषह, उपसर्ग आने पर सयमी आत्मा को जो अल्प-मात्रा मे कषाय पैदा होता है, वह सज्वलन है। यह कषाय देवगति योग्य कर्मो का कारण एव यथाख्यात-चारित्र का अवरोधक है।

प्रश्न—अनन्तानुबधी कषाय की स्थिति मे शेष तीन कषाय अवश्य रहते है। अनन्तानुबधी के साथ उनकी परम्परा भी अनन्त भव तक चलती है, तो उन्हे अनन्तानुबधी क्यो नही कहा जाता?

उत्तर—यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय कभी भी प्रत्याख्यानी आदि के अभाव मे नही होता। अनन्तानुबन्धी के साथ शेष तीन कषाय निश्चित रूप से रहते है, तथापि वे अनन्तानुबधी नहीं कहलाते, क्योकि अनन्तानुबधी कषाय का अस्तित्व मिथ्यात्व के उदय के बिना नही हो सकता। जबकि शेष तीन कषायो के लिये ऐसा कुछ भी नियम नही है। इसलिये इन्हे अनन्तानुबधी नहीं कहा जा सकता। ये अनन्त भवभ्रमण के कारण नही बनते।

(ब) नोकषाय—नो शब्द का अर्थ है साहचर्य अर्थात् कषायो के उदय के साथ जिनका उदय होता है अथवा जो कषायो को उभारते है, वे नोकषाय हैं। कहा है—

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।

हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

ये नव कषाय पूर्वोक्त सोलह कषाय के सहचारी है। पूर्वोक्त कषाय का क्षय होने के बाद नोकषाय भी नही रहते। कषायो का क्षय होते ही क्षपक इनका क्षय करने लग जाता है। अथवा नोकषाय का उदय होने पर कषायो का उदय अवश्य होता ही है।

इनके नौ भेद है—

(i)	हास्य	— जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण हँसी आती हो।
(ii)	रति	— जिस कर्म के उदय से पदार्थो मे अनुराग हो।
(iii)	अरति	— जिस कर्म के उदय से पदार्थो से अप्रीति या उद्वेग हो।
(iv)	भय	— जिस कर्म के उदय से जीव भयभीत हो।
(v)	शोक	— जिस कर्म के उदय से जीव इष्ट का वियोग होने पर रुदन, विलाप आदि करे।
(vi)	जुगुप्सा	— जिस कर्म के उदय से मास आदि बीभत्स पदार्थो को देखकर घृणा पैदा हो।
(vii)	स्त्रीवेद	— जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा हो। जैसे, पित्त के प्रकोप मे मिठाई खाने की इच्छा होती है। इसका स्वभाव बकरी की लीडी की आग की तरह होता है।
(viii)	पुरुषवेद	— जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा हो। जैसे, कफ के प्रकोप मे खट्टा खाने की इच्छा होती है। इसका स्वभाव घास की अग्नि की तरह है।
(ix)	नपुंसकवेद	— जिस कर्म के उदय से पुरुष और स्त्री दोनो के साथ भोग करने की इच्छा हो। जैसे, पित्त और कफ दोनो का प्रकोप एक साथ होने पर काजी खाने की इच्छा होती है। इसका स्वभाव नगर के दाह जैसा है।

इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के अट्ठावीस भेद हुए॥१२५६-५८॥

५. **आयुकर्म**—इसके चार भेद है—

(i)	नरकायु	— नरक जीवो के द्वारा भोगा जाता हुआ आयु।
(ii)	तिर्यंचायु	— तिर्यच जीवो के द्वारा भोगा जाता हुआ आयु।
(iii)	मनुष्यायु	— मनुष्य द्वारा भोगा जाता हुआ आयु।
(iv)	देवायु	— देवो द्वारा भोगा जाता हुआ आयु।

६. गोत्र कर्म—इसके दो भेद है—

(i) नीचगोत्र — जिस कर्म के उदय से जीव ज्ञानादि सम्पन्न होने पर भी कुल-जाति आदि से हीन होने के कारण निन्दनीय गिना जाता है।

(ii) ऊँच गोत्र — जिस कर्म के उदय से उत्तम जाति, कुल, तप, रूप, ऐश्वर्य आदि मिलता है तथा सत्कार-सम्मान मिलता है।

७. अन्तराय कर्म—इसके ५ भेद है—

(i) दानान्तराय — दान देने योग्य वस्तु हो, गुणवान पात्र सम्मुख हो, दान का फल जानता हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान देने का उत्साह नही होता।

(ii) लाभान्तराय — दाता उदार हो, देने योग्य पदार्थ मौजूद हो, लेने वाला कुशल याचक सम्मुख हो, तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को लाभ न हो।

(iii) भोगान्तराय
(iv) उपभोगान्तराय — भोगोपभोग के साधन विद्यमान हो, व्यक्ति को वैराग्य भी न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से जीव उन वस्तुओ का उपयोग न कर सके।

भोग—जो वस्तु एक ही बार उपयोग मे आती है जैसे आहार, फल, फूल आदि।

उपभोग—जो पदार्थ वार-बार भोगे जाते है जैसे मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

(v) वीर्यान्तराय — वलवान, रोग-रहित एव युवा होने पर भी जिस कर्म के उदय से जीव कुछ भी काम नही कर सकता ॥१२५९-१२६० ॥

८. नामकर्म—इसके बयालीस, सडसठ, तिरानवे व एक सौ तीन भेद है ॥१२६१ ॥

(१.) गतिनामकर्म—जिस नाम कर्म के उदय से जीव देव, नारक आदि अवस्थाओ को प्राप्त करता है। यह नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव के भेद से चार प्रकार का है।

(२.) जातिनामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि कहलाता है। इसके पॉच भेद है—(i) एकेन्द्रिय (ii) द्वीन्द्रिय (iii) त्रीन्द्रिय (iv) चतुरिन्द्रिय (v) पचेन्द्रिय। कान, नाक आदि वाह्य इन्द्रियॉ, अगोपाग नामकर्म एव इन्द्रिय पर्याप्ति के सामर्थ्य का फल हैं, किन्तु शव्दादि विषयो को ग्रहण करने की शक्ति रूप भाव इन्द्रिय, इन्द्रियावरणीय कर्म के क्षयोपशम का परिणाम है। कहा है—"क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" इति वचनात्। पर जाति नामकर्म का परिणाम इन दोनो से भिन्न है। वह समानजातीय जीवो की एकता का वोधक है, जैसे मात्र स्पर्शेन्द्रिय वाले सभी जीवो मे 'ये एकेन्द्रिय है' ऐसा वोध कराना, जाति नामकर्म का फल है। कहा है कि—"अव्यभिचारिणा सादृश्येनेकीकृतोऽर्थोऽमो जातिरिति"—व्याभिचार-रहित सादृश्य के द्वारा विवक्षित पदार्थो मे एकरूपता की प्रतीति होना जाति

है। स्पर्शेन्द्रिय से जन्य ज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न स्पर्शमात्र के ज्ञानवाले जीव एकेन्द्रिय है। इस प्रकार यावत् स्पर्शन-रसन घ्राण-चक्षु और श्रोत्र जन्य जो ज्ञान उसके आवरण के क्षयोपशम से स्पर्श रस गध रूप व शब्द के ज्ञान वाले जीव पचेन्द्रिय है—समझना चाहिये।

(३.) **शरीरनामकर्म**—प्रतिक्षण जिसमे पुद्गलो का चय-उपचय होता रहता है, वह शरीर कहलाता है और जिस कर्म से शरीर मिलता है, वह शरीरनामकर्म है। इसके पॉच प्रकार है—

(i) औदारिक शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव औदारिक वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके शरीर रूप मे परिणत करता है।

(ii) वैक्रिय शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके शरीर रूप मे परिणत करता है।

(iii) आहारक शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव आहारक वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके शरीर रूप मे परिणत करता है।

(iv) तैजस् शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव तैजस् वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके तैजस्-शरीर रूप मे परिणत करता है।

(v) कार्मण शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव कार्मण वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण कर कार्मण शरीर रूप मे परिणत करता है।

यद्यपि कार्मण शरीर-नामकर्म और कार्मण शरीर ये दोनो कार्मण वर्गणा के पुद्गलो से ही निष्पन्न होते है तथापि कार्मण-शरीर-नामकर्म कारण है और कार्मण शरीर उसका कार्य है। इस कारण दोनो अलग है, अर्थात् कार्मण शरीर नामकर्म का उदय होने पर ही जीव कार्मण-वर्गणा से कार्मण शरीर को निर्मित करने योग्य पुद्गलो को ग्रहण कर शरीर रूप मे परिणत करता है तथा कार्मण शरीर नामकर्म आठो ही कर्मो का उत्पत्तिस्थान, आधार एव ससारी जीवो को भवान्तर मे भ्रमण कराने का कारण है।

(४.) **अंगोपांग नामकर्म** : अग = दो भुजा + दो जघा + १ पीठ + सिर + छाती + पेट।

उपाग = अग के साथ जुडे हुए छोटे अवयव उपाग है जैसे अगुली आदि।

अगोपाग = अगुलियो की रेखाएँ, पर्व आदि अगोपाग है।

जिस नामकर्म के उदय से अग, उपाग और अगोपाग मिलते है, वह अगोपाग नामकर्म कहलाता है। अगोपाग आदि तीन शरीरो के ही होते है क्योकि तैजस और कार्मण शरीर का आत्म प्रदेशो से अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई आकार नही होता इसलिये इनके अगोपाग नही होते।

वधन नामकर्म—जिस प्रकार लाख, गोद आदि पदार्थ, दो चीजो को आपस मे जोड देते है वैसे ही वधन नामकर्म शरीर नामकर्म के वल से पूर्वगृहीत औदारिकादि शरीर के पुद्गलो के साथ वर्तमान मे ग्रहण किये जा रहे शरीर-पुद्गलो को परस्पर जोड देता है। यदि वधन नामकर्म नही होता तो [illegible]

परिणत पुद्गलो मे उसी प्रकार की अस्थिरता हो जाती, जैसे कि हवा के झोके से उडने वाले आटे मे होती है। शारीरिक पुद्गलो के भेद से यह ५ प्रकार का है।

(i) औदारिक बधन (ii) वैक्रियबधन (iii) आहारक बधन (iv) तैजस् बधन (v) कार्मण बधन। अथवा बधन नामकर्म के १५ भेद भी है—

(i) औदारिक-औदारिक बंधन—पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलो को वर्तमान मे गृह्यमाण औदारिक पुद्गलो के साथ जोडने वाला।

(ii) औदारिक-तैजस् बधन—पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलो को गृह्यमाण तैजस्-पुद्गलो के साथ जोडने वाला।

(iii) औदारिक-कार्मण बधन—पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलो को गृह्यमाण कार्मण पुद्गलो के साथ जोडने वाला।

(iv) औदारिक-तैजस्-कार्मण बंधन—पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलो के साथ गृह्यमाण तैजस् कार्मण पुद्गलो को जोडने वाला।

इसी प्रकार वैक्रिय पुद्गल और आहारक पुद्गल के साथ जोडने वाले बधन नामकर्म के चार-चार भेद होते है। तीनो शरीर के मिलकर कुल १२ भेद बधन के होते है।

(i) तैजस्-तैजस् बधन—पूर्वगृहीत तैजस् पुद्गलो के साथ गृह्यमाण तैजस्-पुद्गलो को जोडने वाला।

(ii) तैजस् कार्मण बधन—पूर्वगृहीत तैजस्-पुद्गलो के साथ गृह्यमाण कार्मण-पुद्गलो को जोडने वाला।

(iii) कार्मण-कार्मण बधन—पूर्वगृहीत कार्मण पुद्गलो के साथ गृह्यमाण कार्मण-पुद्गलो को जोडने वाला।

पूर्वोक्त १२ मे ये तीन मिलाने पर १२ + ३ = १५ बन्धन होते है।

(६.) सघातन नामकर्म—जैसे दताली से इधर-उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है, तभी उस घास का गट्ठर बध सकता है। वैसे सघातन नाम कर्म भी इधर-उधर बिखरे हुए कर्मो को सगृहीत करता है। सघातन नाम कर्म के द्वारा सगृहीत पुद्गल ही बधन नाम कर्म के द्वारा परस्पर जोडे जाते हैं। कहा है—'नासहतस्य बधनम्' बिखरी हुई वस्तु को बाँधा नही जा सकता। इसके पाँच भेद हैं—(i) औदारिक सघातन (ii) वैक्रिय सघातन (iii) आहारक सघातन (iv) तैजस् सघातन और (v) कार्मण सघातन।

(७.) संहनन नामकर्म—हड्डियो का आपस मे जुडना, मिलना, अर्थात् जिस नाम कर्म के उदय से हड्डियो की रचना विशेष होती है, उसे सहनन नामकर्म कहते है। इसका उदय औदारिक शरीर मे ही होता है। कारण शेष शरीरो मे हड्डियाँ नही होती। इसके ६ भेद है—

(i) वज्रऋषभनाराच—वज्र = कील, ऋषभ = वेष्टनपट्ट, नाराच = जिस प्रकार बन्दरी का बच्चा अपनी माँ को दोनो तरफ से पकड कर रखता है, उस प्रकार दोनो तरफ से परस्पर पकडी हुई हड्डियाँ, इसे मर्कटबंध भी कहते है अर्थात् वज्रऋषभनाराच सघयण उसे कहते हैं, जिसमे मरकट से बँधी हुई हड्डियो के ऊपर दूसरी एक हड्डी का वेष्टन और उन तीनो को भेदने वाली हड्डी की एक कील लगी हुई हो।

(ii) ऋषभनाराच—जिस सघयण मे हड्डियो को भेदने वाला कीला न हो, शेष रचना पूर्ववत्। अन्यमतानुसार दूसरा सघयण वज्रनाराच है, जिस सघयण मे मर्कट बध हो, कीला लगा हुआ हो, किन्तु वेष्टनपट्ट न हो, वह वज्रनाराच सघयण है।

(iii) नाराच—जिस सघयण मे हड्डियाँ मात्र एक ओर से मर्कट बध से बँधी हुई हो।

(iv) अर्धनाराच—जिस सघयण मे एक तरफ मर्कट बध हो और दूसरी तरफ कीला लगा हुआ हो।

(v) कीलिका—जिस सघयण मे मर्कट बध और वेष्टन न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुडी हो।

(vi) सेवार्त्त—जिस सघयण मे मर्कट बध, वेष्टन और कील कुछ भी न हो, यू ही हड्डियाँ परस्पर जुडी हो। जिस सघयण मे शरीर हमेशा सेवा की अपेक्षा रखता हो।

(८.) संस्थान नामकर्म—शरीर के बाह्य आकार प्रकार को सस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से सस्थान की प्राप्ति होती है, वह सस्थान नामकर्म कहलाता है, इसके छ भेद है—

(i) समचतुरस्र संस्थान—पालथी लगाकर बैठने से जिस शरीर के चारो कोनो का अन्तर समान रहता हो अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनो जानुओ का अन्तर, दाये कन्धे और वाम जानु का अन्तर बाये कन्धे और दाहिनी जानु का अन्तर समान हो, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव प्रमाणोपेत हो, उसे समचतुरस्र सस्थान कहते है।

(ii) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान—न्यग्रोध का अर्थ है वटवृक्ष। परिमण्डल अर्थात् ऊपर का आकार। जिस शरीर मे नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण-प्रमाणोपेत हो, किन्तु नाभि से नीचे के अवयव अपेक्षाकृत हीन हो, वह न्यग्रोध परिमडल सस्थान है।

(iii) सादि संस्थान—जिस शरीर मे नाभि के नीचे के अवयव पूर्ण हो, और नाभि से ऊपर के अवयव हीन हो, वह सादि सस्थान है।

स + आदि = सादि, यहाँ आदि का अर्थ है नाभि के नीचे का देहभाग, सादि अर्थात् लक्षण-प्रमाण युक्त निम्न देह भाग वाला शरीराकार। यद्यपि सभी प्रकार के शरीर निम्न देह भाग वाले होते है तथापि इसे सादि कहा इससे सिद्ध होता है कि इस कथन का कोई विशेष प्रयोजन है। वह यह है कि यद्यपि सभी शरीर निम्न देह भाग युक्त होने से सादि, कहला सकते है तथापि यहाँ ग्रन्थकार को 'आदि' शब्द से विशिष्ट अर्थ अभीष्ट है। जैसे जिस शरीराकार (सस्थान) मे शरीर का नाभि से नीचे का भाग लक्षण प्रमाण युक्त हो और ऊपरवर्ती भाग लक्षणहीन हो वह सादि सस्थान है।

अन्यमतानुसार सादि की जगह 'साची सस्थान' ऐसा नाम है। साची का अर्थ है शाल्मलीवृक्ष। जिस प्रकार शाल्मली वृक्ष के स्कध और काड अतिपुष्ट होते है, किन्तु उसका ऊपरी भाग इतना विशाल नही होता। उसी प्रकार जिस शरीर का अधो भाग तो परिपूर्ण हो, किन्तु ऊपर का भाग हीन हो, उसे 'साची सस्थान' नामकर्म कहते है।

(iv) वामन संस्थान—जिस शरीर के हाथ, पाव, सिर, गर्दन आदि अवयव प्रमाणोपेत व लक्षणयुक्त हो, किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हो, उसे वामन सस्थान कहते है।

(v) कुब्ज संस्थान—जिस शरीर मे हाथ, पैर आदि अवयव प्रमाणहीन हो और छाती, पेट आदि पूर्ण हो, उसे कुब्ज सस्थान कहते है। अन्यमतानुसार वामन के लक्षण वाला कुब्ज और कुब्ज के लक्षण वाला वामन है।

(vi) हुंडकसंस्थान—जिस शरीर के सभी अवयव लक्षण एव प्रमाण से शून्य हो।

(९.) वर्ण नामकर्म—शरीर के रग को वर्ण कहते है। जिस कर्म के उदय से शरीर आदि पुद्गल मे भिन्न-भिन्न रगो की प्राप्ति हो। इसके पॉच भेद है—काजल की तरह काला, हल्दी की तरह पीला, रायण के पत्ते की तरह नीला, हिगलु की तरह लाल तथा खडिया की तरह श्वेत।

(१०.) गध नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर मे गध की प्राप्ति हो। इसके दो भेद है—**(i)** सुगन्ध चन्दन की तरह और **(ii)** दुर्गन्ध लहसुन आदि की तरह।

(११.) रस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर मे भिन्न-भिन्न रसो की प्राप्ति होती है। इसके ५ भेद है—

(i) तिक्त रस—जिस नाम कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस नीम जैसा कडवा हो।

(ii) कटुरस—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोठ या काली मिर्च जैसा चटपटा हो, वह कटुरस नामकर्म है। यहाँ 'कटु' का अर्थ नीम आदि के रस की तरह कडवा नही पर सूठ आदि की तरह तीखा रस है। जिन कर्मो का परिणाम अतिदारुण है उनके लिये शास्त्र मे 'कटु परिणाम' शब्द का प्रयोग किया है। अत स्पष्ट है कि शास्त्रो मे तीखे के अर्थ मे कटुशब्द का प्रयोग है। लोक मे नीम कडवा माना जाता है पर शास्त्र मे तिक्त कहा गया है।

(iii) कषाय रस—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस अपक्व कवीठ, बहेडा आदि के जैसा कषैला-तूरा हो, वह कषायरस नामकर्म है।

(iv) आम्ल रस—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस आवला या इमली जैसा खट्टा हो, वह आम्ल रस नामकर्म है।

(v) मधुर रस—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस गन्ने जैसा मीठा हो, वह मधुर रस नामकर्म है।

(१२.) स्पर्श नामकर्म—स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य विषय। इसके आठ भेद है—

(i) कर्कशस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर पत्थर या गाय की जीभ जैसा खुरदरा हो।

(ii) **मृदुस्पर्श नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हस के पख, मक्खन आदि जैसा कोमल हो।

(iii) **गुरुस्पर्श नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वज्र, लोहे जैसा भारी हो।

(iv) **लघुस्पर्श नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई की तरह हलका हो।

(v) **शीतस्पर्श नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कमल-दड या बर्फ की तरह ठडा हो।

(vi) **उष्णस्पर्श नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अग्नि की तरह उष्ण हो।

(vii) **स्निग्धस्पर्श नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो।

(viii) **रुक्षस्पर्श नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर राख के समान रूखा हो।

(१३.) **अगुरुलघु नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर इतना भारी नही होता कि उसे सभालना कठिन हो जाये अथवा इतना हलका भी नही होता कि हवा मे उड जाये, किन्तु मध्यम परिणामी होता है, वह अगुरुलघु नामकर्म कहलाता है।

(१४.) **उपघात नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवो से जैसे प्रतिजिह्वा, चोर दात, होठ से बाहर निकले हुए दात, छठी अगुली, नाखून आदि से क्लेश पाता है, वह उपघात नामकर्म है।

(१५.) **पराघात नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव कमजोर होते हुए भी अजेय समझा जाता है। उसके चेहरे पर तेज और वाणी मे ऐसा ओज होता है कि लोग उसे देखकर क्षुब्ध हो जाते हैं।

(१६.) **आनुपूर्व्वी नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रह-गति से अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्व्वी नामकर्म कहते है। इस कर्म के लिये नाथ का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे इधर-उधर भटकते हुए बैल को नाथ डालकर जहाँ चाहे वहाँ ले जा सकते है, उसी प्रकार समश्रेणी से गति करते हुए जीव को आनुपूर्व्वी नामकर्म, उसे जहाँ उत्पन्न होना हो, वहाँ पहुँचा देता है। इसके चार भेद है—

१ नरकानुपूर्वी २ देवानुपूर्वी ३ तिर्यगानुपूर्वी ४ मनुष्यानुपूर्वी।

(१७.) **उच्छ्वास नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लब्धि से युक्त होता है, उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते है।

प्रश्न—कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति ही लब्धि कहलाती है, अर्थात् सभी लब्धियाँ क्षयोपशमजन्य ही होती है तो उच्छ्वास-लब्धि औदयिकी (उच्छ्वास नामकर्म के उदय से जन्य) कैसे हो सकती है?

उत्तर—यद्यपि सभी लब्धियाँ क्षायोपशमिकी होती है तथापि वैक्रिय, आहारक आदि कुछ लब्धियाँ औदयिकी भी होती है। इनकी उत्पत्ति मे कारण भूत कर्म का उदय एव वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम दोनो ही निमित्त बनते है। अत इनके औदयिक और क्षायोपशमिक होने मे कोई विरोध नहीं है।

उच्छ्वास लब्धि के लिये भी ऐसा ही समझना चाहिये। उसमे भी उच्छ्वास नामकर्म का उदय और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम दोनो कारण होने से वह औदयिकी और क्षायोपशमिकी दोनो ही है।

प्रश्न—यदि उच्छ्वास नामकर्म के उदय से ही उच्छ्वास लब्धि प्राप्त होती है तो श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—उच्छ्वास नामकर्म के उदय से उच्छ्वास-निश्वास लेने और छोडने की शक्ति प्राप्त होती है। किन्तु उच्छ्वास पर्याप्ति श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास रूप मे परिणमन करने की शक्ति देता है। अत श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति की आवश्यकता है।

प्राण—श्वासोच्छ्वास लेने और छोडने के व्यापार को प्राण कहते है।

तीर चलाने की कला आने पर भी कोई व्यक्ति उसे प्रत्यचा पर चढाये बिना, निशाना नही लगा सकता, वैसे उच्छ्वास-निश्वास योग्य पुद्गलो को ग्रहण कर उस रूप मे परिणत करने की शक्ति के अभाव मे उच्छ्वास-निश्वास लेना और छोडना सभव नही हो सकता, अत उच्छ्वास नामकर्म की सफलता के लिये उच्छ्वास पर्याप्ति का होना आवश्यक है। (जिस लब्धि के प्रयोग मे पुद्गलो की आवश्यकता होती है, वे औदयिकी है, कारण पुद्गलो का ग्रहण कर्मोदय के बिना नही होता।)

(१८.) आतप नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वय उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है, उसे आतपनाम कर्म कहते है। इसका उदय सूर्य विमानवासी बादर पृथ्वीकाय जीवो को होता है। यद्यपि अग्निकाय जीवो का शरीर भी उष्ण है, परन्तु वह आतप नामकर्म के उदय से नही किन्तु उष्णस्पर्श नामकर्म के उदय से होता है तथा उसमे प्रकाश उत्कटकोटि के रक्तवर्ण-नामकर्म के उदय से है।

(१९.) उद्योत नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्णस्पर्श रहित, शीत प्रकाश फैलाता है। लब्धिधारी मुनि और देव के उत्तरवैक्रिय शरीर से, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओ के विमानवर्ती बादर पृथ्वीकाय जीवो के शरीर से, रत्न तथा औषधि आदि से जो शीतल प्रकाश निकलता है, वह उद्योत नामकर्म का परिणाम है।

(२०.) विहायोगति—आकाश मे गमन करना। इसके दो भेद है—

(i) शुभविहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल, हस आदि की तरह शुभ हो।

(ii) अशुभविहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊँट, गधा, भैंस आदि की तरह अशुभ हो।

प्रश्न—आकाश सर्व व्यापक होने से उसके सिवाय गति सभव नही है तो 'विहायोगति' मे (विहायसा गति) विहायस् = आकाश, ऐसा विशेषण क्यो दिया ?

उत्तर—यदि यहाँ 'विहायोगति' न कहकर मात्र 'गति' ही कहते तो नामकर्म की सर्वप्रथम प्रकृति 'गति' के साथ पुनरुक्ति की शका होती। इस शका के निवारणार्थ यहाँ 'गति' के आगे 'विहायस्' ऐसा

विशेषण रखा। इसका तात्पर्य यह है कि—यहाँ गति से नरकादि पर्याय रूप गति न लेकर आकाश मे गमनरूप गति लेना है अर्थात् यहाँ गति का अर्थ है 'चाल'।

(२१.) त्रस नाम—वेदना के अनुभव से जो जीव धूप से छाया मे और छाया से धूप मे गति करता है, उसे त्रस कहते है, और जिस नामकर्म के उदय से जीव त्रस बनता है, यह त्रसनाम है।

(२२.) स्थावर नाम—शीत-ताप से पीडित होने पर भी जो जीव अन्यत्र न जा सके किन्तु एक स्थान मे ही स्थिर रहे वह 'स्थावर' है और जिस कर्म के उदय से जीव स्थावर बनता है, वह स्थावर नामकर्म है। इसका उदय एकेन्द्रिय जीवो मे होता है। यद्यपि वायु और आग गतिमान है, तथापि उनकी गति त्रास, भय या पीडा के कारण न होने से वे त्रस नही कहलाते। स्वाभाविक गतिशील होने से उन्हे गतित्रस अवश्य कहा जाता है।

(२३.) बादर नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्थूल परिणाम वाला होता है। आँख जिसे देख सके वह बादर, ऐसा बादर का अर्थ नही है, क्योकि एक-एक बादर जीव का शरीर आँख से नहीं देखा जा सकता, किन्तु जीवो का समुदाय ही दृष्टिगोचर होता है।

(२४.) सूक्ष्म नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सूक्ष्म परिणाम वाला होता है। सूक्ष्म का अर्थ है...जो किसी को रोक न सके और न किसी से रुके। सूक्ष्म शरीर अकेला तो दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकता, किन्तु इसका समुदाय भी दृष्टिगोचर नही होता।

(२५.) पर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियो को पूर्ण करके ही मरता है।

(२६.) अपर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तिओ को पूर्ण किये बिना ही मर जाता है।

(२७.) प्रत्येक नाम—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का मालिक एक ही जीव होता है। इसका उदय, देव, नरक, मनुष्य, द्वीन्द्रिय...त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय...पृथ्वी आदि तथा कपित्थ आदि प्रत्येक वनस्पति मे होता है।

शंका—'कपित्थ' आदि यदि प्रत्येक नामकर्म वाले है तो 'प्रज्ञापना' के अनुसार उसके मूल, स्कध, त्वचा और शाखा मे रहने वाले असख्याता...असख्याता जीवो के शरीर भी अलग-अलग होने चाहिये, किन्तु ऐसा तो नही लगता, मूल से लेकर फलपर्यन्त शरीर तो एकाकार ही दिखाई देता है, जैसे किसी व्यक्ति का सिर से पाँव तक अखण्ड शरीर होता है। इस प्रकार एक शरीर मे अनेक जीव होने से 'कपित्थ' आदि प्रत्येकशरीरी कैसे घटेगे ?

उत्तर—**प्रज्ञापना** के अनुसार 'कपित्थ' आदि के मूल...स्कध...त्वचा आदि मे असख्याता...असख्याता जीव है तो उनके शरीर भी अलग-अलग है। मूल से लेकर फल तक पेड की जो अखण्ड एकरूपता दिखाई देती है वह मात्र पुद्गलो के तथाविध परिणाम के कारण है। जैसे 'तिलपट्टी' मे तिल अलग-अलग होने पर भी तथाविध परिणाम से वह एकाकार बनती है वैसे ही प्रबल राग-द्वेष से सचित तथाविध प्रत्येक नामकर्म के उदय से जीवो का शरीर अलग-अलग होने पर भी मिश्रित परिणमन के कारण अखण्ड एकरूप दिखाई देता है। **प्रज्ञापना** मे कहा है—

जह सगलसरिसवाण, सिलेसमिस्साण वट्टिया वट्टी।

पत्तेयसरीराणं तह होंति शरीरसंघाया॥

जह वा तिलपप्पडिआ, बहुएहिं तिलेहिं मीसिया संति।

पत्तेयसरीराण, तह होंति सरीरसंघाया॥

जिस प्रकार सरसो को चिकने द्रव्य के साथ मिश्रित करने पर वर्ति-सलाई जैसी बन जाती है। जैसे बहुत सारे तिलो को चासनी आदि से मिश्रित करने पर तिलपट्टी बन जाती है किन्तु बट्टी मे और तिलपट्टी मे सरसो और तिल स्पष्ट रूप से अलग-अलग दिखाई देते है वैसे कपित्थ आदि वृक्ष के मूल, तना, छाल, डाल आदि मे स्थित असख्यात उन जीवो के शरीर भिन्न-भिन्न है। जैसे सरसो, तिल आदि चासनी आदि चिकने द्रव्य के कारण मिश्रित हो कर एकरूप दिखाई देते है वैसे प्रत्येकशरीर वाले जीव तथाविध प्रत्येक नामकर्म के उदय से परस्पर भिन्न-भिन्न शरीर वाले होने पर भी एकाकार दिखाई देते है।

(२८.) **साधारणनाम**—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवो का एक शरीर होता है।

प्रश्न—अनत जीवो का एक शरीर कैसे हो सकता है? कारण सर्वप्रथम जो जीव उत्पत्ति-स्थान मे आता है, शरीर रचना का अधिकारी वही होता है। जब शरीर के सर्व प्रदेशो मे उसके आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते है तब अन्य जीव उसमे कैसे रह सकते है?

और, थोडी देर के लिये मान लिया जाये कि—एक शरीर मे अनेक जीव रहते है, किन्तु जिसने इस शरीर की रचना की, अधिकारी वही जीव होगा और पर्याप्त-अपर्याप्त की व्यवस्था, श्वासोच्छ्वास के ग्रहण-मोचन का आधार भी वही होगा। अन्य जीवो मे ये व्यवस्थाये कैसे घटेगी?

उत्तर—यह प्रश्न जिनवचन की अज्ञानता का सूचक है। इसका समाधान यह है कि तथाविध कर्मवश, अनतजीव एक ही साथ उत्पत्तिस्थान मे आकर पैदा होते है तथा एक ही साथ शरीरयोग्य पर्याप्ति की रचना प्रारभ करते है और साथ ही पूर्ण करते है। श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलो का ग्रहण-मोचन साथ ही करते है अर्थात् एक जीव का ग्रहण-मोचन सभी जीव का साधारण है। अत पूर्वोक्त विरोध की यहॉ यत्किंचित् भी सभावना नही है। **प्रज्ञापना** मे कहा है—

समय वक्कताणं समयं तेसिं सरीर निप्फत्ती।

समय आणुग्गहणं, समय उस्सास-निस्सासा॥

एगस्सउ जं गहण, बहूणं साहारणाण त चेव।

ज बहुयाण गहण, समासओ त पि एगस्स॥

साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च।

साहारणजीवाण, साहारणलक्खण एय।

एक साथ उत्पन्न होने वाले साधारण शरीरी जीवो के शरीर की निष्पत्ति भी एक साथ ही होती है। श्वासोच्छ्वास के पुद्गलो को ग्रहण करना, श्वासोच्छ्वास को लेना व छोडना सभी एक साथ ही होता है। एक जीव की ग्रहण क्रिया सभी की है तथा बहुतो की ग्रहण क्रिया एक जीव की है। साधारण आहार एव साधारण श्वासोच्छ्वास यही साधारण जीवो का लक्षण है।

(२९.) **स्थिरनाम**—जिस कर्म के उदय से दात, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर अर्थात् निश्चल होते है, उसे स्थिरनाम कर्म कहते है।

(३०.) **अस्थिरनाम**—जिस कर्म के उदय से अवयव चलायमान होते है, उसे अस्थिरकर्म कहते है।

(३१.) **शुभनाम**—जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते है। हाथ, सिर, आदि अवयवो को छूने से किसी को अप्रीति नही होती, जैसे कि पॉव छूने से होती है। यही उन अवयवो का 'शुभत्व' होता है।

(३२.) **अशुभनाम**—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे का भाग अशुभ होता है। जिसे छूने से दूसरो को अप्रीति उत्पन्न हो यही उसकी अशुभता है।

प्रश्न—स्त्री आदि प्रिय व्यक्ति, गुरु आदि श्रद्धेय व्यक्ति के पाव का स्पर्श भी प्रीतिकर होता है अत· उसे एकात अशुभ कैसे कह सकते है ?

उत्तर—नाभि से नीचे का भाग वास्तव मे अशुभ है। यही कारण है कि पॉव लगने से अन्य व्यक्ति रुष्ट होते हैं। स्त्री के पॉव का स्पर्श तो मोह के कारण अच्छा लगता है व गुरु आदि के चरण श्रद्धा के कारण पूज्य है। अत पूर्वोक्त मान्यता मे कोई विरोध नही आता।

(३३.) **सुभगनाम**—जिस कर्म के उदय से, किसी प्रकार का उपकार न करने पर, या किसी तरह से सम्बन्ध न होने पर भी जीव सब को प्रिय लगता है।

(३४.) **दुर्भगनाम**—जिस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी अप्रिय लगता है।

(३५.) **सुस्वरनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकर होता है।

(३६.) **दुस्वरनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश और अप्रिय लगता है।

(३७.) **आदेयनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य होता है।

(३८.) **अनादेयनाम**—जिस के कर्म के उदय से जीव का वचन उपयुक्त होते हुए भी अनादरणीय होता है।

(३९.) **यश कीर्तिनाम**—जिस कर्म के उदय से ससार मे यश और कीर्ति फैलती हे। तप, शोर्य, त्याग आदि के द्वारा उपार्जित यश का शब्दो द्वारा कीर्तन-प्रशसा करना यश कीर्ति है।

यश—सामान्य ख्याति यश है। अथवा चारो दिशाओ मे फैली हुई, पराक्रम द्वारा प्राप्त तथा लोको द्वारा होने वाली प्रशसा यश है।

कीर्ति—सद्गुणो की प्रशसा अथवा दानादि के कारण एक दिशा मे होने वाली प्रशसा कीर्ति है।

शका—यश कीर्ति नामकर्म का उदय होने पर भी कुछ व्यक्ति उसकी निदा भी करते है। ऐसी स्थिति मे यश कीर्तिनाम कर्म का उदय व्यर्थ नही होगा ?

उत्तर—यशनाम कर्म का उदय मध्यस्थ गुणी आत्मा की अपेक्षा से ही है। मध्यस्थ और गुणानुरागी 'दूसरो के सद्गुणो का मूल्यॉकन कर सकते है।' ईर्ष्यालु आत्मा तो गुणी व्यक्तियो की भी निन्दा ही करते है। ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा यशनाम कर्म का उदय व्यर्थ है ऐसा नही माना जा सकता।

कहा है कि—शरीर मे धातुओ की विषमता के कारण व्यक्ति को दूध कडवा और नीम मधुर लगता है। फिर भी यह प्रमाणभूत नही होता। प्रत्युत द्रव्य के गुणो का विपरीत कथन करने के कारण व्यक्ति स्वय अप्रमाणभूत हो जाता है। इसलिये 'यश कीर्ति' नामकर्म का उदय सद्गुणी आत्मा की अपेक्षा से ही है।

(४०.) अपयश कीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से जीव मध्यस्थ और गुणानुरागी आत्माओ के द्वारा भी अप्रशसनीय बनता है।

(४१.) निर्माणनाम—जिस कर्म के उदय से अग और उपाग शरीर मे अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित होते है वह निर्माण नामकर्म है। इसे सूत्रधार की उपमा दी है। जैसे कारीगर शिल्पियो द्वारा निर्मित हाथ, पॉव आदि अवयवो को मूर्ति मे यथास्थान व्यवस्थित करता है वैसे अगोपाग नामकर्म द्वारा निर्मित अवयवो को निर्माण-नामकर्म शरीर मे यथास्थान व्यवस्थापित करता है। इस कर्म के अभाव मे आज जिस जगह हाथ-पॉव आदि व्यवस्थित है उस स्थान का कोई नियम नही होता।

(४२.) तीर्थकरनाम—जिस कर्म के उदय से तीर्थकर पद की प्राप्ति होती है उसे तीर्थकर नामकर्म कहते है। इस कर्म का उदय उसी जीव को होता है, जिसे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ हो। इस कर्म के प्रभाव से अष्ट प्रातिहार्य-सपदा, चौतीस अतिशय एव पैतीस वाणी के गुण प्रकट होते है। जीव अपरिमित ऐश्वर्य का भोक्ता होता है। ससार के प्राणियो को वह अपनी अधिकार युक्त वाणी से मार्ग दिखलाता है जिस पर स्वय चलकर कृतकृत्य बना है। इसलिये देवेन्द्र, नरेन्द्र भी उनकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते है ॥१२६२-१२६७॥

विशेष अपेक्षा से नामकर्म के ३ भेद होते है।

(i) बयालीस प्रकार का (ii) सडसठ प्रकार का (iii) एक सो तीन प्रकार का

(i) बयालीस प्रकार का

पिण्डप्रकृति चौदह—गति-जाति-शरीर-अगोपाग-बधन-सघातन-सघयण-सस्थान-वर्ण-गध-रस-स्पर्श-आनुपूर्व्वी-विहायो गति।

प्रत्येक आठ—पराघात-उच्छ्वास-आतप-उद्योत-अगुरुलघु-निर्माण-तीर्थकर आर उपघात नाम कर्म।

त्रसदशक—त्रस-बादर-पर्याप्ता-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वर-यशर्कीर्ति आर आदेय नामकर्म।

स्थावरदशक—स्थावर-सूक्ष्म-अपर्याप्त-साधारण-अस्थिर-अशुभ-दुर्भग-दुस्वर-अनादेय आर अयश। पूर्वोक्त वयालीस प्रकृतियॉ गति आदि के भेद की अविवक्षा से होती ह।

(ii) सड़सठ प्रकार का = गति ४ + जाति ५ + शरीर ५ + अगोपाग ३ + सघयण ६ + सस्थान ६ + आनुपूर्वी ४ + विहायोगति २ + प्रत्येक ८ + वर्णादि ४ + त्रस १० + स्थावर १० = ६७ प्रकृति। बधन और सघातन का शरीर मे अन्तर्भाव करने से ६७ प्रकृतियाँ होती है। ये बध-उदय मे उपयोगी बनती है ॥१२६७-१२७१ ॥

(iii) १०३ प्रकार का—पूर्वोक्त ६७ प्रकृतियो मे वर्णादि ४ निकालकर वर्ण ५ + २ गध + ५ रस + ८ स्पर्श + १५ बधन + ५ सघातन मिलाने से = १०३ प्रकृतियाँ होती है। ये प्रकृतियाँ सत्ता मे उपयोगी है ॥१२७२-७५ ॥

२१७ द्वार : बंधादि-स्वरूप—

सत्तट्ठछेगबंधा संतुदया अट्ठ सत्त चत्तारि।
सत्तट्ठछपचदुगं उदीरणाठाणसंखेयं ॥१२७६ ॥
बंधेऽट्ठसत्तऽणाउग छविहममोहाउ इगविहं साय।
संतोदएसु अट्ठ उ सत्त अमोहा चउ अघाई ॥१२७७ ॥
अट्ठ उदीरइ सत्त उ अणाउ छव्विहमवेयणीआऊ।
पण अवियणमोहाउग अकसाई नाम गोत्तदुगं ॥१२७८ ॥
बधे वीसुत्तरसय सयबावीस तु होइ उदयमि।
उदीरणाए एवं अडयालसयं तु सन्तमि ॥१२७९ ॥

—गाथार्थ—

बध-उदय-उदीरणा और सत्ता का स्वरूप—सात, आठ, छ और एक प्रकृति का बधस्थानक, आठ, सात और चार प्रकृति का उदय और सत्ता स्थानक, सात, आठ, छ., पाँच और दो प्रकृति का उदीरणा स्थानक है। इस प्रकार बधादि की सख्या समझना चाहिये ॥१२७६ ॥

बंध में आयु सहित आठ का एवं आयु रहित सात का बंध है। मोह एवं आयु रहित छ. का बंध है। मात्र सातारूप एक का बध है। सत्ता में एवं उदय मे आठ, आयु रहित सात, वेदनीय और आयु बिना छ, मोहनीय, वेदनीय और आयु बिना पाँच एवं अकषायी को मात्र नाम एवं गोत्र दो की ही उदीरणा होती है ॥१२७७-७८ ॥

बध में एक सौ बीस, उदय और उदीरणा मे एक सौ बावीस एवं सत्ता मे एक सौ अडतालीस प्रकृतियाँ है ॥१२७९ ॥

—विवेचन—

बंध—यह लोक काजल से भरे हुए डिब्बे की तरह पुद्गल समूह से ठसाठस भरा हुआ है।

मिथ्यात्व आदि हेतुओ के द्वारा जीव उन पुद्गलो को अपनी ओर खीचता है और आग व अयोगोलक की तरह उन पुद्गलो को अपने साथ एकमेक करता है, यही बध है।

बंधस्थान ४ प्रकार के है—

(i) सात प्रकृति का बध स्थान (आयु कर्म के बिना)
(ii) आठ प्रकृति का बधस्थान (आयुकर्म सहित)
(iii) छ प्रकृति का बधस्थान (मोहनीय व आयुकर्म के बिना)
(iv) एक प्रकृति का बधस्थान (केवल सातावेदनीय का बध)

उदय—अपवर्तनादि करण विशेष के द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से उदयप्राप्त कर्मो को भोगना ही उदय है।

उदयस्थान ३ प्रकार के है—

(i) आठ कर्म का उदयस्थान (आठो कर्मो का उदय चल रहा हो तब)
(ii) सात कर्म का उदयस्थान (मोहनीय कर्म के सिवाय)
(iii) चार कर्म का उदयस्थान (मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय के सिवाय)

उदीरणा—जिनका उदयकाल अभी नही आया है ऐसे कर्मदलिको को कषाययुक्त या कषायरहित मन-वचन-काया के व्यापार द्वारा खीचकर उदयावलिका मे लाना उदीरणा है।

उदीरणास्थान ५ प्रकार के है—

(i) सात कर्म का उदीरणास्थान (आयु के बिना)
(ii) आठ कर्म का उदीरणास्थान (जिस समय आठो कर्मो की उदीरणा हो)
(iii) छ कर्म का उदीरणास्थान (वेदनीय और आयु की उदीरणा के बिना)
(iv) पाच कर्म का उदीरणास्थान (वेदनीय, मोहनीय व आयु की उदीरणा के बिना)
(v) दो कर्म का उदीरणास्थान (कषाय रहित आत्मा जब केवल नाम कर्म व गोत्र कर्म की उदीरणा करता है)

सत्ता—बध व सक्रमण के द्वारा निजस्वरूप को प्राप्त कर्मपुद्गलो का जब तक निर्जरा व सक्रम के द्वारा नाश न हो तब तक यथावस्थित रूप मे रहना सत्ता है।

सत्ता स्थान ३ प्रकार के है—

(i) आठ कर्म का सत्तास्थान (जब सभी कर्म सत्ता मे होते है)
(ii) सात कर्म का सत्तास्थान (जब मोहनीय कर्म की सत्ता नही होती)
(iii) चार कर्म का सत्तास्थान (ज्ञाना, दर्शना, मोह व अन्तराय की सत्ता नाश होने पर)

गुणस्थान मे बंध—

१. मिथ्यात्व — सात या आठ कर्म का वध होता है। आयु का वध होता है तब आठ कर्म का, अन्यथा सात कर्म का वध होता है।

२. सास्वादन — पूर्ववत् सात या आठ का वध होता है।

३. मिश्र — सात कर्म का बध होता है। तथाविध स्वभाव के कारण इस गुणस्थान मे आयुकर्म का बध नही होता।

४. अविरति — सात या आठ (पूर्ववत् समझना)

५. देशविरति — सात या आठ (पूर्ववत् समझना)

६. सर्वविरति — सात या आठ (पूर्ववत् समझना)

७. अप्रमत्त — सात या आठ कर्म का बध। (कारण पूर्ववत्)

८. अपूर्वकरण — सात कर्म का बध। इस गुणस्थान मे परिणाम अतिविशुद्ध होने से आयुकर्म का बध नही होता।

९. अनिवृत्तिकरण — सात कर्म का बध (कारण पूर्ववत्)

१०. सूक्ष्मसंपराय — छ. कर्म का बध। मोहनीय व आयु का बध इस गुणस्थान मे नही होता, कारण मोहनीय कर्म के बध का कारण बादर कषाय है जो कि यहाँ नही है तथा आयुबध का कारण शुद्धाशुद्ध परिणाम है वे भी यहाँ नही है, यहाँ तो जीव के परिणाम अतिविशुद्ध होते है।

११. उपशान्तमोह — इस गुणस्थान मे एक सातावेदनीय का ही बध होता है।

१२. क्षीणमोह — पूर्ववत् समझना।

१३. सयोगी — पूर्ववत् समझना।

१४. अयोगी — अबधक है। बध का कोई कारण नही होने से।

गुणस्थान में उदय व सत्ता—

मिथ्यात्व, सास्वादान, मिश्र, अविरति, देशविरति, सर्वविरति, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसपराय इन दसो ही गुणस्थान मे आठो कर्म का उदय व सत्ता होती हैं।

उपशान्तमोह गुणस्थान मे उदय सात का व सत्ता आठ की होती है। कारण इस गुणस्थान मे मोहनीय उपशान्त हो जाने से उसका उदय नहीं होता पर सत्ता मे तो रहता ही है।

क्षीणमोह गुणस्थान मे उदय व सत्ता दोनो ही सात कर्म की ही है। कारण यहाँ मोहनीय का सर्वथा क्षय हो जाता है।

सयोगी गुणस्थान मे उदय व सत्ता दोनो ही चार अघाती कर्म की होती है। कारण यहाँ चार घाती कर्म सर्वथा क्षय हो जाते हैं।

अयोगी मे भी सयोगी की तरह ही चार अघाती कर्म का उदय व सत्ता होती है।

गुणस्थान में उदीरणा—

मिथ्यात्व, सास्वादन, अविरति, देशविरति व सर्वविरति गुणस्थान में निरन्तर आठों ही कर्म की उदीरणा होती रहती है। जब वर्तमान भव की आयु आवलिकामात्र शेष रहती है तब आयु के सिवाय सात कर्म की ही उदीरणा होती है, कारण उस समय उदयावलिका से बाहर कोई दलिक ही नहीं होता तो उदीरणा का प्रश्न ही नहीं उठता।

तीसरे मिश्र गुणस्थान मे आठ कर्म की उदीरणा होती है, कारण इस गुणस्थान मे कोई नही मरता। अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण आयु शेष रहने से पूर्व ही जीव या तो चौथे गुणस्थान मे चला जाता है या प्रथम गुणस्थान मे।

अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिबादर गुणस्थान मे वेदनीय व आयु को छोडकर शेष ६ कर्मो की उदीरणा होती है, क्योकि इन गुणस्थानो मे वेदनीय और आयुकर्मो की उदीरणा योग्य अध्यवसायो का अभाव रहता है। यहाँ अध्यवसाय अतिविशुद्ध होते है।

सूक्ष्म सपराय गुणस्थान मे वेदनीय व आयु के विना छ की उदीरणा होती है तथा मोहनीय के विना पाच की उदीरणा होती है। जब मोहकर्म आवलिकामात्र शेष रहता है तब उसकी उदीरणा समाप्त हो जाती है।

उपशान्तमोह गुणस्थान मे पाच की उदीरणा होती है। वेदनीय और आयु तो तथाविध अध्यवसाय के अभाव मे उदीर्ण नही होते और मोहनीय उदय के अभाव से उदीर्ण नही होता। क्योकि उदीरणा का यह नियम है कि जिसका उदय समाप्त हो जाता है उसकी उदीरणा भी समाप्त हो जाती है।

क्षीणमोह गुणस्थान मे पूर्ववत् पॉच कर्मो की ही उदीरणा होती है। परन्तु जब पॉचो कर्म आवलिकामात्र शेष रहते है तब इनकी उदीरणा भी समाप्त हो जाती है। तब मात्र नाम और गोत्र दो कर्मो की ही उदीरणा शेष रह जाती है।

सयोगी केवली गुणस्थान मे नाम व गोत्र मात्र दो कर्मो की ही उदीरणा होती है। चार घातीकर्म तो यहॉ समूल ही नष्ट हो जाते है तथा वेदनीय व आयु की उदीरणा तथाविध अध्यवसाय के अभाव से ही नही होती।

अयोगी केवली गुणस्थान अनुदीरक है, कारण उदीरणा योगसापेक्ष है और यह गुणस्थान अयोगी है।

बध-उदय-उदीरणा व सत्तागत प्रकृत्तियॉ—

- बध की विचारणा करते समय एक सौ बीस प्रकृतियॉ ही ली गई है। कारण पाच बधन + पाच सघातन = ये दश प्रकृतियॉ अपने-अपने शरीर नामकर्म के अतर्गत ही मान ली जाती है। वर्णादि बीस मे से सोलह उत्तरभेद न लेकर मूल चार भेद ही लिये जाते है तथा सम्यक्त्वमोह व मिश्रमोह की अलग से विवक्षा न करके केवल मिथ्यात्वमोह ही लिया जाता है, कारण पूर्वोक्त दोनो प्रकृतियॉ मिथ्यात्व का ही परिवर्तितरूप है। इस प्रकार एक सौ अडतालीस मे से दश + सोलह + दो = अट्ठावीस प्रकृतियॉ निकलने से बध मे कुल एक सौ बीस प्रकृतियॉ ही रहती है।
- उदय मे सम्यक्त्वमोह व मिथ्यात्वमोह दो बढ जाने से एक सौ बीस + दो = एक सौ बावीस प्रकृतियॉ होती है।
- जिन प्रकृतियो का उदय होता है उनकी ही उदीरणा होती है। इस नियम के अनुसार उदीरणा भी एक सौ बावीस की ही है।

- सत्ता मे सभी प्रकृतियाँ रहने से सत्ता एक सौ अडतालीस की है।
- गर्गर्षि व शिवर्षि के मतानुसार जो एक सौ अट्ठावन की सत्ता बताई गई है उसका कारण पाच बधन के स्थान पर पन्द्रह बधन मानना है। इस प्रकार एक सो अडतालीस मे दश प्रकृति मिलाने से एक सौ अडतालीस + दस = एक सौ अट्ठावन की सत्ता होती है ॥१२७६-७९ ॥

२१८ द्वार : कर्मस्थिति—

मोहे कोडाकोडीउ सत्तरी वीस नामगोयाण।
तीसियराण चउण्ह तेत्तीसऽयराइं आउस्स ॥१२८० ॥
एसा उक्कोसठिई इयरा वेयणिय बारस मुहुत्ता।
अट्ठट्ठ नामगोत्तेसु सेसएसु मुहुत्ततो ॥१२८१ ॥
जस्स जई कोडिकोडीउ तस्स तेत्तिससयाइ वरिसाणं।
होइ अबाहाकालो आउम्मि पुणो भवतिभागो ॥१२८२ ॥

—गाथार्थ—

अबाधासहित कर्मस्थिति—मोहनीय कर्म की सित्तर कोडाकोडी सागरोपम, नाम-गोत्र की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, आयु को छोडकर शेष चार की तीस कोड़ाकोडी सागरोपम तथा आयु की तेतीस सागरोपम की स्थिति है ॥१२८० ॥

पूर्वोक्त स्थिति उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्य स्थिति इस प्रकार है। वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम-गोत्र की आठ-आठ मुहूर्त तथा शेष कर्मो की अन्तर्मुहूर्त्त की स्थित्ति है ॥१२८१ ॥

जिस कर्म की जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति है, उस कर्म का अबाधाकाल उतने सौ वर्ष का होता है, पर आयु कर्म का अबाधाकाल उसकी स्थिति का तीसरा भाग है ॥१२८२ ॥

—विवेचन—

कर्म की स्थिति दो प्रकार की होती है—(i) कर्म रूप अवस्थान और (ii) अनुभव योग्य स्थिति।

(i) **कर्मरूप अवस्थान** — बधे हुए कर्म जितने समय तक कर्म रूप मे रहते है, पर फल नही देते वह स्थिति।

(ii) **अनुभव योग्य** — बधे हुए कर्म जितने समय तक फल देते है, वह स्थिति (अबाधाकाल-हीन कर्म की स्थिति)

कर्मरूप अवस्थान—

कर्म	उत्कृष्ट	जघन्य
१ ज्ञानावरणीय	३० कोडा	अन्तर्मुहूर्त
२ दर्शनावरणीय	कोडी	अन्तर्मुहूर्त
३ वेदनीय	सागरो	१२ मुहूर्त सकषायी के, अकषायी की अपेक्षा २ समय। प्रथम समय बध, द्वितीय समय मे उदय और तृतीय समय मे निर्जरा।
४ अन्तराय	३० कोडा कोडी सागर	अन्तर्मुहूर्त
५ मोहनीय	७० कोडा कोडी सागर	अन्तर्मुहूर्त
६ आयु	३३ सागर	अन्तर्मुहूर्त
७ नाम	२० कोडा कोडी सागर	आठ मुहूर्त
८ गोत्र	२० कोडा कोडी सागर	अन्तमुहूर्त

- अकषायी आत्मा प्रथम समय मे वेदनीय का बध करता है तथा द्वितीय समय मे भोगकर क्षय कर देता है। कषायरहित आत्मा अधिक बध नही करता।

अनुभव योग्य स्थिति—

कर्म	उत्कृष्ट	जघन्य
१ ज्ञानावरणीय	३००० वर्ष न्यून	अन्तर्मुहूर्त न्यून अन्तर्मुहूर्त।* अन्तर्मुहूर्त के अनेक भेद हैं।
२ दर्शनावरणीय	३०	
३ वेदनीय	कोडा कोडी	अन्तर्मुहूर्त न्यून १२ मुहूर्त*
४ अन्तराय	सागर	अन्तर्मुहूर्त न्यून अन्तर्मुहूर्त
५ मोहनीय	७००० वर्ष न्यून ७० कोडा-कोडी सागर	अन्तर्मुहूर्त न्यून
६ आयु	३३ सागर	अन्तर्मुहूर्त
७ नाम	२००० वर्ष न्यून	अन्तर्मुहूर्त
८ गोत्र	२० कोडा कोडी सागर	न्यून आठ मुहूर्त

(i) दो समय की (१२-१३वे गुणस्थान मे) प्रथम समय मे बध, दूसरे समय मे उदय व तीसरे समय मे निर्जरा।

(ii) १२ मुहूर्त की (सकषायी की)

अबाधा-काल—बँधा हुआ कर्म तुरन्त उदय मे नही आता, किन्तु निश्चित समय बीतने के बाद

ही उदय मे आता है। जितने समय तक कर्म उदय मे नही आता, वह समय अबाधा-काल कहलाता है। अबाधा-काल का यह नियम है कि एक कोडाकोडी की स्थिति के पीछे सौ वर्ष का अबाधा-काल होता है, अर्थात् एक कोडाकोडी की स्थिति वाला कर्म बँधने के पश्चात् सौ-वर्ष के बाद ही उदय मे आता है। जघन्य स्थिति मे अन्तर्मुहूर्त्त का अबाधा-काल होता है। जघन्य स्थिति पर पल्योपम का असंख्यातवा भाग अधिक होते ही एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्त्त का अवाधा-काल होता है। इस प्रकार जघन्य स्थिति पर जितने अधिक पल्योपम के असख्यातवे भाग बढेगे, उतने समय, अबाधा-काल के अन्तर्मुहूर्त्त पर बढ जायेगे। अर्थात् जघन्य स्थिति के ऊपर पल्योपम के असख्यातवे भाग की स्थिति वाले कर्म का अबाधा-काल समयाधिक अन्तर्मुहूर्त्त होता है। इस प्रकार बढते-बढते एक कोडा कोडी की स्थिति वाले कर्म का अबाधा-काल सौ वर्ष का हो जाता है।

*वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति दो प्रकार की है—

*अबाधाकाल का अन्तर्मुहूर्त्त उदयकाल के अन्तर्मुहूर्त्त से अतिलघु है।

कर्म	उत्कृष्ट	जघन्य
१ ज्ञानावरणीय	३०००	अ
२ दर्शनावरणीय	वर्ष का	न्त
३ वेदनीय	अबाधा	र्मु
४ अन्तराय	काल	हू
५ मोहनीय	७०००	र्त
६ आयु	पूर्व क्रोड वर्ष का	का
	तीसरा भाग	अ
७ नाम	२००० वर्ष का	बाधा
८ गोत्र	२००० वर्ष का	काल

निषेक = अबाधा-काल बीतने के बाद कर्म को भोगने के लिये की गई क्रमिक दलिको की रचना।

कर्मो के सभी दलिक एक ही साथ नही भोगे जाते। अबाधा काल छोडकर जिस-कर्म की जितनी स्थिति होती है, उतने समय मे ही वह कर्म भोगा जाता है। अत बधे हुए कर्म के दलिको की क्रमश रचना होती है। प्रथम समय मे सर्वाधिक दलिक, द्वितीय समय मे अपेक्षाकृत अल्प, तृतीय समय मे और अल्प, इस प्रकार स्थिति-बध के अतिम समय पर्यन्त उत्तरोत्तर हीन, हीनतर दलिको की रचना होती है और रचना के अनुसार ही प्रतिसमय दलिक भोगे जाते है। दलिको की यह रचना निषेक कहलाती है।

पूर्व क्रोड की आयुष्य वाला जीव अपनी आयु के तीसरे भाग मे अनुत्तर विमान के योग्य ३३ सागर का उत्कृष्ट-आयु बाँधता है अत उसकी अपेक्षा से पूर्वक्रोड के तीसरे भाग का अवाधाकाल घटता। आयु तो जितने समय का बँधा है उतना पूरा भोगा जाता है ॥१२८०-८२ ॥

२१९ द्वार : पुण्यप्रकृति—

सायं उच्चागोय नरतिरिदेवाउ नाम एयाओ।
मणुयदुग देवदुग पचिंदिय जाइ तणुपणग ॥१२८३॥
अगोवंगतिगपि य सघयण वज्जरिसहनाराय।
पढम चिय सठाण वन्नाइचउक्क सुपसत्थ ॥१२८४॥
अगुरुलहु पराघाय उस्सास आयव च उज्जोय।
सुपसत्था विहगगई तसाइदसग च निम्माण ॥१२८५॥
तित्थयरेण सहिया पुन्नप्पयडीओ हुति बायाला।
सिवसिरिकडक्खियाण सयावि सत्ताणभेयाउ ॥१२८६॥

—गाथार्थ—

बयालीस पुण्य प्रकृति—१ सातावेदनीय २. उच्चगोत्र ३-५. मनुष्य, तिर्यच और देव की आयु तथा नामकर्म की निम्न प्रकृतियाँ—६-७. मनुष्यद्विक ८-९. देवद्विक १०. पचेन्द्रिय जाति ११-१५. शरीर पंचक १६-१८ अंगोपांगत्रिक १९. वज्रऋषभनाराच सघयण २०. प्रथमसस्थान २१-२४. प्रशस्त वर्णादि चतुष्क २५. अगुरुलघु २६. पराघात २७. श्वासोच्छ्वास २८ आतप २९. उद्योत ३०. शुभविहायोगति ३१-४०. त्रसदशक ४१. निर्माण और ४२. तीर्थकर नामकर्म सहित बयालीस पुण्य-प्रकृतियाँ है। जिस व्यक्ति पर शिवलक्ष्मी का कटाक्ष-क्षेप हो जाता है, ये प्रकृतियाँ उस व्यक्ति की सत्ता मे सदा होती है ॥१२८३-८६॥

—विवेचन—

(i) वेदनीय कर्म = १ सातावेदनीय
(ii) गोत्र कर्म = १ उच्चगोत्र
(iii) आयु कर्म = ३ नरायु, तिर्यगायु और देवायु
(iv) नाम कर्म = ३७ मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवद्विक, पचेन्द्रिय जाति, ५ शरीर, ३ अगोपाग, प्रथम सघयण व प्रथम सस्थान, वर्णादि चार, (वर्ण मे श्वेत, पीत और रक्त प्रशस्त है, गध मे सुरभि, रस मे मधुर, अम्ल, कषाय। स्पर्श मे मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण) पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभविहायोगति, त्रसदशक, यश, निर्माण और तीर्थकर नाम कर्म = ४२ कुल पुण्य प्रकृति है।

इन ४२ प्रकृतियो का उदय मोक्षगामी जीव को सदैव रहता है ॥१२८३-८६॥

२२० द्वार :

पाप-प्रकृति—

नाणंतरायदसगं दंसण नव मोहपयइ छव्वीसा।
अस्सायं निरयाउं नीयागोएण अडयाला ॥१२८७॥
नरयदुगं तिरियदुगं जाइचउक्कं च पंच संघयणा।
संठाणावि य पंच उ वन्नाइचउक्कमपसत्थ ॥१२८८॥
उवघाय कुविहयगई थावरदसगेण होंति चोत्तीसा।
सव्वाओ मीलियाओ बासीई पावपयडीओ ॥१२८९॥

—गाथार्थ—

बयासी पाप प्रकृति—ज्ञानावरण और अंतराय की दश, नौ दर्शनावरण, मोहनीय की छब्बीस, अशातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र, नरकद्विक, तिर्यचद्विक, जाति चतुष्क, संघयण पंचक, संस्थान पंचक, अप्रशस्त वर्णादि चतुष्क, उपघात, अशुभविहायोगति, स्थावरदशक—इस प्रकार नामकर्म की चौतीस प्रकृतियों के साथ ज्ञानावरणीय अड़तालीस प्रकृतियों को मिलाने पर कुल बयासी प्रकृतियाँ होती है ॥१२८७-८९॥

—विवेचन—

	कर्म	प्रकृति
(i)	ज्ञानावरणीय	= मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यव और केवल-ज्ञानावरणीय।
(ii)	दर्शनावरणीय	= चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, थीणद्धि।
(iii)	अन्तराय	= दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तराय।
(iv)	मोहनीय २६	= १६ कषाय, ९ नोकषाय और मिथ्यात्व मोहनीय (सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय का शुद्ध तथा अर्ध-शुद्ध रूप है अत उनका बध पृथक् नही होता।)
(v)	वेदनीय	= १ असाता वेदनीय
(vi)	गोत्र	= १ नीचगोत्र
(vii)	नामकर्म	= ३४ नरकद्विक, तिर्यग्द्विक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, अप्रथमसघयण, अप्रथम सस्थान, अप्रशस्तवर्णादि ४ (वर्ण—नील, कृष्ण, गन्ध—दुरभि, रस—तिक्त व कटु, स्पर्श—गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत) उपघात, अशुभविहायोगति और स्थावर दशक = ३४

(viii) आयुकर्म — नरकायु

वर्णचतुष्क—प्रशस्त और अप्रशस्त दोनो प्रकार का होने से पाप और पुण्य दोनो मे गिना जाता है। यहाँ वर्णादि चार ही लेना है, जिससे बध सम्बन्धी १२० प्रकृति की सख्या बराबर रहती है ॥१२८७-८९ ॥

२२१ द्वार : भाव-षट्क—

भावा छच्चोवसमिय खइय खओवसम उदय परिणामा।
दु नव ट्ठारि गवीसा तिग भेया सन्निवाओ य ॥१२९० ॥
सम्मचरणाणि पढमे दसणनाणाइ दाणलाभा य।
उवभोगभोगवीरिय सम्मचरित्ताणि य बिइए ॥१२९१ ॥
चउनाणमणाणतिग दसणतिग पच दाणलद्धीओ।
सम्मत चारित्तं च सजमासजमो तइए ॥१२९२ ॥
चउगइ चउक्कसाया लिंगतिग लेसछक्कमन्नाण।
मिच्छत्तमसिद्धत्तं असंजमो तह चउत्थम्मि ॥१२९३ ॥
पचमगंमि य भावे जीवाभव्वत्तभव्वया चेव।
पचण्हवि भावाण भेया एमेव तेवन्ना ॥१२९४ ॥
ओदयिय-खओवसमिय-परिणामेहिं चउरो गइचउक्के।
खइयजुएहि चउरो तदभावे उवसमजुएहि ॥१२९५ ॥
एक्केक्को उवसमसेढीसिद्धकेवलिसु एवमविरुद्धा।
पन्नरस सन्निवाइयभेया वीस असभविणो ॥१२९६ ॥
दुगजोगो सिद्धाण केवलि-ससारियाण तियजोगो।
चउजोगजुअं चउसुवि गईसु मणुयाण पण जोगो ॥१२९७ ॥
मोहस्सेवोवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईण।
उदयक्खयपरिणामा अट्ठण्हवि हुति कम्माण ॥१२९८ ॥
सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसते।
चउ खीणऽपुव्वे तिन्नि सेस गुणठाणगेगजिए ॥१२९९ ॥

—गाथार्थ—

भेद-प्रभेद सहित षड्भाव—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक, और सान्निपातिक ये छः भाव है। प्रथम पॉच भावों के क्रमश दो, नौ, अट्ठारह, इक्कीस तथा तीन भेद है ॥१२९० ॥

प्रथम भाव के सम्यक्त्व और चारित्र दो भेद है। द्वितीय भाव के दर्शन, ज्ञान, दान, लाभ, उपभोग, भोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र—ये नौ भेद है ॥१२९१ ॥

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पॉच दानादि लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये तृतीयभाव के भेद है ॥१२९२ ॥

चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, छ लेश्या, अज्ञान, मिथ्यात्व, असिद्धत्व और असंयम—ये चतुर्थभाव के भेद है ॥१२९३ ॥

पंचम भाव के जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व—ये तीन भेद है। पॉचो भावो के कुल मिलाकर त्रेपन भेद होते है ॥१२९४ ॥

चार गति की अपेक्षा औदयिक, क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक भाव के चार भग है। औदयिक आदि तीन के क्षायिक के साथ अथवा उपशम के साथ भी चार भंग होते है। उपशमश्रेणि, सिद्धावस्था तथा केवली अवस्था मे एक भग होता है। इस प्रकार सान्निपातिक भाव के पन्द्रह भेद है। शेष बीस भेद असंभवित है ॥१२९५-९६ ॥

द्विसंयोगी भांगे सिद्ध, केवली तथा संसारी जीवो में संभवित होते है। त्रिसंयोगी और चतुर् संयोगी भांगे चारों गतियों में घटित होते है। मनुष्य में पचसंयोगी भांगा घटित होता है। उपशमभाव मोहनीय कर्म का ही होता है। क्षयोपशमभाव चार घातीकर्म का होता है। औदयिक, क्षायिक एवं पारिणामिक भाव आठों कर्मो का होता है ॥१२९७-९८ ॥

सम्यक्त्व आदि चार मे तीन अथवा चार भाव होते है। उपशामक और उपशांत मे चार अथवा पॉच भाव होते है। क्षीणमोह और अपूर्वकरण मे चार भाव है। शेष गुणठाणो में तीन भाव होते है। यह एक जीव की अपेक्षा से समझना चाहिये ॥१२९९ ॥

—विवेचन—

- जीवादि पदार्थ का निमित्तजन्य या स्वभावजन्य परिणाम विशेष भाव है अर्थात् वस्तु का परिणाम विशेष भाव है अथवा पदार्थ का उपशमादि पर्याय के द्वारा जो परिणमन होता ह वह भाव है। इसके छ भेद है—

(i) औपशमिक (ii) क्षायिक (iii) क्षायोपशमिक (iv) औदयिक (v) पारिणामिक आंर (vi) सान्निपातिक

(i) औपशमिक—क्रोधादि के रसोदय एव प्रदेशोदय के अभाव से जन्य जीव का परिणाम विशेष औपशमिक भाव है। राख द्वारा ढकी हुई आग की तरह शात अवस्था उपशम हं। इसमं मोहनीय

का रसोदय व प्रदेशोदय दोनो का अभाव होने से यह सर्वोपशम कहलाता है। सर्वोपशम मोहनीय कर्म का ही होता है। कषायोदय के अभाव मे होने वाली जीव की परमशान्त अवस्था। इसके दो भेद है—

(अ) **उपशम सम्यक्त्व**—दर्शन सप्तक के उपशम से जन्य परिणाम विशेष।

(ब) **उपशम चारित्र**—चारित्र मोहनीय के उपशम से जन्य परिणाम विशेष।

(ii) क्षायिक—कर्मो के सर्वथा क्षय से जन्य परिणाम विशेष। इसके नौ भेद है—

१ केवल-ज्ञान २ केवल दर्शन	अपने-अपने आवरणीय कर्मो के क्षय से जन्य।
३ क्षायिक सम्यक्त्व	दर्शन-सप्तक के क्षय से जन्य।
४ क्षायिक-चारित्र	चारित्रमोहनीय के क्षय से जन्य।
५ दान-लब्धि ६ भोग-लब्धि ७ उपभोग-लब्धि ८ लाभ-लब्धि ९ वीर्य-लब्धि	पॉच प्रकार के अन्तराय के क्षय से जन्य

(iii) क्षायोपशमिक—घाती कर्म के उदीर्ण अश के क्षय तथा अनुदीर्ण अश के उपशम से जन्य मतिज्ञानादि लब्धिरूप आत्म-परिणाम विशेष। इसके अठारह भेद है।

१-४ ५-७ ८-१०	मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यवज्ञान तीन अज्ञान तीन दर्शन	अपने आवारक कर्म के क्षयोपशम से जन्य।
११	सम्यक्त्व (क्षायोपशमिक)	दर्शन-सप्तक के क्षयोपशम से जन्य।
१२	देशविरति	अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से जन्य।
१३	सर्वविरति	चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से जन्य।
१४-१८	दानादि पॉच लब्धि	अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जन्य।

(iv) औदयिक—यथासमय उदयप्राप्त कर्मो के स्वरूप का अनुभव करना अथवा कर्मो के उदय से जन्य परिणाम-विशेष जैसे, नरकादि पर्याय क्रोधादि कषाय जन्य परिणाम। इसके इक्कीस भेद है—

१ अज्ञान	मतिज्ञानावरण आर मिथ्यात्व मोह के उदय मे जन्य।
२ असिद्धत्व	आठ कर्मो के उदय से जन्य।
३ असयम	अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जन्य।

४-९ लेश्या छ	जो लेश्या को योग का परिणाम मानते है उनके मतानुसार लेश्या योगजनक कर्म के उदय से जन्य है। जो लेश्याओ को कषाय का निस्यद मानते है उनके मतानुसार लेश्या कषाय मोहनीय से जन्य है। पर, जो लेश्या को कर्म का निस्यद मानते है उनके मतानुसार लेश्या, आठो ही कर्मो से जन्य है।
१०-१३ चार कषाय	कषाय, मोहनीय कर्म के उदय से जन्य।
१४-१६ तीन वेद	वेद मोहनीय कर्म के उदय से जन्य।
१७-२० चार गति	गति, नामकर्म के उदय से जन्य।
२१ मिथ्यात्व	मिथ्यात्व, मोहनीय कर्म के उदय से जन्य।

प्रश्न—दानादि लब्धि क्षायिकी और क्षायोपशमिकी दोनो प्रकार की है अत परस्पर विरोध नही होगा क्या ?

उत्तर—वस्तुत दानादि लब्धियाँ दो प्रकार की है—**(i)** अन्तराय कर्म के क्षय से जन्य जैसे, केवलज्ञानी की।

(ii) अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जन्य जैसे छद्मस्थ की।

- अज्ञान (विपरीत ज्ञान) क्षायोपशमिक और औदयिक दोनो भावो से जन्य होता है। क्योकि यथार्थ या अयथार्थ ज्ञान मात्र ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से ही होता है किन्तु विपरीत ज्ञान रूप अज्ञान का कारण ज्ञानावरणीय तथा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय है। इस प्रकार एक ही अज्ञान के क्षायोपशमिक और औदयिक होने मे कोई विरोध नही है।

प्रश्न—निद्रा पचक, सातावेदनीय, हास्य, रति-अरति आदि और भी बहुत से भाव कर्म उदयजन्य है तो औदयिक भाव के भेद २१ ही कैसे बताये ?

उत्तर—औदयिक भाव के उक्त भेद अन्य भेदो के उपलक्षण मात्र है अत कर्म के उदय से जन्य सभावित अन्य भेद भी औदयिक भाव के अन्तर्गत आ जाते है।

(v) पारिणामिक—पूर्वावस्था का त्याग करके उत्तरावस्था को ग्रहण करना परिणाम है और वही पारिणामिक भाव है। इसके तीन भेद है—

(i) जीवत्व **(ii)** भव्यत्व और **(iii)** अभव्यत्व। ये तीनो अनादि पारिणामिक भाव है। ये उपलक्षण मात्र है। अत

- पदार्थो का नव-पुराण भाव
- पर्वत, भवन, विमान, कूट, नरकावास आदि की चय-अपचय जन्य अवस्था विशेष।
- गन्धर्व-नगर आदि की रचना-विशेष।
- वन्दर की हँसी, उल्कापात, वादलो की गर्जना, तुषारपात, दिग्दाह, विद्युत, इन्द्रधनुष आदि।

- सूर्य-मडल, चन्द्र-मडल, ग्रहण आदि बहुत से सादि पारिणामिक भाव है। तथा
- लोक स्थिति, अलोक स्थिति, धर्मास्तिकाय का स्वभाव, अधर्मास्तिकाय का स्वभाव आदि बहुत से अनादि पारिणामिक भाव है।
- इस प्रकार 'औपशमिक' आदि ५ भावो के कुल मिलाकर २ + ९ + १८ + २१ + ३ = ५३ भेद होते है।

(vi) सान्निपातिक—पूर्वोक्त ५ भावो का सयोग सान्निपातिक भाव है। इसके २६ भेद है—

१ औदयिक-औपशमिक	द्वि
२ औदयिक-क्षायिक	
३ औदयिक-क्षायोपशमिक	क
४ औदयिक-पारिणामिक	
५ औपशमिक-क्षायिक	स
६ औपशमिक क्षायोपशमिक	
७ औपशमिक पारिणामिक	यो
८. क्षायिक क्षायोपशमिक	
९ क्षायिक पारिणामिक	गी
१० क्षायोपशमिक पारिणामिक	

१ औदयिक औपशमिक क्षायिक	त्रि
२ औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक	
३ औदयिक औपशमिक पारिणामिक	क
४ औदयिक क्षायिक क्षायोपशमिक	
५ औदयिक क्षायिक पारिणामिक	स
६ औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	
७ औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक	यो
८ औपशमिक क्षायिक पारिणामिक	
९ औपशमिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	गी
१० क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	

१	औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक	च तु र्स यो गी
२	औदयिक औपशमिक क्षायिक पारिणामिक	
३.	औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	
४.	औदयिक क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	
५	औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	

१ औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक पच सयोगी

पूर्वोक्त छब्बीस भागो मे से

द्विक सयोगी	नौवा भागा
त्रिक सयोगी	पाचवा व ६वा भागा
चतुर्सयोगी	तीसरा व ४था भागा
पच सयोगी	पहिला भागा

ये छ भागे ही व्यवहारोपयोयगी है।शेष बीस भागे मात्र सयोगिक कल्पनाजन्य हैं।

- द्विक सयोगी नौवा भागा... क्षायिक, पारिणामिक ....सिद्ध मे होता है। क्षायिक भाव से सम्यक्त्व और पारिणामिक भाव से जीवत्व। (१ भेद)
- त्रिक सयोगी पाचवा भागा....औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक ....केवली मे होता है। क्षायिक भाव से = केवलज्ञान, औदयिक भाव से = मनुष्यत्व, पारिणामिक से = जीवत्व-भव्यत्व। (१ भेद)
- त्रिक सयोगी छठा भागा...औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक...चार गति मे होता है। (४ भेद)
  क्षायोपशमिक = इन्द्रियादि, औदयिक = नरक-तिर्यच-मनुष्य या देवगति। पारिणामिक = जीवत्व आदि।
- चतु सयोगी तीसरा भागा...औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, व पारिणामिक...४ गति मे होता है। (४ भेद)
  औपशमिक = सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक = इन्द्रियादि, औदयिक = पूर्ववत् चारो गति। पारिणामिक = जीवत्वादि
- चतु सयोगी चौथा भागा...औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक...४ गति मे होता है। (४ भेद)
  क्षायिक = सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक = इन्द्रियादि, औदयिक = पूर्ववत् चार गति, पारिणामिक = जीवत्वादि।
- पच सयोगी पहला भागा...औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपमिक, औदयिक और पारिणामिक... क्षायिक सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी करने वाले मनुष्य मे होता है।

औपशमिक = चारित्र, क्षायिक = सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक = इन्द्रियादि, औदयिक = मनुष्यत्वादि, पारिणामिक = जीवत्वादि। (१ भेद)

पूर्वोक्त छ भागो के गति तथा जीव के भेद से कुल मिलाकर अवान्तर पन्द्रह भागे होते है।

कर्म में भाव—

१. औपशमिक भाव — एक मोहनीय कर्म का। (उपशम से सर्वत अर्थात् विपाकोदय व प्रदेशोदय दोनो का उपशम समझना अन्यथा देशत उपशम तो सभी कर्मो का होता है।)

२. क्षायिक भाव — आठ कर्म का। मोहनीय का क्षय = दसवे गुणस्थान के अन्त मे। चार अघाती का क्षय = चौदहवे गुणस्थान के अत मे।

३. क्षायोपशमिक भाव — चार घाती कर्मो का। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण को छोडकर। इनका क्षयोपशम नही होता। क्षय ही होता है।

४ औदयिक भाव — आठ कर्मो का।

५. पारिणामिक भाव — आठ कर्मो का।

पारिणामिक = कर्म परमाणुओ का जीव-प्रदेशो के साथ एकमेक होना अथवा विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से तथाविध सक्रमादि के रूप मे परिणत होना कर्मो का पारिणामिक भाव है।

उपसंहार—

- ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय मे — क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक = चार भाव
- मोहनीय मे — पॉचो भाव
- नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य कर्म मे — क्षायिक, आंदयिक और पारिणामिक = तीन भाव

गुणस्थानक में भाव—

पहिले से तीसरे गुणस्थान मे—औदयिक, पारिणामिक व क्षायोपशमिक तीन भाव होते हैं। औदयिक भाव से यथायोग्य गति आदि, पारिणामिक भाव से जीवत्वादि तथा क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि मिलती है।

चौथे से सातवे गुणस्थान मे—पूर्वोक्त तीन अथवा क्षायिक या औपशमिक सहित चार भाव होते है। तीन भाव क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा से होते हैं क्योकि उसका सम्यक्त्व भी क्षायोपशमिक ही है। परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि या उपशम सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा चार भाव होते हैं क्योकि उनका सम्यक्त्व क्रमश क्षायिक भाव या औपशमिक भाव जन्य ह।

आठवे गुणस्थान मे—औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक या औपशमिक चार भाव

होते है। औदयिक भाव से गति आदि, पारिणामिक भाव से जीवत्वादि, क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि तथा क्षायिक या औपशमिक भाव से सम्यक्त्व मिलता है।

नौवे-दसवे गुणस्थान मे—पूर्ववत् चार भाव होते है।

ग्यारहवे गुणस्थान मे—पूर्ववत् चार अथवा पाच भाव होते है। सम्यक्त्व व चारित्र दोनो ही जिसके औपशमिक है उस जीव की अपेक्षा औदयिक, पारिणामिक क्षायोपशमिक व औपशमिक सहित चार भाव होते है परन्तु क्षायिक सम्यक्त्वी उपशमश्रेणि करने वाले जीव की अपेक्षा पाच भाव होते है, क्योकि उसका सम्यक्त्व क्षायिक व चारित्र औपशमिक होता है।

१२वे गुणस्थान मे—औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक चार भाव होते है। प्रथम तीन भाव से क्रमश गति, जीवत्वादि व इन्द्रियादि मिलती है तथा सम्यक्त्व व चारित्र क्षायिक भाव से मिलता है।

तेरहवे गुणस्थान मे—औदयिक, पारिणामिक तथा क्षायिक तीन भाव होते है। जिनसे क्रमश गति, जीवत्वादि तथा सम्यक्त्व, चारित्र आदि मिलते है।

गुणस्थानो मे भावो की पूर्वोक्त घटना एक जीव की अपेक्षा से समझना। सर्व जीवो की अपेक्षा से तो संभवित सभी भाव घटित होते है ॥१२९०-९९॥

२२२ द्वार : जीव-भेद—

इह सुहुमबायरेगिंदियबितिचउ असन्नि सन्नि पंचिंदी।
पज्जत्तापज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥१३००॥

—गाथार्थ—

जीव के चौदह प्रकार—१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय २. बादर एकेन्द्रिय ३. द्वीन्द्रिय ४. त्रीन्द्रिय ५. चतुरिन्द्रिय ६. संज्ञी पञ्चेन्द्रिय ७. असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इन जीवों के क्रमश पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलाकर कुल चौदह जीव भेद होते है॥१३००॥

—विवेचन—

जीव के १४ भेद है। ये जीवस्थान भी कहलाते है। जीवस्थान अर्थात् जहाँ कर्म-परवश जीव आयुपर्यन्त ठहरते है।

जीव के चौदह भेद—

१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय
२. बादर एकेन्द्रिय
३. द्वीन्द्रिय कुलभेद
४ त्रीन्द्रिय
५. चतुरिन्द्रिय
६ सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय
७ असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय

ये सातो ही जीवभेद पर्याप्ता व अपर्याप्ता दो प्रकार के होने से जीव के सात + सात = चौदह भेद होते है।

अपर्याप्ता—अपर्याप्ता के दो भेद है—(i) लब्धि अपर्याप्ता व (ii) करण अपर्याप्ता

(i) लब्धि अपर्याप्ता — जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण किये बिना ही मर जाते है, वे लब्धि अपर्याप्ता है।

आगममत — लब्धिपर्याप्ता भी आहार, शरीर और इन्द्रियपर्याप्ति को पूर्ण करके ही मरते है, क्योकि परभव के आयुष्य का बध इन तीन पर्याप्ति से पर्याप्ता ही कर सकता है।

(ii) करण अपर्याप्ता — जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण करके ही मरेगे पर अभी पूर्ण नही की है वे करण अपर्याप्ता है ॥१३०० ॥

२२३ द्वार : अजीव-भेद—

धम्माऽधम्माऽऽगासा तियतियभेया तहेव अद्धा य।
खधा देस पएसा परमाणु अजीव चउदसहा ॥१३०१ ॥

—गाथार्थ—

अजीव के चौदह भेद—**धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के तीन-तीन भेद है। काल का एक भेद तथा पुद्गलास्तिकाय के स्कध, देश, प्रदेश और परमाणु चार भेद है। पूर्वोक्त सभी भेदों को मिलाने से अजीव के चौदह भेद होते है**॥१३०१ ॥

—विवेचन—

अजीव के दो भेद है—(i) रूपी और (ii) अरूपी।

(i) **रूपी**—जिसमे रूप हो वह रूपी है ऐसा कथन गन्ध, रस, स्पर्श आदि का उपलक्षण है क्योकि गधादि के अभाव मे केवल रूप का होना असभव है। अथवा रूप का अर्थ है वर्ण, गध, रस, स्पर्शयुक्त मूर्ति = आकार, रूप है। ऐसा रूप जिसमे है वह रूपी है। ऐसे पुद्गल है। इसके ४ भेद हैं।

(अ) **स्कंध**—स्कदति अर्थात् सूखना, धीयन्ते अर्थात् पुष्ट होना अर्थात् चय-अपचय स्वभाव वाला अनन्तानत परमाणुओ का समूह स्कध है। स्कध चक्षुग्राह्य व चक्षु अग्राह्य दो प्रकार के होते है।

चक्षुग्राह्य—जो चर्मचक्षु से दिखायी दे वह चक्षुग्राह्य है, जैसे कुभ, स्तभ, शरीर आदि।

चक्षुअग्राह्य—जो चर्म चक्षु से दिखाई न दे वह चक्षुअग्राह्य है, जैसे अचित्तमहास्कध। यहाँ वहुवचन का प्रयोग पुद्गल स्कधो की अनतता प्रमाणित करता है।

(ब) देश—स्कध के बुद्धि कल्पित द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी विभाग है। यहाँ भी बहुवचन का प्रयोग अनतप्रदेशी स्कधो मे अनन्त देशो का सद्भाव बताने के लिये है।

(स) प्रदेश—स्कध के बुद्धिकल्पित निर्विभाज्य भाग।

(द) परमाणु—स्कध से पृथक् पडे हुए निर्विभाज्य भाग।

प्रश्न—प्रदेश और परमाणु दोनो ही निर्विभाज्य भागरूप है तो दोनो मे क्या भेद है?

उत्तर—स्कध से जुडे हुए निर्विभाज्य भाग प्रदेश है, पर परमाणु, स्कध से अलग पडे हुए निर्विभाज्य भाग रूप है।

(ii) अरूपी—वर्ण, गध, रस व स्पर्श रहित वस्तु अरूपी है। इसके दश भेद है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय। इन तीनो मे से प्रत्येक के स्कध, देश, प्रदेश के भेद से तीन-तीन भेद होने से कुल ३ × ३ = ९ भेद हुए। धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय दोनो ही असख्यप्रदेशी द्रव्य है पर आकाशास्तिकाय अनन्त प्रदेशवाला है। कालद्रव्य, वर्तमान एक समय रूप होने से इसके कोई भेद नही होते। इस प्रकार रूपी के ४ और अरूपी के ९ + काल + १ मिलकर अजीव के चौदह भेद होते है ॥१३०१॥

२२४ द्वार : गुणस्थान—

मिच्छे सासण मिस्से अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगि गुणा ॥१३०२॥

—गाथार्थ—

गुणस्थानक चौदह—**१. मिथ्यात्व २. सास्वादन ३. मिश्र ४ अविरति ५. देशविरति ६. प्रमत्त ७. अप्रमत्त ८. निवृत्ति ९. अनिवृत्तिबादर संपराय १०. सूक्ष्मसपराय ११. उपशान्तमोह १२. क्षीणमोह १३. सयोगी तथा १४. अयोगी—ये चौदह गुणस्थान है ॥१३०२॥**

—विवेचन—

१. मिथ्यादृष्टि
२ सास्वादन सम्यग्दृष्टि
३ सम्यग्-मिथ्यादृष्टि
४ अविरत सम्यग्दृष्टि
५ देशविरति
६ प्रमत्त सयत
७ अप्रमत्त सयत
८ अपूर्व-करण
९ अनिवृत्तिकरण
१० सूक्ष्म-सपराय
११ उपशान्त कषाय (वीतराग-छद्मस्थ)
१२ क्षीण कषाय (वीतराग-छद्मस्थ)
१३ सयोगि केवली
१४ अयोगि केवली

१४ गुणस्थान
सिद्धभगवान
सिद्धशिला
१४ अयोगी केवली गु
१३ सयोगी केवली गु
१२ क्षीणमोह गुणस्थान
११ उपशान्तमोह गुण
१० सूक्ष्म संपराय गु.
९ अनिवृत्तिकरण गुण
८ अपूर्वकरण गुण.
७ अप्रमत्त संयत गुण
६ प्रमत्त संयत गुणस्थान
५ देशविरति गुणस्थान
४ अविरत सम्यग्दृष्टि गु
३ मिश्र गुणस्थान
२ सास्वादन गुणस्थान
१ मिथ्यात्त्व गुणस्थान
क्षपक श्रेणी
उपशम श्रेणी
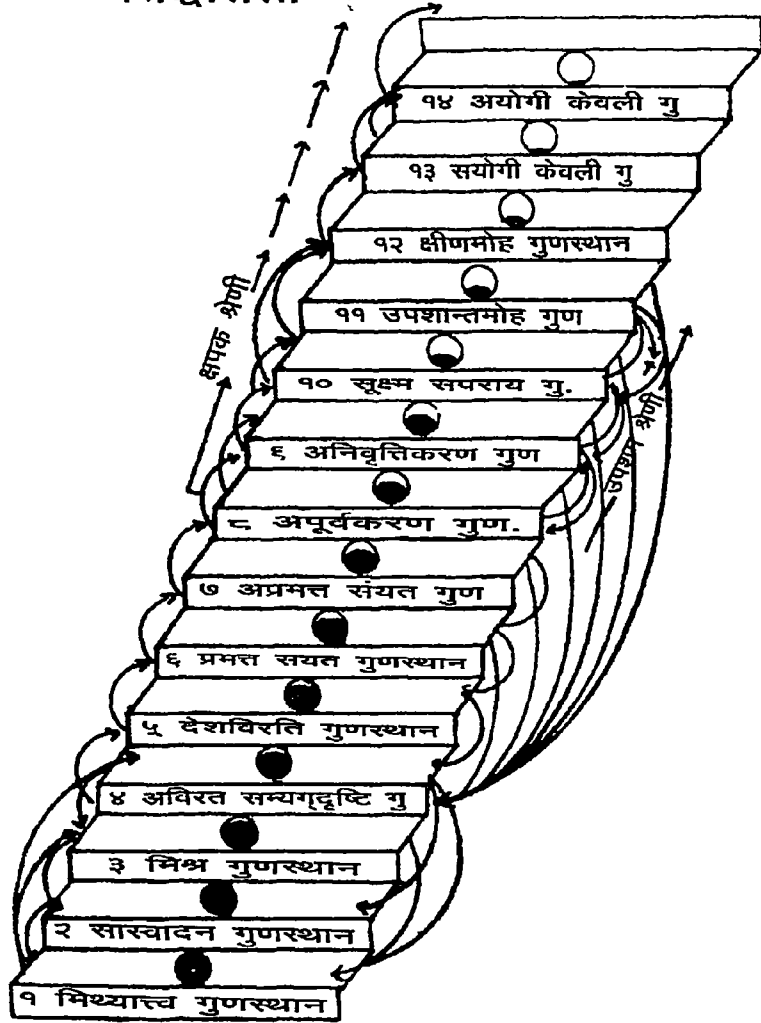
सूत्र सूचक होते है अथवा पद का एकदेश सपूर्ण पद का बोधक होता है। इसके अनुसार गाथावर्ती 'गुणा' शब्द 'गुणस्थान' का निर्देशक है।

गुणस्थान—आत्मा के ज्ञानादि-गुणो की शुद्धि-अशुद्धि की तरतमता के स्थान गुणस्थान है। गुणो के तारतम्य की अपेक्षा से ससार का प्रत्येक जीव एक दूसरे से भिन्न है अत वास्तविक रूप से अनन्त गुणस्थान है, किन्तु इतने अधिक भेद स्थूल-दृष्टि से ज्ञात नही हो सकते। अत गुणो के मुख्य भेद को ध्यान मे रखते हुए ज्ञानी पुरुषो ने गुणस्थान के चौदह भेद किये है।

१. मिथ्यात्वगुणस्थान—मिथ्या = विपरीत और दृष्टि = जिन प्रणीत तत्त्वो पर अश्रद्धा। जैसे धतूरा चबाने वाले व्यक्ति को सफेद वस्तु भी पीली दिखायी देती है, वैसे ही जिसे परमात्मा द्वारा प्ररूपित तत्त्वो पर अश्रद्धा या विपरीत श्रद्धा होती है, वह मिथ्या-दृष्टि है। मिथ्या-दृष्टि मे रहा हुआ ज्ञानादि गुणों की शुद्धि-अशुद्धि का तारतम्य मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि मे ज्ञानादि-गुणो का सभव कैसे हो सकता है?

उत्तर—यद्यपि मिथ्यादृष्टि मे तत्त्व श्रद्धा रूप गुण सर्वथा नही होता, तथापि व्यावहारिक ज्ञान उसे भी सम्यक्त्वी की तरह ही होता है। जैसे, वह मनुष्य को मनुष्य, पशु को पशु ही कहता है विपरीत नही कहता है। यहाँ तक कि निगोद के जीवो मे स्पर्श-जन्य अव्यक्त ही सही किन्तु सत्य ज्ञान होता है। घनघोर बादलो से सम्पूर्ण आकाश ढक जाने पर भी सूर्य का प्रकाश नष्ट नही होता अन्यथा रात दिन का कोई भेद ही नही रहेगा। वैसे मिथ्यादृष्टि मे प्रबल मिथ्यात्व का उदय होने पर भी सत्य-ज्ञान के कुछ अंश उसमे भी उद्घाटित रहते है। अत मिथ्यादृष्टि मे भी गुणस्थान होता है।

प्रश्न—यदि व्यावहारिक एव स्पर्शजन्य अव्यक्त ज्ञान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि मे गुणस्थान हो सकता है, तो ज्ञानरूप गुण की अपेक्षा से उसमे सम्यक्त्व क्यो नही हो सकता।

उत्तर—जिन प्रणीत सर्व शास्त्रो को मानने पर भी यदि कोई एक अक्षर या पद को नही मानता, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है तो जिस व्यक्ति मे मात्र व्यावहारिक ज्ञान है, किन्तु तत्त्व के प्रति यत्किंचित् भी श्रद्धा नही है, उसमे सम्यक्त्व कैसे हो सकता है?

प्रश्न—जिन प्रणीत कुछ तत्त्वो पर श्रद्धा और कुछ तत्त्वो पर अश्रद्धा रखने वाले आत्मा को सम्यग् मिथ्या दृष्टि (मिश्र-दृष्टि) ही कहना चाहिये, उसे एकात मिथ्यादृष्टि कैसे कहा?

उत्तर—जिस आत्मा को जिन प्रणीत सम्पूर्ण तत्त्वो पर पूर्ण श्रद्धा होती है, वह सम्यग्दृष्टि है। तथा जिसे जिन प्रणीत तत्त्वो पर श्रद्धा या अश्रद्धा कुछ भी नही होती, वह मिश्रदृष्टि है। **शतकबृहच्चूर्णि** मे कहा है कि—जैसे, नालिकेरद्वीपवासी मानवो के सम्मुख ओदन आदि अनेकविध भोजन सामग्री रखने पर भी उसके प्रति उनकी न रुचि होती है न अरुचि, क्योकि उन्होने ऐसी भोजन सामग्री न कभी देखी है न सुनी है। इस प्रकार मिश्रदृष्टि जीव को जीवादिपदार्थ पर श्रद्धा अश्रद्धा कुछ भी नही होती। किन्तु जिस आत्मा को एक भी वस्तु या वस्तु की एक भी पर्याय के प्रति अश्रद्धा होती है, वह एकान्तत मिथ्यादृष्टि है।

२. सास्वादन गुणस्थान—इसे 'सासादन गुणस्थान' भी कहते है। इसका विग्रह है स+आय+सादन। इसका अर्थ है स = सहित, आय = औपशमिक सम्यक्त्व का लाभ, सादन =

नाश करने वाला। यहाँ 'य' का लोप हो जाता है। अर्थात् जहाँ अनन्तानुबधी के उदय से मोक्षसुख को देने वाले कल्याणरूपी वृक्ष के बीजभूत औपशमिक सम्यक्त्व का जघन्य से एक समय मे व उत्कृष्ट से छ आवलिका मे नाश होता है वह 'सासादन सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान कहलाता है। अथवा यह 'सासातन सम्यग्दृष्टि' भी कहलाता है। स = सहित, आसातना = सम्यक्त्व की नाशक अनन्तानुबधी कषाय। अर्थात् जहाँ सम्यक्त्व की नाशक अनन्तानुबधी कषाय का उदय होता है वह गुणस्थान। अथवा इसे 'सास्वादन गुणस्थान' भी कहते है—स + सहित। आस्वादन = स्वाद अर्थात् जिस गुणस्थान मे सम्यक्त्व तो नही होता, किन्तु सम्यक्त्व का स्वाद अवश्य रहता है। वह 'सास्वादन गुणस्थान' है। जैसे खीर खाने के बाद वमन हो जाने पर भी खाने वाले को खीर का कुछ स्वाद अवश्य रहता है, वैसे ही अनन्तानुबधी के उदय से मिथ्यात्वाभिमुख बने आत्मा को सम्यक्त्व चले जाने पर भी उसका तनिक आस्वाद अवश्य रहता है। इस प्रकार सम्यक्त्व के आस्वादन सहित आत्मा मे ज्ञानादिगुणो की जो स्थिति है, वह सास्वादन गुणस्थान है। इस गुणस्थान की प्राप्ति का आधार उपशम सम्यक्त्व है और उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये मिथ्यात्व-गुणस्थान मे यथाप्रवृत्ति आदि करण करने पडते है। उनका सविस्तार स्वरूप इस प्रकार है—

आत्मा अनादिकाल से ससार सागर मे मिथ्यात्वादि के कारण अनेकविध शारीरिक व मानसिक दु खो को भोगता हुआ परिभ्रमण करता रहता है। जैसे—पर्वत से टूट कर पत्थर नदी के प्रवाह मे प्रवाहित होता हुआ इधर-उधर टकरा-टकरा कर गोल बन जाता है, वैसे तथाविध भव्यत्व के परिपाकवश जीव कदाचित् दु ख-गर्भित वैराग्य को प्राप्त करता है। वैराग्य के अध्यवसायो को प्राप्त करना यथाप्रवृत्तिकरण है। इससे आयुष्य को छोडकर शेष सातो ही कर्मो की स्थिति टूट कर पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून एक कोडाकोडी सागरोपम की हो जाती है। यह करण अभव्य आत्मा भी कई बार करता है तथा आत्मा मे पडी हुई राग-द्वेष की अति दुर्भेद्य ग्रन्थि तक पहुँच जाता है, किन्तु उसे भेदने का साहस वह नही कर पाता। वही से पुन. लौट आता है, पुन कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति को बाँधता है। इनमे से कोई सत्वशाली, आसन्नमोक्षगामी आत्मा अपूर्व वीर्योल्लासपूर्वक तीक्ष्ण कुठार की धारातुल्य अपूर्वकरण (अपूर्व अध्यवसाय) द्वारा राग-द्वेष की उस दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड डालता है। तत्पश्चात् उदय प्राप्त मोहनीय कर्म को भोगकर अनिवृत्तिकरण मे प्रविष्ट होता है। अनिवृत्तिकरण के बीच आत्मा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण की स्थिति मे मिथ्यात्व का एक भी दलिक उदय मे नही आता है।

करणों का क्रम इस प्रकार है—

ग्रन्थि के समीप पहुँचने तक यथाप्रवृत्तिकरण होता है। ग्रथि को तोडना अपूर्वकरण है और सम्यक्त्व प्राप्ति की तैयारी अनिवृत्तिकरण है। अनिवृत्तिकरणवर्ती आत्मा अपूर्व-अध्यवसाय के द्वारा कर्मो का स्थितिघात, रसघात आदि करते हुए क्षय करता जाता है। यह क्रम अनिवृत्तिकरण का सख्यातवा एक भाग शेष रहने तक चलता है। असत् कल्पना से उसे इस प्रकार समझा जा सकता है।

यद्यपि अन्तर्मुहूर्त मे असख्याता समय होते हैं, तथापि समझने के लिये उसे १०० समय प्रमाण मान लिया जाये तो १ से २५ समय तक का काल यथाप्रवृत्तिकरण का, २६ से ५० समय तक का काल अपूर्वकरण का तथा ५१ से ७५ समय जितना काल अनिवृत्तिकरण का होगा। अनिवृत्तिकरण का

५१ से ७० समय जितना काल बीत जाने पर जीव अन्तरकरण करता है अनिवृत्तिकरण के काल मे कर्म का उदय १ समय का एव बध अन्त कोडाकोडी का होता है। भोग्य-कर्मो को छोडकर उनसे आगे व्यवस्थित कर्मो को यदि उदयावलिका से रिक्त न किया जाये तो वन मे लगे दावानल की तरह कर्मो का कभी अन्त नही होगा। जैसे दावानल को बुझाने के लिये जलते हुए वृक्ष के समीपवर्ती दो-तीन वृक्षो को छोडकर आगे के वृक्षों को काटना पडता है, वैसे अनिवृत्तिकरण के सख्यातवे भाग को छोडकर शेष ७६ से १०० समय की कर्म स्थिति को जीव अपने विशुद्ध अध्यवसायो के द्वारा साफ करता है तथा मिथ्यात्व के दलिको को दो भागो मे बॉटता है। यही अन्तरकरण है।

- एक अन्तरकरण से पूर्व भोग्य-भाग जिसे लघुस्थिति या प्रथम स्थिति कहते है।
- दूसरा अन्तरकरण से पश्चात् भोग्य-भाग जिसे बडी स्थिति या द्वितीय स्थिति कहते है। इनकी स्थापना इस प्रकार है $\frac{0}{0}$ प्रथम स्थिति अर्थात् नीचे की स्थिति मे मिथ्यात्व के दलिको का वेदन होने से यहॉ जीव मिथ्यादृष्टि ही होता है।

समझने के लिये—७१ से ७५ समय की प्रथम स्थिति है।

- मध्य मे ७६ से १०० समय का अन्तरकरण है और
- १०१ समय से १००० समय तक की बडी स्थिति है।

लघु स्थिति के प्रथम समय में वर्तमान जीव, वहॉ रहे हुए मिथ्यात्व के दलिको को उदय, उदीरणा द्वारा भोगकर क्षीण करता है। तत्पश्चात् अन्तरकरण-काल में भोगने लायक दलिक के दो भाग करके, क्रमश प्रथम और द्वितीय स्थिति मे डालता है। इससे अन्तरकरण काल, कर्म दलिको से सर्वथा शून्य हो जाता है। अन्तरकरण के दलिको के प्रक्षेप का क्रम—बध्यमान कर्म दलिक दूसरी स्थिति मे तथा उदीयमान कर्म दलिक प्रथम स्थिति मे प्रक्षिप्त किये जाते है, किन्तु जिस कर्म का बंध और उदय दोनो चल रहा है, उसके दलिक दोनो स्थितियो मे डाले जाते है। मिथ्यात्व मोह का बध और उदय दोनो चलता है। अत उसका अन्तरकरण सम्बन्धी दलिक दोनो स्थितियो मे डाला जाता है। साथ ही बडी स्थिति मे रहा हुआ दलिक उपशान्त हो जाता है। (उपशात अर्थात् कुछ समय के लिये फल देने मे अक्षम)। इस प्रकार प्रथम स्थितिगत कर्मो का भोग, अन्तरकरण के दलिको का प्रथम-द्वितीय स्थिति मे प्रक्षेप एव द्वितीय स्थितिगत कर्म का उपशम—इन तीनो का क्रम प्रथम स्थिति के अतिम समय तक चलता है। इस स्थिति मे वर्तमान जीव अन्तरकरण काल मे भोग्य-दलिको को साफ करने का काम भी करता है। अत यह अन्तरकरण क्रियाकाल भी कहलाता है।

जब जीव प्रथमस्थिति के अतिम समय मे प्रवेश करता है, तब प्रथमस्थिति क्षय हो जाती है और अन्तरकरणगत दलिक अन्यत्र निक्षिप्त हो जाते है तथा द्वितीय स्थितिगत दलिक सर्वथा उपशान्त हो जाते है। प्रथम स्थिति के अतिम समय को पूर्ण कर, जब आत्मा अन्तरकरण के प्रथम समय मे प्रवेश करता है, तब जैसे बजर भूमि को पाकर आग स्वत बुझ जाती है, वैसे अन्तरकरण रूपी बजरभूमि को प्राप्त कर मिथ्यात्वरूपी आग स्वत शान्त हो जाती है और अन्तरकरण के प्रथम समय में जीव को उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। (अन्तरकरण की प्रथमस्थिति मे वर्तमान जीव मिथ्यात्व का वेदक होने से निश्चित रूप से मिथ्यात्वी है। जब तक अन्तरकरण है, तब तक उपशम सम्यक्त्व है।)

अन्तरकरण मे वर्तमान जीव, उपशम सम्यक्त्व के बल से द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व के दलिको का शुद्धिकरण प्रारम्भ करता है। शुद्धिकरण के इस अभियान मे कुछ दलिक सर्वथा शुद्ध हो जाते है, कुछ अर्धशुद्ध होते है, तो कुछ अशुद्ध ही रह जाते है। इस प्रकार अन्तरकरण का एक समय और उत्कृष्ट से छ आवलिका शेष रहने पर किसी जीव को तथाविध निमित्तवश अनन्तानुबधी कषाय का उदय हो जाता है और इसमे मोक्ष का बीज-भूत उपशम-सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। परन्तु जैसे खीर का भोजन करने के पश्चात् वमन हो जाने पर भी खीर का कुछ स्वाद अवश्य रहता है, वैसे अनन्तानुबधी कषाय के उदय से उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाने पर भी उसका कुछ स्वाद आत्मा मे अवश्य रहता है। यही सास्वादन है अथवा सम्यक्त्व का नाशक अनन्तानुबधी कषाय के उदय सहित जो गुणस्थान है वह सासादन गुणस्थान कहलाता है।

कर्मग्रन्थ के मतानुसार—यह गुणस्थान उपशम श्रेणी से गिरते हुए आत्मा को ही होता है।

सिद्धान्त के मतानुसार—श्रेणि से गिरने वाला जीव 'प्रमत्तसयत' या 'अप्रमत्तसयत' गुणस्थान मे आकर ठहरता है। आयु की पूर्णता से गिरने वाला देव मे उत्पन्न हो चौथे अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान मे जाता है। यह गुणस्थान उपशम सम्यक्त्व से गिरने वाले आत्मा को ही मिलता है तथा इस गुणस्थान से निकलकर सभी जीव निश्चित रूप से प्रथम-गुणस्थान मे जाते है।

३. मिश्र गुणस्थान—जिस आत्मा मे जिन प्रणीत तत्त्वो के प्रति श्रद्धा या अश्रद्धा दोनो ही नही होते वह 'मिश्रदृष्टि' कहलाता है। ऐसे आत्मा का गुणस्थान मिश्रदृष्टि गुणस्थान है। अन्तरकरण काल मे वर्तमान जीव ने विशुद्ध अध्यवसाय के द्वारा द्वितीय स्थितिगत दलिक के जो तीन पुज किये थे यथा, शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध।....इनकी स्थापना इस प्रकार है—○◒● उसमे से मिश्र-पुज का उदय होने पर यह गुणस्थान प्राप्त होता है। अत इस गुणस्थानवर्ती जीव को जिनेश्वर भगवन्त द्वारा प्रणीत तत्त्वो पर अर्ध विशुद्ध श्रद्धा होती है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त का है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण हो जाने पर जीव प्रथम या चतुर्थ गुणस्थान मे जाता है।

४ अविरत सम्यग् दृष्टि—विरत का अर्थ है—सावद्य योगो का त्यागी। जिसने सावद्ययोगो का त्याग नही किया पर जो सम्यक्त्वी है ऐसे आत्मा का गुणस्थान 'अविरत सम्यक् दृष्टि' गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव को औपशमिक, क्षायिक एव क्षायोपशमिक तीनो मे से कोई एक सम्यक्त्व होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जीव मोक्ष-महल मे जाने के लिए सोपान तुल्य विरति (व्रत-प्रत्याख्यान) धर्म को जानते हुए भी ग्रहण नही कर सकता।

५. देशविरति—अल्पविरति वाले जीवो का गुणस्थान, देशविरति गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव मे चौथे गुणस्थान की तरह तीनो सम्यक्त्व होते है तथा एक व्रत दो व्रत यावत् बारहव्रत विषयक अनुमति को छोडकर पाप व्यापारो की स्थूल रूप से विरति होती है। परन्तु प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से इस गुणस्थानवर्ती जीव को सर्वविरति नही होती, क्योकि प्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वविरति का बाधक है। यह गुणस्थान सम्यक् आचरण का प्रथम सोपान है। इस गुणस्थानवर्ती आत्मा वासनामय जीवन से आशिक निवृत्ति लेता है तथा यथाशक्ति, अहिसा, सत्य, अचौर्य आदि अणुव्रतो को ग्रहण करता है।

६. प्रमत्तसंयत—प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय उपशम या क्षयोपशम से जिस गुणस्थान मे आत्मा, सावद्ययोगो का सर्वथा त्यागी होने के साथ सज्वलन कषायवश सयम पालन मे प्रमादी भी

होता है, वह 'प्रमत्तसयत गुणस्थान' कहलाता है। देशविरति-गुणस्थान की अपेक्षा यह गुणस्थान अधिक शुद्ध होता है। आगे के गुणस्थान के विषय मे भी यही समझना अर्थात् पूर्व की अपेक्षा उत्तर गुणस्थान अधिक शुद्ध होते है।

७. **अप्रमत्तसंयत**—सर्व-सावद्य योग एव निद्रा-विकथादि प्रमाद के त्याग से आत्मा की जो अवस्था होती है वह 'अप्रमत्तसयत' गुणस्थान है। जो देह मे रहते हुए भी देहातीत अवस्था का बोध करते है वे साधक इस वर्ग मे आते है। इन्हे भी शारीरिक उपाधिया विचलित करती रहती है अत इस गुणस्थान मे साधक अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रहता है। इस गुणस्थान की उपमा घडी के पेण्डुलम या झूले से दी गई है। जब-जब कषाय आदि प्रमादो पर साधक विजय प्राप्त कर लेता है तब-तब वह अप्रमत्तसयत गुणस्थानवर्ती होता है और जब-जब कषाय आदि प्रमाद उस पर हावी हो जाते है तब-तब वह पुन प्रमत्तसयत गुणस्थान मे चला जाता है। जैसे उछाले जाने पर गेद एकबार ऊपर जाती है पर पुन. नीचे आ जाती है वही स्थिति सातवे-छठे गुणस्थानवर्ती साधको की है।

८. **अपूर्वकरण**—अपूर्व अर्थात् पहिले कभी नही हुआ ऐसा अद्वितीय गुणो का स्थान अपूर्वकरण गुणस्थान है। जिस गुणस्थान मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसक्रम और अपूर्व स्थितिबध ये पॉच अपूर्व बाते होती है वह 'अपूर्वकरण गुणस्थान' कहलाता है।

स्थितिघातादि का स्वरूप—

स्थितिघात—कर्मो की स्थिति मे कमी अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म की अन्त कोडाकोडी प्रमाण दीर्घ स्थिति को छोटी करना स्थितिघात कहलाता है।

रसघात—कर्मो की तीव्रता मे कमी। सत्ता मे रहे हुए ज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृति के तीव्र रस को अपवर्तनाकरण से अल्प करना रसघात है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—स्थितिघात द्वारा न्यूनीकृत कर्म की स्थिति मे कुल जितना रस है उसके कल्पना द्वारा अनन्त भाग करके, उनमे से एक भाग शेष रखते हुए बाकी भागो को नष्ट करना, यह प्रथम रसघात है। तत्पश्चात् अवशिष्ट भाग के पुन· बुद्धि द्वारा अनन्त भाग करके एक भाग रखते हुए शेष सभी भागो का नाश करना, यह दूसरा रसघात है। इस प्रकार अपवर्त्तनाकरण द्वारा एक स्थितिघात मे हजारो रसघात होते है।

पूर्व गुणस्थानो मे विशुद्धि अल्प होने से वहा ये दोनो अल्प-मात्रा मे होते है। अपूर्वकरण गुणस्थान मे विशुद्धि अधिक होने से ये दोनो विपुल मात्रा मे होते है, अत पूर्व की अपेक्षा यहॉ स्थितिघात, रसघात अपूर्व कहलाता है।

गुणश्रेणि—कर्मदलिको का अपने ढग से आयोजन। स्थितिघात और रसघात के द्वारा स्थितिहीन एव रसहीन बने उपरवर्ती स्थिति के कर्मदलिको को शीघ्रतर क्षीण करने के लिये अपवर्तनाकरण के द्वारा खीचकर उदयावलिका मे इस प्रकार व्यवस्थित करना कि पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर समय मे असख्यात गुण अधिक दलिक भोगे जाये। स्थापना इस प्रकार है—

o o o o o o o o o

o o o o o o o

o o o o o

o o o
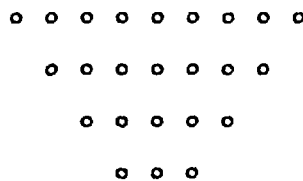
पूर्वगुणस्थानो मे अध्यवसायो की विशुद्धि इतनी न होने से अल्प दलिको की अपवर्तना होती थी अत वहाँ गुणश्रेणी, काल की अपेक्षा दीर्घ व दलिकरचना की अपेक्षा ह्रस्व होती थी पर इस गुणस्थान मे अध्यवसायो की अपूर्व विशुद्धि होने से अपवर्तना के द्वारा अल्प समय मे अधिकाधिक दलिको की रचना होती है।

गुणसंक्रम—कर्म प्रकृतियो का योग्य सयोजन। शुभाशुभ प्रकृति के सत्तागत दलिको को प्रति-समय बध्यमान शुभाशुभ प्रकृति के दलिको मे डालना। दलिको का यह सक्रमण अध्यवसाय की अत्यधिक विशुद्धि के कारण प्रतिक्षण असख्यात गुण वृद्धि से होता है।

स्थितिबंध—कर्मो की अल्पतम स्थिति का बध। पहले अशुभ परिणाम से कर्मो की लबी स्थिति का बध होता था। अब इस गुणस्थान मे तीव्र विशुद्धि होने से प्रति समय पल्योपम के असख्यातवे भाग से हीन, हीनतर व हीनतम स्थिति का बध होता है।

गुणश्रेणि पूर्व गुणस्थानो मे भी होती है, किन्तु अध्यवसाय इतने शुद्ध न होने से वहाँ समय अधिक लगता है और दलिक अल्प-मात्रा मे क्षय होते है। इस गुणस्थान मे अल्प-समय मे अधिक दलिक क्षय होते है, कारण यहाँ अध्यवसायो की विशुद्धि अधिक है।

यह गुणस्थान क्षपक श्रेणि और उपशम श्रेणि की अपेक्षा से दो प्रकार का है—**(i)** क्षपक और **(ii)** उपशामक। यद्यपि इस गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति का क्षय या उपशम नही होता तथापि श्रेणी के प्रारम्भ मे जो विशुद्धि आवश्यक है, वह इस गुणस्थान मे होती है। जैसे राजकुमार को भी भावी सभावना की अपेक्षा से कभी-कभी राजा कह देते है, वैसे श्रेणि योग्य विशुद्धि की अपेक्षा से इस गुणस्थान को भी क्षपक या उपशामक कहते है। इस गुणस्थानवर्ती त्रैकालिक जीवो के उत्तरोत्तर बढते हुए प्रतिसमय के अध्यवसाय परस्पर इतने भिन्न होते है कि उनकी सख्या उत्तरोत्तर बढते हुए असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होती है। एक समयवर्ती अनेक जीवो की अपेक्षा से अध्यवसाय परस्पर भिन्न होते हुए भी असख्याता से अधिक केवलज्ञानी की दृष्टि मे नही होते।

यदि इन्हे जघन्य विशुद्धि स्थान से प्रारम्भ करे तो उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि वाले स्थान उपलब्ध होते है। यदि इनका प्रारभ उत्कृष्ट विशुद्धि वाले स्थान से करे तो उत्तरोत्तर जघन्य, जघन्यतर और जघन्यतम विशुद्धि वाले स्थान प्राप्त होते है।

(ii) प्रथम स्थान मे वर्तमान जीवो की अपेक्षा द्वितीय समयवर्ती जीवो के अध्यवसाय स्थान कुछ अधिक होते है। इस प्रकार तृतीय, चतुर्थ, पचम आदि समयवर्ती जीवो के अध्यवसाय स्थान उत्तरोत्तर बढते जाते है। यदि अध्यवसाय स्थानो की स्थापना की जाये तो उसका आकार विषम चतुरस्र जैसा बनता है। यथा—

o o o o o o

o o o o o

o o o o
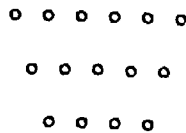
प्रश्न—एक समय मे वर्तमान त्रैकालिक जीवो के जघन्य, उत्कृष्ट अध्यवसाय स्थान असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण ही कैसे होगे? क्योकि एक समय मे वर्तमान त्रैकालिक जीव अनन्त है और उनके अध्यवसाय स्थान परस्पर भिन्न-भिन्न होते है अत: अनन्त ही होने चाहिये।

उत्तर—यद्यपि जीव अनत है, उनके अध्यवसाय स्थान भी भिन्न-भिन्न है, तथापि सभी जीवो के अध्यवसाय स्थान भिन्न नही है। अनत जीवो मे भिन्न अध्यवसाय वाले जीवो की अपेक्षा समान अध्यवसाय वाले जीव अधिक है। अत अनन्त जीव होते हुए भी उनके अध्यवसाय स्थान असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण ही होते है।

प्रश्न—इस गुणस्थानवर्ती जीवो मे द्वितीय, तृतीय आदि समय मे जो अध्यवसाय स्थानो की वृद्धि होती है, उसका क्या कारण है?

उत्तर—इस गुणस्थानवर्ती जीव जैसे-जैसे आगे बढता जाता है, वैसे-वैसे उसके भाव विशुद्ध बनते जाते है। भावो की यह विशुद्धि ही उसके अध्यवसाय स्थानो की वृद्धि का मुख्य कारण है। इस गुणस्थान मे वर्तमान जीवो के अध्यवसाय प्रत्येक समय मे बदलते रहने के कारण इसका दूसरा नाम निवृत्तिकरण भी है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव के प्रथमसमय के जघन्य अध्यवसाय स्थान से उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान अनन्तगुण विशुद्ध है। उससे द्वितीय समय का जघन्य अध्यवसायस्थान अनन्तगुणविशुद्ध है। उससे द्वितीय समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय स्थान अनन्तगुण विशुद्ध है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनतगुण विशुद्ध होते-होते अन्तिम समयवर्ती उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान सर्वोत्कृष्ट विशुद्धियुक्त होता है। एकसमयवर्ती अध्यवसायस्थान भी परस्पर षट्स्थानपतित होते है। यथा—

(i)	एक समयवर्ती कुछ जीवो की विशुद्धि	अनन्तभाग अधिक होती है।
(ii)	एक समयवर्ती कुछ जीवो की विशुद्धि	असख्यातभाग अधिक होती है।
(iii)	एक समयवर्ती कुछ जीवो की विशुद्धि	सख्यातभाग अधिक होती है।
(iv)	एक समयवर्ती कुछ जीवो की विशुद्धि	सख्यातगुण अधिक होती है।
(v)	एक समयवर्ती कुछ जीवो की विशुद्धि	असख्यातगुण अधिक होती है।
(vi)	एक समयवर्ती कुछ जीवो की विशुद्धि	अनतगुण अधिक होती है।

९. अनिवृत्तिबादर—आठवे गुणस्थान की तरह यहाँ भी स्थितिघात, रसघात आदि पाँचो ही कार्य होते है। अन्तर मात्र यही है कि यहाँ एक समयगत त्रिकालवर्ती जीवो के अध्यवसाय-स्थान परस्पर समान होते है। (एक जीव जिस अध्यवसाय स्थान मे वर्तमान है, उसके समकालीन सभी जीव उसी अध्यवसाय स्थान मे वर्तमान रहते है)। प्रति समय वदलते नही हे तथा ससार मे परिभ्रमण कराने वाले वादर-कषायो (जिनके कारण जीव ससार मे भटकता हे वे सपराय है) का उदय होता है अत इसका नाम 'अनिवृत्तिवादर सपराय' गुणस्थान है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त का है। प्रथम समय के अध्यवसाय स्थान से उत्तर समयवर्ती अध्यवसाय स्थान क्रमश अनन्तगुण विशुद्ध होते है तथा अध्यवसाय स्थानो की सख्या अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण है, क्योकि एक समय मे वर्तमान जीवो का एक ही अध्यवसाय स्थान होता है। क्षपक और उपशामक के भेद से यह गुणस्थान भी दो प्रकार का है। क्षपक श्रेणि वाला जीव इस गुणस्थान मे आकर दर्शन-सप्तक और सज्वलन लोभ को छोड़कर मोहनीय की शेष बीस प्रकृति का क्षय करता है और उपशम श्रेणिवाला उन्ही बीस प्रकृतियो का उपशम करता है।

१०. सूक्ष्म संपराय—नवमे गुणस्थान की अपेक्षा जहाँ सूक्ष्म किट्टीकृत सज्वलन लोभ रूप कषाय का उदय होता है, वह 'सूक्ष्म सपराय गुणस्थान' कहलाता है। यहाँ सज्वलन लोभ का क्षय या उपशम होने से यह गुणस्थान भी क्षपक और उपशामक के भेद से दो प्रकार का है।

११. उपशान्तकषाय—इसका पूरा नाम 'उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान' है। आत्मा के ज्ञानादि गुणो को ढकने वाले ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्मो का उदय छद्म है। जिन्हे घाती कर्मो का उदय चल रहा है वे छद्मस्थ है। छद्मस्थ सरागी भी होते है अत उनकी व्यावृत्ति के लिये वीतराग विशेषण दिया। वीतराग का अर्थ है माया-लोभ रूप राग व उपलक्षण से क्रोध-मानरूप द्वेष से रहित। 'वीतराग छद्मस्थ' तो क्षीण मोह गुणस्थान भी होता है अत उससे इसे भिन्न करने के लिये उपशान्त (सक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तनादि करणो के द्वारा जहाँ कषायो का विपाकोदय और प्रदेशोदय नही हो सकता) कषाय विशेषण दिया गया है। फिटकरी डालने से तथा कचरा नीचे जम जाने से जैसे जल निर्मल प्रतीत होता है उसी प्रकार जिसका मोहकर्म सर्वथा उपशान्त हो चुका है ऐसा जीव अत्यन्त निर्मल परिणाम वाला होता है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण होते ही जीव नीचे गिरता हुआ सातवे गुणस्थान को प्राप्त होता है। यदि उसका ससार परिभ्रमण शेष है तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी पहुच जाता है। इस गुणस्थान मे वृत्तिया निर्मूल नही होती है मात्र शान्त हो जाती है। अत राख मे दबी हुई आग की तरह निमित्त पाकर पुन प्रबल हो जाती हैं। अत यहा से साधक का पतन अवश्यभावी है।

१२. क्षीणकषाय—इसका पूरा नाम 'क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थ' गुणस्थान है। जहाँ मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से आत्मा वीतराग जैसा बन चुका है, किन्तु ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्मो से अभी भी आवृत है, वह 'क्षीण कषाय छद्मस्थ' गुणस्थान है। कषायो का क्षय अन्य गुणस्थानो मे भी होने से उनका व्यवच्छेद करने के लिये इस गुणस्थान का 'वीतराग' यह विशेषण दिया गया। 'क्षीणकषाय' वीतरागी केवली भी होते है, अत उनका व्यावर्तन करने के लिये 'छद्मस्थ' यह विशेषण दिया। छद्मस्थ सरागी भी होते है अत उनकी व्यावृत्ति के लिये 'वीतराग' विशेषण दिया तथा उपशान्त कषायी भी 'वीतराग-छद्मस्थ' होते है अत उनकी निवृत्ति के लिये 'क्षीण कषाय' विशेषण दिया।

मोहकर्म के सपूर्णत क्षय हो जाने से जिसका चित्त स्फटिक के पात्र मे रखे हुए स्वच्छ जल के तुल्य हो गया है, ऐसा वीतराग साधक क्षीणकषायी कहलाता है। यहा पुन दूषित होने का भय नही रहता है। अथवा जिस प्रकार आग को जल से पूर्णत बुझा देने के बाद उसके पुन प्रज्वलित होने का कोई भय नही रहता ठीक उसी प्रकार इस गुणस्थान मे पहुचे जीव को किसी प्रकार के पतन का भय नही रहता। यह आत्मिक विकास की पूर्ण अवस्था है।

१३. सयोगी केवली—योग अर्थात् जोडने वाला व्यापार अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। जो योग सहित है वे सयोगी, ऐसे केवली भगवन्त का गुणस्थान। केवली भगवन्त मे योगो की घटना निम्न रूप से होती है—

(i) **काययोग** — गमनागमन, श्वासोच्छ्‌वास पलक झपकना आदि क्रिया के रूप मे होती है।

(ii) **वचनयोग** — उपदेश आदि देना वचनयोग के कारण है।

(iii) मनोयोग — मन पर्यायज्ञानी व अनुत्तर विमानवासी देवो के द्वारा पूछे गये मानसिक प्रश्नो का समाधान करने के लिये मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करना। मन पर्यायज्ञानी व अनुत्तर विमानवासी देवो के मानसिक प्रश्नो का समाधान देने के लिये तीर्थंकर परमात्मा मनोवर्गणा के दलिको को ग्रहण करके, उन्हे विवक्षित अर्थ के आकार मे व्यवस्थित करते है। भगवान के द्वारा प्रयुक्त मनोवर्गणा के पुद्गलो को मन पर्यवज्ञान व अवधिज्ञान द्वारा जानकर मन पर्यवज्ञानी व देवता अपने प्रश्नो का सही समाधान पा लेते है।

केवलज्ञानरूपी सूर्य उदित हो जाने से जिनका अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे योग युक्त भगवान को सयोगी जिन कहा गया है। केवली को राग-द्वेष नही होता अत उनके नवीन कर्मो का बध भी नही होता। मात्र योग के कारण उन्हे इर्यापथिक आस्रव और बध होता है, जो तत्काल ही निर्जरित होता रहता है। जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र पर लगी हुई रेत तत्क्षण झड जाती है, उसी प्रकार योग के सद्भाव से आगत कर्म-परमाणु भी कषाय के अभाव मे तत्काल झड जाते है। ये सयोगी जिन धर्मदेशना देते हुए जनकल्याण करते है। इस अवस्था की तुलना वेदान्त की जीवनमुक्ति या सदेहमुक्ति की अवस्था से की जा सकती है।

१४. अयोगी केवली—तीनो योगो से रहित केवली भगवन्त का गुणस्थान। प्रत्येक योग के सूक्ष्म और बादर दो-दो भेद है। केवलज्ञान होने के पश्चात् केवली भगवन्त, जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत देशोनपूर्व क्रोड वर्ष तक विचरण कर आयुष्य का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल शेष रहने पर शैलेशी करण करते है। शैलेशीकरण करने के लिए प्रथम योगनिरोध करना पडता है। इसकी विधि निम्न प्रकार है—

- सर्वप्रथम बादरकाययोग से बादर वचन योग का अवरोध होता है।
- तत्पश्चात् बादरवचनयोग से बादर मनोयोग का अवरोध होता है।
- सूक्ष्मकाययोग से बादरकाययोग का अवरोध होता है।
- सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्मवचन योग का अवरोध होता है।
- सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्ममनोयोग का अवरोध होता है।
- बादरकाययोग के रहते हुए सूक्ष्म योगो का निरोध नही हो सकता।

तत्पश्चात् सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से आत्मा स्व प्रयत्नपूर्वक सूक्ष्म काययोग का निरोध करता है। इस प्रकार सभी योगो का निरोध करके समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान के बल से आत्मा शैलेशीकरण मे प्रवेश करता है। शैलेशीकरण—योग और लेश्या रूप कलक से रहित यथाख्यात चारित्र लक्षण शील का ईश, स्वामी = शीलेश अर्थात् आत्मा है। अपने देह प्रमाण मे से २/३ भाग रखकर १/३ भाग मे फैले हुए आत्मप्रदेशो के द्वारा पेट, मुँह आदि के छिद्रो को भरकर आत्मा का पर्वत की तरह अत्यत स्थिर हो जाना शैलेशी कहलाता है। शैलेश की स्थिति मे वर्तमान

सिद्ध भगवान
अष्टकर्म से मुक्त, अनत चतुष्टय के स्वामी। समय सादि-अनत।
मोक्ष
१४ तीनों योगों से मुक्त, वीतराग सर्वज्ञ भगवान। समय ५ ह्स्वाक्षर उच्चारण काल।
१४ सयोगी केवली
१३ योगयुक्त वीतराग सर्वज्ञ भगवान। समय-अन्तर्मुहूर्त से देशोन पूर्वक्रोड वर्ष।
१३ सयोगी केवली
१२ क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग। मोह का पूर्णक्षय प्रातिम ज्ञान समय-अन्तर्मुहूर्त।
१२ क्षीण मोह
११ उपशात मोह
१० सूक्ष्मलोभ की किटटी का वेदन। समय-१ समय से अन्तर्मुहूर्त।
१० सूक्ष्म स पराय
९ मोहकर्म का क्षय या उपशम समय १ अन्तर्मुहूर्त।
९ अनिवृत्ति करण
८ मोहकर्म का १ स्थितिघात २ रसघात गुणश्रेणि ४ गुणसक्रम ५ अपूर्व स्थितिबध। समय १ अतर्मुहूर्त।
८ अपूर्व करण
७ प्रमाद रहित सयम। समय १ अन्तर्मुहूर्त काल।
७ अप्रमत्त सयत
६ प्रमाद सहित सयम। समय १ अन्तर्मुहूर्त से देशोन पूर्व क्रोड वर्ष।
६ प्रमत्त सर्व विरति
५ सम्यक्त्व सहित आशिक विरति।
५ देशविरति
४ जिनधर्म के प्रति श्रद्धा सुखमय ससार के प्रति घृणा। जिनभक्ति स्वधर्मी भक्ति। जिनवाणी श्रवण का अनुराग। समय-१ अन्तर्मुहूर्त से ६६ सागरोपम।
४ सम्यक्त्व
३ न धर्म के प्रति राग न ससार के प्रति द्वेष। समय-अन्तर्मुहूर्त।
३ मिश्र
२ उपशम सम्यक्त्व का वमन करते समय।
समय ६ आवलिका जघन्य १ समय
११ उपशात छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान
समय – १ समय से अन्तर्मुहूर्त।
पश्चात् अवश्य पतन।
श्रेणी के गुणस्थान
१ A – अतिगाढ मिथ्यात्त्व। स्थान-सूक्ष्म निगोद अव्यवहारराशि। ८ रुचक प्रदेश अनावृत होते है।
१ B – व्यवहारराशि में प्रवेश। महाभयानक मिथ्यात्त्व।
१ C – द्विर्बधक-सकृद्बधक। अत्यत भवाभिनन्दी।
१ D – चरमावर्तकाल मे प्रवेश। अपुनर्बधक भाव। मार्गपतित। सद्धर्म प्राप्ति की योग्यता।
लक्षण – पाप मे मदप्रवृत्ति, उचित सेवन, अर्थ मे न्याय, काम मे सदाचार, मोक्षरुचि।
१ E – मार्गानुसारी जीवन। न्याय सपन्न विभव आदि गुणो की प्राप्ति।
१F
१D
१C
१B
१A
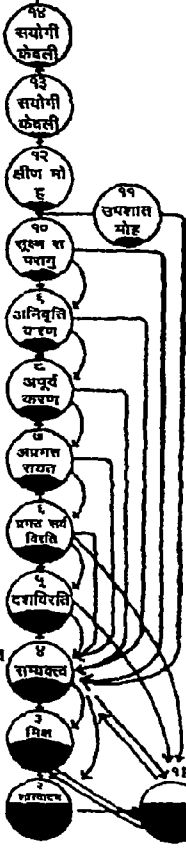
आत्मा के द्वारा नाम, गोत्र व वेदनीय कर्म की आयु से अधिक स्थिति की गुणश्रेणी द्वारा असख्याता गुणी दलिक रचना करके निर्जरा करना तथा तीनो कर्मों की आयुतुल्य स्थिति की स्वाभाविक दलिक रचना द्वारा निर्जरा करना 'शैलेशीकरण' है। 'शैलेश' की स्थिति मे की जाने वाली क्रिया 'शैलेशीकरण' है।

- शैलेशीकरण मे प्रविष्ट केवली भगवत अयोगी और भवस्थ केवली होते हैं।
- शैलेशीकरण के अत मे परमात्मा जितने आकाश प्रदेश मे अवगाढ है, उतने ही आकाश प्रदेशो को समश्रेणी से अवगाहन करते हुए एक ही समय म लोकात तक चले जाते हैं। आगे अलोक मे धर्मास्तिकाय (गति सहायक) नहीं होने के कारण वही पर शाश्वत-काल तक स्थिर रहते हैं।

सिद्ध आत्मा के ऊर्ध्वगमन के कारण—

- कुड्मल से युक्त एरण्डफल जैसे सहज मे ऊपर की ओर बढता है, वैसे कर्मो का सम्बन्ध छूट जाने से सिद्धात्मा स्वभावत ही ऊपर गमन करती है।
- मिट्टी का लेप साफ हो जाने पर जैसे तुम्बी तिरकर पानी के ऊपर आ जाती है, वैसे कर्म रूप लेप से मुक्त हो जाने पर आत्मा की ऊर्ध्व गति होती है।
- जैसे कुम्हार का चक्र, झूला और बाण पूर्व प्रयोग से भ्रमण करते रहते है, वैसे सिद्धात्मा भी पूर्वाभ्यास से ऊर्ध्व-गमन करते है।
- जीव स्वभावत ऊर्ध्वगामी है और पुद्गल स्वभावत अधोगामी है। यही कारण है कि मिट्टी, पत्थर आदि ऊपर की ओर फेकने पर भी नीचे की ओर ही आते है, वैसे जीव अपने सहज स्वभाव से ऊपर जाता है ॥१३०२॥

२२५ द्वार : मार्गणा-स्थान—

गइ इंदिए य काये जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दसण लेसा भव सम्मे सन्नि आहारे ॥१३०३॥

—गाथार्थ—

मार्गणा-स्थान चौदह—१. गति २. इन्द्रिय ३. काया ४. योग ५. वेद ६. कषाय ७. ज्ञान ८. संयम ९. दर्शन १०. लेश्या ११. भव्य १२. सम्यक्त्व १३. संज्ञी तथा १४ आहारक—ये चौदह मार्गणा स्थान है ॥१३०३॥

—विवेचन—

मार्गणा स्थान—जीवादि पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करने वाले मानक मार्गणा स्थान कहलाते है।

	मूल मार्गणा-१४	उत्तर मार्गणा-६२
(i)	गति	४ नरक-मनुष्य-तिर्यच और देवगति
(ii)	इन्द्रिय	५ स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय
(iii)	काय	६ पृथ्वि-अप्-तेउ-वायु-वनस्पति और त्रसकाय
(iv)	योग	३ मनोयोग-वचनयोग और काययोग
(v)	वेद	३ स्त्रीवेद-पुरुषवेद और नपुसकवेद
(vi)	कषाय	४ क्रोध-मान-माया और लोभ
(vii)	ज्ञान	५ मति-श्रुत-अवधि-मन पर्यव और केवलज्ञान
	(अज्ञान)	३. मतिअज्ञान-श्रुतअज्ञान और विभगज्ञान
(viii)	सयम	५ सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसपराय और यथाख्यात चारित्र
	(असयम)	२ देशसयम, असयम
(ix)	दर्शन	४ चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलदर्शन
(x)	लेश्या	६ कृष्ण-नील-कापोत-तेजो-पद्म और शुक्ललेश्या
(xi)	भव्य	२ भव्य और अभव्य
(xii)	सम्यक्त्व	६ क्षायोपशमिक-क्षायिक-औपशमिक-मिश्र-सासादन और मिथ्यात्व
(xiii)	सज्ञी	२ सज्ञी और असज्ञी
(xiv)	आहारक	२ आहारक और अनाहारक ॥१३०३॥

२२६ द्वार : उपयोग—

मइ सुय ओही मण केवलाणि मइ सुयअन्नाण विब्भंगा।
अचक्खु चक्खु अवही केवलचउदसणु वउगा ॥१३०४॥

—गाथार्थ—

वारह उपयोग—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवल —ये पॉच ज्ञान, मति अज्ञान श्रुत अज्ञान और विभगज्ञान —ये तीन अज्ञान, चक्षु, अचक्षु अवधि और केवल ये चार दर्शन —इस प्रकार बारह उपयोग है॥१३०४॥

—विवेचन—

ज्ञान, दर्शन रूप आत्म-प्रवृत्ति जिसके द्वारा जीव वस्तु का बोध करता है वह उपयोग है। इसके दो प्रकार है—(i) साकार और (ii) निराकार।

(i) **साकारोपयोग**—आकार = वस्तु का प्रतिनियत स्वरूप जिससे ग्रहण होता है। कहा है—'आगारो उ विसेसो' वस्तु का विशेष स्वरूप आकार है। जो आकार सहित है, वह साकार है। सामान्य विशेष रूप पदार्थ के विशेष अश का ग्राहक उपयोग साकारोपयोग है।

(ii) **निराकारोपयोग**—वस्तु के सामान्य धर्म का ग्राहक उपयोग निराकारोपयोग है।

साकारोपयोग के आठ भेद है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यवज्ञान, केवलज्ञान ये पॉच ज्ञान है तथा मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान व विभगज्ञान ये तीन अज्ञान है। (वि = विपरीत, भग = ज्ञान के प्रकार अर्थात् जिसमे विपरीत ज्ञान होता है)।

निराकारोपयोग के चार भेद है— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन।

- अज्ञान = न+ज्ञान-अज्ञान यहॉ नञ् का अर्थ है कुत्सित अर्थात् मिथ्यात्व से कलुषित मति-श्रुत-अवधिज्ञान ही अज्ञान है। कलुषित अवधिज्ञान-विभगज्ञान कहलाता है। जिस ज्ञान के जानने के तरीके विपरीत हो वह विभगज्ञान है ॥१३०४॥

२२७ द्वार : योग—

सच्चं मोसं मीसं असच्चमोसं मणो तह वई य।

उरल विउव्वा हारा मीस कम्मयग मिय जोगा ॥१३०५॥

—गाथार्थ—

पन्द्रह उपयोग—**१. सत्य २. असत्य ३. मिश्र और ४. असत्यामृषा - चार मन के योग है। इसी प्रकार चार वचनयोग है। १. औदारिक २. वैक्रिय ३. आहारक और इन तीनों के तीन मिश्र तथा कार्मण ये पन्द्रह योग है॥१३०५॥**

—विवेचन—

- मन, वचन और काया के आलम्बन से उत्पन्न होने वाला आत्मा का प्रयत्न विशेष योग कहलाता है।
- कारण मे कार्य का उपचार करके यहॉ मन, वचन और काया ही योग रूप से विवक्षित है।

मूल योग—३प्रकार का है— (i) मनोयोग (ii) वचन योग और (iii) काययोग। योग के उत्तर भेद १५ है।

(i) **सत्य मनोयोग**—वस्तु के यथावस्थित स्वरूप का चिंतन करना जैसे जीव है, वह स्वरूप से सत् व पररूप से असत् तथा देहमात्र व्यापी है। यह जीव स्वरूप का यथावस्थित चिंतन है।

(ii) असत्य मनोयोग—वस्तु के स्वरूप का अयथार्थ चितन करना जैसे जीव नही है अथवा एकान्त सत् है या एकान्त असत् है ऐसा चितन करना।

(iii) मिश्र मनोयोग—वस्तु के स्वरूप का कुछ अशो मे यथार्थ और कुछ अशो मे अयथार्थ चिंतन करना जैसे अन्य वृक्ष होने पर भी अशोक वृक्ष की अधिकता वाले वन को 'यह अशोक वन है' ऐसा चिंतन करना।

पूर्वोक्त योग व्यवहार की अपेक्षा से ही मिश्र कहलाता है। परमार्थ से तो अयथार्थ होने से असत्य ही है।

(iv) व्यवहार मनोयोग—वस्तु स्वरूप का ऐसा चिंतन जो न सत्य है, न असत्य है, न मिश्र है। व्यवहार मात्र है। किसी वस्तु के विषय मे शका होने पर उसके यथार्थ स्वरूप के अवबोध के लिये सर्वज्ञ के मतानुसार विकल्प करना, जैसे—जीव है? वह सत् या असत् रूप है? आदि। ऐसा चिंतन सत्य है, क्योकि सर्वज्ञ के मतानुसार होने से इसमे आराधक भाव है। परन्तु किसी वस्तु के विषय मे शका होने पर सर्वज्ञ के मत से विपरीत चिंतन करना जैसे जीव नही है? जीव एकात नित्य है—ऐसा चिंतन असत्य है, कारण इसमे विराधक भाव है। ऐसा चिंतन जिसमे वस्तु स्वरूप का पर्यालोचन मात्र हो, वह व्यवहार मनोयोग कहलाता है जैसे, हे देवदत्त! घट लाओ। मुझे गाय दो। ऐसा चितन मात्र वस्तु के स्वरूप का पर्यालोचन होने से न सत्य है, न असत्य है पर असत्यामृषा है।

- पूर्वोक्त चिंतन व्यवहार नय की अपेक्षा से ही व्यवहार मनोयोग कहलाता है। यदि ऐसा चिंतन प्रतारणा के भावपूर्वक है तो निश्चय नय की अपेक्षा से असत्य मनोयोग है। यदि यह प्रतारणा के भावपूर्वक नहीं है तो निश्चय नय से सत्य मनोयोग है।
- मनोयोग की तरह वचनयोग भी चार प्रकार का है।

काययोग—(i) औदारिक = उदार = प्रधान, श्रेष्ठ। तीर्थकर, गणधर आदि की अपेक्षा से। कारण उनके शरीर की अपेक्षा अनुत्तर देवो का शरीर भी अनन्त गुणरूपहीन होता है अथवा उदार = सर्व शरीर की अपेक्षा से जो प्रमाण मे अधिक हो। कारण औदारिक शरीर एक लाख योजन की अवगाहना वाला होता है। यद्यपि उत्तर वैक्रिय की अवगाहना भी एक लाख योजन की है तथापि भवधारणीय अवगाहना की अपेक्षा से औदारिक शरीर ही सर्वाधिक अवगाहना वाला है।

(ii) वैक्रिय—अनेक मे से एक, एक मे से अनेक, अणु से महान और महान से अणु बनने वाला शरीर वैक्रिय है। अर्थात् जिसमे विविध अथवा विशिष्ट क्रिया प्रक्रिया होती है वह वैक्रिय शरीर है।

(iii) आहारक—तीर्थकर परमात्मा की ऋद्धि के दर्शन के लिये अथवा तथाविध विशिष्ट कार्य से चौदह पूर्वधर जिस शरीर की रचना करते है, वह आहारक कहलाता है।

(iv) औदारिक मिश्र—औदारिक पुद्गलो का कार्मण शरीर के साथ मिलना औदारिक मिश्र कहलाता है। यह अपर्याप्त अवस्था मे तथा केवली समुद्घात करते समय (२रे ६ठे और ७वे समय मे) होता है। अपने उत्पत्ति स्थान मे आने वाला जीव प्रथम समय मे ही कार्मण शरीर से औदारिक पुद्गलों को ग्रहण करके औदारिक शरीर का निर्माण करता है। इस प्रकार औदारिक शरीर निष्पन्न होने तक कार्मण से मिश्र औदारिक होने से 'औदारिक मिश्र' कहलाता है।

(v) वैक्रिय मिश्र— औदारिक या कार्मण पुद्गलो का वैक्रिय पुद्गलो के साथ मिलना वैक्रिय मिश्र है। कार्मण के साथ वैक्रिय का मिश्रण देव और नरक की अपर्याप्तावस्था मे होता है तथा औदारिक के साथ वैक्रिय का मिश्रण बादर पर्याप्ता वायुकाय, पचेन्द्रिय तिर्यञ्च व मनुष्य (वैक्रिय-लब्धिधारी) मे होता है।

(vi) आहारक मिश्र—आहारक पुद्गलो का औदारिक पुद्गलो के साथ मिलना आहारक मिश्र है। यह चौदह पूर्वधारी को आहारक शरीर बनाते समय और त्यागते समय होता है।

(vii) कार्मण—आत्म-प्रदेशो के साथ क्षीर-नीर की तरह एकमेक बने हुए शरीर रूप मे परिणत कर्म-परमाणु ही कार्मण शरीर कहलाते है (कर्मणो विकार कार्मण इति)। कहा है कि—कर्मो का जो *परिणमन है वही कार्मण है। जो अष्टविध विचित्र कर्मो के द्वारा निर्मित है और शेष सभी शरीरो का* बीजभूत है वह कार्मण है। इसका नाश हो जाने पर शेष शरीरो का प्रादुर्भाव नही होता। एक गति से दूसरी गति की ओर जाने मे कार्मण शरीर साधकतम है। कहा है—कार्मण शरीर से आवृत आत्मा ही मृत्यु स्थान से उत्पत्ति स्थान मे जाता है।

प्रश्न—यदि जीव कार्मण शरीर से आवृत एक गति से दूसरी गति मे जाता है तो गमनागमन करते हुए वह दिखायी क्यो नही देता?

उत्तर—कर्म पुद्गल अत्यत सूक्ष्म परिणामी है अत वे इन्द्रियगोचर नही होते। अन्य दार्शनिको ने भी कहा है—

अन्तरा भवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।

निष्क्रामन् वा प्रविशन् वा नाभावोऽनीक्षणादपि॥

यद्यपि कार्मण शरीर अत्यत सूक्ष्म होने से प्रवेश व निष्क्रमण के समय दिखाई नही देता तथापि उसका अभाव नही है।

प्रश्न—भुक्त आहार को पचाने वाला तथा तेजो लेश्या के प्रक्षेप मे निमित्तभूत तैजस् शरीर का अलग से योग क्यो नही कहा?

उत्तर—तैजस् शरीर सदा कार्मण के साथ ही रहता है। कार्मण के ग्रहण से उसका भी ग्रहण हो जाता है अत उसे अलग से नही कहा॥१३०५॥

२२८ द्वार : गति—

मिच्छे सासाणे वा अविरयभावम्मि अहिगए अहवा।

जंति जिया परलोयं सेसेक्कारसगुणे मोत्तु॥१३०६॥

—गाथार्थ—

गुणस्थानक मे परलोकगमन—१. मिथ्यात्व २. सास्वादन तथा ३. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक को प्राप्त कर जीव परलोक में जाता है। अथवा शेष ग्यारह गुणस्थानको को छोडकर शेष तीन गुणस्थानको में जीव परलोक मे *जाता है॥१३०६॥*

—विवेचन—

१. मिथ्यात्व गुणस्थान मे — परलोक गमन होता है। यह गुणस्थान सर्वत्र है।

२ सासादन गुणस्थान में — परलोक गमन होता है। कहा है—**अणुबंधोदयमाउगबंधं काल च सासणो कुणइ**—सास्वादानी अनतानुबधी कषाय के बध-उदय व आयु के बधपूर्वक काल करता है।

३ मिश्र गुणस्थान में — परलोक गमन नही होता है (**न सम्ममिच्छो कुणइ काल**) मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव भवातर मे नही जाता।

४. अविरत गुणस्थान सम्यक्दृष्टि मे — देवगति मे जाते है।

५ से १४ गुण स्थानों मे परलोकगमन नहीं होता है।

इन गुणस्थानको का सद्भाव विरति के सद्भाव मे ही होता है। परलोक जाते समय विरति नही होती अत इन गुणस्थानको मे परलोक-गमन नही होता है ॥१३०६॥

२२९. द्वार : काल-मान—

मिच्छत्तमभव्वाण अणाइयमणंतयं च विन्नेय।
भव्वाणं तु अणाई सपज्जवसिय च सम्मत्ते ॥१३०७॥
छावलिय सासाणं समहियतेत्तीससायर चउत्थं।
देसूणपुव्वकोडी पंचमगं तेरस च पुढो ॥१३०८॥
लहुपचक्खर चरिमं तइय छट्ठाइ बारस जाव।
इह अट्ठ गुणट्ठाणा अतमुहुत्ता पमाणेण ॥१३०९॥

—गाथार्थ—

गुणस्थानको का कालमान—**मिथ्यात्व गुणस्थानक का कालमान अभव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त है। भव्य की अपेक्षा अनादि सात तथा सम्यक्त्व से पतित की अपेक्षा सादिसांत है।**

सास्वादन का कालमान छ आवलिका, अविरतसम्यग्दृष्टि का साधिक तेत्तीस सागरोपम, पाँचवें तथा तेरहवें का पृथक्-पृथक् कालमान देशोन पूर्वक्रोड़ वर्ष, चौदहवे का ह्रस्व पाँच अक्षर उच्चारण कालपरिमाण, तीसरे और छट्ठे से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थानक का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥१३०७-९॥

—विवेचन—

१. **मिथ्यात्व गुणस्थान**—काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व-गुणस्थान के चार भागे है।

(i) अनादि अनत **(ii)** अनादि सात **(iii)** सादि अनत **(iv)** सादि-सान्त

(i) यह भागा अभव्य की अपेक्षा से समझना। अभव्य जीव अनादि काल से मिथ्यात्वी है और सम्यक्त्व पाने की योग्यता का अभाव होने से अनादि काल पर्यन्त मिथ्यात्वी ही रहते है।

(ii) यह भग भव्यात्मा की अपेक्षा से समझना। अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीव प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब अनादि मिथ्यात्व का अन्त होने से मिथ्यात्व गुणस्थान अनादि सान्त कहलाता है।

(iii) यह भग असभवित है, कारण सम्यक्त्व से पतित जीव को ही मिथ्यात्व-गुणस्थान सादि होता है और ऐसा जीव पुन निश्चित रूप से सम्यक्त्वी बनता है और मिथ्यात्व का अत करता है। अत यह भग घटित नही होता।

(iv) यह भग सम्यक्त्व से पतित जीव की अपेक्षा से समझना। अनादि मिथ्यात्वी जीव सम्यक्त्व प्राप्तकर निमित्तवश पुन मिथ्यात्व मे चला जाता है। यह मिथ्यात्व की सादि हुई तथा वह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान मे जघन्यत· अन्तर्मुहूर्त्त और अरिहत की आशातना आदि पापो की बहुलता के कारण उत्कृष्टत अर्धपुद्गलपरावर्त काल पर्यन्त रहकर पुन निश्चित रूप से सम्यक्त्वी बनता है। इस प्रकार पुन मिथ्यात्व का अत होने से पतित जीवो की अपेक्षा यह भग सिद्ध होता है ॥१३०७॥

२. **सासादन गुणस्थान**—जघन्य १ समय, उत्कृष्ट ६ आवलिका। तत्पश्चात् आत्मा अवश्य मिथ्यात्वी होता है। आवलिका असख्यात समय का समूह समझना।

३. **मिश्र गुणस्थान**—जघन्य, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त।

४. **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट-साधिक ३३ सागरोपम। कोई मनुष्य सम्यक्त्व सहित विरति का पालन करते हुए अनुत्तरविमान का आयुष्य बाँधकर देवभव मे जाता है। वहाँ ३३ सागरोपम का देव-सम्बन्धी आयुष्य भोगकर पुन मनुष्य भव मे आता है। देवभव से लेकर मनुष्य भव मे जब तक विरति ग्रहण नही करता तब तक उस जीव को 'अविरत सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान होता है। इस प्रकार इस गुणस्थान का कालमान साधिक ३३ सागरोपम का घटित होता है।

५वें और १३वें देशविरति व सयोगी गुणस्थान—इन दोनो गुणस्थानो का कालमान भिन्न-भिन्न जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट कुछ न्यून पूर्वक्रोड वर्ष है। जीव साधिक नौ महीना गर्भस्थ रहता है और उत्पन्न होने के पश्चात् आठ वर्ष तक विरति योग्य नही होता। तत्पश्चात् देशविरति को स्वीकार करता है या सर्वविरति को स्वीकार कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। इस अपेक्षा से इन दोनों गुणस्थानो का कालमान कुछ न्यून (देशोन) पूर्वक्रोडवर्ष का है।

६ से १२ गुणस्थानो का उत्कृष्ट कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का है।

६ से ११ गुणस्थान का जघन्य कालमान एक समय का तथा १२वे का अन्तर्मुहूर्त्त का है।

पूर्व गुणस्थान का काल पूर्ण होने के बाद आत्मा दूसरे गुणस्थान मे चला जाता है या उसी गुणस्थान मे काल कर जाता है यदि वे मरणधर्मा है तो।

१४. अयोगी केवली गुणस्थान का कालमान ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, के उच्चारण मे जितना समय लगता है उतने समय प्रमाण का है। तत्पश्चात् मोक्षगमन होता है।

नोट— अन्य सभी स्थानो पर अयोगी केवली गुणस्थान का कालमान अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पॉच अक्षरो का उच्चारण काल जितना माना गया है ॥१३०८-०९॥

२३० द्वार : 　　　　　　　　　　　　विकुर्वणाकाल—

अंतमुहुत्त नरएसु हुति चत्तारि तिरियमणुएसुं।
देवेसु अद्धमासो उक्कोस विउव्वणाकालो ॥१३१०॥

—गाथार्थ—

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवो का वैक्रिय कालमान—**नारकों का उत्कृष्ट वैक्रिय कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का, तिर्यञ्च और मनुष्यों का चार अन्तर्मुहूर्त्त का तथा देवों का अर्धमास अर्थात् पन्द्रह दिन का है ॥१३१० ॥**

—विवेचन—

विकुर्वणाकाल = किस जीव का वैक्रिय शरीर कितने समय तक रहता है, वह कालमर्यादा विकुर्वणाकाल कहलाती है।

(१) तिर्यञ्च और मनुष्य का विकुर्वणाकाल = ४ अन्तर्मुहूर्त्त है
(२) देवता का विकुर्वणाकाल = १५ दिन का है।
(३) नारको का विकुर्वणाकाल = १ अन्तर्मुहूर्त्त का है।

यह उत्कृष्ट काल समझना।

तत्पश्चात् सभी जीव पुन अपने भवधारणीय शरीर मे आ जाते है ॥१३१० ॥

२३१ द्वार : समुद्घात—

वेयण कसाय मरणे वेउव्विय तेयए य आहारे।
केवलियसमुग्घाए सत्त इमे हुति मणुयाण ॥१३११ ॥
एगिदीणं केवलिआहारगवज्जिया इमे पच।
पंचावि अवेउव्वा विगलासन्नीण चत्तारि ॥१३१२ ॥
केवलियसमुग्घाओ पढमे समयमि विरयए दंडं।
बीए पुणो कवाडं मंथाण कुणइ तइयमि ॥१३१३ ॥
लोयं भरइ चउत्थे पंचमए अतराइ सहरइ।
छट्ठे पुण मंथाणं हरइ कवाडंपि सत्तमए ॥१३१४ ॥
अट्ठमए दंडंपि हु उरलंगो पढमचरमसमएसु।
सत्तमछट्ठबिइज्जेसु होइ ओरालमिस्सेसो ॥१३१५ ॥
कम्मणसरीरजोई चउत्थए पंचमे तइज्जे य।
जं होइ अणाहारो सो तंमि तिगेऽवि समयाणं ॥१३१६ ॥

—गाथार्थ—

समुद्घात सात—१. वेदना २. कषाय ३. मरण ४. वैक्रिय ५. तैजस् ६. आहारक और ७. केवली समुद्घात ये सात समुद्घात मनुष्यो मे होते है ॥१३११ ॥

केवली और आहारक को छोडकर एकेन्द्रिय जीवों में शेष पॉच समुद्घात होते है। वैक्रिय को छोड़कर पॉच में से शेष चार समुद्घात विकलेन्द्रिय और असंज्ञी मे होते है॥१३१२॥

केवली समुद्घात में प्रथम समय मे दंड, द्वितीय समय में कपाट, तृतीय समय मे मन्थान की रचना होती है। चतुर्थ समय मे लोक को भरते है। पॉचवे समय मे अन्तर-प्रदेशो का संहरण होता है। छट्ठे समय में मंथान का संहरण करते है। सातवें समय मे कपाट का और आठवे समय मे दड का सहरण होता है।

केवली समुद्घात के प्रथम और अन्तिम समय में आत्मा औदारिक शरीरी होता है। द्वितीय समय मे औदारिक मिश्र शरीरी, चौथे, पॉचवे और तीसरे समय मे कार्मणशरीरी होता है। आत्मा अणाहारी भी इन्ही तीन समय में होता है॥१३१३-१६॥

—विवेचन—

समुद्घात = 'समुद्घात' शब्द 'सम्-उत्-घात' इन तीन शब्दो का जोड है। सम् = एकरूपता, उत् = प्रबलता, घात = निर्जरा। एकरूपता के कारण प्रबलता से निर्जरा करना समुद्घात है।

प्रश्न—एकरूपता किसकी किसके साथ होती है?

उत्तर—वेदना, कषाय आदि के साथ आत्मा की एकरूपता होती है। अर्थात् जब आत्मा वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात आदि करता है तब वेदना और कषाय की अनुभूति के सिवाय अन्य सारी अनुभूतियॉ समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो आत्मा उस समय वेदनामय व कषायमय हो जाती है।

प्रश्न—प्रबलतापूर्वक घात-निर्जरा कैसे होती है?

उत्तर—वेदना आदि समुद्घात मे परिणत हुआ जीव, कालान्तर मे भोगने योग्य वेदनीय आदि कर्मो के विपुल प्रदेशो को उदीरणा द्वारा खीचकर, उदय मे लाकर भोगकर क्षय करता है अर्थात् आत्मप्रदेशो के साथ एकमेक बने कर्म पुद्गलो को अलग करना समुद्घात है।

स्वाभाविक रूप मे कर्मो का उदय मे आना और भोगना, यह कर्मयोग की सहज प्रक्रिया है, किन्तु प्रयासपूर्वक अनुदित कर्मो का उदीरणा द्वारा उदय मे लाकर भोगना समुद्घात है। वेदना, कषाय आदि का उदय कभी-कभी इतना प्रबल होता है कि उन्हे सहजरूप मे भोगना जीव के लिये अशक्य हो जाता है। ऐसी स्थिति मे आत्मा अपनी शक्ति से वेदनादि के पुद्गलो को उदीरणा द्वारा खीचकर अतिशीघ्र भोगकर क्षय कर देता है। कर्मो के निर्जरण की यह प्रक्रिया समुद्घात कहलाती है। जैसे किसी पक्षी के पख पर बहुत धूल चढ जाती है, तब वह पक्षी अपने पख फैलाकर जोर से फडफडाकर धूल को झाड देता है। इसी प्रकार आत्मा बद्ध कर्म पुद्गल को झाडने (निर्जरित करने) के लिये समुद्घात नामक क्रिया करता है।

समुद्घात सात प्रकार के है—

(i) वेदना समुद्घात
(ii) कषाय समुद्घात
(iii) मरण समुद्घात
(iv) वैक्रिय समुद्घात
(v) तैजस् समुद्घात
(vi) आहारक समुद्घात
(vii) केवली समुद्घात

(i) वेदनीय समुद्घात—वेदना द्वारा कर्म-दलिको का हनन वेदनीय समुद्घात है। असह्य वेदना से व्याकुल जीव अपनी शक्ति द्वारा अनतानत कर्मस्कधो से युक्त अपने आत्म-प्रदेशो को शरीर से बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कध आदि के छिद्रो को भरकर शरीर की लम्बाई और चौडाई मे आत्म प्रदेशो को व्याप्त कर देता है। इससे जीव बहुत से अशाता वेदनीय कर्म के दलिको को भोगकर क्षीण कर देता है। यह प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त्त तक चलती है। तत्पश्चात् जीवात्मा पुन शरीरस्थ हो जाता है। इस क्रिया का नाम वेदना समुद्घात है।

(ii) कषाय समुद्घात—कषाय द्वारा कर्म-दलिको का हनन कषाय समुद्घात है। तीव्र कषाय के उदय से व्याकुल जीव अपनी शक्ति द्वारा अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशो से अनुविद्ध अपने आत्म-प्रदेशो को बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कध आदि के छिद्रो को भरकर शरीर की लम्बाई और चौडाई मे आत्मप्रदेशो को व्याप्त कर देता है। इससे जीव बहुत से कषाय मोहनीयकर्म के दलिको को भोगकर क्षीण कर देता है। यह प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त्त तक चलती है, तत्पश्चात् जीवात्मा पुन· शरीरस्थ हो जाता है। यह क्रिया कषाय समुद्घात है।

(iii) मरण समुद्घात—मृत्यु के समय जीव के प्रयास द्वारा आयु-कर्म के दलिको का हनन करना, मरण समुद्घात है। मृत्यु के अतिम समय मे व्याकुल बना आत्मा अन्तर्मुहूर्त्त पहले ही अपने आत्म-प्रदेशो को शरीर से बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कध आदि के छिद्रो को भरकर अपने उत्पत्ति-स्थान तक लम्बा (जघन्य से अगुल के असख्यातवे भाग जितना और उत्कृष्ट से असख्याता योजन लम्बा) और देह-प्रमाण स्थूल दड की रचना करता है। अन्तर्मुहूर्त्त तक इसी स्थिति मे रहकर आयुष्य-कर्म के बहुत से पुद्गलो को उदीरणा द्वारा उदय मे लाकर घात करता है। यह प्रक्रिया मरण समुद्घात है।

(iv) वैक्रिय समुद्घात—वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ काल मे पूर्वबद्ध वैक्रिय के स्थूल पुद्गलो का घात करना वैक्रिय समुद्घात है। वैक्रिय लब्धि सम्पन्न आत्मा वैक्रिय शरीर बनाते समय सर्वप्रथम अपने आत्म प्रदेशो को शरीर से बाहर निकालकर उन से स्वदेह प्रमाण स्थूल एव सख्येय योजन प्रमाण दीर्घ दण्ड बनाता है। उस समय जीव पूर्वबद्ध वैक्रिय के पुद्गलो को उदीरणा द्वारा उदय मे लाकर घात करता है और नये वैक्रिय-पुद्गलो को ग्रहण करते हुए उत्तर-देह की रचना करता है। यह वैक्रिय समुद्घात है।

(v) तैजस् समुद्घात—तेजो-लेश्या की लब्धि से सम्पन्न आत्मा जब किसी के प्रति क्रुद्ध बनता है, तो सात-आठ कदम पीछे हटकर अपने आत्म-प्रदेशो को बाहर निकालकर स्वदेह प्रमाण-स्थूल और जिस स्थान मे तेजो-लेश्या (शीत-लेश्या) डालनी है, वहाँ तक लम्बा (सख्यात-योजन दीर्घ) दड बनाता है। इससे उसके क्रोध का लक्ष्य बनी वस्तु या व्यक्ति भस्म हो जाती है। इस प्रकार तैजस् शरीर के बहुत से पुद्गलो का क्षय करता है। इसे तेजस् समुद्घात कहते है।

(vi) आहारक समुद्घात—आहारक शरीर के प्रारम्भ काल मे जो होता है वह आहारक समुद्घात है। आहारक लब्धि-सम्पन्न-आत्मा आहारक शरीर बनाते समय सर्वप्रथम अपने आत्म प्रदेशो को शरीर से बाहर निकालकर उनका स्वदेह-प्रमाण स्थूल एव सख्येय योजन प्रमाण दीर्घ दड बनाता है। उससे पूर्वबद्ध आहारक के पुद्गलो को उदीरणा द्वारा उदय मे लाकर घात करता है, यह आहारक समुद्घात है। नये आहारक पुद्गलो को ग्रहण कर आहारक शरीर बनाता है। इस शरीर की रचना आहारक लब्धि-सम्पन्न चौदह पूर्वधर मुनि ही करते है।

(vii) केवली समुद्घात—जिन केवलज्ञानी परमात्मा का आयु मात्र अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण रह गया है और नाम, गोत्र व वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक है उन्हे इन तीनो कर्मो की स्थिति को आयुतुल्य करने के लिये केवली समुद्घात करना पडता है। समुद्घात करने वाले केवली सर्वप्रथम अपने आत्म-प्रदेशो को बाहर निकालकर शरीर प्रमाण स्थूल और नीचे से ऊपर चौदहराज प्रमाण दीर्घदड बनाते है। दूसरे समय मे स्वदेह प्रमाण मोटा तथा उत्तर-दक्षिण मे लोक के अन्त भाग तक लम्बा कपाट बनाते है। तीसरे समय मे ऐसा ही एक कपाट पूर्व-पश्चिम मे लोक के अन्त तक लम्बा बनाते है। उस समय आत्म-प्रदेशो की स्थिति मन्थनी की तरह हो जाती है। चौथे समय मे मन्थनी के बीच का रिक्त स्थान भरते है। उस समय सम्पूर्ण लोक आत्म-प्रदेशो से व्याप्त बन जाता है। तत्पश्चात् पॉचवे समय मे मन्थनी के अन्तरो मे भरे गये आत्म-प्रदेशो का सकोच करते है। छट्ठे समय मे मन्थनी के आकार का सहरणकर कपाट रूप शेष रखते है। सातवे समय मे कपाट का भी सहरण कर दडाकार शेष रखते है। आठवे समय मे दड का भी सहरणकर सभी आत्म प्रदेशो को पुन शरीरस्थ कर लेते है। इस प्रकार आठ समय का केवली समुद्घात करके आयु की अपेक्षा अधिक स्थिति वाले वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की निर्जरा करते है।

समुद्घात का काल प्रमाण—वेदनीय-कषाय, मरण-वैक्रिय तैजस्-आहारक समुद्घात का काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त का है।

केवली समुद्घात आठ समय का है।

केवली समुद्घात में योग—योग = मन, वचन और काया की प्रवृत्ति।केवली समुद्घात गत जीव के मात्र काययोग ही होता है।मनोयोग और वचनयोग का उस समय कोई प्रयोजन नही है।

१ले एव ८वे समय मे	औदारिक काययोग होता है, कारण पहले और आठवे समय मे समुद्घात का प्रारम्भ एव अन्त होने से औदारिक काययोग की ही प्रधानता रहती है।
२रे, ६ठे, ७वे समय मे	इनमे औदारिक मिश्र की प्रधानता है, कारण उस समय औदारिक और कार्मण दोनो का सम्मिलित प्रयास होने से औदारिक मिश्र का व्यापार होता है।
३रे, ४थे, ५वे समय मे	इस समय औदारिक से बाहर केवल कार्मण काययोग का ही मुख्य रूप से व्यापार होता है। यही कारण है कि केवली समुद्घात के ३रे, ४थे, ५वे समय मे जीव अनाहारी होता है तथा जो अनाहारी होता है, वह निश्चित रूप से कार्मण योगी होता है।

जीवों में समुद्घात—

(१) मनुष्य मे	=	पूर्वोक्त ७ समुद्घात
(२) एकेन्द्रिय मे	=	५ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस् और वैक्रिय)
(३) विकलेन्द्रिय मे	=	४ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस्)
(४) असज्ञी पचेन्द्रिय मे	=	४ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस्)

प्रथम/सातवां पूर्व पश्चिम कपाट
दंडाकार
समय
२ रा/६ ठा
समय
३रा/५ वा
समय
मंथन आकार
लोकपूर्ति
आकार
४ था
समय
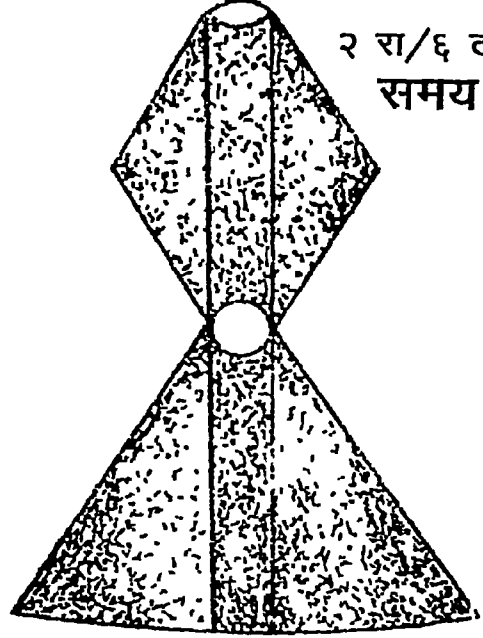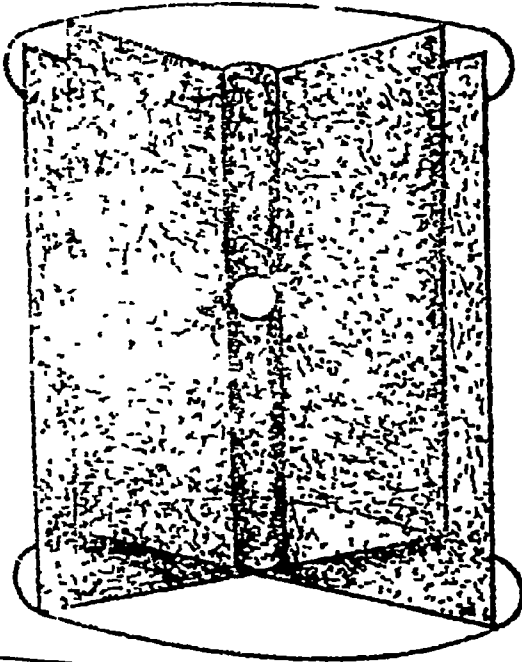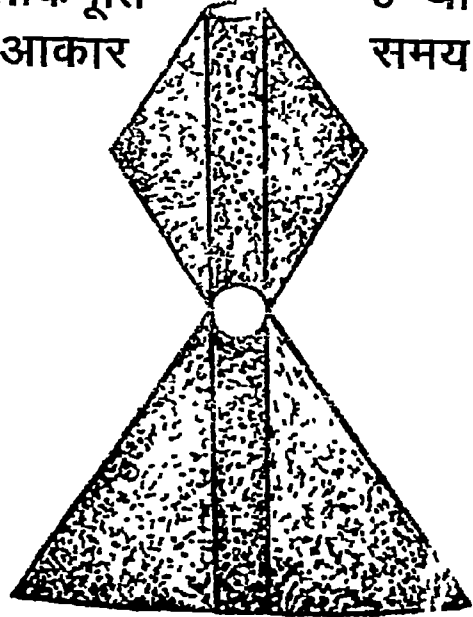
- प्रस्तुत ग्रथ मे जीवों मे जो समुद्घात बताये है, उनका **प्रज्ञापना, पचसग्रह, जीव-समास** आदि के साथ विरोध आता है। चतुर्विशति दडक के क्रम से समुद्घात की चर्चा करने वाला **प्रज्ञापना सूत्र** कहता है कि—

नारकी मे— ४ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरणान्तिक, वैक्रिय), तथाविध स्वभाव के कारण नारकी मे तेजोलेश्यालब्धि, आहारकलब्धि और केवललब्धि नहीं होती।

१० भवनपति मे—५ समुद्घात (वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और तैजस्) भवनपति मे तेजोलेश्या होने से पूर्वोक्त ५ समुद्घात हैं।

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय मे = ३ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण), परन्तु वायुकाय मे वैक्रिय सहित = ४, कारण बादर पर्याप्ता वायुकाय मे वैक्रिय लब्धि होती है।

पचेन्द्रिय तिर्यञ्च मे—तैजस् सह पूर्वोक्त ४ समुद्घात होते है। तिर्यचो मे क्वचित् तेजोलेश्या और वैक्रियलब्धि होती है।

मनुष्य मे = ७ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस्, वैक्रिय, आहारक और केवली) है।

व्यतर, ज्योतिष् और वैमानिक मे—५ समुद्घात होते है (वेदना, कषाय, मरण, तैजस् और वैक्रिय), आहारक और केवली समुद्घात नहीं होते ॥१३११-१६॥

२३२ द्वार : पर्याप्ति—

आहार सरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाण भास मणे।
चत्तारि पच छप्पिय एगिंदियविगलसन्नीण ॥१३१७॥
पढमा समयपमाणा सेसा अतोमुहुत्तिया य कमा।
समगंपि हुंति नवर पचम छट्ठा य अमरण ॥१३१८॥

—गाथार्थ—

पर्याप्ति छ—१. आहार २. शरीर ३. इन्द्रिय ४. श्वासोच्छ्वास ५. भाषा और ६. मन — ये छ पर्याप्तियाँ है। इनमें से एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सज्ञी पञ्चेन्द्रिय के क्रमश. चार, पाँच और छ पर्याप्तियाँ होती है॥१३१७॥

प्रथम पर्याप्ति का कालमान एक समय एवं शेष पर्याप्तियो का क्रमश पृथक्-पृथक् अन्तर्मुहूर्त का है। परन्तु देवों की पाँचवी और छट्ठी पर्याप्ति साथ ही पूर्ण होती है॥॥१३१८॥

—विवेचन—

पर्याप्ति = आहार आदि के पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे आहार, खल, रस आदि के रूप मे परिणत करने की आत्मिक शक्ति विशेष। वह शक्ति पुद्गल के उपचय से उत्पन्न होती है। साराश यह

है कि उत्पत्ति स्थान मे आने के बाद जीव द्वारा प्रथम समय मे गृहीत पुद्गलो के साथ प्रतिसमय गृह्यमाण पुद्गलो का सपर्क होता है। सपर्क होने से ये पुद्गल तद्रूप बनते है। इससे आहारादि के पुद्गलो को खल, रस आदि के रूप मे परिणत करने की जो शक्ति प्राप्त होती है वह पर्याप्ति कहलाती है। पर्याप्ति के छ भेद है—

१ आहार पर्याप्ति	२ शरीर पर्याप्ति	३ इन्द्रिय पर्याप्ति
४ भाषा पर्याप्ति	५ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	६ मन पर्याप्ति

१. आहार पर्याप्ति—आहार के पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे खल, रस रूप मे परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष।

२. शरीर पर्याप्ति—रस रूप मे परिणत आहार के पुद्गलो को रस, रक्त, मॉस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओ के रूप मे परिणमन करने की जीव की शक्ति विशेष।

३. इन्द्रिय पर्याप्ति—सात धातु के रूप मे परिणत हुए आहार से इन्द्रियो की रचना के योग्य द्रव्य को ग्रहण कर उसे इन्द्रियो के रूप मे परिणत करने वाली जीव की शक्ति विशेष।

४. भाषा पर्याप्ति—भाषावर्गणा के दलिको को ग्रहण करके उन्हे भाषा के रूप मे बदलकर भाषा के आलम्बन द्वारा अर्थात् वचनरूप मे उनका प्रयोग करके उन दलिको का पुन विसर्जन करने वाली जीव की शक्ति विशेष।

५. श्वासोच्छ्वास—श्वास योग्य वर्गणा के दलिको को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप मे बदलने वाली तथा उन्ही पुद्गलो का आलबन कर उन्हे छोडने वाली शक्ति विशेष।

६. मन. पर्याप्ति— मनोवर्गणा के दलिको को ग्रहण करके उन्हे मन रूप मे परिणत कर उन का आलम्बन लेकर पुन उन्हे विसर्जन करनेवाली जीव की शक्ति विशेष।

किसके कितनी पर्याप्ति?

(i) एकेन्द्रिय = चार पर्याप्ति (आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति)

(ii) (iii) विकलेन्द्रिय, असज्ञी = पाच पर्याप्ति (भाषा पर्याप्ति सहित पूर्वोक्त चार = पाच)

(iv) सज्ञी-पचेन्द्रिय = छ पर्याप्ति (मन पर्याप्ति सहित पूर्वोक्त पाच = छ)

जो जीव स्वयोग्य पर्याप्तियो को पूर्ण किये बिना ही मरते है, वे भी आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियो को तो पूरा करके ही मरते है। ऐसे जीव मरने से पूर्व अन्तर्मुहूर्त्त मे परभव का आयु बॉधते है। अन्तर्मुहूर्त्त का अबाधाकाल भोगते है पश्चात् ही मरते है। अन्तर्मुहूर्त्त के अनेक भेद होने से पूर्वोक्त बात सगत है।

निष्पत्ति काल—जीव अपने योग्य पर्याप्तियो का प्रारम्भ तो उत्पत्ति के समय ही कर देता है, किन्तु उनकी समाप्ति अनुक्रम से होती है—

१. आहार पर्याप्ति = एक समय मे।
२ शरीर पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त मे।

३ इन्द्रिय पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त मे (शरीर पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त मे पूर्ण होती है)
४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त मे (इन्द्रिय पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त मे पूर्ण होती है)
५ भाषा पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त मे (श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त मे पूर्ण होती है)
६ मन पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त (भाषा पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त मे पूर्ण होती है)

छ पर्याप्ति को मिलाकर भी निष्पत्ति काल अन्तर्मुहूर्त्त ही है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व पर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त्त की अपेक्षा उत्तर पर्याप्ति का अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मे बडा है। अन्तर्मुहूर्त्त के अनेक भेद है।

प्रश्न—आहार पर्याप्ति प्रथम समय मे ही पूर्ण हो जाती है यह आप किस आधार से कह रहे हो?

उत्तर—प्रज्ञापना सूत्र के द्वितीय उद्देशक के आहार पद मे **आर्य श्याम** ने कहा है कि 'आहार पज्जत्तीए अपज्जत्तए ण भते किं आहारए अणाहारए? गोयमा! नो आहारए अणाहारए' अर्थात् आहार पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव आहारी होता है या अनाहारी? भगवान्—गौतम! वह जीव आहारी नही किन्तु अनाहारी होता है।

आहार पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव विग्रह-गति मे ही होता है। उत्पत्ति स्थान मे आने के बाद जीव प्रथम समय मे ही आहार ग्रहण कर लेता है। यदि उपपात क्षेत्र मे आने के बाद भी जीव प्रथम समय मे आहार ग्रहण न करे, तो पूर्वोक्त सूत्र मे ऐसा कहना चाहिये कि 'सिय आहारए, सिय अणाहारए' (आहारी भी हो सकता है, अनाहारी भी हो सकता है) जैसे कि शरीरादि पर्याप्ति के विषय मे इसी सूत्र मे "सिय आहारए, सिय अणाहारए" कहा है। अर्थात् शरीर पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव विग्रह-गति मे अनाहारक होता है तथा उत्पत्ति से लेकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक आहारक होता है। इसलिये यहाँ 'स्यात् आहारक, स्यात् अनाहारक' कहा। इन्द्रिय आदि पर्याप्तियो के विषय मे भी यही समझना चाहिये। पर्याप्तियो का अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण निष्पत्ति-काल औदारिक शरीर की अपेक्षा से कहा है।

आहारक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा से निष्पत्ति-काल—

१ आहार पर्याप्ति = १ समय
२. शरीर पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त
३ इन्द्रिय पर्याप्ति = १ समय
४ भाषा पर्याप्ति = १ समय
५ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति = १ समय
६ मन पर्याप्ति = १ समय

वैक्रिय और आहारक शरीरी जीव एक ही साथ अपने योग्य सभी पर्याप्तियो को प्रारम्भ करते है, किन्तु उनकी समाप्ति क्रमश एक-एक समय के अन्तर से होती है। देवो के भाषा और मन पर्याप्ति एक ही साथ पूर्ण होती है। **भगवती सूत्र** मे इन दोनो पर्याप्तियो को अलग न मानकर एक ही माना है। इस प्रकार देवो के छ पर्याप्ति के स्थान पर पॉच ही पर्याप्तियॉ बताई है। "पचविहाए पज्जत्तीए" इसका अर्थ बताते हुए टीकाकार ने कहा है कि आहार, शरीर आदि पर्याप्तियॉ अन्यत्र छ प्रकार की बताई है, किन्तु प्रकृत सूत्र मे बहुश्रुतो ने किसी कारण से भाषा और मन पर्याप्ति को एक मानकर पॉच पर्याप्तियॉ ही बताई है॥ १३१७-१८ ॥

२३३ द्वार : अनाहारक ४—

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समोहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥१३१९ ॥

—गाथार्थ—

चार अनाहारी—**१. विग्रहगतिवर्ती २. केवली समुद्घात करने वाले ३. अयोगी केवली तथा ४. सिद्ध परमात्मा अनाहारी है। शेष सभी जीव आहारी है।॥१३१९ ॥**

—विवेचन—

१ विग्रहगति मे स्थित जीव।
२ केवली समुद्घात के ३रे-४थे और ५वे समय मे स्थित जीव।
३ अयोगी (शैलेशीकरण करते समय) आत्मा।
४ सिद्धात्मा।
ये चार जीव अनाहारक होते है।

परभव जाते समय जीवो की गति दो प्रकार की होती है—

(i) ऋजुगति—यह गति एक समय की है। जीव के मरण-स्थान से उसका उत्पत्ति-स्थान समश्रेणी (सीधी लाइन) मे स्थित है तो वह प्रथम समय मे ही अपने उत्पत्ति-स्थान मे सीधा पहुँच जाता है। ऋजुगति से जाने वाला जीव निश्चितरूप से आहारक होता है, क्योकि इसमे पुराने एव नये शरीर के बीच समयान्तर नही रहता। एक समय मे ही पूर्व शरीर का त्याग एव उत्तर शरीर के योग्य पुद्गलो का ग्रहण हो जाता है। यह ओजाहार है। इस प्रकार ऋजुगति मे नियम से आहार होता है।

(ii) विग्रह गति—जीव के मरण-स्थान से उसका उत्पत्ति-स्थान जब वक्रश्रेणी मे होता है तो जीव की विग्रह गति होती है अर्थात् जीव बीच में मोड लेता हुआ अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है। जिस गति मे समय का व्यवधान होता है वह विग्रह गति है। अधिक से अधिक जीव तीन मोड लेता है। इसमे क्रमश दो समय, तीन समय, और चार समय लगते है। यदा कदा चार वक्र भी होते है।

(अ) एक वक्रा—यह दो समय की होती है। दो समय की वक्रगति मे जीव निश्चित रूप से आहारक होता है। प्रथम समय मे जीव पूर्व शरीर को छोडते हुए उस शरीर सम्बन्धी कुछ पुद्गल लोमाहार के रूप मे अवश्य ग्रहण करता है अत वहाँ आहारक होता है। वैसे ही दूसरे समय मे उत्पत्तिस्थान पर पहुँचकर तद्भव सम्बन्धी शरीर योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने से आहारक होता है। आहार का अर्थ है औदारिक, वैक्रिय व आहारक शरीर योग्य पुद्गलो को ग्रहण करना।

(ब) दो वक्रा—इसमे तीन समय लगते है। यहाँ प्रथम और अतिम समय मे जीव पूर्ववत् आहारक और मध्यवर्ती समय मे अनाहारक होता है।

(स) त्रसनाडी के बाहर नीचे से ऊपर व ऊपर से नीचे उत्पन्न होने वाला जीव यदि विदिशा से दिशा मे या दिशा से विदिशा मे उत्पन्न हो तो वहाँ पहुँचने मे जीव को तीन मोड लेने पडते है। इसमे

ऋजुगति
एक वक्रा गति
आकाश प्रदेश की श्रेणी
मोड़
(विग्रहगति)
२ द्विवक्रा गति
त्रिवक्रा गति
चतुर्थवक्रा गति
१
२
३
४
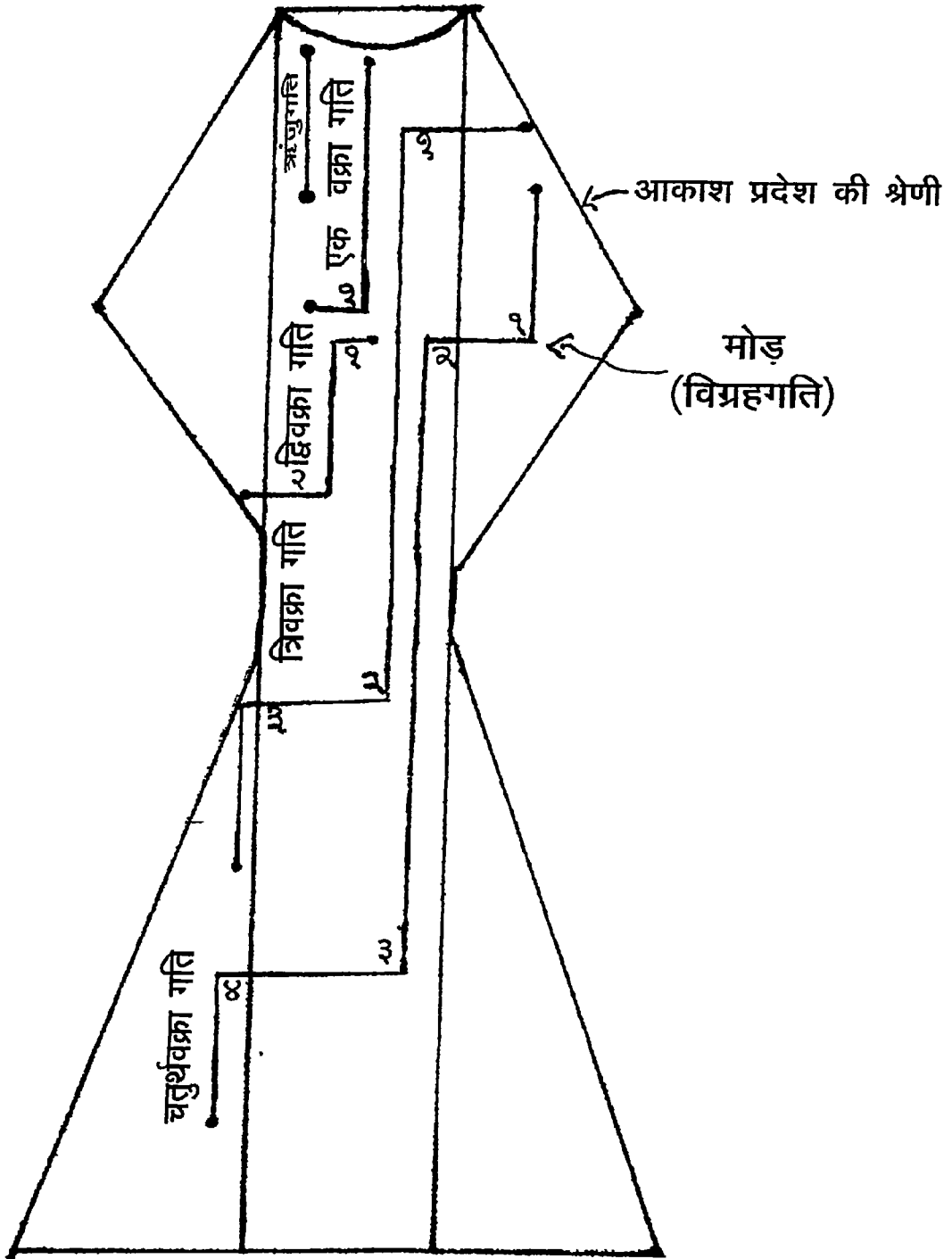
चार समय लगते है। विदिशा से दिशा मे उत्पन्न होने वाला जीव प्रथम समय मे विदिशा से दिशा मे आता है.....द्वितीय समय मे त्रसनाडी मे प्रवेश करता है......तृतीय समय मे ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर जाता है और चतुर्थ समय मे बाहर उत्पन्न होता है। दिशा से विदिशा मे उत्पन्न होने वाला जीव प्रथम समय मे त्रसनाडी मे प्रवेश करता है। द्वितीय समय मे ऊपर से नीचे अथवा नीचे से ऊपर जाता है। तृतीय समय मे त्रसनाडी से बाहर निकलता है और चतुर्थ समय मे विदिशा मे उत्पन्न होता है। यहाँ प्रथम और अतिम समय मे जीव आहारक तथा मध्यवर्ती दो समय मे अनाहारक होता है।

(द) चतुर्-वक्रा—इसमे पाँच समय लगते है। जब कोई जीव त्रस नाडी से बाहर विदिशा मे से निकलकर विदिशा मे ही उत्पन्न होने वाला होता है, तो उसकी चतुर् वक्रा गति होती है। प्रथम समय मे वह त्रस-नाडी से बाहर विदिशा मे से दिशा मे आता है। दूसरे समय मे त्रस-नाडी मे प्रवेश करता है। तीसरे समय मे ऊपर अथवा नीचे आता है। चौथे समय मे त्रस-नाडी से बाहर निकलता है और पाँचवे समय मे विदिशा मे स्थित अपने उत्पत्ति-स्थान मे पहुँचता है। यहाँ भी प्रथम और अतिम समय मे जीव आहारक और मध्यवर्ती तीनो समय मे अनाहारक होता है।

अष्टसमय परिमाण वाले, केवलिसमुद्‌घात को करते समय, तीसरे, चौथे व पाँचवे समय मे जीव मात्र कार्मणकाय योगी होने से अनाहारी होता है। शैलेशी अवस्था मे, अयोगी आत्मा ५ ह्रस्वाक्षर उच्चारण काल पर्यत अनाहारी होते है तथा सिद्धभगवत सादि अनत काल तक अनाहारी ही है ॥१३१९॥

२३४ द्वार : भयस्थान—

इह परलोयाऽऽयाणा-मकम्ह आजीव मरण मसिलोए।
सत्त भयट्ठाणाइ इमाइं सिद्धंतभणियाइं ॥१३२०॥

—गाथार्थ—

भयस्थान सात—**१. इहलोक भय २. परलोक भय ३. आदान भय ४. अकस्मात् भय ५. आजीविका भय ६. मरण भय और ७. अश्लोक भय—ये सात भयस्थान आगम में कहे गये** है ॥१३२०॥

—विवेचन—

भय — भय मोहनीय कर्म से जन्य आत्मा का परिणाम विशेष।
स्थान — भय के कारण, निमित्त या आश्रय।

भय स्थान सात है—

१. इहलोकभय—सजातीय से भय होना। जैसे किसी को अपने सजातीय मनुष्य से भय लगना इहलोकभय है।

२. **परलोकभय**—विजातीय से भय होना। जैसे, किसी मनुष्य को तिर्यच या देव से भय लगना परलोकभय है।

३. **आदानभय**—किसी से कुछ लेना आदान है। मेरे से कोई कुछ ले लेगा, इस प्रकार छीने जाने का भय आदानभय है। जैसे, चोर मेरा कुछ चुरा लेगे, ऐसा भय लगना।

४. **अकस्मात्भय**—बिना किसी बाह्यनिमित्त के भय होना। जैसे कईयो को रात मे बन्द कमरे मे सोते-सोते ही डर लगता है।

५. **आजीविकाभय**—जीवन निर्वाह के लिये चिन्ता करना। जैसे—अकाल की सभावना होने पर चिन्ता करना कि मै निर्धन हूँ...अकाल पडने पर मेरी क्या दशा होगी? मै कैसे जीऊँगा?...इत्यादि।

६. **मरणभय**—ज्योतिषी आदि से अपनी मृत्यु निकट जानकर डरना।

७. **अश्लोकभय**—अकार्य करते हुए लोकनिन्दा से डरना ॥१३२० ॥

२३५ द्वार : अप्रशस्तभाषा—

हीलिय खिंसिय फरुसा अलिआ तह गारहत्थिया भासा।
छट्ठी पुण उवसंताहिगरणउल्लाससजणणी ॥१३२१ ॥

—गाथार्थ—

छ अप्रशस्तभाषा—**१. हीलिता २. खिंसिता ३. परुषा ४. अलीका ५. गार्हस्थिका तथा ६. उपशांत अधिकरण उल्लास-संजननी—ये छ अप्रशस्त भाषा है॥१३२१॥**

—विवेचन—

अप्रशस्त = कर्मबध के हेतुभूत, भाषा = वचन।

(i) हीलिता —तिरस्कारपूर्वक बोलना, हे वाचक! हे ज्येष्ठार्य...इत्यादि।

(ii) खिंसिता —निन्दा करना। किसी की हलकी बात सब के सम्मुख प्रकट करना।

(iii) परुषा —कठोर वचन बोलना...यह दुष्ट है...बदमाश है..इत्यादि।

(iv) अलीका —झूठ बोलना। किसी के द्वारा पूछने पर कि तुम दिन मे जाते हो? कहना कि नही जाता हूँ।

(v) गार्हस्थी —साधु होकर गृहस्थ की भाषा मे बोलना। मेरा पुत्र...मेरा भाई..मेरे माता-पिता इत्यादि।

(vi) उपशान्ताधिकरणोल्लाससजननी—उपशान्त = शात हुए, अधिकरण = कलह को, उल्लास = पुन, सजननी = पैदा करने वाली भाषा अर्थात् शान्त हुए कलह को प्रेरित कर पुन पैदा करने वाली भाषा ॥१३२१ ॥

२३६ द्वार : अणुव्रत-भंग भेद (भांगे) —

दुविहा अट्ठविहा वा बत्तीसविहा य सत्तपणतीसा।
सोलस य सहस्स भवे अट्ठ सयट्ठोत्तरा वइणो ॥१३२२ ॥
दुविहा विरयाविरया दुविह तिविहाइणट्ठहा हुंति।
वयमेगेगं छव्विह गुणिय दुगमिलिय बत्तीसं ॥१३२३ ॥
तिन्नि तिया तिन्नि दुया, तिन्निक्केक्का य हुंति जोएसु।
ति दु एक्कं ति दु एक्कं, ति दु एक्कं चेव करणाइं ॥१३२४ ॥
मणवयकाइयजोगे करणे कारावणे अणुमईए।
एक्कग-दुगतिगजोगे सत्ता सत्तेव गुणवन्ना ॥१३२५ ॥
पढमेक्को तिन्नि तिया दोन्नि नवा तिन्नि दो नवा चेव।
कालतिगेण य गुणिया सीयाल होइ भंगसय ॥१३२६ ॥
पंचाणुव्वयगुणियं सीयालसयं तु नवरि जाणाहि।
सत्त सया पणतीसा सावयवयगहणकालंमि ॥१३२७ ॥
सीयालं भंगसयं जस्स विसुद्धीए होइ उवलद्धं।
सो खलु पच्चक्खाणे कुसलो सेसा अकुसला उ ॥१३२८ ॥
दुविहतिविहाइ छव्विह तेसिं भेया कमेणिमे हुंति।
पढमेक्को दुन्नि तिया दुगेग दो छक्क इगवीसं ॥१३२९ ॥
एगवए छब्भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते।
ते च्चिय पयवुड्ढीए सत्तगुणा छज्जुया कमसो ॥१३३० ॥
इगवीसं खलु भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते।
ते च्चिय बावीसगुणा इगवीसं पक्खिवेयव्वा ॥१३३१ ॥
एगवए नव भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते।
ते च्चिय दसगुण काउ नव पक्खेवंमि कायव्वा ॥१३३२ ॥
इगवन्नं खलु भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते।
ते च्चिय पन्नासगुणा, गुणवन्न पक्खिवेयव्वा ॥१३३३ ॥

एगाई एगुत्तरपत्तेयपयंमि उवरि पक्खेवो ।
एक्केक्कहाणिअवसाणसंखया हुंति सयोगा ॥१३३४ ॥
अहवा पयाणि ठविउं अक्खे घित्तूण चारणं कुज्जा ।
एक्कगदुगाइजोगा भंगाणं संख कायव्वा ॥१३३५ ॥
बारस छावट्ठीविय वीसहिया दो य पच नव चउरो ।
दो नव सत्त य चउ दोन्नि नव य दो नव य सत्तेव ॥१३३६ ॥
पण नव चउरो वीसा य दोन्नि छावट्ठि बारसेक्को य ।
सावय भंगाणमिमे सव्वाणवि हुंति गुणकारा ॥१३३७ ॥
छच्चेव य छत्तीसा सोल दुगं चेव छ नव दुगमिक्कं ।
छ सत्त सत्त सत्त य छप्पन छसट्ठि चउ छट्ठे ॥१३३८ ॥
छत्तीसा नवनउई सत्तावीसा य सोल छन्नउई ।
सत्त य सोलस भंगा अट्ठमठाणे वियाणाहि ॥१३३९ ॥
छन्नउई छावत्तरि सत्त दु सुन्नेक्क हुति नवमम्मि ।
छाहत्तरि इगसट्ठि छायाला सुन्न छच्चेव ॥१३४० ॥
छप्पन्न सुन्न सत्त य नव सत्तावीस तह य छत्तीसा ।
छत्तीसा तेवीसा अडहत्तरी छहत्तरीगवीसा ॥१३४१ ॥
दुविहतिविहेण पढमो दुविह दुविहेण वीयओ होइ ।
दुविहं एगविहेण एगविह चेव तिविहेण ॥१३४२ ॥
एगविहं दुविहेणं एक्केक्कविहेण छट्ठओ होइ ।
उत्तरगुण सत्तमओ अविरयओ अट्ठमो होइ ॥१३४३ ॥
पंचण्हमणुवयाणं एकगदुगतिगचउक्कपणगेहिं ।
पंचगदसदसपणगेक्कगा य संजोय नायव्वा ॥१३४४ ॥
छच्चेव य छत्तीसा सोल दुग चेव छ नव दुग एक्क ।
छप्पन्न सत्त सत्त य पंचण्ह वयाणगुणणपय ॥१३४५ ॥
एक्केक्कगसंजोगाण हुंति पंचण्ह सोलसई भंगा ।
गुणसंजोग दुगाइवि तिन्नि सट्ठा सया हुंति ॥१३४६ ॥

तिग सजोग दसण्ह भंगसया एक्कवीसई सट्ठा।
चउसंजोगप्पणगे चउसट्ठि सयाण असियाणि ॥१३४७ ॥
सत्तत्तरी सयाइ छहत्तराइ तु पंचमे हुति।
उत्तरगुण अविरयमेलियाण जाणाहि सव्वग्ग ॥१३४८ ॥
सोलस चेव सहस्सा अट्ठ सया चेव हुति अट्ठहिया।
एसो वयपिडत्थो दंसणमाई उ पडिमाओ ॥१३४९ ॥
तेरसकोडिसयाइ चुलसी इजुयाइ बारस य लक्खा।
सत्तासीई सहस्सा दो य सया तह दुरुत्ता य ॥१३५० ॥

—गाथार्थ—

अणुव्रतो के भागे—दो प्रकार के, आठ प्रकार के, बत्तीस प्रकार के, सात सौ पैतीस प्रकार तथा सोलह हजार आठ सौ आठ प्रकार के व्रतधारी होते है ॥१३२२ ॥

विरत-अविरत के भेद से दो प्रकार के, त्रिविध आदि के भेद से आठ प्रकार के, तथा प्रत्येक व्रत को छ से गुणा करके उसमें दो जोडने से बत्तीस प्रकार के होते है ॥१३२३ ॥

योगों के लिये तीन का अंक तीन बार, दो का अक तीन बार तथा एक का अंक तीन बार लिखना होता है। करण के लिये क्रमश तीन, दो, और एक के अको को तीन बार लिखना होता है ॥१३२४ ॥

मन, वचन और काय रूप तीन योगों के करने, कराने और अनुमोदन करने रूप तीन करणों के साथ परस्पर एक सयोगी, द्विसंयोगी और त्रिसयोगी भागो के सात सप्तक बनते है। इन सात सप्तको के कुल मिलाकर उनपचास भागे होते है ॥१३२५ ॥

प्रथम भांगे मे एक भेद, पश्चात् तीन भांगों में तीन-तीन भेद, पश्चात् दो भांगों में नौ-नौ भेद, पश्चात् एक में तीन और अन्तिम दो मे पुन नौ-नौ भेद होते है। इन सभी को तीन काल से गुणा करने पर एक सौ सैतालीस भांगे होते है ॥१३२६ ॥

एक सौ सैतालीस भेदों को पॉच अणुव्रतों के साथ गुणा करने पर सात सौ पैतीस भेद होते है। ये भेद श्रावक के व्रत ग्रहण काल से सम्बन्धित समझना चाहिये ॥१३२७ ॥

जिसने प्रत्याख्यान के एक सौ सैतालीस भांगों को अच्छी तरह समझ लिया है वही प्रत्याख्यान मे कुशल है। शेष को अकुशल समझना चाहिये ॥१३२८ ॥

द्विविध, त्रिविध आदि छ भांगे है। उनके भेदों का क्रम इस प्रकार है। पहिले में एक, दो मे तीन, एक मे दो और दो मे छ-छ भेद होते है। इस प्रकार कुल इक्कीस भेद होते है ॥१३२९ ॥

सूत्र में श्रावकों के एक व्रत के जो छ भांगे बताये है, उन्ही भांगो की पदवृद्धि करते हुए सात से गुणा करके छ जोड़ने पर भागों की कुल संख्या आती है ॥१३३० ॥

सूत्र में श्रावकों के जो इक्कीस भागे बताये है उन्हे बाईस से गुणा करके इक्कीस जोडने पर क्रमश. बारह व्रत के कुल भांगों की संख्या आती है ॥१३३१॥

सूत्र में श्रावको के एकव्रत के जो नौ भागे बताये है उन्हे दस से गुणा करके नौ जोडने पर भांगो की संख्या आती है ॥१३३२॥

सूत्र में श्रावकों के जो उनपचास भांगे बताये हें उन्हे पचास से गुणा करके गुणनफल मे इक्यावन जोड़ना चाहिये ॥१३३३॥

एक से लेकर जितने संयोगी भांगे करने हो, एक से लेकर उतने अंक क्रमश वृद्धिपूर्वक खडी पक्ति मे स्थापन करना। तत्पश्चात् नीचे के अंक को ऊपर के अंक मे जोडकर अगली खडी पक्ति के रूप मे लिखते जाना। पंक्ति के ऊपरवर्ती अक मे कुछ भी नही जोडना है। इस प्रकार अंतिम संख्या द्वारा संयोगी भांगों की कुल संख्या आती है ॥१३३४॥

अथवा विवक्षित पदों को पट आदि पर लिखकर अक्ष द्वारा गुणाकार करना। एक, दो आदि पदों का संयोग करने पर एक संयोगी आदि भांगों की कुल संख्या आती है ॥१३३५॥

१. बारह २. छ्यासठ ३. दो सौ बीस ४. चार सौ पंचाणुं ५. सात सौ बाणुं ६. नौ सौ चौबीश ७. सात सौ बाणुं ८. चार सौ पंचाणुं ९. दो सौ बीस १०. छासठ ११. बारह १२. एक। इस प्रकार श्रावक के संपूर्ण भांगो का गुणाकार होता है ॥१३३६-३७॥

छ, छत्तीस, दो सौ सोलह, बारह सौ छन्नु, सितत्तर सो छिअत्तर, छयालीस हजार छ सौ छप्पन्न, दो लाख उन्यासी हजार नौ सौ छत्तीस, सोलह लाख उन्यासी हजार छ सौ सोलह, अष्टम स्थान के भांगे है। एक करोड सितत्तर हजार छ सौ छन्नु ये नौवे स्थान के भागे है। छ करोड चार लाख छासठ हजार एक सौ छिअत्तर, छत्तीस करोड सत्तावीस लाख सत्ताणु हजार छप्पन्न, दो अरब सित्तर करोड़ सड़सठ लाख बयासी हजार तीन सौ छत्तीस भांगे है ॥१३३८-४१॥

प्रथम भंग—द्विविध-त्रिविध। द्वितीय भग—द्विविध-द्विविध। तृतीय भंग-द्विविध-एकविध। चतुर्थ भग—एकविध-त्रिविध। पंचम भंग—एकविध-द्विविध। षष्ठ भग—एकविध-एकविध। सप्तम भंग—उत्तर गुण रूप। अष्टम भंग—अविरतसम्यग्दृष्टिरूप है ॥१३४२-४३॥

पॉच अणुव्रतो के एक संयोगी पॉच, द्विसंयोगी दस, त्रिसंयोगी दस, चार संयोगी पॉच और पॉच सयोगी एक भागा होता है ॥१३४४॥

छ, छत्तीस, सोलह, दो सौ सोलह, बारह सौ छन्नु, सात हजार सात सौ छिअत्तर, ये पॉच अणुव्रतो के गुणनपद है ॥१३४५॥

व्रत सम्बन्धी एक संयोगी पॉच भागों के तीस भांगे, द्विसंयोगी दस भांगो के तीन सौ साठ भागे, त्रिसयोगी दस भागों के इक्कीस सौ साठ भागे, चतुर्सयोगी पॉच भागो के चौसठ सौ अस्सी भागे, पॉच सयोगी भागे के सितत्तर सौ छिअत्तर भागे होते है। उत्तर गुण और अविरत को मिलाकर कुल सोलह हजार आठ सौ आठ भांगे होते है। यह सख्या पॉच व्रतों के सामूहिक भागो की है। दर्शन आदि की नही है। दर्शन आदि तो प्रतिमा-अभिग्रह विशेष रूप है ॥१३४६-४९॥

तेरह सौ चौरासी करोड, वारह लाख सत्यासी हजार दो सौ दो—यह सख्या छ भंगी युक्त वारह देवकुलिकाओं की सपूर्ण सख्या मे उत्तरगुण तथा अविरतसम्यक्त्व रूप दो भेद मिलाने मे होती है ॥१३५०॥

—विवेचन—

व्रत = नियमविशेष, व्रती = नियमविशेष का पालन करने वाले श्रावक। यहाँ व्रती शब्द का अर्थ देशविरति ही नही है, परन्तु नियम विशेष का पालन करने वाला है। अत अविरत सम्यक् दृष्टि भी व्रती की कोटि मे आता है क्योकि वह भी सम्यक् श्रद्धानरूप नियमसपन्न है। सामान्यतया श्रावको का पच्चक्खाण दो करण-तीन योग से होता है परन्तु सभी की शक्ति व परिस्थिति समान नही होती। अत सभी लोग चाहते हुए भी दो करण-तीन योग से पच्चक्खाण नही कर सकते। ऐसे आत्मा भी यथाशक्ति श्रावकव्रत स्वीकार कर सके, इसके लिये व्रतग्रहण के कई भेद बताये है। उनकी अपेक्षा से श्रावको के भी अनेकभेद होते है।

१. श्रावक के दो भेद—

(i) विरतिधारी — देशविरति श्रावक

(ii) अविरतिधारी — औपशमिक, क्षायिक आदि सम्यक्त्व सपन्न सत्यकि, श्रेणिक, कृष्ण आदि।

२. श्रावक के आठ भेद—

(i) द्विविध-त्रिविध—दो करण और तीन योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। जैसे स्थूलहिसा स्वय न करना, अन्य से न कराना, मन से वचन से और काया से। इस प्रकार व्रतग्रहण करने वाले श्रावको का व्रत 'द्विविध त्रिविध' कहलाता है। इसमे व्रती को अनुमति देने की छूट रहती है। श्रावक स्त्री पुत्रादि परिग्रह वाला होने से उनके द्वारा होने वाले हिसादि पापो मे उसकी अनुमति की भी सभावना रहती है। अन्यथा साधु और गृहस्थ मे कोई अन्तर नही होगा।

- **'भगवती सूत्र'** मे श्रावक के लिये जो 'त्रिविध-त्रिविधेन' तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान ग्रहण करने की जो बात कही है वह विशेष-विषयक है—जैसे किसी श्रावक की दीक्षा ग्रहण करने की प्रबल इच्छा है परन्तु पुत्रादि परिवार का पालन करने के लिये गृहस्थ मे रहना आवश्यक है। ऐसा श्रावक प्रतिमा ग्रहण करते समय व्रतो का 'त्रिविध-त्रिविधेन' ग्रहण कर सकता है अथवा स्वयभूरमण समुद्रवर्ती मत्स्यो के मास, हाथियो के दात, चीतो की छाल आदि के लिये की जाने वाली हिसा का अथवा अवस्थाविशेष मे स्थूलहिसा का प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक 'त्रिविध-त्रिविधेन' व्रतग्रहण कर सकता है। पर श्रावक का यह व्रत अत्यत अल्पविषयक होने से गणना मे नही आता।

(ii) द्विविध-द्विविध—दो करण दो योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। यह पच्चक्खाण तीन प्रकार का है—

(अ) स्थूलहिंसा आदि स्वय न करना, न कराना मन से, वचन से। इस प्रकार व्रत ग्रहण करने वाला आत्मा मात्र काया से असज्ञी की तरह हिंसादि पापो को करता है।

(ब) स्थूलहिंसा आदि स्वय न करना, न कराना, मन से व काया से। इस प्रकार व्रत ग्रहण करने वाला आत्मा अज्ञानवश मात्र वचन से ही मारता हूँ, वध करता हूँ ऐसा बोलता है। पर मानसिक उपयोग एव कायिक दुष्प्रवृत्ति से रहित होता है।

(स) स्थूल हिंसा आदि स्वय न करना, न कराना वचन से व काया से। इस प्रकार व्रत ग्रहण करने वाला आत्मा मात्र मन से ही हिंसादि करने, कराने का दुर्विचार करता है। अनुमति की तीनो विकल्पो मे छूट है।

(iii) द्विविध-एकविध — दो करण एक योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। इसके भी तीन भेद है—

(अ) — स्थूलहिसादि आदि स्वय न करना, न कराना मन से।

(ब) — स्थूलहिंसादि स्वय न करना, न कराना वचन से।

(स) — स्थूलहिसादि स्वय न करना, न कराना काया से।

(iv) एकविध-त्रिविध — एक करण, तीन योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। इसके दो भेद है—

(अ) — स्थूलहिसादि न करना, मन से, वचन से और काया से।

(ब) — स्थूलहिसादि न कराना, मन से, वचन से और काया से।

(v) एकविध-द्विविध — इसके उत्तरभेद छ है। एक करण और दो योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक।

(अ) — स्थूलहिसादि न करना, मन-वचन से।

(ब) — स्थूलहिसादि न करना, मन-काया से।

(स) — स्थूलहिंसादि न करना, वचन-काया से।

(द) — स्थूलहिंसादि न कराना, मन-वचन से।

(त) — स्थूलहिंसादि न कराना, मन-काया से।

(थ) — स्थूलहिंसादि न कराना, वचन-काया से।

(vi) एकविध-एकविध — एक करण एक योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। इसके भी उत्तरभेद छ है।

(अ) — स्थूलहिसादि न करना, मन से।

(ब) — स्थूलहिंसादि न करना, वचन से।

(स) — स्थूलहिसादि न करना, काया से।

(द) — स्थूलहिंसादि न कराना, मन से।

(त) — स्थूलहिंसादि न कराना, वचन से।

(थ) — स्थूलहिंसादि न कराना, काया से।

इस प्रकार श्रावक के पच्चक्खाण के मूलभग छ और उत्तरभग इक्कीस है। इन्हे कोष्ठक द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है।

योग	२	२	२	१	१	१
करण	३	२	१	३	२	१
भंग	१	३	३	२	६	६

(vii) उत्तरगुण — उत्तरगुण सम्बन्धी पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। यद्यपि उत्तरगुण सात है—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। उनका ग्रहण कई प्रकार से हो सकता है तथापि सामान्यतया उत्तरगुणो को एक मानकर यहाँ भेदो की अपेक्षा ही नही रखी।

- श्रावको के व्रत दो प्रकार के है—मूलगुण सम्बन्धी और उत्तरगुण सम्बन्धी। मूलगुण सम्बन्धी व्रतग्रहण के पूर्वोक्त मूलभेद ६ व उत्तरभेद इक्कीस है। पर उत्तरगुण सम्बन्धी व्रतग्रहण का कोई भेद नही है।

(viii) अविरतसम्यगृदृष्टि— क्षायिकादि सम्यक्त्व युक्त श्रावक।

३. श्रावक के बत्तीस भेद—

'स्थूलप्राणातिपातविरमण' आदि पाँचो व्रतो मे से प्रत्येक व्रत छ प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है। जैसे, कोई प्रथमव्रत को द्विविध-त्रिविध ग्रहण करता है, कोई द्विविध-द्विविध ग्रहण करता है, इत्यादि। इस प्रकार पाँच व्रत के ५ × ६ = ३० प्रकार होते है। इसमे उत्तरगुण व 'अविरतसम्यग्दष्टि' ये दो भेद जोडने से ३० + २ = ३२ व्रतग्रहण के प्रकार होते है। इसके अनुसार व्रतग्रहण करने वाले श्रावक भी ३२ प्रकार के होते है।

आवश्यक के मतानुसार—

कोई आत्मा पाँच व्रत एक साथ ग्रहण करता है, कोई चार व्रत, कोई तीन व्रत, कोई दो व्रत तो कोई एक व्रत। पर ये सभी छ प्रकार से ग्रहण किये जाते है। अत ऐसे भी पाँच व्रत के ग्रहण करने की अपेक्षा से ३० भेद होते है। इनमे उत्तरगुण व 'अविरत-सम्यग्-दृष्टि', इन दो भेदो को जोडने से ३० + २ = ३२ भेद श्रावकव्रत के होते है।

व्रतग्रहण के पूर्वोक्त भेद **आवश्यक-निर्युक्ति** के अनुसार बताये गये है। **भगवती** मे ५३७ भेद है। उन भेदो को समझने के लिये मूल ९ भेदो को समझना आवश्यक है।

मूल ९ भेद—

(i) त्रिविध-त्रिविध — 'स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न करने वाले का अनुमोदन करना, मन-वचन और काया से।' यह प्रथम भेद है।

(ii) त्रिविध-द्विविध — इसके उत्तर भेद ३ है ● 'स्थूलहिसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न करने वाले का अनुमोदन करना, मन-वचन से।'

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न करने वाले का अनुमोदन करना, मन-काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न अनुमोदन करना वचन-काया से।

(iii) त्रिविध-एकविध — इसके भी उत्तरभेद ३ ह।

१.....३ — ● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न अनुमोदन करना, १ मन से, २ वचन से और ३ काया से।

(iv) द्विविध-त्रिविध — इसके उत्तर भेद ३ हैं।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, मन, वचन व काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न अनुमोदन करना, मन, वचन व काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना, न अनुमोदन करना मन, वचन व काया से।

(v) द्विविध-द्विविध — इसके उत्तर भेद ९ है।

१.....३ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, मन-वचन से..मन-काया से..वचन-काया से।

४...से...६ — स्थूलहिसादि सावद्य पाप न करना, न अनुमोदन करना मन-वचन से...मन-काया से.. वचन-काया से।

७...से....९ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना, न अनुमोदन करना मन-वचन से...मन-काया से..वचन-काया से।

(vi) द्विविध-एकविध — इसके भी उत्तरभेद ९ है।

१.. .से....३ — स्थूलहिसादि सावद्य पाप न करना, न कराना मन से वचन से...काया से।

४....से....६ — स्थूलहिसादि सावद्य पाप न करना, न अनुमोदन करना, मन से...वचन से...काया से।

७....से....९ — स्थूलहिसादि सावद्य पाप न कराना न अनुमोदन करना मन...से...वचन से...काया से।

(vii) एकविध-त्रिविध — इसके उत्तरभेद ३ है।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना मन-वचन-काया से।

● स्थूलहिसादि सावद्य पाप न कराना मन-वचन-काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप का अनुमोदन न करना मन-वचन-काया से।

(viii) एकविध-द्विविध — इसके उत्तर भेद ९ है।

१..से...३ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, मन-वचन से..मन-काया से..वचन-काया से।

४...से...६ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना, मन-वचन से मन-काया से.. वचन-काया से।

७...से.. ९ — स्थूलहिसादि सावद्य पाप का अनुमोदन न करना, मन-वचन से.. मन-काया से वचन-काया से।

(ix) एकविध-एकविध — इसके भी उत्तर भेद ९ है।

१...से.. ३ — स्थूलहिसादि सावद्य पाप न करना, मन से, वचन से, काया से।

४. .से...६ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना, मन से, वचनसे, काया से।

७...से ..९ — स्थूलहिसादि सावद्य पाप का अनुमोदन न करना, मन से, वचन से, काया से।

इस प्रकार मूल ९ भेद के उत्तरभेद कुल = ४९ होते है। स्थापना—

३	३	३	२	२	२	१	१	१	योग
३	२	१	३	२	१	३	२	१	करण
१	३	३	३	९	९	३	९	९	भग

प्रश्न—वचन और काया का करना, कराना व अनुमोदन करना प्रत्यक्ष दिखाई देता है परन्तु मन के तीनो ही दिखाई नही देते अत उन्हे कैसे समझा जाये ?

उत्तर—मानसिक विकल्प के बिना वचन और काया सम्बन्धी करण-करावण व अनुमोदन घटित नहीं हो सकता। मन मे विकल्प उठने के पश्चात् ही काया सम्बन्धी व वचन सम्बन्धी व्यापार होता है अत मानसिक करण-करावण व अनुमोदन प्रत्यक्षगम्य है। तथा 'मै सावद्यकार्य करता हूँ' ऐसा चितन करना मानसिक करण है। 'अमुक व्यक्ति सावद्य कार्य करे' ऐसा चिंतन करना तथा हाव-भाव चेष्टा से समझकर उस व्यक्ति द्वारा तदनुसार करना यह मानसिक करावण है। अन्य द्वारा सावद्य कार्य करने पर यह चिंतन करना कि 'इसने अच्छा किया' यह मानसिक अनुमोदन है।

- पूर्वोक्त ४९ भेद अन्य प्रकार से भी किये जाते है। जैसे—

१ से ३ स्थूलहिंसादि पाप न करना, मन से या वचन से या काया से।

४ स्थूलहिंसादि पाप न करना मन-वचन से।

५ स्थूलहिंसादि पाप न करना मन-काया से।

६ स्थूलहिसादि पाप न करना वचन-काया से।

७ स्थूलहिसादि पाप न करना मन-वचन व काया से।

पूर्वोक्त ७ भेद न करने के साथ हुए। इसी प्रकार क्रमश न कराने,अनुमोदन न करने, न करने-न कराने, न करने-न अनुमोदन करने, न कराने-न अनुमोदन करने तथा न करने, न कराने-न अनुमोदन करने के साथ भी ७-७ भेद होने से कुल ७ × ७ = ४९ भेद होते है।

१४७ भेद—श्रावकव्रत के १४७ भेद भी होते है। पूर्वोक्त ४९ भेदो को भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीन काल से गुणा करने पर ४९ × ३ = १४७ भेद श्रावकव्रत के होते है।

- प्रत्याख्यान त्रैकालिक होता है। अतीत पाप का निन्दा द्वारा, वर्तमान पाप का सवर द्वारा तथा भावी पाप का त्याग द्वारा प्रत्याख्यान होता है। ४९ भेदो से अतीत मे किये गये पाप की निन्दा करके वर्तमान मे होने वाले पाप का सवर करके तथा भविष्य मे पाप न करने की प्रतिज्ञा करके आत्मा १४७ भेद से यथाशक्ति व्रत ग्रहण कर सकता है।

७३५ भेद—पाँचो व्रत १४७ भेद से ग्रहण किये जाते है अत गुणा करने पर १४७ × ५ = ७३५ भेद होते है तथापि मूलभेद १४७ ही है अत सूत्र मे १४७ ही बताये है।

जो आत्मा प्रत्याख्यान के १४७ भेदो को अच्छी तरह से जानता है वही प्रत्याख्यान-कुशल है।

देवकुलिका—

प्रत्येक व्रत के मूल ६, ९, २१ तथा ४९ भेद है। इनसे निष्पन्न उत्तर भग समूह के प्रतिपादक अको को पट्ट पर लिखा जाये तो देवकुलिका का आकार बनता है। 'देवकुलिका' पारिभाषिक शब्द है। जिस सख्या को लिखने पर देवालय Δ जैसी आकृति बनती है उसे देवकुलिका समझना।

एकव्रत की अपेक्षा मूलभग ६ है तो उत्तरभग = २१ है।

एकव्रत की अपेक्षा मूलभग ९ है तो उत्तरभग = ४९ है।

प्रत्येक भग (६, ९, २१, ४९) की देवकुलिका मे ३-३ राशियाँ होती है। १ गुण्यराशि (जिसको गुणा किया जाये वह सख्या) २ गुणकराशि (जिससे गुणा किया जाये वह सख्या) ३ आगतराशि अर्थात् गुणनफल। व्रत १२ है। मूल भग ६, ९, २१ व ४९ से एक-एक व्रत की भिन्न-भिन्न सख्यावाली देवकुलिकाये बनती है। सर्वप्रथम १२ व्रत की ६ मूल भगो वाली देवकुलिका की स्थापना बताते है।

प्रथमव्रत के ६ भागे है, उन्हे (६ को) ७ से गुणा करके ६ जोडने से जो सख्या आती है वह द्वितीयव्रत की भग सख्या है। द्वितीय व्रत की भग सख्या को ७ से गुणा करके ६ जोड़ने पर तृतीयव्रत की भग सख्या आ जाती है। इस प्रकार जितने व्रत की भगसख्या लानी हो, पूर्ववत सख्या को ७ से गुणा करके ६ जोडने पर आ जाती है। जैसे ६ भगो वाली १२ व्रत की उत्तरभग सख्या लाने के लिए ११ बार उत्तरोत्तर ७ से गुणा करे गुणनफल मे ६ जोड देना चाहिये। प्रथमव्रत के तो ६ भागे है ही। अत ११ बार ही गुणाकार होता है।

देवकुलिका (६ भांगों वाली)

	१	२	३	४	५	६	७
गुण्य	६	६	४८	३४२	२,४००	१६,८०६	१,१७,६४८
गुणक	०	x ७	x ७	x ७	x ७	x ७	x ७
गुणनफल	०	४२	३३६	२,३९४	१६८००	१,१७,६४२	८,२३,५३६
योगाक	०	+६	+६	+६	+६	+६	+६
कुल	६	४८	३४२	२,४००	१६,८०६	१,१७,६४८	८,२३,५४२

	८	९	१०
गुण्य	८,२३,५४२	५७,६४,८००	४,०३,५३,६०६
गुणक	x ७	x ७	x ७
गुणनफल	५७,६४,७९४	४,०३,५३,६००	२८,२४,७५,२४२
योगाक	६	+६	+६
कुल	५७,६४,८००	४,०३,५३,६०६	२८,२४,७५,२४८

	११	१२
गुण्य	२८,२४,७५,२४८	१,९७,७३,२६,७४२
गुणक	x ७	x ७
गुणनफल	१,९७,७३,२६,७३६	१३,८४,१२,८७,१९४
योगाक	+६	+६
कुल	१,९७,७३,२६,७४२	१३,८४,१२,८७,२००

पूर्वोक्त १२ व्रतो के भागो की सख्या क्रमश ऊपर नीचे लिखने पर अर्ध देवकुलिका का आकार बनता है। इसे खण्ड देवकुलिका कहते हे। यह षड्भगी से प्रतिबद्ध 'देवकुलिका' बताई गई।

षड्भगी से प्रतिबद्ध देवकुलिका—

६
४८
३४२
२४००
१६८०६
११७६८४
८२३५४२
५७६४८००
४०३५३६०६
२८२४७५२८४
१९७७३२६७४२
१३८४१२८७२००

इसी प्रकार ९ भग, २१ भग, ४९ भग, १४७ भग की देवकुलिकाये भी समझना। अन्तर इतना है कि—

	९ भग की देवकुलिका	२१ भग की देवकुलिका	४९ भग की देवकुलिका	१४७ भग की देवकुलिका
गुणक	९	२१	४९	१४७
गुणक	१०	२२	५०	१४८
योगाक	९	२९	४९	१४७

९	भागों की अपेक्षा सपूर्ण व्रतो के भागे	=	९,९९,९९,९९,९९,९९९
२१	भागो की अपेक्षा सम्पूर्ण व्रतो के भागे	=	१२,८५,५०,०२,६३,१०,४९,२१५
४९	भागो की अपेक्षा सम्पूर्ण व्रतो के भागे	=	२४,४१,४०,६२,४९,९९,९९,९९,९९,९९९
१४७	भागो की अपेक्षा सम्पूर्ण व्रतो के भागे	=	११,०४,४३,६०,९९,१९,६१,१५,३३,-३५,६९,५७,६९५ होते है।

इस प्रकार ६, ९, २१, ४९ व १४७ भागो की पॉच खण्ड देवकुलिकाये हुई। अव सम्पूर्ण देवकुलिकायो का प्रतिपादन किया जायेगा। सम्पूर्ण देवकुलिका मे एक, एक व्रत की एक-एक देवकुलिका होने से छ भागो की अपेक्षा से प्रत्येक भागे की वारह-वारह देवकुलिकाये होती है। उन्हे पट्ट पर अकित करने से सम्पूर्ण देवकुलिका का आकार वनता ह। अत इन्हे पूर्ण देवकुलिकाये कहा जाता ह।

यदि सभी भागो की पूर्ण देवकुलिकाये वताई जाये तो ग्रन्थ अत्यत विस्तृत हो जायेगा अत यहाँ केवल *षड्भगी प्रतिवद्ध १२वीं देवकुलिका का ही विस्तृत वर्णन किया जायेगा।*

देवकुलिका मे उपयोगी भागो की सख्या लाने हेतु गुण्य व गुणक राशि उपलब्ध करना आवश्यक है। अत यहॉ सर्वप्रथम गुणकराशि उपलब्ध करने की प्रक्रिया बताते है।

श्रावक के १२ व्रत है। १२ व्रत मे से कोई आत्मा एक साथ १२ व्रत लेते है, उसका १ भागा होता है। कोई ११ व्रत लेते है, उसके १२ भागे होते है क्योकि कोई अहिसा सिवाय के ११ व्रत लेते है तो कोई सत्य को छोडकर लेते है। इस प्रकार कोई १० व्रत लेते है उसके ६६ भागे होते है। यावत् एक साथ मात्र १ व्रत लेने वालो के १२ भागे होते है।

भागो की रीति—

जितनी सख्या के भागे बनाने हो, सर्वप्रथम उतनी सख्या नीचे से ऊपर तक क्रमश लिखना। जैसे यहॉ १२ व्रत के भागे बनाना है तो प्रथम नीचे से ऊपर तक क्रमश १ से १२ सख्या लिखना। यह प्रथमपक्ति है शेष ११ पक्तियो मे सबसे नीचे १-१ अक स्थापन करना। तत्पश्चात् द्वितीय पक्ति के शेष अक उपलब्ध करने की प्रक्रिया यह है कि द्वितीय पक्ति का १ + प्रथमपक्ति का २ = ३ + प्रथमपक्ति का ३ = ६ + प्रथमपक्ति का ४ = १० + प्रथमपक्ति का ५ = १५ + प्रथमपक्ति का ६ = २१ + प्रथमपक्ति का ७ = २८ + प्रथमपक्ति का ८ = ३६ + प्रथमपक्ति का ९ = ४५ + प्रथमपक्ति का १० = ५५ + प्रथमपक्ति का ११ = ६६ यह द्वितीय पक्ति का अतिम अक है। इसमे प्रथम पक्ति की १२ सख्या नही जुडती, कारण मूल मे कहा है कि—'एक्केक्कहाणि' अर्थात् पूर्वपक्ति की अपेक्षा उत्तरपक्ति मे एक-एक अक न्यून होता जाता है यावत् १२वी पक्ति मे मात्र '१' अक ही रहता है। इसी प्रकार उत्तर पक्ति के अको के साथ पूर्व पक्ति के अको का जोड करने पर उत्तर पक्ति के अगले अक उपलब्ध होते है। सभी पक्तियो के ऊपर के अक एक सयोगी, द्विसयोगी आदि आदि भागो की सख्या है।

१२ व्रतो के सायोगिक भांगों की रीति—

१२											
११	६६										
१०	५५	२२०									
९	४५	१६५	४९५								
८	३६	१२०	३३०	७९२							
७	२८	८४	२१०	४६२	९२४						
६	२१	५६	१२६	२५२	४६२	७९२					
५	१५	३५	७०	१२६	२१०	३३०	४९५				
४	१०	२०	३५	५६	८४	१२०	१६५	२२०			
३	६	१०	१५	२१	२८	३६	४५	५५	६६		
२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

इसके अतिरिक्त सायोगिक भागे उपलबध करने की अन्य रीति भी है। जैसे—दूसरी रीति—

संयोग	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
भांगे	१	१२	६६	२२०	४९५	७९२	९२४	७९२	४९५	२२०	६६	१२

प्रथम लाइन मे जितने व्रत लेने हो क्रमश उतने अक लिखना जैसे १२, ११, १० आदि। उनके नीचे विपरीत अक लिखना जैसे १२ के नीचे १, ११ के नीचे २ यावत् १ के नीचे १२। तत्पश्चात् १ को १२ से गुणा करना व गुणनफल उसके नीचे रखना। १ को १२ से गुणा करने पर १२ गुणनफल हुए उसे उसके नीचे रखने के पश्चात् उसे दूसरी पक्ति के ऊपर वाले अक २ से भाग देकर जो आवे उसे २ के नीचे स्थित अक से गुणा करके गुणनफल को उसी के नीचे रख देना। जैसे १२ को दूसरी पक्ति के ऊपर से २ से भाग देने पर ६ आये, उसे ११ से गुणा करने पर ६६ आये। इसका अर्थ है कि १२ व्रत मे से यदि कोई व्यक्ति १-१ व्रत लेता है तो उसके १२ भागे होते है। यदि कोई २-२ व्रत ले तो ६६ भागे होते है। इस प्रकार ६६ को तीसरी पक्ति के ऊपर वर्ती अक से भाग देकर उसके नीचे के अक से गुणा करने पर जो सख्या आती है वे तीन सयोगी भागे है। इस प्रकार पूर्ववर्ती गुणनफल को ऊपर की सख्या से भाग देना तथा भागफल को नीचे की सख्या से गुणा करना, जो सख्या आती है वही ऊपरवर्ती सख्या के सायोगिक भागे है।

तीसरी रीति

विवक्षित व्रतो के पद की सख्या पट्ट पर लिखकर अक्ष क्रम से सख्या बदलने पर जब तक बदलना सभव हो, विवक्षित व्रत के उतने भग होते है। अर्थात् एक सयोगी, द्विसयोगी आदि भागे बनते है। यद्यपि यहाँ १२वी देवकुलिका की भग सख्या बताना इष्ट है तथापि लाघव को ध्यान मे रखते हुए पाँच अणुव्रतो के उदाहरण के द्वारा भागे बताये जाते है।

एक संयोगी = ५ भागे

१ अहिंसा
२ सत्य
३. अस्तेय
४ ब्रह्मचर्य
५ अपरिग्रह

द्विसंयोगी = १० भागे

१ अहिंसा, सत्य
२ अहिंसा, अस्तेय
३ अहिंसा, ब्रह्मचर्य
४ अहिंसा, अपरिग्रह
५ सत्य, अस्तेय
६ सत्य, ब्रह्मचर्य
७ सत्य, अपरिग्रह
८ अस्तेय, ब्रह्मचर्य
९ अस्तेय, अपरिग्रह
१० ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

त्रिक संयोगी = १० भागे

१ अहिंसा, सत्य, अस्तेय
२ अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य
३ अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह
४ अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य
५ अहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह
६. अहिसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
७ सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य
८. सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह
९ सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
१० अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

चतु संयोगी =५

१ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य
२ अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह
३ अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
४ अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
५ सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

पंच संयोगी =१

१ अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

- इस प्रकार क्रमश पदो का चारण (बदलने) करने से विवक्षित सख्या के भागे उपलब्ध होते है। पच सयोगी १ ही भागा होता है क्योकि वहाँ पदो के अभाव मे चारणा (परावर्तना) नही होती।

पूर्वोक्त १२, ६६ आदि जो एक सयोगी, द्विसयोगी भागो की सख्याये है वे ही १२वी देवकुलिका की गुणक राशियाँ है। ये गुणकराशियाँ केवल षड्भगी से सम्बन्धित ही नही है, परन्तु ९, २१, ४९ भागो से भी सम्बन्धित है क्योकि गुणक राशियाँ सर्वत्र एक रूप होती है।

१२वी देवकुलिका की गुण्यराशि—

प्रस्तुत देवकुलिका षड्भगी सम्बन्धित है अत प्रथम गुण्य राशि ६ है। उसे पुन ६ से गुणा करने पर ६ × ६ = ३६ द्वितीय गुण्य राशि। ३६ को ६ से गुणा करने पर २१६ तृतीय गुण्य राशि। इस प्रकार उत्तरोत्तर राशि को ६ से ११ बार गुणा करने पर जो राशियाँ आती है वे गुण्यराशियाँ है। १२, ६६ आदि गुणक राशियो से ६, ३६ आदि गुण्य राशियो का गुणा करने पर जो राशियाँ आती है वे गुणनफल कहलाती है जैसे ६ × १२ = ७२, ३६ × ६६ = २३७६ गुणनफल है।

गुण्य	६	३६	२१६	१,२९६	७,७७६
गुणक	१२	६६	२२०	४९५	७९२
गुणाकार	७२	२,३७६	४७५२०	६,४१,५२०	६१,५८,५६२
गुण्य	४६,६५६	२,७९,९३६	१६,७९,६१६	१,००,७७,६९६	
गुणक	९२४	७९२	४९५	२२०	
गुणाकार	४,३१,१०,१४४	२२,१७,०९,३१२	८३,१४,०९,९२०	२,२१,७०,९३,१२०	
गुण्य	६०४६६१७६	३६,२७,९७,०५६	२,१७,६७,८२,३३६		
गुणक	६६	१२	१		
गुणाकार	३,९९,०७,६१६	४,३५,३५,६४,६७२	२,१७,६७,८२,३३६		

इस प्रकार १२वी देवकुलिका का भगजाल पूर्ण हुआ।

पूर्वोक्त १२वे व्रत के भगजाल को व्यवस्थित लिखने पर पूर्ण देवकुलिका का आकार बनता है। यथा—

गुण्य	गुणक	गुणाकार	कुलभेद
६	१२	७२	
३६	६६	२३७६	
२१६	२२०	४७५२०	
१२७६	४९५	६४१५२०	
७७७६	७९२	६१५८५९२	
४६६५६	९२४	४३११०१४४	
२७९९३६	७९२	२२१७०९३१२	१३८४१२८७२००
१६७९६१६	४९५	८३१४०९९२०	
१००७७९९६	२२०	२२१७०९३१२०	
६०४६६१७६	६६	३९९०७६७६१६	
३६२७९७०५६	१२	४३५३५६४६७२	
२१७६७८२३३६	१	२१७६७८२३३६	

इसी अनुसार अन्य १-२१ देवकुलिकाये भी समझ लेना। जैसे षड्भगी से सम्बन्धित १२ देवकुलिकाये है वैसे ९, २१, ४९ तथा १४७ भागो की भी देवकुलिकाये समझना। ६, ९, २१, ४९ तथा १४७ मूल भागो मे से प्रत्येक की १२-१२ देवकुलिका होने से कुल १२ × ५ = ६० देवकुलिकाये होती है। सम्पूर्ण देवकुलिकाओ की स्थापना गीतार्थो के द्वारा लिखित पट के अनुसार जानना चाहिये। इनका भावार्थ आगे स्पष्ट करेगे।

१६८०८ प्रकार के श्रावक—

पूर्वोक्त भेदो के लिए पॉच अणुव्रत सम्बन्धी देवकुलिका का तथा उसके लिये पॉच अणुव्रतो के सायोगिक भागो का ज्ञान आवश्यक है क्योकि सायोगिक भागो की सख्या ही गुणाकारक राशि है। पॉच अणुव्रत के एक सयोगी, द्विसयोगी आदि भागो की सख्या क्रमश ५, १०, १०, ५ तथा १ है। गुण्यराशि क्रमश ६, ४६, २१६, १,२९६ व ७,७७६ है। गुणनफल निम्न है—

गुण्य	६	३६	२१६	१२९६	७७७६
गुणक	५	१०	१०	५	१
गुणाकार	३०	३६०	२,१६०	६४८०	७७७६

अहिसा सत्य आदि पॉच अणुव्रतो मे से कोई आत्मा एक-एक व्रत ले तो इसके ५ भेद होते है और वे भी द्विविध-त्रिविध, द्विविध-द्विविध आदि ६ प्रकार मे लिये जायं तो एक-एक के ६-६ भेद होने मे कुल ६ × ५ = ३० भेद हो जाते है।

द्विसयोगी मे दो व्रत होते है और दोनो ही ६-६ प्रकार से लिये जा सकते है अत द्विसयोगी के ३६ भेद होते है। जसे किसी ने अहिसाव्रत द्विविध-त्रिविध ग्रहण किया और उसके साथ सत्यव्रत

द्विविध-त्रिविध आदि ६ मे से किसी भी भेद से ग्रहण कर लिया तो इसके ६ भेद हुए। इसी प्रकार द्विविध-द्विविध गृहीत अहिसाव्रत के साथ यावत् एकविध-एकविध गृहीत अहिसाव्रत के साथ सत्य के ६ मे से किसी भी प्रकार से जुडने पर एक द्विक (अहिसा व सत्य) के ३६ भेद होते है। द्विक १० है अत ३६ × १० = ३६० भेद द्विसयोगी भागो के ग्रहणकर्ता के भेद से होते है। भागो की अभिव्यक्ति का प्रकार निम्न है—

१ स्थूलहिंसा व स्थूल असत्य द्विविध-त्रिविध त्याग करता हूँ।
२ स्थूलहिसा द्विविध त्रिविध तथा स्थूल असत्य द्विविध द्विविध त्याग करता हूँ।
३ स्थूलहिंसा द्विविध-त्रिविध तथा स्थूल असत्य द्विविध एकविध त्याग करता हूँ।
४ स्थूलहिंसा द्विविध-त्रिविध तथा स्थूल असत्य एकविध-त्रिविध त्याग करता हूँ।
५ स्थूलहिंसा द्विविध-त्रिविध तथा स्थूल असत्य एकविध-द्विविध त्याग करता हूँ।
६ स्थूलहिंसा द्विविध-त्रिविध तथा स्थूल असत्य एकविध-एकविध त्याग करता हूँ।

इस प्रकार हिंसा के साथ अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह के भी ६-६ भागे होने से ६ × ४ = २४ भग हुए। ये भेद स्थूल हिंसा के द्विविध-त्रिविध त्याग के साथ हुए वैसे द्विविध-द्विविध, द्विविध-एकविध, एकविध-त्रिविध, एकविध-द्विविध, एकविध-त्रिविध के साथ होने से २४ × ६ = १४४ भागे हुए। ये भागे हिसा के साथ क्रमश· असत्य, अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह के सयोग से हुए वैसे असत्य के साथ क्रमश अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह के सयोग से भी ६-६ भागे होने से कुल ६ × ३ = १८ भग हुए। ये १८ भागे मृषावाद के द्विविध-त्रिविध त्याग के साथ हुए वैसे ही १८-१८ भागे क्रमश द्विविध-द्विविध, द्विविध-एकविध, एकविध-त्रिविध, एकविध-द्विविध, एकविध-एकविध के साथ होने से १८ × ६ = १०८ कुल भागे असत्य के द्विक से हुए।

स्थूल असत्य की तरह स्थूल अदत्तादान के द्विविध त्रिविध भेद के साथ क्रमश मैथुन व परिग्रह के सयोग से १२ भागे हुए। इसी प्रकार अदत्तादान के शेष द्विविध-द्विविध आदि भागो के साथ भी ६-६ भागे होने से कुल १२ × ६ = ७२ भागे हुए।

इसी तरह स्थूल मैथुन के द्विविध-त्रिविध भेद के साथ परिग्रह के सयोग से ६ भागे हुए। वैसे ही स्थूल मैथुन के द्विविध-द्विविध आदि शेष भागो के साथ भी ६-६ भागे होने से कुल ६ × ६ = ३६ भागे हुए।

त्रिसयोगी २,१६० भागे होते है। जैसे द्विविध-त्रिविध स्थूलहिंसा व मृषा के साथ अदत्तादान द्विविध-त्रिविध आदि ६ प्रकार से जुडता है, वैसे द्विविध-त्रिविध हिंसा व द्विविध-द्विविध मृषा के साथ भी अदत्तादान ६ प्रकार से जुडता है। इस तरह द्विविध-एकविध, एकविध-एकविध, एकविध-द्विविध और एकविध-त्रिविध मृषा के साथ भी ६ प्रकार से जुडता है, अत द्विविध-त्रिविध हिसा व षड्विध मृषा के प्रत्येक भेद के साथ अदत्तादान ६-६ प्रकार से जुडने से हिंसा के प्रथमभग द्वि.त्रि के ६ × ६ = ३६ भेद होते है। इस प्रकार शेष भगो के भी ३६-३६ भेद होने से ३६ × ६ = २१६ भागे हुए। त्रिसयोगी १० भागे होने से २१६ को १० से गुणा करने पर २,१६० पॉचव्रतो के त्रिकसयोग से सम्बन्धित भागे बनते है।

चतु सयोग मे १२९६ भग है। द्वि. त्रि हिसा-मृषा, अदत्तादान व मैथुन यह चतु सयोग का प्रथम भग है। यहाँ द्वि.त्रि हिंसा, मृषा व अदत्तादान के साथ मैथुन ६ प्रकार से जुडता है। ६ प्रकारो से युक्त मैथुन सहित अदत्तादान पुन द्वि. त्रि हिंसा, मृषा के साथ जुडता है, इससे ६ × ६ = ३६ भग हुए।

इन ३६ भागो से युक्त मृषावाद द्वित्रिहिंसा के साथ ६ प्रकार से जुडता है, इस प्रकार द्वित्रि हिंसा वाले प्रथमभग के कुल ३६ × ६ = २१६ भेद होते है। हिसा के शेष ५ भागो के भी इसी प्रकार २१६-२१६ भेद होने से ६ भागो के कुल २१६ × ६ = १,२९६ भेद है। चतु सयोग ५ होने से चतु सयोगी कुल भागे १,२९६ × ५ = ६,४८० होते है।

पचसयोग मे कुल भागे ७,७७६ है। द्वि त्रि हिंसा, मृषा, अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह यह पचसयोगी भागा है। इसमे परिग्रह ६ प्रकार से जुडता है। फिर मैथुन द्वि. त्रि हिंसा, मृषा, अदत्तादान से ६ प्रकार से जुडता है इससे ६ × ६ = ३६ विकल्प हुए। पुन ३६ विकल्प वाला अदत्तादान द्वि त्रि हिंसा, मृषा के साथ ६-६ प्रकार से जुडता है अत ३६ × ६ = २१६ भेद हुए। २१६ विकल्पो से = १,२९६ भागे हुए। ये भेद केवल द्वि. त्रि हिंसा वाले प्रथमभग के हुए शेष ५ भगो के १,२९६ जोडने पर १,२९६ × ६ = ७,७७६ विकल्प पचसयोगी मे होते है। पचसयोगी भागा १ ही है अत ७,७७६ का १ से गुणा करने पर ७,७७६ ही भेद बनते है।

इस प्रकार गुणकारक, गुण्य व गुणनफल की राशियो से निष्पन्न पॉच अणुव्रतो की पॉचवी देवकुलिका परिपूर्ण हुई। शेष देवकुलिकाओ की निष्पत्ति विद्वानो के द्वारा स्वय करनी चाहिये। इनमे उत्तरगुण का स्वीकार व अविरत-सम्यग्-दृष्टिरूप दो भेदो को सम्मिलित करने पर तीस इत्यादि भागो की कुल मिलाकर (३० + ३६० + २,१६० + ६,४८० + ७,७७६ = १६,८०६) १६,८०६ सख्या होती है। दर्शन इत्यादि श्रावक की प्रतिमाये अभिग्रह विशेष रूप है। व्रतरूप नही है। कारण प्रतिमा और व्रत का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। पूर्वोक्त भग ५ अणुव्रतो के है। १२ व्रत के तो बहुत अधिक भेद होते है।

इस प्रकार १२ व्रत के मूल ६ भागो पर आधारित देवकुलिका के कुल भागो की सख्या मे उत्तरगुण व अविरतसम्यग्दृष्टि इन दो भेदो को मिलाने पर १३,८४,१२,८७,२०२ भागे होते है।

ये सभी श्रावको के १२ व्रत सम्बन्धी भागे है।

महाव्रत (साधु) के २७ भागे—

साधु का व्रत ग्रहण तीन करण व तीनयोग से होता है, वह इस प्रकार है—

न करना, न कराना, न अनुमोदन करना मन से।

न करना, न कराना, न अनुमोदन करना वचन से।

न करना, न कराना, न अनुमोदन करना काया से।

३ × ३, भूत, भविष्य व वर्तमान तीनो काल की अपेक्षा से ९ × ३ = २७ भेद होते है। कारण साधु का प्रत्याख्यान सपूर्ण रूपेण सावद्य के त्यागरूप होता है। अत उनके पच्चक्खाण के इतने ही भागे होते है। परन्तु देशत्यागी श्रावक के पच्चक्खाण के १४७ भेद होते है ॥१३२२-५० ॥

२३७ द्वार : पापस्थान—

सव्वं पाणाइवाय अलियमदत्त च मेहुण सव्वं।
सव्वं परिग्गह तह राईभत्त च वोसरिमो ॥१३५१ ॥

सव्वं कोहं माण माय लोहं च राग दोसे य।
कलह अब्भक्खाणं पेसुन्नं परपरीवायं ॥१३५२॥
मायामोसं मिच्छादंसणसल्लं तहेव वोसरिमो।
अंतिमऊसासमि देहंपि जिणाइपच्चक्ख ॥१३५३॥

—गाथार्थ—

अट्ठारह पापस्थानक—संपूर्ण भेद सहित १. प्राणातिपात २. असत्य ३. अदत्त ४. मैथुन ५. परिग्रह ६ रात्रिभोजन का मै त्याग करता हूँ। ७. क्रोध ८. मान ९ माया १०. लोभ ११. राग १२. द्वेष १३. कलह १४. अभ्याख्यान १५. पैशुन्य १६. परपरिवाद १७. मायामृषावाद एवं १८. मिथ्यात्वशल्य तथा जिनेश्वरदेव की साक्षीपूर्वक अन्तिम श्वासोच्छ्वास के समय शरीर का भी विसर्जन करता हूँ॥१३५१-५३॥

—विवेचन—

पापस्थान—कर्मबध के प्रबल निमित्त। ये १८ हैं।

१. प्राणातिपात — भेद-प्रभेद सहित हिंसा।
२ मृषावाद — भेद-प्रभेद सहित झूठ।
३. अदत्तादान — भेद-प्रभेद सहित चोरी।
४. मैथुन — भेद-प्रभेद सहित अब्रह्म सेवन।
५. परिग्रह — भेद-प्रभेद सहित सग्रहवृत्ति।
६. रात्रिभोजन — सप्रभेद रात्रिभोजन।
७. क्रोध — रोष।
८. मान — अहकार।
९. माया — कपट
१०. लोभ — लालच।
११. राग — आसक्ति, जीव का ऐसा स्वभाव जिसमे माया व लोभ परोक्ष रूप से मिश्रित हो।
१२. द्वेष — अप्रीति, जीव का ऐसा स्वभाव जिसमे क्रोध व मान परोक्ष रूप से मिश्रित हो।
१३. कलह — झगडा।
१४. अभ्याख्यान — प्रकट रूप से असद् दोषारोपण करना अर्थात् झूठा कलक देना।
१५. पैशून्य — चुगली करना। गुप्त रूप से किसी के सद्-असद् दोषो को प्रकट करना।

१६. परपरिवाद — निन्दा करना।
१७. मायामृषा — कपटपूर्वक झूठ बोलना।
१८. मिथ्यादर्शन-शल्य — मिथ्यात्व। जिनाज्ञा से विपरीत श्रद्धा, शस्त्र के शल्य की तरह आत्मा के लिये दु ख का कारण होने से शल्य कहलाती है।

- मायामृषा का प्राकृत मायामोस व मायामुस दोनो ही रूप मिलते है। यह माया व मृषा, दो दोषो का योग है। यह मानमृषा आदि का उपलक्षण है। अर्थात् मायामृषा की तरह मानमृषा आदि भी पापस्थान है।
- अन्य आचार्यो के मतानुसार वेषपरावर्तन द्वारा लोगो को ठगना मायामृषावाद है।

स्थानांग के मतानुसार—

स्थानाग मे रात्रिभोजन को पापस्थान मे नही माना है परन्तु उसके स्थान पर 'अरतिरति' को पापस्थान माना है। अरति का अर्थ है मोहनीय के उदय से जन्य उद्वेग तथा रति का अर्थ है मोहनीय के उदय से जन्य आनन्द।

प्रतिकूल साधनो के मिलने पर मन मे जो व्याकुलता का भाव पैदा होता है वह अरति है और सुखसाधनो के मिलने पर मन मे जो हर्ष होता है वह रति है। 'अरतिरति' यहाँ एक ही माना गया है। इन दोनो मे औपचारिक एकता भी है। जैसे, किसी विषय मे रति है वह विषयान्तर की अपेक्षा से अरति है तथा जो अरति है वह अपेक्षाभेद से रति है। ११वे राग पापस्थान के स्थान पर कही 'पिज्ज' पद भी आता है। पिज्ज का अर्थ है प्रेम। यह भी रागरूप ही है॥१३५१-५३॥

२३८ द्वार : मुनिगुण—

छव्वय छकायरक्खा पचिदियलोहनिग्गहो खंती।
भावविशुद्धी पडिलेहणाइकरणे विसुद्धी य॥१३५४॥
संजमजोए जुत्तय अकुसलमणवयणकायसरोहो।
सीयाइपीडसहण मरणतुवसग्गसहणं च॥१३५५॥

—गाथार्थ—

सत्ताईस मुनि के गुण—छ व्रत, छ काय की रक्षा, पॉच इन्द्रिय और लोभ का निग्रह, क्षमा, भावविशुद्धि, प्रतिलेखना आदि कार्यो में विशुद्धि, सयम योगो में तत्परता, अप्रशस्त मन-वचन और काया का निरोध, शीतादि परिषहों की पीडा को सहन करना तथा मारणांतिक उपसर्गो को सहना—ये मुनि के सत्ताईस गुण है॥१३५४-५५॥

—विवेचन—

६ व्रत	— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह व रात्रिभोजन विरति।
६ काय	— पृथ्विकाय आदि छ काय के जीवो की सर्वप्रकार से रक्षा करना।
५ इन्द्रिय	— पाँचो इन्द्रियो के शुभाशुभ विषय मे राग-द्वेष न करते हुए सयमपूर्वक प्रवृत्त होना।
१ लोभनिग्रह	— वीतरागभाव की साधना करना।
१ क्षमा	— क्रोध पर नियन्त्रण रखना।
१ भावविशुद्धि	— आत्मा का विशुद्ध परिणाम।
१ क्रियाविशुद्धि	— उपयोगपूर्वक पडिलेहण प्रतिक्रमण आदि क्रिया करना।
१ संयमविशुद्धि	— सयम योग मे प्रवृत्ति करते हुए समिति, गुप्ति का पालन करना।
३ योगनिरोध	— सयम पालन मे सहायक मन-वचन-काया के व्यापार मे प्रवृत्त होना तथा अप्रशस्तयोगो का निरोध करना।
१ वेदनासहन	— सर्दी-गर्मी-वायु आदि जन्य वेदना को समभावपूर्वक सहन करना।
१ उपसर्गसहन	— मरणान्त-उपसर्गो को भी समभावपूर्वक सहन करना तथा उपसर्ग करने वालो को कल्याणमित्र मानते हुए उसके प्रति समता रखना।

यह २७ प्रकार का मुनिधर्म-सयमविशेष है।

अन्यमतानुसार मुनि के २७ गुण—

५ महाव्रत—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह।

५ इन्द्रियो का सयम।

४ क्रोध, मान, माया व लोभ इन चारो कषायो पर नियन्त्रण रखना।

३ सत्य	— (i) भावसत्य = आत्मशुद्धि (i) करणसत्य = क्रियाशुद्धि। (i) योगसत्य = मन, वचन व काया की एकरूपता।
१ क्षमा	— क्रोध-मान आदि का अभाव अर्थात् किसी भी वस्तु व व्यक्ति के प्रति अप्रीति न होना। अथवा उदय प्राप्त क्रोध व मान का निरोध करना।

१ विरागता—आसक्ति का त्याग तथा माया व लोभ का अनुदय होना।

३ मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग।

३ ज्ञान, दर्शन व चारित्र की आराधना।

१ समभावपूर्वक वेदना सहन करना।

१ मारणान्तिक उपसर्ग सहन करना॥१३५४-५५॥

२३९ द्वार :

श्रावक-गुण—

धम्मरयणस्स जोगो अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो ।
लोयप्पिओ अकूरो भीरू असठो सदक्खिन्नो ॥१३५६ ॥
लज्जालुओ दयालू मज्झत्थो सोमदिट्ठि गुणरागी ।
सक्कहसुपक्खजुत्तो सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥१३५७ ॥
वुड्ढाणुगो विणीओ कयन्नुओ परहियत्थकारी य ।
तह चेव लद्धलक्खो इगवीसगुणो हवइ सड्ढो ॥१३५८ ॥

—*गाथार्थ*—

श्रावक के इक्कीस गुण—१. अक्षुद्र २. रूपवान ३. प्रकृतिसौम्य ४. लोकप्रिय ५. अक्रूर ६. पापभीरु ७. अशठ ८. दाक्षिण्यवान ९. लज्जालु १०. दयालु ११. मध्यस्थ १२. सौम्यदृष्टि १३. गुणानुरागी १४. सत्कथी और सुपक्षयुक्त १५. सुदीर्घदर्शी १६. विशेषज्ञ १७. वृद्धानुयायी १८. विनीत १९. कृतज्ञ २०. परहितार्थकारी और २१. लब्ध लक्ष्य—इन इक्कीस गुणो से युक्त श्रावक धर्म रत्न के योग्य होते है ॥१३५६-५८ ॥

—विवेचन—

श्रावक—अन्य दर्शनियो के द्वारा प्रणीत धर्मो मे प्रधान होने से जो रत्नतुल्य शोभित होता है। ऐसा धर्म—जिनेश्वरदेव द्वारा प्ररूपित देशविरतिरूप धर्म का पालन करने मे सक्षम।

१. **अक्षुद्र**—यद्यपि क्षुद्र शब्द के तुच्छ, क्रूर, दरिद्र, लघु आदि कई अर्थ है तथापि यहाँ क्षुद्र शब्द का तुच्छ, प्रकृति से चचल अर्थ अभीष्ट है। अत अक्षुद्र का अर्थ है प्रकृति से गभीर आत्मा। गभीर आत्मा सूक्ष्म बुद्धि वाला होने से, धर्म के मर्म को सरलता से समझ जाता है।

२. **रूपवान**—अगोपाग की सपूर्णता से मनोहर आकार वाला। ऐसा आत्मा धर्म के योग्य होता है। ऐसा व्यक्ति यदि सदाचारी है तो अपने आकर्षण से दूसरो को बडी सुगमता से धर्म मे जोड सकता है। धर्म का प्रभावक बनता है।

प्रश्न—नन्दिषेण, हरिकेशी आदि कुरूप होने पर भी महान् धार्मिक थे अत. रूपवान् ही धर्मरत्न के योग्य होता है, ऐसा कैसे कहा ?

उत्तर—रूप दो तरह का होता है—१ सामान्य २ अतिशययुक्त। अगोपाग की सपूर्णता सामान्यरूप है। ऐसा रूप नन्दिषेण आदि को भी मिला था। अत उनकी योग्यता मे कोई कमी नही रहती। अतिशायी रूप तो तीर्थकर आदि का ही होता है। पर लोकदृष्टि से जो व्यक्ति देश, काल व उम्र के अनुसार रूपवान माना जाता है वही यहाँ अधिकृत है। ऐसा धर्मी दूसरो को धर्म के प्रति आकृष्ट कर सकता है।

है।

३. सौम्य—जिसकी आकृति शान्त व विश्वसनीय हो ऐसा व्यक्ति अनावश्यक पाप मे प्रवृत्त नही होता। दूसरो के लिये सुखावह बनता है।

४. लोकप्रिय—जो इस लोक-परलोक विरोधी कार्यो मे प्रवृत्त नही होता तथा दानादि परोपकार की प्रवृत्ति मे सदा लगा रहता है, ऐसा व्यक्ति लोकप्रिय बनता है और वह अपनी लोकप्रियता से दूसरो के मन मे धर्म के प्रति बहुमान पैदा करता है।

५. अक्रूर—अक्लिष्ट अध्यवसाय वाला। क्रूर आत्मा छिद्रान्वेषी, कलुषित परिणामी होने से धर्माराधना करने पर भी फल का भागी नही बन सकता।

६. भीरु—इस लोक-परलोक, दोनो मे होने वाली हानि से डरने वाला। ऐसा आत्मा प्रसग आने पर भी अधर्म का आचरण नहीं करता।

७. अशठ—सरल हृदय से धर्म मे प्रवृत्त। शठ आत्मा छल प्रपच द्वारा दूसरो का अविश्वसनीय बनता है।

८. सदाक्षिण्य—अपना कार्य छोडकर पहिले दूसरो का कार्य करने वाला। ऐसा व्यक्ति सभी का आदरणीय बनता है।

९. लज्जाशील—अकार्य करने मे जिसे स्वाभाविक लज्जा आती हो। ऐसा आत्मा एकबार स्वीकृत कार्य को कभी नही छोडता।

१०. दयालु—दु खी आत्माओ के दु ख को दूर करने का इच्छुक। वास्तव मे दया ही धर्म का मूल है। (दु खीजन्तुजातत्राणाभिलाषुक)

११. मध्यस्थ—प्रतिकूल-अनुकूल सभी परिस्थितियो मे समभाव रखने वाला। ऐसा व्यक्ति सभी का प्रिय बनता है।

१२. सौम्यदृष्टि—जिसे देखकर किसी को उद्वेग पैदा न हो। अपितु सभी के हृदय मे प्रेम जगे। (प्राणिना प्रीति पल्लवयति)

१३. गुणरागी—जिसके दिल मे सद्गुणो के प्रति राग हो, प्रेम हो। ऐसा व्यक्ति गुणीजनो का आदर करता है। निर्गुणिओ की उपेक्षा करता है।

१४. सत्कथा—हमेशा सदाचार की चर्चा करने वाले या सदाचारी परिवार से युक्त। धर्म के अनुकूल परिवार से परिवृत्त। इससे उन्मार्गगामी बनने का अवसर नही आता।

(किसी के मतानुसार सत्कथक और सुपक्षयुक्त ये दोनो गुण अलग-अलग है, तथा मध्यस्थ व सौम्यदृष्टि एक गुण है)

१५. दीर्घदर्शी—चारो ओर से परिणाम का विचार करके फिर कार्य करने वाला। ऐसा व्यक्ति पारिणामिकी बुद्धि द्वारा सोचकर सुन्दर परिणाम वाला ही कार्य करता है।

१६. विशेषज्ञ—सार-असार, अच्छे-बुरे के भेद को जानने वाला। ऐसा आत्मा कभी भ्रम मे नही पडता।

१७. **विनीत**—गुरुजनो का गौरव, औचित्य रखने वाला। विनीत आत्मा को अवश्य सपदा प्राप्त होती है।

१८. **वृद्धानुग**—वृद्ध पुरुषो का अनुसरण करने वाला। गुणप्राप्ति की इच्छा से परिणत बुद्धि वाले वृद्ध पुरुषो की सेवा करने वाला। ऐसा व्यक्ति कभी विपद् का भागी नही बनता।

१९. **कृतज्ञ**—किसी के द्वारा किये हुए अल्प भी उपकार को कभी भी न भूलने वाला। ऐसा आत्मा सर्वत्र प्रशसा पाता है। जबकि कृतघ्न आत्मा निदा-पात्र बनता है।

२०. **परहितार्थकारी**—बिना कहे दूसरो का हित करने वाला। सदाक्षिण्य मे परहित की प्रवृत्ति होती हैं, किन्तु दूसरो के चाहने पर। जबकि 'परहितार्थकारी' मे करने वाला स्वत परहित मे प्रवृत्त होता है। (प्रकृत्यैव परहितकरणे नितरा निरतो भवति) ऐसा व्यक्ति नि स्पृह होने से दूसरो को भी धर्म मे जोड सकता है।

२१. **लब्ध लक्ष**—लब्ध = प्राप्त कर लिया है, लक्ष = करने योग्य अनुष्ठानादि अर्थात् पूर्वभव के ऐसे सुदृढ सस्कार लेकर आने वाला आत्मा कि धर्म क्रियाये जिसके जीवन मे सहज प्राप्त हो जाये। ऐसे व्यक्ति को धर्माचरण की शिक्षा सुगमता से दी जा सकती है।

पूर्वोक्त २१ गुणो से युक्त श्रावक होता है ॥१३५६-५८ ॥

२४० द्वार : गर्भ-स्थिति तिर्यंच-स्त्री की—

उक्किट्ठा गब्भठिई तिरियाण होइ अट्ठ वरिसाइ।
माणुस्सीणुक्किट्ठ इत्तो गब्भट्ठिइ वुच्छ ॥१३५९ ॥

—विवेचन—

तिर्यच स्त्री की उत्कृष्ट गर्भ-स्थिति—

उत्कृष्ट से आठ वर्ष तक गर्भ धारण करती है, तत्पश्चात् अवश्य प्रसव होता है या गर्भस्थ जीव मर जाता है ॥१३५९ ॥

२४१-२४२ द्वार : गर्भ-स्थिति मानवी की— गर्भ की काय-स्थिति—

गब्भट्ठिइ मणुस्सीणुक्किट्ठा होइ वरिस बारसग।
गब्भस्स य कायठिई नराण चउवीस वरिसाइ ॥१३६० ॥

—गाथार्थ—

मानवी की उत्कृष्ट गर्भ-स्थिति एव गर्भस्थ मनुष्य की काय-स्थिति—**मनुष्य स्त्री की उत्कृष्ट गर्भ स्थिति बारह वर्ष की है तथा गर्भस्थ मनुष्य की काय स्थिति चौबीस वर्ष की है ॥१३६० ॥**

—विवेचन—

उत्कृष्टत १२ वर्ष	महापाप के उदय से वात-पित्त आदि दोषो के कारण तथा देवादि द्वारा गर्भ स्तभन करने से उत्कृष्टत जीव की गर्भ स्थिति १२ वर्ष की होती है।
उत्कृष्टत २४ वर्ष	कोई महापापी जीव १२ वर्ष के बाद गर्भ मे ही मरकर तथाविध कर्मवश पुन उसी कलेवर मे उत्पन्न हो जाता है और उसी शरीर मे पुन १२ वर्ष तक रहता है ॥१३६० ॥

२४३ द्वार : गर्भस्थ का आहार—

पढमे समये जीवा उप्पन्ना गब्भवास- मज्झंमि ।
ओयं आहारंती सव्वप्पणयाइ पूयव्व ॥१३६१ ॥
ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तया मुणेयव्वा ।
पज्जत्ता उण लोमे पक्खेवे हुति भइयव्वा ॥१३६२ ॥

—गाथार्थ—

गर्भस्थ जीव का आहार—**गर्भ में उत्पन्न होते ही प्रथम समय मे जीव मालपुए की तरह अपने संपूर्ण आत्मप्रदेशों के द्वारा ओजाहार करता है। सभी अपर्याप्ताजीव ओजाहारी होते है। सभी पर्याप्ता जीव लोमाहारी और कवलाहारी होते है ॥१३६१-६२ ॥**

—विवेचन—

उत्पत्ति के प्रथम समय मे जीव ओज आहार करता है। जिस प्रकार तेल या घी से भरी कडाई मे मालपूआ डालते ही (प्रथम समय मे ही) वह घी-तेल को पी लेता है, वैसे उत्पत्ति के प्रथम समय मे ही जीव अपने सभी आत्म-प्रदेशो के द्वारा पिता के शुक्र और माता के शोणित का मिश्रित आहार करता है।

ओज = पिता के शुक्र और माता के शोणित का मिश्रण ओज कहलाता है।

तत्पश्चात् जीव किस अवस्था मे कौनसा आहार करता है? इसकी सम्पूर्ण चर्चा २०५वे द्वार मे द्रष्टव्य है ॥१३६१-६२ ॥

२४४ द्वार : गर्भोत्पत्ति—

रिउसमयण्हायनारी नरोवभोगेण गब्भसंभूई ।
बारस मुहुत्त मज्झे जायइ उवरि पुणो नेय ॥१३६३ ॥

—गाथार्थ—

पुरुष सयोग के कितने समय पश्चात् गर्भोत्पत्ति होती है ?—**ऋतुस्नाता स्त्री को पुरुष सयोग के बारह मुहूर्त के भीतर गर्भ की उत्पत्ति होती है। तदुपरान्त नही होती ॥१३६३ ॥**

—विवेचन—

ऋतुस्नान करने के पश्चात् पुरुष के सभोग से १२ मुहूर्त (२४ घडी अर्थात् ९ घटा ३६ मिनट) के भीतर स्त्री के गर्भोत्पत्ति होती है। १२ मुहूर्त तक शुक्र और शोणित गर्भाधान कराने मे सक्षम होते है। तदुपरात उनका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। अत १२ मुहूर्त के बाद गर्भोत्पत्ति नही होती ॥१३६३ ॥

२४५ द्वार : २४६ द्वार : कितने पुत्र-कितने पिता—

सुयलक्खपुहुत्त होइ एगनरभुत्तनारिगब्भमि ।
उक्कोसेणं नवसयनरभुत्तत्थीइ एगसुओ ॥१३६४ ॥

—गाथार्थ—

गर्भ मे एक साथ कितने जीव उत्पन्न होते है ?, एक पुत्र के कितने पिता हो सकते है ?—**एक पुरुष द्वारा भोगी गई स्त्री के गर्भ मे दो लाख से नौ लाख (लाख पृथक्त्व) जीव उत्पन्न होते है। उत्कृष्टत नौ सौ पुरुषों द्वारा भोगी गई स्त्री के गर्भ मे एक पुत्र होता है अर्थात् एक पुत्र के नौ सौ पिता हो सकते है ॥१३६४ ॥**

—विवेचन—

जघन्य से गर्भ मे १-२-या ३ जीव उत्पन्न होते है।

उत्कृष्ट से गर्भ मे ९ लाख जीव उत्पन्न होते है। निष्पत्ति एक या दो जीव की ही होती है, शेष अल्प-काल जीकर मर जाते है।

उत्कृष्ट से एक गर्भ के ९०० पिता हो सकते है। दृढ सघयण वाली अत्यत कामातुर नारी ऋतु-स्नान के पश्चात् १२ मुहूर्त के भीतर ९०० पुरुषों के साथ सभोग करे तो उस बीज मे से पैदा होने वाला जीव ९०० पिता का पुत्र होता है ॥१३६४ ॥

२४७ द्वार : स्त्री-पुरुष का अबीजत्वकाल—

पणपन्नाए परेणं जोणी पमिलायए महिलियाणं ।
पणहत्तरीए परओ होइ अबीयओ नरो पाय ॥१३६५ ॥
वाससयाउयमेयं परेण जा होइ पुव्वकोडीओ ।
तस्सद्धे अभिलाया सव्वाउयवीस भाये य ॥१३६६ ॥

—गाथार्थ—

स्त्री-पुरुष का अबीजत्व काल—पचपन वर्ष की उम्र के पश्चात् स्त्रियों की योनि म्लान हो जाती है। पुरुष पचहत्तर वर्ष के पश्चात् अबीज बन जाता है। पूर्वोक्त कथन सौ वर्ष की आयु की अपेक्षा से समझना चाहिये। पूर्वक्रोड़ वर्ष के आयु की अपेक्षा अर्ध उम्र तक स्त्री की योनि अम्लान रहती है। पुरुष अपनी सम्पूर्ण आयु के बीसवें भाग मे अबीज बनता है ॥१३६५-६६ ॥

—विवेचन—

१०० वर्ष की आयु के अनुसार स्त्री ५५ वर्ष मे, पुरुष ७५ वर्ष मे अबीज बनता है। अबीज का अर्थ है गर्भोत्पत्ति के अयोग्य।

स्त्री ५५ वर्ष की उम्र तक अन्तराय वाली हो सकती है। अत ५५ वर्ष तक उसकी योनि अम्लान होने से गर्भधारण योग्य हो सकती है। तत्पश्चात् योनि म्लान हो जाती है, अत गर्भधारण की क्षमता भी नष्ट हो जाती है।

२०० वर्ष की आयु वाली स्त्रियो से लेकर पूर्व-क्रोड वर्ष की आयु की स्त्रियो के लिए यह नियम है कि वे अपनी आयु का अर्ध-भाग पूर्ण होने पर अबीज बनती है। पूर्वक्रोड वर्ष की आयु महाविदेह मे है।

२०० वर्ष की आयुष्य से लेकर पूर्व क्रोड वर्ष की आयु वाले पुरुषो के लिये यह नियम है कि वे अपनी आयु के बीसवे भाग मे अबीज बनते है। जैसे २०० वर्ष की आयुष्य वाला पुरुष एक सौ साठ वर्ष के बाद अबीज हो जाता है।

- पूर्व क्रोड वर्ष से अधिक आयु वाली स्त्रियो की प्रसूति एक बार ही होती है। वे अम्लान योनि वाली और सदावस्थित यौवनवती होती है ॥१३६५-६६ ॥

२४८ द्वार : शुक्रादि का परिमाण—

बीयं सुक्कं तह सोणिय च ठाणं तु जणणि गब्भमि ।
ओय तु उवट्ठंभस्स कारणं तस्स रूवं तु ॥१३६७ ॥

अट्ठारसपिट्ठकरडयस्स संधी उ हुंति देहंमि ।
बारस पंसुलियकरडया इहं तह्च छ पसुलिए ॥१३६८ ॥
होइ कडाहे सत्तंगुलाइं जीहा पलाइ पुण चउरो ।
अच्छीउ दो पलाइं सिरं तु भणिय चउकवाल ॥१३६९ ॥
अद्धुट्ठपल हिययं बत्तीस दसण अखडाइं ।
कालेज्जयं तु समए पणवीस पलाइ निद्दिट्ठ ॥१३७० ॥
अताइ दोन्नि इहयं पत्तेय पंच पच वामाओ ।
सट्ठिसयं सधीण मम्माण सय तु सत्तहिय ॥१३७१ ॥
सट्ठिसय तु सिराण नाभिप्पभवाण सिरमुवगयाण ।
रसहरणिनामधेज्जाण जाणऽणुग्गह विघाएसु ॥१३७२ ॥
सुइचक्खुघाणजीहाणणुग्गहो होइ तह विघाओ य ।
सट्ठसय अन्नाण वि सिराणऽहोगामिणीण तहा ॥१३७३ ॥
पायतलमुवगयाण जघाबलकारिणीणऽणुवघाए ।
उवघाए सिरवियण कुणति अंधत्तण च तहा ॥१३७४ ॥
अवराण गुदपविट्ठाण होइ सट्ठ सय तह सिराण ।
जाण बलेण पवत्तइ वाऊ मुत्तं पुरीस च ॥१३७५ ॥
अरिसाउ पांडुरोगो वेगनिरोहो य ताण य विघाए ।
तिरियगमाण सिराण सट्ठसयं होइ अवराण ॥१३७६ ॥
वाहुवलकारिणीओ उवघाए कुच्छउयरवियणाओ ।
कुव्वति तहऽन्नाओ पणवीस सिभधरणीओ ॥१३७७ ॥
तह पित्तधारिणीओ पणवीसं दस य सुक्कधरणीओ ।
इय सत्तसिरसयाइ नाभिप्पभवाइं पुरिसस्स ॥१३७८ ॥
तीसूणाइं इत्थीण वीसहीणाइ हुंति संढस्स ।
नव ण्हारूण सयाइ नव धमणीओ य देहमि ॥१३७९ ॥
तह चेव सव्वदेहे नवनउई लक्खा रोमकूवाणं ।
अद्धुट्ठा कोडीओ समं पुणो केसमसूहिं ॥१३८० ॥

मुत्तस्स सोणियस्स य पत्तेयं आढयं वसाए उ।
अद्धाढयं भणति य पत्थ मत्थुलुयवत्थुस्स ॥१३८१ ॥
असुइमल पत्थछक्कं कुलओ कुलओ य पित्तसिभाणं।
सुक्कस्स अद्धकुलओ दुट्ठं हीणाहियं होज्जा ॥१३८२ ॥
एक्कारस इत्थीए नव सोयाइ तु हुति पुरिसस्स।
इय कि सुइत्तण अट्ठिमंसमलरुहिरसंघाए ॥१३८३ ॥

—गाथार्थ—

शरीर में शुक्र आदि का परिमाण—माता के गर्भ में शरीर के बीजरूप शुक्र और रक्त का स्थान है। इन दोनों का योग 'ओज' कहलाता है। यह 'ओज' शरीर का मूल कारण है। शरीर का स्वरूप इस प्रकार है ॥१३६७ ॥

शरीर मे अट्ठारह पॉसुलिओं की सन्धियॉ है। इनमें से बारह पाँसुलियॉ करण्डक रूप है तथा छ पॉसुलियॉ कटाह रूप है। जीभ सात अंगुल लंबी और वजन मे चार पल परिमाण है। ऑख का वजन दो पल है। शिर हड्डियों के चार टुकड़ो से निर्मित है ॥१३६८-६९ ॥

हृदय का वजन साढे तीन पल है। मुँह मे हड्डियों के खण्ड रूप बत्तीस दॉत है। छाती के भीतर स्थित 'कलेजे' का परिमाण आगम में पच्चीस पल का बताया है ॥१३७० ॥

शरीर में पॉच-पॉच हाथ लंबी दो बड़ी ऑतें है। पूरे शरीर मे एक सौ साठ सन्धियॉ तथा एक सौ सात मर्म स्थान है ॥१३७१ ॥

नाभि से उत्पन्न होने वाली एक सौ साठ शिरायें मस्तक से जुडती है। जिन्हें रसहरणी कहते है। इन नसों पर अनुग्रह या उपघात होने पर कान, ऑख, नाक और जीभ पर अच्छी-बुरी असर होती है। नाभि से निकलकर एक सौ साठ शिरायें नीचे पॉवों के तलियों से जुड़ती है। इनके अनुग्रह से जंघाबल मजबूत होता है और उपघात होने से शिरो वेदना, अंधत्व आदि पीड़ायें होती है। नाभि से निकलकर एक सौ साठ नसें गुदा से जुड़ती है जो वायु के संचार में तथा मूत्र-पुरीष के निर्गमन में उपयोगी बनती है। इनका उपघात होने से बवासीर, पॉडुरोग, मूत्र-पुरीष सम्बन्धी बीमारियॉ हो जाती है। नाभि से निकलकर एक सौ साठ शिरायें तिरछी जाती है। ये शिरायें भुजाओं मे ताकत उत्पन्न करती है। इनके उपघात से कॉख, पेट आदि की पीड़ा होती है। पच्चीस शिरायें कफधारिणी, पच्चीस पित्तधारिणी तथा दस शिराये शुक्रधारिणी है। इस प्रकार नाभि से उत्पन्न होने वाली कुल सात सौ नसें पुरुष के शरीर मे होती है ॥१३७२-७८ ॥

स्त्रियो के तीस न्यून सात सौ नसें होती है तथा नपुंसक के बीस न्यून सात सौ नसें होती है। इसके अतिरिक्त नौ सौ स्नायु तथा नौ धमनियॉ शरीर में होती है ॥१३७९ ॥

संपूर्ण शरीर में निन्याणु लाख रोम कूप है। दाढी-मूँछ और सिर के बाल सहित रोमराजी की संख्या साढ़े तीन करोड़ है ॥१३८० ॥

शरीर में मूत्र और रक्त का पृथक्-पृथक् परिमाण एक आढ़क है। चरबी $\frac{१}{२}$ आढक है। मस्तक का भेजा प्रस्थ परिमाण है ॥१३८१ ॥

शरीर में मल छ प्रस्थ परिमाण होता है। पित्त और कफ पृथक्-पृथक् एक कुलव परिमाण होते है। वीर्य अर्ध कुलव। यदि ये चीजे उक्त परिमाण से हीनाधिक हो तो समझना चाहिये कि शरीर में किसी प्रकार का दोष है ॥१३८२ ॥

स्त्री के शरीर में ग्यारह और पुरुष के शरीर मे नौ द्वार है। हड्डी, मांस, मल, मूत्र और रक्त के समूह रूप इस शरीर में क्या पवित्रता है? ॥१३८३ ॥

—विवेचन—

(i) पिता का शुक्र और **(ii)** माता का शोणित ये दोनो शरीर के मुख्य कारण है।

(iii) ओजस—यह शरीर-रचना का सर्वप्रथम कारण है, जब जीव गर्भ मे आकर उत्पन्न होता है, सर्वप्रथम वह ओज (शुक्र मिश्रित शोणित) के पुद्गलो को ग्रहण करता है। शरीर रचना का प्रारभ इन्ही पुद्गलो से होता है।

शरीर का स्वरूप—शरीर रचना का मुख्य भाग है पृष्ठ-वश (रीढ की हड्डी)। बास के पर्वो की तरह इसमे १८ सधियाँ होती है। १२ सधियो मे से अर्थात् दोनो तरफ की ६-६ पसलियो मे से हड्डियाँ निकल कर वक्षस्थल के मध्य-भागवर्ती अर्थात् ऊपरी हड्डी से सलग्न हो जाती है, जिससे वक्षस्थल का आकार कटोरा जैसा बन जाता है।

कहा है कि—इस शरीर मे १२ पसलियो का डिब्बे जैसे आकार वाला एक पृष्ठ करडक होता है। पृष्ठवश की छ सन्धियो से दोनो ओर छ-छ पसलियाँ निकलती हैं और वे दोनो पार्श्वो को आवृत करती हुई, हृदय के दोनो ओर वक्षपजर से नीचे व पेट से ऊपर परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श न करते हुए रहती है। इसका कडाई जैसा आकार होने से इसे 'कटाह' कहते है।

अवयवो का प्रमाण एव सख्या

१ जिह्वा	= ७ आत्मागुल लम्बी और ४ पल प्रमाण तौल मे होती है।
२ आँख का गोलक	= २ पल प्रमाण है।
३ शिर	= ४ अस्थिखडो से निर्मित होता है।
४ हृदय का मासखण्ड	= साढे तीन पल प्रमाण है।
५ दाँत	= ३२ (अस्थिखडरूप) हैं।
६ कलेजा	= २५ पल प्रमाण है।
७ दोनो अन्त्र	= ५-५ हाथ प्रमाण है।
८ सधियाँ	= १६० है।सन्धि = हड्डियो का जोड।

९ मर्मस्थान	= १०७ है।
१०. स्नायु	= अस्थिबधन—हड्डियो को लपेटने वाली ९०० नाडियाँ है।
११ धमनी	= ९ बडी नसे, जो रस को वहन करने वाली है।

१२ नसे = पुरुष के शरीर मे नाभि से उत्पन्न होने वाली ७०० नाडियाँ हैं। १६० नाडियाँ नाभि से सिर तक फैली हुई है। ये नाडियाँ रस को विकीर्ण करने वाली होने से रसहरणी कहलाती है। चक्षु, श्रोत्र, नाक, जीभ आदि इन्द्रियो के सामर्थ्य का आधार ये नाडियाँ है। १६० नाडियाँ नाभि से पॉव तक फैली हुई है। इन नाडियो के अनुग्रह, उपघात से जघा, शिर, ऑख-नाक-जीभ इत्यादि के अनुग्रह, उपघात जुडे हुए है। अन्य १६० नाडियाँ नाभि से गुदा तक जाती है, जो वायु, मूत्र और पुरिस का निष्कासन करती है। इनमे विकार होने से अर्श, पॉडु, टट्टी-पेशाब रुकना आदि रोग उत्पन्न होते है। १६० तिरछी फैली हुई नाडियाँ हैं, जिनसे भुजाबल मिलता है। इनमे उपघात होने से पसली, पेट आदि में वेदना होती है। अन्य २५ शिराये कफ, २५ पित्त एव १० शुक्र आदि सात धातुओ को वहन करने वाली है। इस प्रकार ७०० नाडियाँ पुरुष के शरीर मे होती है।

किसके कितनी नाड़ियाँ होती है?

पुरुष के	= ७०० शिरा।	ये शिराये
स्त्री के	= ६७० शिरा।	नाभि से उत्पन्न
नपुसक के	= ६८० शिरा।	होती है।
रोम	= ९९ लाख (श्मश्रु = दाढी-मूँछ और शिर के केशो को छोड़कर) श्मश्रु और शिर के केशो को मिलाने से साढे तीन करोड रोमराजी होती है।	
शरीर मे सर्वदा मूत्र, शोणित	= प्रत्येक चार-चार सेर परिमाण रहते है।	
शरीर मे सर्वदा वसा	= दो सेर परिमाण	
मस्तक (स्नेह)	= एक सेर परिमाण	
मेद	= एक सेर परिमाण (अन्य मतानुसार मस्तुलुक का अर्थ है मेद, पिप्पिस आदि।)	
मल का परिमाण	= छ सेर	
पित्त-श्लेष्म का परिमाण	= प्रत्येक एक-एक पाव	
शुक्र का परिमाण	= आधा पाव	

परिमाण की इकाई

दो असइओ पसई, दो पसइओ सेइया।
चत्तारि सेइयाउ कुलओ चत्तारि कुड़वा पत्थो।
चत्तारि पत्था अढ़िय, चत्तारि आढया दोणो॥

२ असृति = १ पसली, २ पसली = १ सेत्तिका, ४ सेत्तिका = १ कुलव, ४ कुलव = १ प्रस्थ, ४ प्रस्थ = १ आढक, ४ आढक = १ द्रोण होता है।

असृति का अर्थ है धान्य से भरा हुआ उलटा हाथ अर्थात् १ मुट्ठी। कुलव = पाव व प्रस्थ = सेर प्रमाण है। प्रस्थ, आढक आदि का प्रमाण बाल, कुमार, तरुण आदि की अपनी २ मुट्ठी, पसली आदि से परिमित समझना।

उक्त प्रमाण से जिसके शरीर मे शुक्र, शोणित आदि हीनाधिक होते है, उसका शरीर विकारी समझना।

शरीर के द्वार—

स्त्री के २ कान + २ नेत्र + २ घ्राण + १ मुँह + २ स्तन + १ पायु (मूत्रस्थल) + १ उपस्थ (मलद्वार) = ११

पुरुष के २ स्तन रहित पूर्वोक्त = ९

तिर्यच के द्वार अनियमित होते है। २ स्तन वाली बकरी के ११, ४ स्तन वाली गाय, भैस आदि के १३, आठ स्तन वाली सूकरी आदि के १७ द्वार है। यह सख्या सभी द्वार निराबाध हो तब समझना। व्याघात होने पर एक स्तन वाली बकरी के १० द्वार, तीन स्तन वाली गाय के १२ द्वार होते है। इस प्रकार हाड मास आदि के समूह रूप इस शरीर मे क्या पवित्रता है? इस प्रकार यथायोग्य योजन कर लेना ॥१३६७-८३ ॥

२४९ द्वार : सम्यक्त्वादि का अन्तरकाल—

सम्मत्तंमि य लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होइ।
चरणोवसमखयाण सायरसखतरा हुति ॥१३८४ ॥

—गाथार्थ—

सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति का अतर—**सम्यक्त्व पाने के समय कर्म की जितनी स्थिति है उसमें से पल्योपम पृथक्त्व परिमाण कर्मस्थिति क्षय होने पर श्रावकपन प्राप्त होता है। तत्पश्चात् क्रमश सख्याता सागरोपम जितनी कर्मस्थिति क्षय होने पर चारित्र, उपशमश्रेणि एवं क्षपकश्रेणि प्राप्त होती है ॥१३८४ ॥**

—विवेचन—

देशविरति—सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् २ से ९ पल्योपम की कर्मस्थिति क्षय होने के बाद प्राप्त होती है।

सर्वविरति—देशविरति की प्राप्ति के पश्चात् सख्यात सागरोपम प्रमाण कर्मस्थिति क्षय होने के बाद प्राप्त होती है।

उपशम श्रेणि—सर्वविरति की प्राप्ति के पश्चात् सख्यातसागर-प्रमाण कर्मस्थिति क्षय होने पर प्राप्त होती है।

क्षपकश्रेणि—उपशम श्रेणि के पश्चात् सख्यात सागर-प्रमाण कर्मस्थिति का क्षय होने पर क्षपक श्रेणि प्राप्त होती है तथा आत्मा उसी भव मे मोक्ष चला जाता है।

- पूर्वोक्त कथन अप्रतिपतित सम्यक्त्वी, देव और मनुष्यभव मे ससरण करने वाले आत्मा को उत्तरोत्तर प्राप्त होने वाले मनुष्य भवो की अपेक्षा से समझना।
- तीव्र शुभ परिणाम द्वारा जिनके विपुल कर्म क्षय हो चुके है ऐसे आत्मा को तो एक भव मे ही दो मे से एक श्रेणि, सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति इन चारो की प्राप्ति होती है। कहा है—

एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु।

अन्नयरसेढ़िवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं॥

सिद्धान्त के मतानुसार एक भव मे दो श्रेणियाँ नही होती। एक आत्मा एक भव मे एक ही श्रेणि कर सकता है। कहा है कि—अपतित सम्यक्त्वी, मनुष्य व देवभव मे क्रमश पुन-पुन ससरण करने वाला आत्मा एक भव मे दो मे से एक श्रेणी, देशविरति, सर्वविरति आदि सभी भावो को प्राप्त करता है॥१३८४॥

२५० द्वार : मानव के अयोग्य जीव—

सत्तममहि नेरइया तेऊ वाऊ अणत रूवट्टा।

न लहति माणुसत्तं तहा असखाउया सव्वे ॥१३८५॥

—गाथार्थ—

कौन से जीव मरणोपरात मनुष्य नही बनते?—**सातवी नरक के नैरइये, तेउकाय, वायुकाय तथा असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच और मनुष्य मरकर मनुष्य नही बनते॥१३८५॥**

—विवेचन—

(क)	सातवी नरक का नेरईया (नारक)	इतने जीव
(ख)	तेउकाय के जीव	मर
(ग)	वायुकाय के जीव	कर
(घ)	युगलिक मनुष्य और युगलिक तिर्यच	मनुष्य नही बनते।

शेष देव, मनुष्य, तिर्यच और नारक मनुष्य मे उत्पन्न होते है॥१३८५॥

२५१ द्वार :

पूर्वांग का परिमाण—

वरिसाणं लक्खेहिं चुलसीसखेहि होइ पुव्वगं।
एयं चिय एयगुण जायइ पुव्वं तय तु इम ॥१३८६ ॥

—गाथार्थ—

पूर्वांग का परिमाण—**चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणा करने पर पूर्व का परिमाण आता है ॥१३८६ ॥**

—विवेचन—

पूर्वांग = पूर्व, सख्या विशेष का अग अर्थात् निष्पादक। जिसके द्वारा पूर्व का परिमाण निष्पन्न होता है। अर्थात् ८४००००० वर्ष का एक पूर्वांग होता है ॥१३८६ ॥

२५२ द्वार :

पूर्व का परिमाण—

पुव्वस्स उ परिमाण सयरि खलु वासकोडिलक्खाओ।
छप्पन्न च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीण ॥१३८७ ॥

—गाथार्थ—

पूर्व का परिमाण—**सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष एक पूर्व का परिमाण है ॥१३८७ ॥**

—विवेचन—

८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने पर एक पूर्व होता है। अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्ष का एक पूर्व होता है। (सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड वर्ष का एक पूर्व होता है।) ॥१३८७ ॥

२५३ द्वार :

लवणशिखा-प्रमाण—

दसजोयणाण सहसा लवणसिहा चक्कवालओ रुंदा।
सोलस सहस्स उच्चा सहस्समेगं तु ओगाढा ॥१३८८ ॥

—गाथार्थ—

लवणसमुद्र की शिखा—**लवणसमुद्र की शिखा समुद्र के मध्य मे चक्र की तरह गोलाकार विस्तृत है। उसका विस्तार दस हजार योजन है। वह सोलह हजार योजन ऊँची तथा एक हजार योजन गहरी है ॥१३८८ ॥**

—विवेचन—

लवणशिखा—शिखा अर्थात् चोटी। जैसे मस्तक के मध्य शिखा होती है वैसे ही लवणसमुद्र के मध्य चोटी की तरह समुन्नत जलराशि है, वह लवणशिखा कहलाती है। शिखा की ऊँचाई १६००० योजन, गहराई १००० योजन व रथ के पहिये की तरह इसका गोलाई मे विस्तार १०००० योजन है।

लवणसमुद्र—यह जम्बूद्वीप को चारो ओर से घेरे हुए है। इसका विस्तार दो लाख योजन का है। इसके एक तरफ जम्बूद्वीप की वेदिका और दूसरी तरफ धातकी खण्ड की वेदिका है। मध्य मे समुद्र है। दोनो वेदिका से समुद्र के मध्य की ओर जाने पर समुद्रतल उत्तरोत्तर निम्न, निम्नतर होता जाता है। जल मे रहने वाला उत्तरोत्तर निम्न निम्नतर भू-भाग गोतीर्थ कहलाता हे। तालाव आदि का प्रवेश-मार्ग जैसे क्रमश निम्न निम्नतर होता है वैसा यह भी होता है। जैसे बैठी हुई गाय का मस्तक भाग ऊँचा होता है पश्चात् पूँछ तक के भाग क्रमश नीचे होते जाते है वैसे ही आकार वाला समुद्र का यह भू-भाग गोतीर्थ कहलाता है। जम्बूद्वीप व धातकीखड की वेदिका के अत्यन्त समीपवर्ती समुद्रतल की नीचाई अगुल का असख्यातवा भाग है उससे आगे उत्तरोत्तर एक-एक प्रदेश की हानि होते-होते दोनो ओर ९५००० योजन समुद्र में जाने पर भू-भाग की गहराई समतल पृथ्वी से १००० योजन की हो जाती है। इस प्रकार लवण समुद्र के १०,००० योजन प्रमाण मध्य भाग की गहराई १००० योजन की है। इस पर १६,००० योजन प्रमाण ऊँची लवण शिखा है।

जम्बूद्वीप और धातकीखड की वेदिका से समुद्र के समतल भू-भाग मे जल की प्राथमिक वृद्धि अगुल के असख्यातवें भाग की है। तत्पश्चात् एक-एक प्रदेश बढते-बढते दोनो ओर ९५,००० योजन समुद्र मे जाने पर जल की ऊँचाई ७०० योजन की व गहराई १००० योजन की हो जाती है। तत्पश्चात् मध्य के १०,००० योजन गोल विस्तृत भाग मे जल की वृद्धि समतल भू-भाग की अपेक्षा १६००० योजन की तथा गहराई १००० योजन की है। यही समुन्नत जलराशि लवणशिखा कहलाती है। पाताल कलशों में रहने वाली वायु क्षुब्ध होने पर अहोरात्रि मे दो बार लवणशिखा पर जल दो कोश अधिक बढ जाता है। वायु का क्षोभ शान्त होने पर पुन· जल घट जाता है ॥१३८८॥

२५४ द्वार : अंगुल-प्रमाण—

उस्सेहगुल-मायंगुलं च तइय पमाणनामं च।
इय तिन्नि अंगुलाइं वावारिज्जंति समयमि ॥१३८९॥
सत्थेण सुतिक्खेणवि छेत्तु भेतु च ज किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा वयति आइ पमाणाण ॥१३९०॥

परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गय च वालस्स ।
लिक्खा जूया य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥१३९१ ॥
वीस परमाणुलक्खा सत्तानउई भवे सहस्साइ ।
सयमेग बावन्न एगंमि उ अंगुले हुति ॥१३९२ ॥
परमाणू इच्चाइक्कमेण उस्सेहअंगुल भणिय ।
ज पुण आयगुलमेरिसेण त भासिय विहिणा ॥१३९३ ॥
जे जंमि जुगे पुरिसा अट्ठसयंगुलसमूसिया हुति ।
तेसि ज नियमंगुलमायगुलमेत्थ त होइ ॥१३९४ ॥
जे पुण एयपमाणा ऊणा अहिगा व तेसिमेय तु ।
आयगुल न भन्नइ किंतु तदाभासमेवत्ति ॥१३९५ ॥
उस्सेहंगुलमेग हवइ पमाणगुल सहस्सगुण ।
उस्सेहगुलदुगुणं वीरस्सायगुल भणिय ॥१३९६ ॥
आयगुलेण वत्थुं उस्सेह-पमाणओ मिणसु देह ।
नगपढविविमाणाइ मिणसु पमाणगुलेण तु ॥१३९७ ॥

—गाथार्थ—

उत्सेधागुल आत्मागुल और प्रमाणागुल—आगम मे व्यवहारोपयोगी तीन अंगुल बताये है—१. उत्सेधांगुल २. आत्मागुल तथा ३. प्रमाणांगुल ॥१३८९ ॥

सुतीक्ष्ण शस्त्र भी जिसे छिन्न-भिन्न नही कर सकता तथा जो परिमाण का आदि कारण है, केवलज्ञानी उसे परमाणु कहते है ॥१३९० ॥

परमाणु, त्रसरेणु रथरेणु, वालाग्र, लीख, जू और यव—ये उत्तरोत्तर आठ गुणा बड़े होते है ॥१३९१ ॥

एक उत्सेधांगुल मे वीस लाख सत्ताणु हजार एक सौ बावन परमाणु होते है ॥१३९२ ॥

परमाणु आदि के क्रमपूर्वक उत्सेधांगुल का वर्णन किया। अब विधिपूर्वक आत्मागुल बताया जाता है ॥१३९३ ॥

जिस युग मे जो पुरुष अपने अगुल से एक सौ आठ अगुल परिमाण होते है उनका अगुल 'आत्मांगुल' कहलाता है ॥१३९४ ॥

जो अपने अगुल से एक सो आठ अगुल नही है पर न्यूनाधिक है उनका अगुल आत्मागुल नही परन्तु 'आत्मागुलाभास' कहलाता है ॥१३९५ ॥

प्रमाणांगुल उत्सेधांगुल से एक हजार गुणा अधिक बड़ा होता है। दो उत्सेधांगुल से वीरप्रभु का एक 'आत्मांगुल' बनता है ॥१३९६ ॥

वास्तु का माप आत्मांगुल से, शरीर का माप उत्सेधांगुल से तथा पर्वत, पृथ्वी, विमान आदि का माप प्रमाणांगुल से किया जाता है ॥१३९७ ॥

—विवेचन—

अंगुल—'अगुल' शब्द गत्यर्थक 'अगि' धातु से बना है। गत्यर्थक धातुये ज्ञानार्थक भी होती है अत यहाँ 'अगि' धातु का अर्थ ज्ञान ही है। अगुल का अर्थ है—पदार्थों के प्रमाण का ज्ञान कराने वाला माप। इसके ३ भेद है—(i) उत्सेधागुल (ii) आत्मागुल व (iii) प्रमाणागुल।

(i) उत्सेधांगुल — उत्सेधागुल को समझने के लिये सर्वप्रथम परमाणु आदि को समझना आवश्यक है।

परमाणु—यहाँ परमाणु का अर्थ निरश द्रव्य नही है पर ऐसा सूक्ष्मपरिणामी पुद्गल द्रव्य है जो सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी विभक्त नही किया जा सकता, जिसके खड नही हो सकते तथा जिसे छेदा नही जा सकता। जो अनन्त अणुओं से निष्पन्न होता है पर अत्यन्त सूक्ष्मपरिणामी होने से चक्षु का विषय नही बन सकता। यह व्यवहारनय सम्मत परमाणु है क्योकि इसमे भी निरश द्रव्यरूप परमाणु के लक्षण घटते है। सूक्ष्म परमाणु अप्रदेशी होता है। विज्ञानसम्मत परमाणु जैनदृष्टि से व्यवहार परमाणु है। क्योकि इसका विखण्डन सभव है। यह अनन्त प्रदेश वाला है। आगमो मे इसे भी अछेद्य और अभेद कहा गया है।

परमाणु का स्वरूप बताने के पश्चात् उत्सेधागुल आदि परिमाणो की निष्पत्ति के कारणरूप अन्य परिमाणो का स्वरूप भी यहाँ बताया जाता है। यद्यपि यहाँ मूल मे 'उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका' आदि तीन पद अनुक्त हैं तथापि अनुयोगद्वार आदि मे कहे गये है और युक्ति सगत भी है अत टीका मे बताये जाते है।

अनत परमाणु	= १ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका।
८ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	= १ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका।
८ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	= १ उर्ध्व रेणु।
८ उर्ध्वरेणु	= १ त्रसरेणु।
८ त्रसरेणु	= १ रथरेणु
८ रथरेणु	= १ वालाग्र (देवकुरु-उत्तरकुरु के युगलिको का)
८ वालाग्र	= १ वालाग्र (हरिवर्ष-रम्यकवर्ष के युगलिको का)
८ वालाग्र	= १ वालाग्र (हैमवत-हैरण्यवत के युगलिको का)
८ वालाग्र	= १ वालाग्र (पूर्व-पश्चिम विदेह के मनुष्यो का)
८ वालाग्र	= १ वालाग्र (भरत-ऐरवत के मनुष्यो का)
८ वालाग्र	= १ लीख

८ लीख	=	१ जू
८ जू	=	१ यव का मध्यभाग
८ यवमध्य	=	१ उत्सेधागुल।

- **उर्ध्वरेणु**—जाली आदि के छिद्रो से आने वाली सूर्य की किरणो मे ऊपर-नीचे तैरने वाले रजकण।
- **त्रसरेणु**—वायु से प्रेरित होकर इधर-उधर गति करने वाले रजकण।
- **रथरेणु**—घूमते हुए रथ के पहिये से उडने वाले रजकण। त्रसरेणु वायु से उडता है पर रथरेणु रथ के पहिये से खुदकर ही उडता है। अत इसकी अपेक्षा त्रसरेणु अल्प परिमाणवाला है।

अन्यत्र 'परमाणु रहरेणु तसरेणु' ऐसा पाठ है वह असगत है, क्योकि पूर्वोक्त प्रमाण के अनुसार रथरेणु की अपेक्षा त्रसरेणु ८ गुणा अधिक नही हो सकता। 'सग्रहणी' मे भी ऐसा ही पाठ है वह भी आगमविरोधी होने से विचारणीय है।

यद्यपि क्षेत्रभेद से मनुष्यो के वालाग्र भी भिन्न-भिन्न परिमाप के होते है तथापि जाति की विवक्षा से 'वालाग्र' शब्द का यहाँ एक बार ही प्रयोग किया गया है। मूल मे अनुक्त भी कुछ माप उपयोगी होने से यहाँ बताये जाते है।

६ उत्सेधागुल	=	पाँव का मध्यभाग।
२ पाँव के मध्यभाग	=	१ बेत।
२ बेत	=	१ हाथ।
४ हाथ	=	१ धनुष।
२००० धनुष	=	१ कोस।
४ कोस	=	१ योजन

वैसे तो १ उत्सेधागुल मे अनन्त परमाणु है पर 'परमाणु तसरेणु रहरेणु' आदि के क्रम से मूल गाथा मे गृहीत परमाणु की अपेक्षा से गिने जाये तो २०,९७,१५२ परमाणु होते हैं। इसमे उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका व उर्ध्वरेणु के परमाणुओ की गणना सम्मिलित नही है।

देव-नारक आदि के शरीर की ऊँचाई उत्सेध कहलाती है। उसका निर्णय करने वाला अथवा उत्सेध अर्थात् बढना, जो अनन्त सूक्ष्म परमाणुओ के समूह से निर्मित एक व्यवहार परमाणु त्रसरेणु, रथरेणु इत्यादि क्रम से उत्तरोत्तर बढते हुए माप वाला है वह अगुल उत्सेधागुल है।

(ii) आत्मांगुल—चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तम पुरुषो के शरीर की ऊँचाई अपने अगुल से १०८ अगुल प्रमाण होती है। जो पुरुष जिस युग मे स्वय की अगुली से १०८ अगुल उचा होता है उस पुरुष की स्वय की अगुली को आत्मागुल कहते है।

आत्मागुल का कोई निश्चित प्रमाण नही है, क्योकि कालभेद से तत् तत् कालीन पुरुषो के शरीर का प्रमाण अनिश्चित होता है।

जिन पुरुषो की ऊँचाई अपने अगुल से १०८ अगुल प्रमाण नही होती परन्तु न्यूनाधिक होती है उनका अगुल आत्मागुल नही कहलाता।

आत्मागुल का पूर्वोक्त प्रमाप मानने पर भरतचक्रवर्ती, परमात्मा महावीरदेव आदि का अगुल आत्मागुल नही माना जायेगा, कारण भरतचक्रवर्ती का देहमान अपने अगुल से १२० अगुल तथा भगवान महावीरदेव का देहमान अपने अगुल से ८४ अगुल था। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन आत्माओ का देहमान 'अपने अगुल से १०८ अगुल नही है उन आत्माओ का अगुल आत्मागुल नही है,' इतना ही निषेध पर्याप्त नही है, परन्तु लक्षण-शास्त्रोक्त स्वरादि लक्षणो से रहित होते हुए न्यूनाधिक देहमान वाले आत्माओ का अगुल आत्मागुल नही कहलाता इतना कथन पर्याप्त है। इससे भरतचक्रवर्ती तथा परमात्मा महावीरदेव का देहमान हीनाधिक होने पर भी स्वरादि विशेष लक्षण-सयुक्त होने से उनके अगुल को आत्मागुल मानने मे कोई बाधा नही है।

(iii) प्रमाणांगुल—सबसे प्रकृष्ट प्रमाण वाला, उत्सेधागुल से एक हजार गुणा अधिक अगुल प्रमाणागुल है। अथवा समस्त लोक व्यवहार के प्रणेता, इस अवसर्पिणी काल मे प्रमाणभूत पुरुष युगादिदेव या भरतचक्रवर्ती का अगुल प्रमाणागुल है। इस तरह आत्मागुल और प्रमाणागुल तुल्य हुआ।

प्रश्न—यदि भरतचक्रवर्ती आदि का अगुल ही प्रमाणागुल है तो आत्मागुल व प्रमाणागुल तुल्य होगे तथा उत्सेधागुल से प्रमाणागुल एक हजार गुणा अधिक नही पर चार सौ गुणा अधिक होगा। क्योकि भरतचक्रवर्ती आत्मागुल से १२० अगुल प्रमाण और उत्सेधागुल से ५०० धनुष प्रमाण थे। एक धनुष मे ९६ उत्सेधागुल होने से ५०० धनुष के ५०० × ९६ = ४८,००० उत्सेधागुल हुए। ४८,००० उत्सेधागुल मे १२० आत्मागुल (भरतचक्रवर्ती का देहमान) का भाग देने पर ४८,००० – १२० = ४०० उत्सेधागुल हुए। इस प्रकार एक प्रमाणागुल मे ४०० उत्सेधागुल होने से उत्सेधागुल से प्रमाणागुल १००० गुणा अधिक कैसे होगा?

उत्तर—आपका कथन सत्य है परन्तु इसे इस तरह समझना होगा। प्रमाणागुल की मोटाई ढाई उत्सेधागुल प्रमाण है और इतनी मोटाई वाला प्रमाणागुल, उत्सेधागुल से ४०० गुणा ही अधिक बडा होता है। परन्तु ढाई उत्सेधागुल मोटाई को प्रमाणागुल की ४०० उत्सेधागुल प्रमाण लबाई से गुणा करने पर ४०० × २$\frac{१}{२}$ ढाई = १००० गुणा अधिक बडी प्रमाणागुल की सूची होती है। साराश यह है कि २$\frac{१}{२}$ उत्सेधागुल मोटाई वाले प्रमाणागुल की ३ श्रेणियाँ बनाना। इनमे दो श्रेणियाँ ४०० उत्सेधागुल लबी तथा १ उत्सेधागुल मोटी बनाना। तीसरी श्रेणी ४०० उत्सेधागुल लबी व $\frac{१}{२}$ उत्सेधागुल मोटी बनाना। उसे मध्य से काटकर परस्पर जोड देना जिससे वह २०० उत्सेधागुल लबी व १ उत्सेधागुल मोटी श्रेणी बन जाये। इन तीनो श्रेणिओ को लबाई मे जोडने से १००० उत्सेधागुल लबी तथा १ उत्सेधागुल मोटी प्रमाणागुल की १ सूची बनती है। इसकी अपेक्षा से ही प्रमाणागुल उत्सेधागुल से १००० गुणा अधिक होता है। वस्तुत तो उत्सेधागुल से प्रमाणागुल ४०० गुणा ही अधिक है।

पृथ्वी-पर्वत-विमान आदि का प्रमाप ४०० उत्सेधागुल लम्बे व ढाई अगुल मोटे प्रमाणागुल से ही मापा जाता है, न कि सूचीकृत प्रमाणागुल से। ऐसी परम्परा है। तत्त्व केवलीगम्य है।

भगवान महावीरदेव का आत्मागुल उत्सेधागुल से दुगुना है। ऐसा पूर्वाचार्यो का कथन है। कारण भगवान महावीर का देहमान ८४ आत्मागुल प्रमाण तथा उत्सेधागुल से ७ हाथ प्रमाण था। १ हाथ २४

उत्सेधागुल प्रमाण होने से ७ हाथ मे ७ × २४ = १६८ उत्सेधागुल हुए इसमे ८४ आत्मागुल का भाग देने पर १६८ – ८४ = २ उत्सेधागुल हुए। इस प्रकार १ आत्मागुल मे २ उत्सेधागुल हुए।

अनुयोगद्वार-चूर्णि मे कहा है कि—मतान्तर से वीर प्रभु की ऊँचाई आत्मागुल की अपेक्षा ८४ अगुल है तथा उत्सेधागुल से १६८ अगुल की है। अत २ उत्सेधागुल = वीर प्रभु का १ आत्मागुल होता है।

अंगुल के ३ प्रकार—

इस विषय मे अनेक मतान्तर है। पर ग्रथ-विस्तार के भय से यहाँ नही बताये।

(i) उत्सेधागुल (ii) आत्मागुल व (iii) प्रमाणागुल। ये तीनो ही तीन प्रकार के है—

(i) सूच्यगुल (ii) प्रतरागुल व (iii) घनागुल।

(i) **सूच्यंगुल**—एक अगुल लबी एक प्रदेश मोटी आकाश प्रदेश की श्रेणी सूच्यगुल है। जैसे '०००'। यद्यपि सूची मे असख्य आकाश प्रदेश होते है तथापि असत् कल्पना से तीन आकाश प्रदेश की मानी गई है।

(ii) **प्रतरागुल**—अगुल परिमाण लबी, एक आकाश प्रदेश मोटी एक सूची मे जितने आकाश प्रदेश है उन्हे उतने ही आकाश प्रदेश से गुणा करने पर जितने आकाश प्रदेश होते है उतने आकाश प्रदेश का एक प्रतरागुल होता है। माना कि सूची ३ आकाश प्रदेश की है '०००' इसे ३ से गुणा करने पर ३ × ३ = ९ आकाश प्रदेश प्रमाण प्रतरागुल होता है। लबाई-चौडाई मे समान होते हुए मोटाई जिसकी १ प्रदेश प्रमाण हो वह प्रतरागुल है। जैसे—० ० ०

० ० ०

० ० ०

(iii) घनागुल—जिसकी लबाई-चौडाई व मोटाई तुल्य हो वह घनागुल कहलाता है। आगम के अनुसार 'घन' शब्द लबाई-चौडाई व मोटाई की समानता मे रूढ है। प्रतरागुल लबाई-चौडाई मे समान होता है मोटाई तो उसकी एक प्रदेश की ही होती है। ९ प्रदेशात्मक प्रतर का ३ प्रदेशात्मक सूची से गुणा करने पर २७ प्रदेशात्मक (लबाई-चौडाई-मोटाई मे समान) घनागुल होता है। इसकी स्थापना नव प्रदेशात्मक प्रतर के ऊपर-नीचे ९-९ प्रदेश स्थापित करने से पूर्ण बनती है।

- आत्मागुल से शिल्प सम्बन्धी माप किया जाता है। शिल्प के ३ प्रकार है।

(i)	खात	= खोदकर निर्माण करने योग्य, कुँआ, तालाब, भूमिगृह आदि।
(ii)	उच्छ्रित	= ऊँचाई पर निर्माण करने योग्य, महल, मन्दिर, घर आदि।
(iii)	खातोच्छ्रित	= नीचे-ऊपर दोनो प्रकार के निर्माण से युक्त, जैसे, भूमिगृह से युक्त महल आदि।

- उत्सेधागुल से देवादि के शरीर का माप किया जाता है।
- मेरु आदि पर्वत, नरक, देव-विमान, समुद्र आदि का माप प्रमाणागुल से किया जाता है ॥१३८९-९७ ॥

घन
सूचि
प्रतर
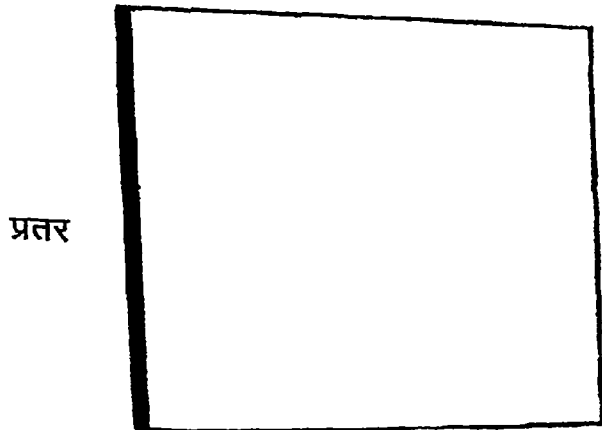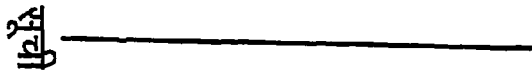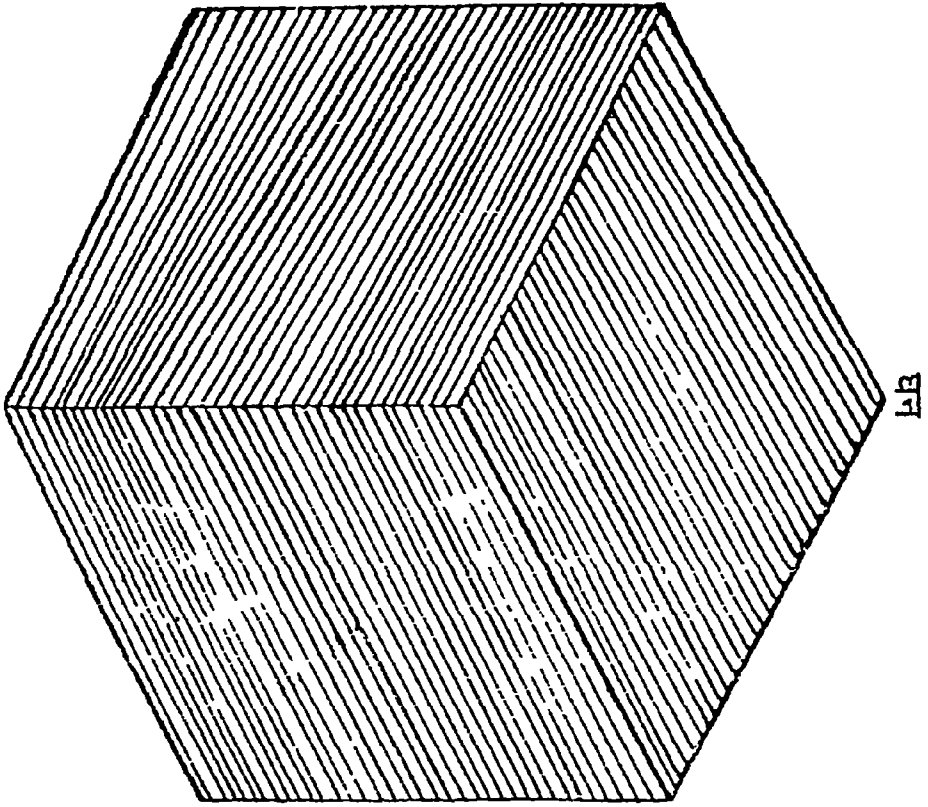
२५५ द्वार : तमस्काय—

जबूदीवाउ असंखेज्जइमा अरुणवरसमुद्दाओ।
बायालीससहस्से जगईउ जलं विलंघेउ ॥१३९८॥
समसेणीए सतरस एक्कवीसाइ जोयणसयाइं।
उल्लसिओ तमरूवो वलयागारो अउक्काओ ॥१३९९॥
तिरिय पवित्थरमाणो आवरयंतो सुरालयचउक्कं।
पचमकप्पेऽरिट्ठंमि पत्थडे चउदिसिं मिलिओ ॥१४००॥
हेट्ठा मल्लयमूलट्ठिइट्ठिओ उवरि बभलोय जा।
कुक्कुडपजरगारसंठिओ सो तमक्काओ ॥१४०१॥
दुविहो से विक्खंभो सखेज्जो अत्थि तह असंखेज्जो।
पढमंमिउ विक्खंभो संखेज्जा जोयणसहस्सा ॥१४०२॥
परिहीए ते असखा बीए विक्खभपरिहिजोएहि।
हुति असखसहस्सा नवरमिम होइ वित्थारो ॥१४०३॥

—गाथार्थ—

तमस्काय का स्वरूप—जंबूद्वीप से असख्यातवां अरुणवर समुद्र है। उसकी जगती से बयालीस हजार योजन समुद्र के भीतर जाने पर तमस्काय प्रारंभ होता है। वहाँ समश्रेणि मे इक्कीस सौ सत्रह योजन ऊँचा, वलयाकार विस्तृत घोर अन्धकार रूप अप्काय उछलता है। वह तिरछा फैलता-फैलता चार देवलोक को आवृत करता हुआ पाँचवें देवलोक के अरिष्ट नामक प्रतर के पास जाकर चारों दिशाओ में मिल जाता है ॥१३९८-१४००॥

तमस्काय का नीचे का आकार शराब के मूल जैसा तथा ऊपर ब्रह्मलोक के पास उसका आकार मुर्गे के पिंजरे जैसा है ॥१४०१॥

तमस्काय का विस्तार दो प्रकार का है—सख्याता और असख्याता। प्रथम विस्तार संख्याता हजार योजन का है। इसमें परिधि का विस्तार मिलाने से प्रथम विस्तार (नीचे से ऊपर का विस्तार) असख्याता हजार योजन का हो जाता है। द्वितीय विस्तार विष्कभ और परिधि दोनों की अपेक्षा से असंख्याता हजार योजन का है ॥१४०३॥

—विवेचन—

अरुणवर समुद्र मे से उछलते हुए तमस्काय का दृश्य—

जबूद्वीप से लेकर असख्य द्वीप-समुद्र का उल्लघन करने के पश्चात् अरुणवर नामक द्वीप आता है। उसके चारो ओर अरुणवर नामक समुद्र है। अरुणवर द्वीप की जगती से चारो दिशाओ मे ४२ हजार योजन दूर समुद्र के मध्य मे तमस्काय प्रारम्भ होता है। तमस्काय अर्थात् गहन अन्धकार का समूह जो कि पुद्गल रूप है। प्रारम्भ मे तमस्काय समुद्र की सपाटी पर १ प्रदेश विस्तृत होता है। तत्पश्चात् क्रमश वलयाकार तिरछा फैलते-फैलते १७२१ योजन तक ऊपर फैलता चला जाता है। यह अप्काय का पिण्ड व गहन अन्धकार रूप है। यह तमस्काय फैलते-फैलते सौधर्म-ईशान-सनत्कुमार व महेन्द्र देवलोक को घेरते हुए पाँचवे ब्रह्मलोक के अरिष्ट नामक विमान तक पहुँच कर चारो दिशाओ मे मिल जाता है। तब उस तमस्काय का आकार मूल मे शराब के बुछा (तल) तथा ऊपर ब्रह्मलोक तक मुर्गे के पिजरे जैसा है।

यह तमस्काय अरुणवर समुद्र के जल का विकार रूप होने से अप्काय स्वरूप है। इसमे बादर वनस्पति, वायुकाय, त्रसकाय आदि जीव भी होते है। इसका विस्तार सख्याता योजन का एव परिधि असख्याता योजन की है।

यह तमस्काय घनघोर अधकारमय है। इसे देखकर देव भी क्षुब्ध हो जाते है। ऐसा अधकार लोक मे अन्यत्र कही भी नही है।

तमस्काय = तमिस्र अधकार के पुद्गलो का समूह तमस्काय है ॥१३९८-१४०१ ॥

तमस्काय का विस्तार व परिधि—

तमस्काय का विस्तार व परिधि दो प्रकार की है। निम्न विस्तार और निम्न परिधि। ऊर्ध्व विस्तार और ऊर्ध्व परिधि। प्रथम विस्तार सख्याता हजार योजन का व परिधि असख्याता हजार योजन की है। यद्यपि तमस्काय का नीचे विस्तार सख्याता हजार योजन का है तथापि परिधि असख्याता हजार योजन की ही होगी, कारण तमस्काय असख्यातवे द्वीप को घेरकर रहा हुआ है अत· परिधि का असख्यात हजार योजन विस्तृत होना प्रमाण सिद्ध है।

ऊर्ध्व विस्तार और ऊर्ध्व परिधि दोनो ही असख्यात योजन प्रमाण है। जब तमस्काय गोलाई मे ऊपर की ओर फैलता है तब उसका विस्तार असख्यात योजन प्रमाण होता है। परिधि असख्यात योजन की है इसमे कोई सदेह ही नही रहता।

गीतार्थो ने तमस्काय का महत्त्व बताते हुए कहा है कि कोई महान् समृद्धिशाली देव, तीन चुटकी बजाने मे जितना समय लगता है उतने समय मे जिस गति से जबूद्वीप की २१ बार प्रदक्षिणा करके आ सकता है, उस गति से चले तो छ माह मे तमस्काय के सख्यात योजन विसतार को ही पार कर सकता है, अन्य विस्तार को नही।

परदेवी मे आसक्त, दूसरो के रत्नादि को चुराने वाले देव के लिए छुपने की इससे अच्छी कोई जगह नही है। मालिक देव अवधि ज्ञान या विभगज्ञान का उपयोग उसे खोजने हेतु करे उतने समय मे

३२
जंबू
द्वीप
असख्य
असख्य
द्वीप समुद्र
अरुण वर समुद्र
अरुण वर समुद्र
समुद्र की सपाटी से
१७२१ योजन ऊंचा
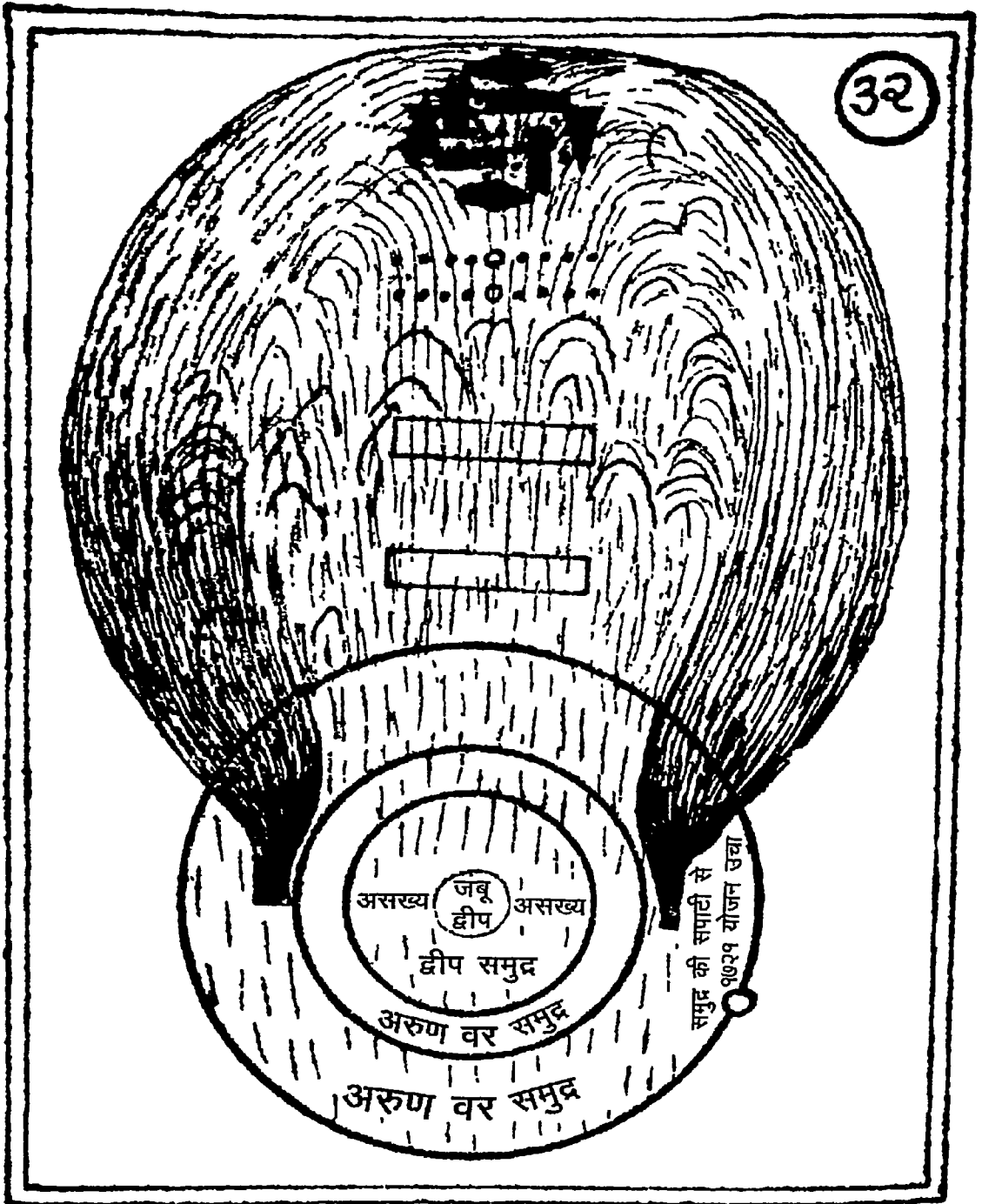
वह अन्यत्र भाग सकता है। यह तमस्काय इतना भयकर है कि देवता भी इसमे सहसा प्रवेश करने का साहस नही करते। इसमे गमनागमन करना देवताओ के लिये भी दुष्कर है ॥१४०३ ॥

२५६ द्वार : अनन्तषट्क—

सिद्धा निगोयजीवा वणस्सई काल पोग्गला चेव।
सव्वमलोगागास छप्पेऽणंतया नेया ॥१४०४ ॥

—गाथार्थ—

अनन्त षट्क—१. सिद्ध २. निगोद के जीव ३. वनस्पति ४. काल ५. पुद्गल तथा ६. अलोकाकाश—ये छ वस्तुयें अनन्त है ॥१४०४ ॥

—विवेचन—

(१)	सिद्ध	ये	
(२)	निगोद के जीव	छ	
(३)	प्रत्येक वनस्पति के जीव	अनन्त	
(४)	तीनो कालो का समय	सख्या	
(५)	समस्त पुद्गल परमाणु	वाले	
(६)	समस्त अलोकाकाश के प्रदेश	है।	॥१४०४ ॥

२५७ द्वार : अष्टांग-निमित्त—

अंगं सुविणं च सर उप्पायं अंतरिक्ख भोमं च।
वंजण लक्खणमेव य अट्ठपयारं इह निमित्त ॥१४०५ ॥
अंगप्फुरणाईहिं सुहासुहं जमिह भन्नइ तमंग।
तह सुसुमिणय-दुस्सुमिणएहिं ज सुमिणयति तय ॥१४०६ ॥
इट्ठमणिट्ठं ज सरविसेसओ तं सरंति विन्नेयं।
रुहिरवरिसाइ जमि जायइ भन्नइ तम्मुपायं ॥१४०७ ॥
गहवेहभूयअट्टट्टहासपमुहं जमतरिक्ख तं।
भोम च भूमिकंपाइएहिं नज्जइ वियारेहिं ॥१४०८ ॥

इह वंजण मसाई लंछणपमुहं तु लक्खण भणियं।
सुहअसुह-सूयगाइ अंगाईयाइं अट्ठावि ॥१४०९ ॥

—गाथार्थ—

अष्टाग निमित्त—१. अंग २. स्वप्न ३. स्वर ४. उत्पात ५. आकाश ६. भूमि ७. व्यंजन और ८. लक्षण—ये आठ प्रकार के निमित्त है ॥१४०५ ॥

अंग-स्फुरणा से जो शुभ-अशुभ फलादेश किया जाता है वह अंग निमित्त है। अच्छे-बुरे स्वप्नो के द्वारा जो शुभाशुभ फलादेश किया जाता है वह स्वप्न निमित्त है ॥१४०६ ॥

इष्ट-अनिष्ट स्वर से शुभाशुभ बताना स्वर निमित्त है। रुधिर आदि की वर्षा होना उत्पात निमित्त है ॥१४०७ ॥

ग्रहवेध, भूतादि का अट्टहास्य आदि अन्तरिक्ष निमित्त है। भूकंप आदि के द्वारा शुभाशुभ जानना भूमि निमित्त है ॥१४०८ ॥

तिल, मसे आदि व्यंजन है। लसणिया आदि लक्षण है। ये आठों निमित्त शुभ-अशुभ के सूचक है ॥१४०९ ॥

—विवेचन—

निमित्त—अतीत-अनागत व वर्तमान के अतीन्द्रिय शुभाशुभ भावो के ज्ञान का कारणभूत वस्तुसमूह निमित्त कहलाता है। इसके ८ भेद है। अग, स्वप्न, स्वर, उत्पात, अन्तरिक्ष, भौम, व्यजन, और लक्षण। आठ अग होने से 'अष्टागनिमित्त' कहलाता है ॥१४०५ ॥

(१) **अंग**—अग-उपाग की स्फुरणा के आधार से त्रैकालिक शुभाशुभ बताना वह 'अगनिमित्त' कहलाता है। पुरुष का दायॉ व स्त्री का बायॉ अग फरकना फलदायी होता है। इसके आधार पर कहना कि—'शिर फरकने से पृथ्वीलाभ, ललाट फरकने से स्थानलाभ होता है' इत्यादि।

(२) **स्वप्न**—सुस्वप्न व दुःस्वप्न के आधार से शुभाशुभ बताना 'स्वप्ननिमित्त' है। जैसे—स्वप्न मे 'देवपूजन, पुत्र, बाधव, उत्सव, गुरु, छत्र, कमल आदि देखना, प्राकार, हाथी, बादल, वृक्ष, पर्वत और महल पर चढना, समुद्र मे तैरना, सुरा, अमृत व दही का पान करना, चन्द्र-सूर्य का ग्रास स्वप्न मे देखना शुभ है' ॥१४०६ ॥

(३) **स्वर**—सप्तविध स्वर को सुनकर अथवा पक्षियो के स्वर को सुनकर शुभाशुभ फल बताना 'स्वर निमित्त' है। जैसे—'षड्ज स्वर से आजीविका की प्राप्ति होती है। किया हुआ काम निष्फल नही जाता। गाय, मित्र, पुत्रादि परिवार की प्राप्ति होती है तथा ऐसा व्यक्ति स्त्रीवल्लभ होता है।' इत्यादि।

(४) **उत्पात**—रक्त, हड्डियॉ आदि की सहज वर्षा होना 'उत्पात' है। उसके आधार से शुभाशुभ कथन करना 'उत्पात निमित्त' है। जैसे चर्बी, रक्त, हड्डियॉ, धान्य, अगारे व मेद की जहॉ वर्षा होती है वहॉ चारो प्रकार का भय छा जाता है ॥१४०७ ॥

(५) अन्तरिक्ष—अन्तरिक्ष मे होने वाली घटनाये जैसे, ग्रहवेध (ग्रहण), अट्टहास आदि आन्तरिक्ष निमित्त है। इन्हे देखकर शुभाशुभ बताना। ग्रहवेध = एक ग्रह का दूसरे ग्रह मे से निकलना। अट्टहास = अचानक आकाश मे भयानक हँसी की आवाज आना। 'यदि कोई भी ग्रह चन्द्र के मध्य से निकले तो राजभय, प्रजाक्षोभ आदि उपद्रव पैदा होते है।' आकाश मे गान्धर्वनगर की रचना देखकर शुभाशुभ बताना भी इसी के अन्तर्गत आता है।

'यदि गधर्वनगर की रचना भूरे रग की है तो अनाज का नाश होता है। मजीठवर्णीय है तो गाय, भैस आदि पशुओ का नाश होता है। अव्यक्तवर्ण वाली नगर सरचना सेना मे क्षोभ पैदा करती है। स्निग्ध, प्राकार व तोरण सहित, उत्तर दिशा मे दिखाई देने वाला गाधर्वनगर राजा की विजय का सूचक है।'

(६) भौम—भूकप आदि के द्वारा शुभाशुभ बताना 'भौम निमित्त' है। जैसे, 'यदि भयकर आवाज के साथ भूकप होता है तो सेनापति, मत्री, राजा व राष्ट्र अवश्य पीडित बनते है' ॥१४०८ ॥

(७) व्यजन—तिल, मसे वगैरह। इनके आधार पर शुभाशुभ बताना।

(८) लक्षण—लाछन, जैसे लसणिया आदि इनके आधार से शुभाशुभ बताना। जिस नारी के नाभि से नीचे के भाग मे कुकुम की तरह लालवर्ण का लसणिया या मसा होता है वह शुभ मानी जाती है। 'निशीथ' मे लक्षण व व्यजन के विषय मे इस प्रकार बताया है कि—शरीर का प्रमाण आदि लक्षण है तथा मसे आदि व्यजन है। अथवा शरीर के सहजात चिह्न लक्षण कहलाते है तथा पश्चात् उत्पन्न होने वाले व्यजन है।

पुरुषो के लक्षण—

पुरुषो के विभाग के अनुसार उनके लक्षणो की सख्या भी अलग-अलग है। जैसे, सामान्य मनुष्य मे ३२ लक्षण, बलदेव वासुदेव मे १०८ लक्षण, चक्रवर्ती व तीर्थकरो के १००८ लक्षण है। ये वे लक्षण है जो शरीर मे स्पष्ट रूप से दिखाई देते है। यदि सत्त्व, धैर्य आदि आतरिक गुणो की दृष्टि से देखा जाये तो तीर्थकरो की अपेक्षा पुरुष के अनतगुण है ॥१४०९ ॥

२५८ द्वार : मान-उन्मान-प्रमाण—

जलदोणमद्धभारं समुहाइं समूसिओ उ जो नव उ।
माणुम्माणपमाण तिविहं खलु लक्खणं नेयं ॥१४१० ॥

—गाथार्थ—

मान-उन्मान और प्रमाण—द्रोण-परिमाण जल मान कहलाता है। अर्धभार परिमाण तौल उन्मान है। अपने मुंह से नौ गुणा ऊँचा पुरुष प्रमाणोपेत है। इस प्रकार मान, उन्मान और प्रमाण का लक्षण समझना चाहिये ॥१४१० ॥

—विवेचन—

मान—शरीर का एक प्रमाणविशेष, जो जल के निर्गम से समझा जाता है। जैसे पुरुष के शरीर की ऊचाई के प्रमाण से कुछ अधिक बडी व पानी से परिपूर्ण कुण्डी मे जिस पुरुष के प्रवेश करने पर द्रोण प्रमाण जल बाहर निकल जाये अथवा द्रोण प्रमाण जल से न्यून कुडी मे जिस पुरुष के प्रवेश करने पर कुडी परिपूर्ण हो जाये उस पुरुष का शरीर 'मान' प्रमाणयुक्त है।

उन्मान—सार पुद्गलो से निर्मित, जिस पुरुष के शरीर का तौल अर्धभार जितना हो वह 'उन्मान' प्रमाणयुक्त है।

प्रमाण—अपने अगुल से १२ अगुल प्रमाण मुख, प्रमाणयुक्त कहलाता है। ऐसे ९ मुख के बराबर जिसका सम्पूर्ण शरीर है अर्थात् जिस पुरुष के शरीर की ऊँचाई अपने अगुल से १०८ अगुल प्रमाण होती है वह 'प्रमाणोपेत' कहा जाता है।

उत्तमपुरुष निश्चित रूप से मान, उन्मान व प्रमाण युक्त होते है ॥१४१० ॥

- द्रोण = पूर्वकाल मे जो बडे घडे पानी भरने के काम मे आते थे, उस घडे से सवा घडा जितना जल द्रोण परिमाप है।
- भार—६ सरसव = १ यव, ३ यव = १ चिरमी, ३ चिरमी = १ वाल, १६ वाल = १ गद्यानक (६४ रति का एक तोलने का माप), १० गद्यानक = १ पल, १५० पल, = १ मण, १० मण = १ धडी, १० धडी = १ भार

२५९ द्वार : १८ भक्ष्य-भोजन—

सूओ यणो जवन्नं तिन्नि य मसाइ गोरसो जूसो।
भक्खा गुललावणिया मूलफला हरियगं डागो ॥१४११ ॥
होइ रसालू य तहा पाण पाणीय पाणग चेव।
अट्ठारसमो सागो निरुवहओ लोइओ पिण्डो ॥१४१२ ॥
जलथलखहयरमसाइ तिन्नि जूसो उ जीरयाइजओ।
मुग्गरसो भक्खाणि य खंडखज्जयपमोक्खाणि ॥१४१३ ॥
गुललावणिया गुडप्पपडीउ गुलहाणियाउ वा भणिया।
मूलफलंतिक्कपय हरिययमिह जीरयाईयं ॥१४१४ ॥

डाओ वत्थुलराईण भज्जिया हिंगुजीरयाइजुया।
सा य रसालू जा मज्जियत्ति तल्लक्खणं चेव ॥१४१५॥
दो घयपला महु पलं दहियस्सऽद्धाढयं मिरिय वीसा।
दस खंडगुलपलाइं एस रसालू निवइजोगो ॥१४१६॥
पाणं सुराइयं पाणियं जलं पाणगं पुणो एत्थ।
दक्खावाणियपमुहं सागो सो तक्कसिद्धं जं ॥१४१७॥

—विवेचन—

अट्ठारह प्रकार का भक्ष्यभोजन—

१ मूँग, तुवर, चना आदि की दाल।
२ कूर आदि ओदन
३ जौ से बनी हुई खीर
४ दूध, दही, घी, छाछ आदि
५-७ मत्स्य, हरिण, लावा आदि का मास (जलचर-स्थलचर-खेचर का मास) मास भक्षियो की अपेक्षा मास भोजन है इस दृष्टि से इसका यहाँ उल्लेख किया गया है। अहिंसा की दृष्टि से तो मास सर्वथा अभोज्य है।
८ जीरा, हल्दी आदि डालकर सस्कारित किया हुआ मूँग का पानी।
९ चासनी या खाँड चढाये हुए खाजे आदि।
१० गुडपापडी, गुडधानी आदि।
११ अश्वगधा आदि मूल तथा आम आदि फल।
१२ जीरा आदि के पत्तो से बना हुआ भोज्य विशेष (हरीतक)
१३ हीग, जीरा आदि डालकर सस्कारित वथुए आदि की भाजी (डाक)
१४. मज्जिका — राजयोग्य या श्रीमन्तो के खाने योग्य पाक विशेष दो पल घी, एक पल मधु, $\frac{1}{2}$ आढक दही, २० मिर्ची, १० पल चीनी या गुड मिलाकर बनाया हुआ पाक विशेष जिसे रसाला कहते है।
१५ पान — सभी प्रकार का मद्य।
१६ पानी — ठण्डा, सुस्वादु जल।
१७ पानक — दाख, खजूर आदि का पानी।
१८ शाक — दही, छाछ आदि डालकर बनायी हुई बडे आदि की सब्जी ॥१४११-१७॥

२६० द्वार : षट्स्थान-वृद्धि-हानि—

वुड्ढी वा हाणी वा अणंत अस्सख सखभागेहि।
वत्थूण संख अस्संखणत गुणणेण य विहेया ॥१४१८ ॥

—गाथार्थ—

षड्स्थान वृद्धि-हानि—**वस्तुओं की वृद्धि या हानि अनंत, असंख्यात और संख्यात भाग के द्वारा तथा सख्याता, असंख्याता और अनन्ता गुण के द्वारा जानी जाती है ॥१४१८ ॥**

—विवेचन—

किसी भी पदार्थ की हानि-वृद्धि को समझने के छ प्रकार है और वे ही छ प्रकार षट्स्थानक कहलाते है। षट्स्थान मे ३ स्थानो की हानि-वृद्धि भाग से व ३ स्थानो की हानि-वृद्धि गुणाकार से होती है। भागाकार का क्रम है अनन्त, असख्यात और सख्यात। गुणाकार का क्रम है सख्यात, असख्यात व अनत जैसे—

हानि के प्रतिपादक—

(i) अनन्तभाग हानि (ii) असख्यातभाग हानि (iii) सख्यातभाग हानि
(iv) सख्यातगुण हानि (v) असख्यातगुण हानि (vi) अनन्तगुण हानि।

वृद्धि के प्रतिपादक—

(i) अनन्तभाग वृद्धि (ii) असख्यातभाग वृद्धि (iii) सख्यातभाग वृद्धि
(iv) सख्यातगुण वृद्धि (v) असख्यातगुण वृद्धि (vi) अनन्तगुण वृद्धि।

सुगम होने से इन्हे सर्वविरत्ति के विशुद्धि स्थानो का उदाहरण देकर समझाया जाता है—देश-विरति के सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि स्थान की अपेक्षा सर्वविरति का सर्व जघन्य विशुद्धि स्थान अनत गुण अधिक विशुद्धि वाला होता है। षट्स्थानक मे सर्वत्र अनन्त गुण अधिक का अर्थ है जीवों की अनत सख्या से गुणा करने पर जितनी सख्या होती है उतना अधिक अर्थात् सर्वोत्कृष्ट देशविरति के अध्यवसाय स्थानगत निर्विभाग भागो को सर्वजीव की अनतसख्या से गुणा करने पर जो सख्या आती है उतनी सख्या केवली की बुद्धि से निर्विभागीकृत सर्वविरति के सबसे जघन्य विशुद्धि स्थान की है। इसे असत् कल्पना के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—माना कि देशविरति के पर्याय १०००० है और सर्व जीवो की सख्या १०० है। पर्याय सख्या १०००० और जीव सख्या १०० को परस्पर गुणा करने पर १०००००० (दस लाख) पर्याय होते है। ये सर्वविरति के सर्व जघन्य सयम-स्थान की पर्याये है। द्वितीय सयम-स्थान इससे अनन्त भाग अधिक विशुद्धियुक्त पर्याय वाला हैं। तृतीय सयम-स्थान इससे अनन्तभाग अधिक विशुद्धियुक्त पर्याय वाला है।

इस प्रकार उत्तरोत्तर अनन्तभाग की वृद्धि वाले सयमस्थान अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण क्षेत्रगत आकाश प्रदेश के तुल्य होते है और इन सयमस्थानो के समूह का नाम 'कण्डक' है। कारण आगमिक भाषा मे, अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण क्षेत्र मे स्थित आकाश-प्रदेशो के समूह की सख्या 'कण्डक' कहलाती है।

पूर्व कण्डक सम्बन्धी अतिम सयमस्थान के पर्यायो की अपेक्षा उत्तर कण्डक सम्बन्धी प्रथम सयमस्थान के पर्याय असख्येय भाग अधिक होते है। इसके बाद के द्वितीय कण्डक सम्बन्धी सयमस्थान उत्तरोत्तर अनन्त भाग अधिक होते है। जब सयमस्थानो की सख्या अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण क्षेत्र मे स्थित आकाश-प्रदेश के तुल्य हो जाती है, तब 'द्वितीय कण्डक' पूर्ण होता है। तृतीय कण्डकवर्ती प्रथम सयमस्थान, द्वितीय कण्डक के अन्तिम सयमस्थान की अपेक्षा असख्येय भाग अधिक होता है। इसके बाद के अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण क्षेत्रगत आकाश-प्रदेश के तुल्य सयमस्थान, उत्तरोत्तर अनन्तभाग अधिक होते है। यह तृतीय-कण्डक है। चतुर्थ-कण्डक का प्रथम सयमस्थान, तृतीय कण्डक के अतिम सयमस्थान की अपेक्षा असख्येय भाग अधिक पर्याय वाला होता है। फिर कण्डक की पूर्णाहुति तक उत्तरोत्तर अनन्तभाग अधिक पर्याय वाले सयमस्थान है। इस प्रकार चतुर्थ..पचम..षष्ठ आदि कण्डक बनते है। इसके बनने का क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि असख्येय भाग अधिक पर्याय वाले सयमस्थान एक 'कण्डक प्रमाण' नहीं हो जाते। यह क्रम पूर्ण होने के बाद पूर्व की अपेक्षा सख्यात-भाग अधिक पर्याय वाला एक सयमस्थान तत्पश्चात् उत्तरोत्तर अनन्तभाग अधिक पर्याय वाले कण्डक प्रमाण सयमस्थान होते है।

तत्पश्चात् पुन एक सयमस्थान सख्याता भाग अधिक होता है। तत्पश्चात् प्रारभ से लेकर अब तक जितने सयमस्थानो का अतिक्रमण हुआ उन सयमस्थानो का उसी क्रम से पुन कथन करना तथा अन्त में सख्याता भाग अधिक वाला एक सयमस्थान रखना। यह सख्येय भागाधिक द्वितीय स्थान हुआ। इसी क्रम से सख्येय भागाधिक तृतीय सयमस्थान कहना चाहिये। वृद्धि का यह क्रम सख्येय भाग अधिक विशुद्धियुक्त सयमस्थान कण्डक प्रमाण बनते है, तब तक चलता है।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त क्रमानुसार सयमस्थानो का अतिक्रमण करते हुए सख्येय भागाधिक के स्थान पर सख्येय गुणाधिक सयमस्थान कहना चाहिये। तत्पश्चात् पुन मूल से लेकर क्रमश सभी सयमस्थानो का अतिक्रमण करते हुए अन्त मे सख्येय गुणाधिक सयमस्थान तब तक कहना चाहिये जब तक कि सख्येय गुणाधिक सयमस्थान कण्डक प्रमाण नही बनते। यथा—

अगले कण्डक का प्रथम सयमस्थान सख्यात गुण वृद्धियुक्त पर्याय वाला होता है। बाद के कण्डक प्रमाण सयमस्थान अनन्त भाग अधिक वृद्धियुक्त पर्याय वाले होते है। उसके बाद एक असख्यात भाग अधिक वृद्धि वाला सयमस्थान आता है। इस प्रकार अनत भाग अधिक पर्याय वाले कण्डको से अन्तरित, असख्यात भाग अधिक पर्याय युक्त सयम-स्थानो वाला एक कण्डक होता है। फिर पूर्वोक्त प्रमाणानुसार सख्यात भाग अधिक सयमस्थानो वाला कण्डक आता है। इस कण्डक की पूर्णाहुति के पश्चात् पूर्व क्रमानुसार, दूसरा सख्यातगुण वृद्ध सयमस्थान आता है। तदनन्तर पुन अनन्त भाग वृद्ध

सयमस्थान वाला कण्डक बनता है। फिर अनन्त भाग वृद्ध सयमस्थान वाले कण्डक से अन्तरित असख्यात भाग वृद्ध सयमस्थानो वाला कण्डक है। तत्पश्चात् उन दोनो से अन्तरित सख्यात भाग वृद्ध सयमस्थान वाले कण्डक आते है। पुन उन तीनो से अन्तरित उत्तरोत्तर सख्यात गुणवृद्ध सयमस्थान वाले कण्डक होते है।

पश्चात्, सख्यात गुणवृद्ध कण्डक के अन्तिम सयमस्थान की अपेक्षा पूर्वोक्तरीत्या अनन्तभाग वृद्ध कण्डक प्रमाण सयमस्थान है। उनके बाद उनसे व्यवहित असख्यात भाग वृद्ध सयमस्थान, फिर दोनो से व्यवहित सख्यात भाग वृद्ध सयमस्थानो का कण्डक आता है। तदनतर क्रमश आगत अनन्त भाग वृद्ध सयमस्थानवर्ती अविभाज्य भागो को असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो से गुणा कर प्राप्त सख्या को पूर्वोक्त कण्डक मे मिलाने से जो सख्या आती है, वह असख्यात गुण-वृद्धि का प्रमाण है। इस प्रकार अनन्तभाग वृद्ध सयमस्थान वाले कण्डक के पश्चात् तुरन्त असख्यात गुणवृद्ध सयमस्थान आता है। तत्पश्चात पूर्वक्रमानुसार कण्डक प्रमाण अनन्तभाग वृद्ध सयमस्थान। अनन्तभागवृद्ध सयमस्थानो से अन्तरित कण्डक प्रमाण असख्यातभागवृद्ध सयमस्थान दोनो से अन्तरित कण्डक प्रमाण सख्यात भाग वृद्ध सयमस्थान-पूर्वोक्त तीनो से अन्तरित कण्डक प्रमाण सख्यात गुण-वृद्ध सयमस्थान फिर दूसरा असख्यात गुणवृद्ध सयमस्थान आता है। इसके बाद इसी क्रम से पूर्वोक्त चारो से व्यवहित असख्यातगुणवृद्ध कण्डक प्रमाण सयमस्थान आते है।

पूर्वोक्त असख्यातगुणवृद्ध सयमस्थान से आगे पूर्वोक्तरीत्या क्रमश—अनन्तभागवृद्ध, असख्यातभागवृद्ध, सख्यातभागवृद्ध, सयमस्थानो से अन्तरित कण्डक प्रमाण सख्यातगुणवृद्ध सयमस्थान आते है। अन्त्य अनन्तभागवृद्ध सयमस्थानवर्ती प्रदेशो से अनन्तगुण अधिक सख्या वाला सयमस्थान अनन्तगुण वृद्ध कहलाता है। तत्पश्चात् क्रमश अनन्तभागवृद्ध कण्डक—एक असख्यातभाग वृद्ध सयमस्थान—अनन्तभागान्तरित असख्यातभाग वृद्ध सयमस्थानो का कण्डक-इन दोनो से व्यवहित सख्यातभागवृद्ध सयमस्थानो का कण्डक पूर्वोक्त तीनो से अन्तरित सख्यातगुणवृद्ध सयमस्थानो का कण्डक—चारो से व्यवहित असख्यात गुणवृद्ध सयमस्थानो वाला कण्डक, तत्पश्चात् दूसरा अनन्तगुणवृद्ध सयमस्थान आता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त क्रमानुसार मूल से लेकर यहाँ तक सभी सयमस्थानो का पुन-पुन कथन तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि अनन्तगुणाधिक सयमस्थान एक कण्डक प्रमाण नही बन जाते।

पश्चात् अनन्तगुणवृद्ध सयमस्थानो से आगे पूर्वोक्तरीति से पुन अनन्तभाग वृद्ध तदन्तरित असख्यातभागवृद्ध—दोनो से अन्तरित सख्यातभागवृद्ध—तीनो से अन्तरित सख्यातगुणवृद्ध—पूर्वोक्त चारो से व्यवहित असख्यात गुणवृद्ध सयमस्थानो वाला कण्डक कहना चाहिये। इसकी पूर्णाहुति के साथ षट्स्थानक पूर्ण हो जाता है, क्योकि आगे अनन्तगुणवृद्धिवाला सयमस्थान नही मिलता। इस प्रकार एक षट्स्थानक मे असख्यात कण्डक होते है और सयमस्थान के कुल मिलाकर ऐसे असख्य लोकाकाश-प्रदेश प्रमाण षट्स्थानक होते है। कहा है कि—

एक षट्स्थानक पूर्ण होने पर दूसरा षट्स्थानक होता है। पुन तीसरा षट्स्थानक होता है। इस प्रकार असख्य लोकाकाश के प्रदेश जितने षट्स्थानक होते है।

षट्स्थानक मे अनतभाग, असख्यातभाग, सख्यातभाग अधिक तथा असख्यातगुण, सख्यातगुण, अनन्तगुण अधिक किस अपेक्षा से है? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

* अनन्तभाग अधिक का अर्थ है—प्रथम सयमस्थानवर्ती अविभाज्य भागो को सर्वजीवराशि से भाग देने पर समागत सख्या अनतभाग है। प्रथम सयमस्थान की अपेक्षा द्वितीय सयमस्थान इतना अधिक होता है। द्वितीय सयमस्थान के अविभाज्य भागो को सर्वजीवराशि से भाग देने पर जो सख्या आती है, तृतीय सयमस्थान द्वितीय सयमस्थान की अपेक्षा इतना अधिक होता है। इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती सयमस्थानो से उत्तरवर्ती सयमस्थान इतना अधिक होने से पूर्वापेक्षा अनन्तभाग अधिक कहलाता है।

* असख्येय भाग अधिक का अर्थ है—पूर्व कण्डक के उत्कृष्ट सयमस्थानवर्ती अविभाज्य भागो को असख्य लोकाकाश के प्रदेशो द्वारा भाग देने से समागत सख्या असख्यभाग है। पूर्व की अपेक्षा इतना अधिक सयमस्थान असख्यात-भागवृद्ध कहलाता है। इस प्रकार आगे भी समझना।

* सख्येयभाग अधिक का अर्थ है—असख्यातभागवृद्ध अन्तिम सयमस्थान के पश्चात् पुन कण्डक प्रमाण अनन्तभागवृद्ध सयमस्थानक आते है। उन सयमस्थानो मे स्थित अविभाज्य भागो को उत्कृष्ट सख्याता की राशि से भाग देने पर, जो सख्या आती है, वह 'सख्यातभाग' का प्रमाण है। इतनी राशि से युक्त सयमस्थान पूर्व की अपेक्षा 'सख्यातभागवृद्ध' कहलाता है।

* सख्यातगुणवृद्ध का अर्थ है—कण्डक के अतिम सयमस्थान के अविभाज्य भागो को उत्कृष्ट सख्याता की राशि से गुणा करने पर जितनी सख्या आती है, वह 'सख्यातगुणा' है तथा उस राशि से युक्त सयमस्थान सख्यातगुणवृद्ध कहलाता है।

* असख्यातगुणवृद्ध का अर्थ है—कण्डक के अतिम सयमस्थान के अविभाज्य भागो को असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो के द्वारा गुणा करने पर जितनी सख्या आती है वह असख्यात गुणा कहलाती है। उस राशि से युक्त सयमस्थान असख्यातगुणवृद्ध कहलाता है।

* अनन्तगुणवृद्ध का अर्थ है—कण्डक के अन्तिम सयमस्थानगत निर्विभाज्य भागो को सर्वजीवराशि प्रमाण अनन्त सख्या से गुणा करने पर जो सख्या आती है, वह अनतगुणा कहलाती है तथा उस राशि से युक्त सयमस्थान अनतगुणवृद्ध कहलाता है।

षट्स्थानक का विचार अत्यत गभीर होने से मन्दबुद्धि वाले आत्मा इसे नही समझ सकते। उनके अववोध के लिये **कर्म-प्रकृति** आदि ग्रन्थो मे यन्त्र रचना की गई किन्तु यहाँ विस्तार भय से यन्त्र रचना नही दी गई। अत जिज्ञासु आत्मा उसके लिये **कर्म-प्रकृति** आदि ग्रन्थ देखे। यन्त्र की सक्षिप्त प्रक्रिया निम्नलिखित है—

सर्वप्रथम तिरछी लाइन मे क्रमश चार शून्य की —०००० स्थापना करना। शून्य की स्थापना कण्डक का तथा शून्य सयमस्थानगत अविभाज्य भागो का प्रतीक है। ये अविभाज्य भाग पूर्व की अपेक्षा क्रमश अनन्तभागवृद्ध है। ४ शून्य के पश्चात् १ सख्या लिखना, ४ शून्य के बाद का १ का अक

असख्यातभागवृद्ध का प्रतीक है। पुन ४ शून्य तथा एक सख्या लिखना। लिखने का यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक कि २० बिन्दु और ४ एक की सख्या न हो जाये। तत्पश्चात् २ सख्या लिखना। २ सख्या सख्यातभागवृद्ध की सूचक है। तदनन्तर पूर्ववत् २० शून्य और चार बार १ सख्या लिखना..पुन दूसरी बार २ की सख्या लिखना.. फिर २० बिन्दु और ४ बार एक की सख्या...तीसरी बार २ की सख्या...फिर २० बिन्दु और ४ बार एक की सख्या..चौथी बार २ की सख्या तत्पश्चात् २० बिन्दु और ४ एक की सख्या पुन लिखना। इस प्रकार कुल मिलाकर १०० बिन्दु, २० एक की सख्या व ४ दो की सख्या होती है।

इसके बाद अन्तिम ४ बिन्दुओ के आगे सख्यातगुणवृद्धि की सूचक ३ की सख्या लिखना। पुन पूर्ववत् १०० बिन्दु, २० एक और ४ दो क्रमश लिखना। तत्पश्चात् दूसरी बार ३ की सख्या लिखना। इस प्रकार क्रमश तीसरी बार और चौथी बार भी ३ की सख्या लिखना। पश्चात् १०० बिन्दु २० एक और ४ दो लिखना। कुल मिलाकर ५०० शून्य, १०० एक, २० दो और ४ तीन होते है। इसके बाद पुन पूर्ववत् ५०० शून्य, १०० एक, २० दो और ४ तीन लिखने के पश्चात् तीन के स्थान पर असख्यातगुणवृद्धि का सूचक ४ का अक लिखना। फिर पूर्ववत् दूसरी..तीसरी और चौथी बार भी वही लिखना। पॉचवी बार मे ४ अक के स्थान पर अनन्तगुण वृद्धि का सूचक ५ का अक लिखना। इस प्रकार क्रमश दूसरी, तीसरी और चौथी बार पॉच का अक लिखना। तत्पश्चात् पुन पॉच के अक के योग्य दलिक की स्थापना करना, किन्तु इसके बाद पुन पॉच का अक नही लिखा जाता कारण 'षट्स्थानक' यही समाप्त हो जाता है। यदि फिर से 'षट्स्थानक' का प्रारम्भ करना हो तो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पुन इसी क्रम को अपनाना पडता है। एक षट्स्थानक मे कुल मिलाकर बिन्दुओ एव अको की सख्या निम्नलिखित है।

एक षटस्थानक मे चार ५, बीस ४, सौ ३, पॉच सौ २, पच्चीस सौ १ और १२५०० बिन्दु होते है ॥१४१८॥

२६१ द्वार : असंहरणीय—

समणीमवगयवेय परिहार-पुलाय-मप्पमत्त च।
चउदसपुव्वि आहारग च न य कोइ सहरइ ॥१४१९॥

—गाथार्थ—

जिनका अपहरण नही होता—१. साध्वी २. केवलज्ञानी ३. परिहारविशुद्ध सयमी ४. पुलाक लब्धिसपन्न ५. अप्रमत्तसंयत ६. चौदह पूर्वी ७. आहारक शरीरी—इनका कोई अपहरण नही कर सकता॥१४१९॥

—विवेचन—

१ श्रमणी (शुद्ध ब्रह्मचारिणी)
२ क्षपितवेदी (जिनका वेद क्षय हो चुका है)
३ परिहारविशुद्ध सयमी
४ लब्धि-पुलाक
५ अप्रमत्त-साधु
६ चौदह-पूर्वी
७ आहारक-शरीरी (सभी चौदहपूर्वी आहारकलब्धि सपन्न नही होते, इसलिये दोनो को अलग-अलग कहा)।

विद्याधर, देव आदि के द्वारा वैर, राग या अनुकम्पावश इनका अपहरण नही हो सकता ॥१४१९ ॥

२६२ द्वार : अंतरद्वीप—

चुल्लहिमवतपुव्वावरेण विदिसासु सायरं तिसए।
गंतूणंतरदीवा तिन्नि सए हुति विच्छिन्ना ॥१४२० ॥
अउणावन्ननवसए किचूणे परिहि तेसिमे नामा।
एगोरुअ आभासिय वेसाणी चेव नगूली ॥१४२१ ॥
एएसिं दीवाणं परओ चत्तारि जोयणसयाणि।
ओगाहिऊण लवणं सपडिदिसि चउसयपमाणा ॥१४२२ ॥
चत्तारंतरदीवा हयगयगोकन्नसंकुलीकन्ना।
एव पंचसयाइ छससय सत्तट्ठ नव चेव ॥१४२३ ॥
ओगाहिऊण लवणं विक्खभोगाहसरिसया भणिया।
चउरो चउरो दीवा इमेहि नामेहि नायव्वा ॥१४२४ ॥
आयसमिंढगमुहा अयोमुहा गोमुहा य चउरो ए।
अस्समुहा हत्थिमुहा सीहमुहा चेव वग्घमुहा ॥१४२५ ॥
तत्तोय आसकन्ना हरिकन्न अकन्न कन्नपावरणा।
उक्कमुहा मेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदत्ता य ॥१४२६ ॥
घणदत लट्ठदता य गूढदंता य सुद्धदंता य।
वासहरे सिहरिमि य एवं चिय अट्ठवीसा वि ॥१४२७ ॥

तिन्नेव हुंति आई एगुत्तरवड्डिया नवसयाओ।
ओगाहिऊण लवण तावइय चेव विच्छिन्ना ॥१४२८ ॥
संति इमेसु नरा वज्जरिसहनारायसहणणजुत्ता।
समचउरसगसंठाणसंठिया देवसमरूवा ॥१४२९ ॥
अट्ठधणुस्सयदेहा किचूणाओ नराण इत्थीओ।
पलियअसंखिज्जइभागआऊया लक्खणो वेया ॥१४३० ॥
दसविहकप्पदुमपत्तवछिया तह न तेसु दीवेसु।
ससि-सूर-गहण-मक्कूण-जूया-मसगाइया हुति ॥१४३१ ॥

—गाथार्थ—

अन्तर्द्वीप—लघुहिमवंत पर्वत से पूर्व-पश्चिम की ओर चारो विदिशाओ में तीन सौ योजन समुद्र मे जाने के पश्चात् अन्तर्द्वीप है। ईशानादि चारो विदिशाओं के पहिले अन्तर्द्वीपो के क्रमश ये नाम है—१. एकोरुक २. आभासिक ३. वैषाणिक एव ४. नागूली। इन चारो अन्तर्द्वीपो का विस्तार तीन सौ योजन का तथा इनकी परिधि नौ सौ उनचास योजन की है॥१४२०-१४२१॥

इन अन्तर्द्वीपों के पश्चात् चारो विदिशाओं मे चार सौ योजन विस्तृत क्रमश १. हयकर्ण २. गजकर्ण ३. गोकर्ण एव ४. शष्कुलिकर्ण नामक चार अन्तर्द्वीप है। ये लवण समुद्र की जगती से चार सौ योजन दूर समुद्र में स्थित है। इसी तरह लवण समुद्र मे पॉच सौ, छ सौ, सात सौ, आठ सौ एवं नौ सौ योजन दूर जाने पर चारो विदिशाओ मे लंबाई-चौडाई में सदृश परिमाण वाले चार-चार द्वीप है। जिनके नाम है—३ आदर्शमुख, मेंढकमुख, अधोमुख और गोमुख। ४ अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख और व्याघ्रमुख। ५. अश्वकर्ण, हरिकर्ण, अकर्ण और कर्णप्रावरण। ६. उल्कामुख, मेघमुख, विद्युन्मुख, विद्युद्दंत। ७. घनदत, लष्टदत, गूढ़दत और शुद्धदंत। शिखरी पर्वत पर भी इसी तरह अट्ठावीस द्वीप है। तीन सौ योजन से लेकर नौ सौ योजन पर्यत मे ये द्वीप स्थित है। पूर्वोक्त द्वीपों के अनुसार ही इनका विस्तार समझना चाहिये॥१४२२-१४२८॥

इन द्वीपो मे प्रथम सघयण एव संस्थानयुक्त, देवतुल्य रूपवान, आठ सौ धनुष ऊँचे, स्त्रियॉ किंचिन्न्यून ऊँचाई वाली, पल्योपम के असंख्यातवे भाग परिमाण आयु वाले, समग्र शुभलक्षणो से युक्त युगलिक निवास करते है। वे दस प्रकार के कल्पवृक्षो से अपनी इच्छापूर्ति करते है। इन द्वीपों पर चन्द्र-सूर्य का ग्रहण, खटमल, जू, डास-मच्छर आदि नही होते॥१४२९-३१॥

—विवेचन—

अन्तर्द्वीप = समुद्र के भीतर-स्थित द्वीप अन्तरद्वीप कहलाते है।

जबूद्वीप मे भरत और हेमवत क्षेत्र की सीमा बॉधने वाला पूर्व-पश्चिम की ओर लम्बा, जिसके दोनो छोर लवण समुद्र को छूते है जो महाहिमवत पर्वत की अपेक्षा छोटा है ऐसा क्षुल्ल हिमवन्त पर्वत है। उस पर्वत के पूर्व-पश्चिम छोर से गजदन्त के आकार वाली दो-दो शाखाये निकल कर क्रमश ईशान कोण, अग्नि कोण, नैऋत्य कोण एव वायु-कोण की तरफ जाती है।उन शाखाओ पर क्रमश

सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार चार शाखाओ के कुल मिलाकर ७ × ४ = २८ अन्तरद्वीप हैं। इन २८ अन्तरद्वीपो को चार-चार के समूह मे विभक्त करने से सात चतुष्क बनते हैं।

प्रथम चतुष्क		दिशा	विस्तार	परिधि
(i)	एकेरूक द्वीप	ईशान-कोण	लबाई-चोडाई	९४९
(ii)	आभासिक द्वीप	अग्नि-कोण	३०० योजन	यो
(iii)	वैषणिक द्वीप	नैत्रऽत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	नाङ्गलिक द्वीप	वायु-कोण	३०० योजन	न
दूसरा चतुष्क				
(i)	हयकर्ण	ईशान-कोण	लवाई-चौडाई	१२६५
(ii)	गजकर्ण	अग्नि-कोण	४०० योजन	यो
(iii)	गोकर्ण	नैत्रऽत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	शष्कुली	वायु-कोण	४०० योजन	न
तीसरा चतुष्क				
(i)	आदर्श मुख	ईशान-कोण	लवाई-चौंडाई	१५८१
(ii)	मेण्ढक मुख	अग्नि-कोण	५०० योजन	यो
(iii)	अयोमुख	नैत्रऽत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	गोमुख	वायु-कोण	५०० योजन	न
चौथा चतुष्क				
(i)	अश्वमुख	ईशान-कोण	लबाई-चौडाई	१८९७
(ii)	हस्तिमुख	अग्नि-कोण	६०० योजन	यो
(iii)	सिंहमुख	नैत्रऽत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	व्याघ्रमुख	वायु-कोण	६०० योजन	न
पाँचवाँ चतुष्क				
(i)	अश्वकर्ण	ईशान-कोण	लबाई-चौडाई	२२१३
(ii)	हरिकर्ण	अग्नि-कोण	७०० योजन	यो
(iii)	आकर्ण	नैत्रऽत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	प्रावरण	वायु-कोण	७०० योजन	न
छट्ठा चतुष्क				
(i)	उल्कामुख	ईशान-कोण	लबाई-चौडाई	२५२९
(ii)	मेघमुख	अग्नि-कोण	८०० योजन	यो
(iii)	विद्युन्मुख	नैत्रऽत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	विद्युत्दन्त	वायु-कोण	८०० योजन	न

सातवॉ चतुष्क दिशा विस्तार परिधि

(i) घनदन्त	ईशान-कोण	लबाई-चौडाई	२८४५
(ii) लष्ट दन्त	अग्नि-कोण	९०० योजन	यो
(iii) गूढ दन्त	नैऋत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv) शुद्ध दन्त	वायु-कोण	९०० योजन	न

ये सभी द्वीप दो कोस ऊँची एव ५०० योजन चौडी पद्मवर वेदिका से परिवृत है। वेदिका रमणीय वनो से सुशोभित है।

इसी प्रकार शिखरी पर्वत से निकली हुई शाखाओ पर पूर्वोक्त नाम एव प्रमाण वाले २८ द्वीप है। ये सब मिलकर २८ + २८ = ५६ अन्तरद्वीप होते है।

अन्तरद्वीप के निवासी मनुष्यों का स्वरूप

- प्रथम सघयण-सस्थान वाले।
- देवताओ के तुल्य रूप-लावण्य आकार वाले।
- ८०० धनुष देह प्रमाण वाले (स्त्रियो का देह प्रमाण कुछ कम होता है)
- पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण आयुष्य वाले।
- रीति-नीति से युगल धर्म वाले।
- सभी प्रकार के शुभ लक्षणो से युक्त।
- १० प्रकार के कल्पवृक्षो द्वारा अपनी इच्छा-पूर्ति करने वाले।
- स्वभावत मदकषायी, सन्तोषी, निरुत्सुक, मृदु और सरल स्वभाव वाले।
- ममत्व एव वैर रहित, अहमिन्द्र, हाथी, घोडे आदि वाहन होने पर भी पैदल चलने वाले।
- ज्वर आदि रोग, भूत-पिशाच आदि ग्रहो की पीडा से रहित, एकान्तर आहार करने वाले।
- शालि आदि धान्य से निष्पन्न भोजन नही करने वाले परन्तु मिश्री व चक्रवर्ती के भोजन से भी अधिक मधुर मिट्टी एव कल्पवृक्ष के पुष्प, फल का आहार करने वाले।

इनके शरीर मे ६४ पसलियॉ होती है। आयुष्य के छ महीने शेष रहने पर एक युगल को जन्म देकर ७९ दिन पर्यन्त उनका पालन-पोषण करते है। तत्पश्चात् मन्दकषायी होने से मरकर निश्चित रूप से देवलोक मे जाते है। मृत्यु के समय इन्हे जरा भी शारीरिक वेदना नही होती। इन द्वीपो मे अनिष्ट-सूचक चन्द्र-सूर्य ग्रहण, प्राकृतिक उपद्रव, खटमल, मक्खी, मच्छर, जू आदि के उपद्रव नही होते। सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी क्षेत्र के प्रभाव से हिंसा नही करते। वहॉ रहने वाले सभी प्राणी रौद्र-भाव रहित होते है। इसी से वहॉ के तिर्यच भी मरकर देवलोक मे ही जाते है। वहॉ की पृथ्वी धूल, कटक आदि से रहित समतल और अति-रमणीय होती है ॥१४२०-३१॥

लवण समुद्र में ५६ अन्तर्द्वीप
उत्तर
लवण
ऐरवत क्षेत्र
पश्चिम
जगती
जंबू
मेरु पर्वत
द्वीप
जगती
पूर्व
भरत-क्षेत्र
दाढायें प्रत्येक पर ७-७ अन्तर्द्वीप
दाढायें प्रत्येक पर ७-७ अन्तर्द्वीप
समुद्र
दक्षिण
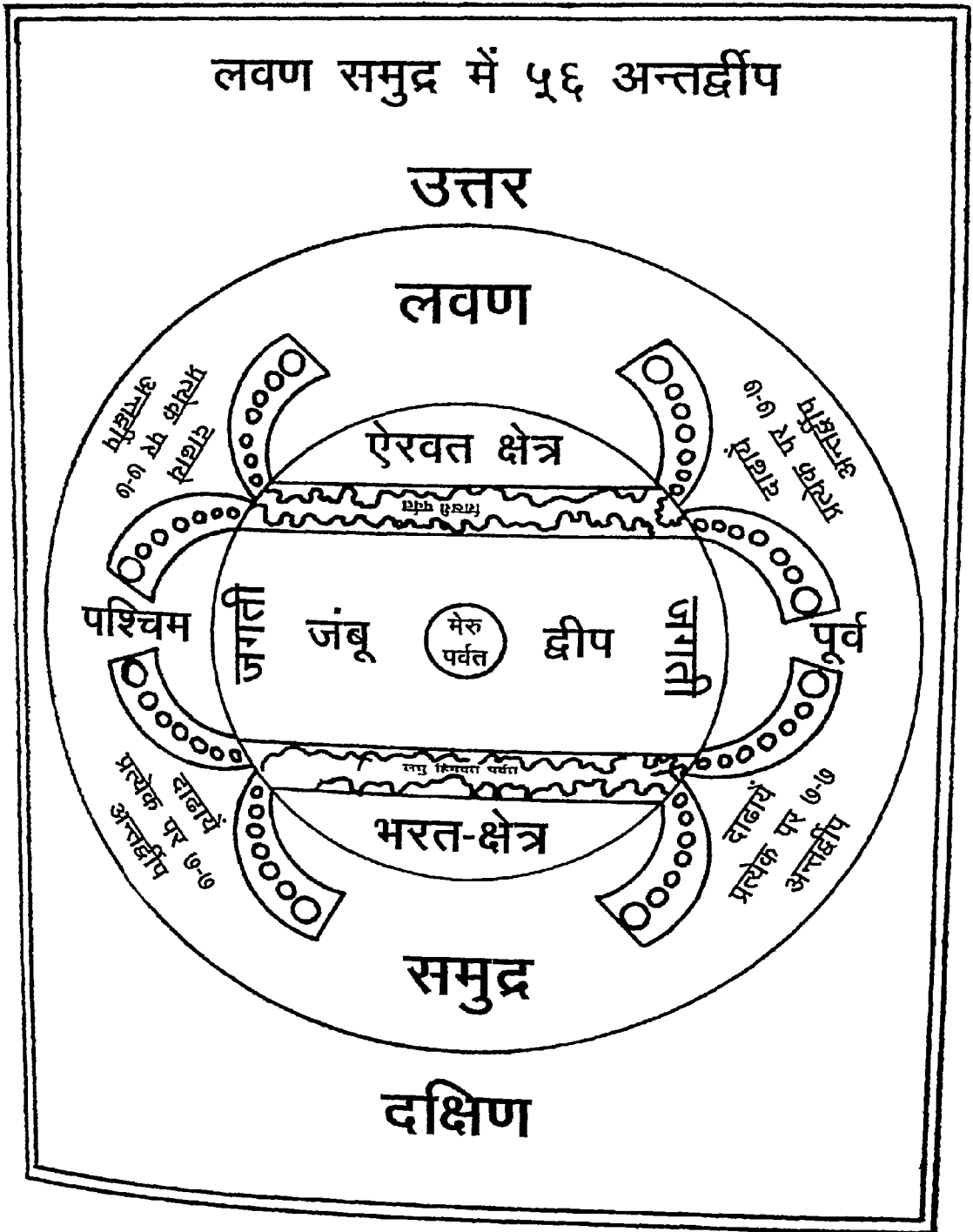
२६३ द्वार : जीव-अजीव का अल्प-बहुत्व

नर नेरईया देवा सिद्धा तिरिया कमेण इह हुति।
थोव असख असखा अणंतगुणिया अनंतगुणा ॥१४३२॥
नारी नर नेरइया तिरिच्छि सुर देवि सिद्ध तिरिया य।
थोव असखगुणा चउ सखगुणाऽणंतगुण दोन्नि ॥१४३३॥
तस तेउ पुढवि जल वाउकाय अकाय वणस्सइ सकाया।
थोव असंखगुणाहिय तिन्नि दोऽणंतगुणअहिया ॥१४३४॥
पण चउ ति दु य अणिदिय एगिदि सइदिया कमा हुति।
थोवा तिन्नि य अहिया दोऽणंतगुणा विसेसहिया ॥१४३५॥
जीवा पोग्गल समया दव्व पएसा य पज्जवा चेव।
थोवाणताणता विसेसअहिआ दुवेऽणता ॥१४३६॥

—गाथार्थ—

जीव-अजीव का अल्पबहुत्व—मनुष्य अल्प है उनसे नरक के जीव असख्य गुण है। उनसे देव असख्य गुण है। उनसे सिद्ध अनन्तगुण है और उनसे तिर्यच अनन्तगुण है ॥१४३२॥

स्त्रियाँ अल्प है। उनसे मनुष्य असंख्य गुण है। मनुष्यो की अपेक्षा नरक के जीव असख्यगुणा है। उनसे तिर्यच स्त्रियाँ असंख्य गुण है। उनसे देव असख्यगुण है। उनसे देवियाँ असख्यगुण है। उनसे सिद्ध अनंतगुण है और सिद्धों से तिर्यच अनन्तगुण है ॥१४३३॥

त्रस अल्प है, उनसे क्रमश तेउकाय, पृथ्विकाय, अप्काय, वायुकाय और अकाय असंख्यगुण अधिक है। वनस्पतिकाय और सकाय अनन्तगुण अधिक है ॥१४३४॥

सबसे थोड़े पचेन्द्रिय है। उनसे चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं द्वीन्द्रिय विशेषाधिक है। उनकी अपेक्षा अनीन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुण है। उनसे सइन्द्रिय जीव विशेषाधिक है ॥१४३५॥

जीव सबसे अल्प है। उनसे पुद्गल अनन्तगुण है। उनसे काल अनन्तगुण है। समय की अपेक्षा द्रव्य विशेषाधिक है। द्रव्य की अपेक्षा प्रदेश और पर्याय क्रमश अनन्तगुणा है ॥१४३६॥

—विवेचन—

सब से अल्प गर्भज मनुष्य है, क्योकि वे सख्याता कोटाकोटी है। अर्थात् सात रज्जु लबी और एक आकाश प्रदेश चौडी श्रेणि के अगुल परिमाण क्षेत्र के प्रदेशो की जो सख्या है उसके प्रथम वर्गमूल का तीसरे वर्गमूल की प्रदेश सख्या से गुणा करने पर जो प्रदेश राशि होती है उसी के समरूप मनुष्यो की सख्या है। माना कि अगुल परिमाण क्षेत्र मे २५६ आकाश प्रदेश है। उनका प्रथम वर्गमूल १६, द्वितीय वर्गमूल ४ तथा तृतीय वर्गमूल २ है। प्रथम वर्गमूल १६ को तृतीय वर्गमूल २ से गुणा करने

पर ३२ सख्या आती है अत असत्कल्पना से मनुष्यो की अधिकतम सख्या ३२ हुई। ऐसा समझना चाहिये।

मनुष्य की अपेक्षा नरक के जीव असख्याता गुणा है, जैसे घनीकृत लोक की सात रज्जु लवी ऊँची और एक आकाश प्रदेश चौडी सूची-श्रेणियो मे जितने आकाश प्रदेश होते है, उतने नरक के जीव है।

श्रेणियो का प्रमाप—एक अगुल प्रमाण क्षेत्र मे जितने आकाश प्रदेश होते है, उनके तीन वर्गमूल निकालकर पहले और तीसरे वर्गमूल का गुणा करना। गुणनफल की जितनी सख्या आये, उतनी सूची श्रेणी समझना। माना कि अगुल प्रमाण क्षेत्र मे दो सौ छप्पन आकाश प्रदेश है, उनका प्रथम वर्गमूल १६, द्वितीय वर्गमूल ४ और तृतीय वर्गमूल २ है। प्रथम वर्गमूल १६ को तृतीय वर्गमूल २ से गुणा करने पर १६ × २ = ३२ होते है। अत ३२ श्रेणियो के आकाश प्रदेश प्रमाण नरक के जीव है।

नरक-जीवो की अपेक्षा देवता असख्यात गुण अधिक है क्योंकि व्यतर, ज्योतिष देव असख्याता है।

देवताओ का प्रमाण—

भवनपति—भवनपति देवो की सख्या प्रतर के असख्यातवे भाग मे स्थित श्रेणियो के आकाश प्रदेशो के समरूप है। श्रेणियो की रीति निम्न है—

अगुल प्रमाण क्षेत्र मे जितने आकाश-प्रदेश होते है, उनका एक वार वर्गमूल निकालना। वर्गमूल की सख्या से प्रतर के मूल सख्या का गुणा करने पर जितनी सख्या आती है, उतनी श्रेणियो की सख्या समझना। इतनी प्रतर श्रेणियो मे जितने आकाश प्रदेश होते है उतने भवनपति देव है।

व्यंतर-ज्योतिषी—सात राज ऊँचे, लम्बे तथा एक आकाश-प्रदेश चौडे प्रतर के असख्यात भागवर्ती सात राज ऊँची और एक आकाश-प्रदेश चौडी सूची श्रेणियो के आकाश-प्रदेश प्रमाण व्यन्तर और ज्योतिष देव है।

सिद्ध—देवो की अपेक्षा सिद्ध अनतगुणा है। सिद्धो का विरह-काल अधिक से अधिक छ महीने का है। छ महीने के पश्चात् कोई न कोई आत्मा अवश्य ही सिद्ध होता है। सिद्धिगमन अनन्त काल से चल रहा है तथा सिद्ध होने के पश्चात् आत्मा का ससार मे पुनरागमन नही होता।

सिद्धो की अपेक्षा तिर्यच अनन्तगुण है। कारण-तिर्यचगति मे असख्यात निगोद का समावेश होता है।

(अ) चौदह रज्जुप्रमाण लोक के जितने आकाश-प्रदेश है उनसे अनतगुण अधिक है।

(ब) अनन्तकाल बीतने के बाद भी एक निगोद का अनन्तवॉ भाग ही सिद्ध होता है।

(स) निगोद असख्याता है और एक-एक निगोद मे सिद्धो की अपेक्षा अनन्तगुण अधिक जीव होते है।

नारक, तिर्यच पुरुष व स्त्री, मनुष्य-मानुषी, देव-देवी और सिद्धों का अल्पबहुत्त्व—

सबसे अल्प मनुष्य स्त्री है क्योकि वे सख्याता कोडाकोडी है।

स्त्री की अपेक्षा मनुष्य असख्याता गुणा है (मनुष्य समूर्च्छिम और गर्भज दोनो समझना। मात्र गर्भज ले तो मनुष्य की अपेक्षा स्त्रियाँ ही अधिक है। यद्यपि समूर्च्छिम मनुष्य नपुसक है तथापि यहॉ वेद की अविवक्षा करके सामान्यत मनुष्य जाति का ग्रहण किया गया है।)

वमन, नगर की खाल आदि चौदह स्थानो मे उत्पन्न होने वाले समूर्च्छिम मनुष्य असख्याता है।

मनुष्य की अपेक्षा नरक के जीव असख्यात गुण अधिक है। अगुल-प्रमाण क्षेत्रवर्ती आकाश-प्रदेशो के पहले और तीसरे वर्गमूल को गुणा करने पर जितनी सख्या आती है, उतनी सूची श्रेणियो के आकाश-प्रदेश प्रमाण नरक के जीव है। जबकि मनुष्य उत्कृष्ट से भी श्रेणि के असख्येय भागवर्ती आकाश-प्रदेश की राशि परिमाण है।

नारक जीवो की अपेक्षा तिर्यच स्त्रियाँ असख्याता गुणा अधिक है। क्योकि सात राज लम्बे और सात राज ऊँचे तथा एक आकाश प्रदेश चौडे प्रतर के असख्यातवे भाग मे सात राज ऊँची और एक आकाश-प्रदेश चौडी जितनी सूची-श्रेणियाँ है, उतनी सूची-श्रेणियो के आकाश-प्रदेश परिमाण तिर्यच स्त्रियाँ होती है।

तिर्यच स्त्रियो की अपेक्षा देव असख्यात गुणा है, कारण देवता असख्यातगुण विस्तृत प्रतर के असख्यातवे भागवर्ती असख्यात सूची-श्रेणियो के आकाश प्रदेश परिमाण है।

देवो की अपेक्षा देवियाँ सख्यात गुणा है, कारण देवियाँ उनसे बत्तीस गुणी अधिक है।

देवियो की अपेक्षा सिद्ध अनत गुण है, क्योकि वे एक निगोद के अनन्तवे भाग जितने होते है।

सिद्धो की अपेक्षा तिर्यच अनन्तगुण है, क्योकि तिर्यच गति मे असख्यात निगोद का समावेश होता है तथा एक निगोद मे सिद्धो की अपेक्षा अनतगुण जीवराशि है।

काया की अपेक्षा अल्प-बहुत्व—

सबसे अल्प त्रसकायिक जीव है। क्योकि द्वीन्द्रिय आदि ही त्रसकाय है।

सात राज लम्बे, सात राज चौडे और एक आकाश-प्रदेश मोटे प्रतर के असख्यात कोटाकोटि योजन प्रमाण भाग मे स्थित सूची-श्रेणियो के जितने आकाश-प्रदेश है, उतने त्रसकायिक जीव है।

त्रसकाय जीवो की अपेक्षा तैजस्काय के जीव असख्याता गुणा है। ये चौदह राज लोक जितने प्रमाप वाले असख्यात लोको के आकाश प्रदेश के तुल्य है।

तेजस्काय जीवो से पृथ्वीकाय के जीव विशेषाधिक है। पूर्ववत् वे भी असख्यात लोको के आकाश-प्रदेश के तुल्य है किन्तु पूर्व के असख्याता की अपेक्षा यह असख्याता कुछ अधिक समझना। इसी मे पृथ्वीकाय के जीव विशेषाधिक होते है।

पृथ्वीकाय के जीवो की अपेक्षा अप्कायिक जीव विशेष अधिक है (पूर्ववत्)।

अप्काय जीवो की अपेक्षा वायुकायिक जीव विशेषाधिक है (पूर्ववत्)।

पूर्वोक्त सभी जीवो की अपेक्षा सिद्ध अनत गुण है।

सिद्धो की अपेक्षा वनस्पति कायिक अनन्त गुणा है। वे अनन्त-लोकवर्ती आकाश-प्रदेश के तुल्य है।

वनस्पति जीवो की अपेक्षा सकायिक जीव अधिक है, क्योकि इसमे पृथ्विकाय आदि सभी जीवो का समावेश होता है।

इन्द्रियो की अपेक्षा अल्प-बहुत्व—

(i)	पचेन्द्रिय	=	सबसे अल्प है, क्योकि सख्याता कोडाकोडी योजन प्रमाण विष्कभ सूची से परिमित प्रतर के असख्यातवे भाग मे स्थित असख्याती श्रेणियो के जितने आकाश-प्रदेश है, उतने पचेन्द्रिय जीव है।
(ii)	चतुरिन्द्रिय	=	विशेषाधिक। पूर्वोक्त विष्कभ-सूची के सख्याता की अपेक्षा इनका सख्याता अधिक है। (सख्याता के सख्याता भेद है)
(iii)	त्रीन्द्रिय	=	विशेषाधिक। पूर्वोक्त विष्कभ सूची के सख्याता की अपेक्षा इनका सख्याता अधिकतम है।
(iv)	द्वीन्द्रिय	=	विशेषाधिक। पूर्वोक्त विष्कभ सूची के सख्याता की अपेक्षा इनका सख्याता अधिकतम है।
(v)	अनिन्द्रिय	=	अनन्तगुणा है। सिद्ध अनन्त है।
(vi)	एकेन्द्रिय	=	सिद्धो की अपेक्षा अनन्तगुणा है, क्योकि वनस्पति के जीव सिद्धो की अपेक्षा अनन्त है।
(vii)	सेन्द्रिय	=	पूर्व की अपेक्षा विशेषाधिक (सेन्द्रिय मे एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के सभी जीव आ जाते है)।

जीव और पुद्गल का अल्प-बहुत्व—

जीव सबसे अल्प है। कारण निम्न है—

जीव की अपेक्षा पुद्गल अनन्तगुणा है, क्योकि पुद्गल द्रव्य के परमाणु से लेकर द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनन्तप्रदेशी, अनन्तानन्त स्कन्ध होते है। यद्यपि पुद्गलद्रव्य अनन्त है, तथापि सामान्यत उनके तीन भेद है।

(i) प्रयोग-परिणत—जो पुद्गल जीव के प्रयत्न से विशेष परिणाम प्राप्त करता है।

(ii) मिश्र-परिणत—जो पुद्गल-द्रव्य अपने सहज-स्वभाव एव जीव के प्रयत्न द्वारा विशेष परिणाम प्राप्त करता है।

(iii) विस्रसा परिणत—जो पुद्गल-द्रव्य अपने सहज स्वभाव से ही विशेष परिणाम प्राप्त करता है।

जीवो की अपेक्षा प्रयोग-परिणत पुद्गल-द्रव्य अनन्तगुणा है, क्योकि प्रत्येक ससारी जीव अपने-अपने प्रयत्न के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि कर्म के रूप मे परिणत बने अनत-अनत पुद्गल स्कधो से आवृत रहते है।

प्रयोग-परिणत पुद्गल-द्रव्य की अपेक्षा मिश्र-परिणत पुद्गल द्रव्य अनन्तगुण है।

मिश्र-परिणत पुद्गल-द्रव्य की अपेक्षा विस्रसा-परिणत पुद्गल द्रव्य अनन्तगुण है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव सब से अल्प है।

पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा समय अनन्तगुण है। कारण, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा एक परमाणु का भावी समय अनन्त है। इस प्रकार अनन्त परमाणुओं का, सभी द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी स्कन्धो का भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से भावी समय अनन्त हैं तथा सभी का अतीत काल भी अनन्त है। अत यह सिद्ध हे कि पुद्गल की अपेक्षा समय अनन्तगुणा हे।

समय की अपेक्षा सर्व-द्रव्यो की सख्या विशेषाधिक हैं, क्योकि द्रव्यो मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और समय सभी का समावेश होता हैं। क्योकि सारे द्रव्य मिलकर भी अद्धासमय के अनन्तभाग जितने ही होते है। अत उनको सम्मिलित करने पर भी समय की अपेक्षा सर्वद्रव्य की सख्या विशेषाधिक ही होती है।

सर्व-द्रव्यो की अपेक्षा सर्व-प्रदेशो की सख्या अनन्तगुण ह। क्योकि दूसरे द्रव्यो के प्रदेशो की अपेक्षा, केवल अलोकाकाश के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं।

सर्वद्रव्य प्रदेशो की अपेक्षा उनके पर्याय अनन्तगुण हैं, क्योंकि एक-एक आकाश-प्रदेश मे अनन्त-अनन्त अगुरु-लघु पर्याये होती है ॥१४३२-३६ ॥

२६४ द्वार : युगप्रधान-सूरि-संख्या

जा दुप्पसहो सूरी होहिति जुगप्पहाण आयरिया।
अज्जसुहुम्मप्पभिई चउसहिया दुन्नि य सहस्सा ॥१४३७ ॥

—गाथार्थ—

युगप्रधान आचार्यो की सख्या—**आर्य सुधर्मास्वामी से लेकर दुप्पसहसूरि पर्यत दो हजार और चार युगप्रधान आचार्य होंगे ॥१४३७ ॥**

—विवेचन—

युगप्रधान = परमात्मा के शासन के रहस्य को जानने वाले, विशिष्टतर मूल और उत्तरगुण से सम्पन्न प्रस्तुत काल की अपेक्षा से भरतक्षेत्र मे प्रधानभूत आचार्य।

आर्य सुधर्मा, जबू, प्रभव, स्वयभव आदि गणधरो की पट्ट-परम्परा से लेकर पॉचवे आरे के अतिम युगप्रधान दुप्पसहसूरि तक = २००४ युगप्रधान होते है।

- **महानिशीथ मे—**

**'इत्थं चायरियाण पणपन्ना होति कोडिलक्खाओ।
कोडिसहस्से कोडिसए य तह इत्तिए चेवत्ति ॥'**

यहॉ ५५ लाख करोड, ५५ हजार करोड, ५५ सौ करोड की सख्या आचार्यो की बताई है, वह सामान्य मुनिपति की अपेक्षा से बतायी है। यह सख्या युगप्रधान आचार्यो की नही है, क्योकि उसी

सूत्र मे आगे कहा है कि—

'एएसिं मज्झाओ एगे निव्वडइ गुणगणाइन्ने।

सव्वुत्तमभंगेणं तित्थयरस्साणुसरिस गुरू॥'

अर्थात् इन सामान्य आचार्यों मे से सर्वोत्तम भागे मे गुणगुण से समन्वित तीर्थकर के तुल्य कुछ आचार्य होते है।

आर्य = आरात् + यात जो सभी हेयधर्मो से दूर हो चुके है, वे आर्य कहलाते है।

सब से अन्तिम आचार्य दुप्पसहसूरि होगे।

दुप्पसहसूरि—पॉचवे आरे के अत मे होगे। इनका शरीर प्रमाण दो हाथ एव आयुष्य बीस वर्ष की होगी। महान् तपस्वी एव आसन्न मुक्तिगामी होगे। मात्र **दशवैकालिक** के ज्ञाता होने पर भी चौदहपूर्वी की तरह इन्द्र से भी पूज्य होगे॥१४३७॥

२६५ द्वार : श्रीभद्रकृत्तीर्थप्रमाण—

ओसप्पिणिअतिमजिण-तित्थं सिरिरिसहनाणपज्जाया।

सखेज्जा जावइया तावयमाण धुव भविही॥१४३८॥

—गाथार्थ—

उत्सर्पिणी के अन्तिम जिन का शासन-परिमाण—**ऋषभदेव परमात्मा के केवलज्ञान के पर्यायों की जितनी सख्या है, उतने काल तक उत्सर्पिणी के अन्तिम तीर्थकर भद्रकृत् जिनेश्वर का शासन चलेगा**॥१४३८॥

—विवेचन—

ऋषभदेव परमात्मा का केवलज्ञान पर्याय एक हजार वर्ष न्यून एक लाख पूर्व वर्ष का है। उनकी केवलज्ञानी अवस्था की जितनी पर्याये है, इतने काल परिमाण का उत्सर्पिणी के अन्तिम तीर्थकर अर्थात् २४वे तीर्थकर भद्रकृत् का शासनकाल होगा। साराश यह है कि भद्रकृत् तीर्थकर का शासन काल सख्याता लाख पूर्व वर्ष का होगा॥१४३८॥

२६६ द्वार : देवों का प्रविचार—

दो कायप्पवियारा कप्पा फरिसेण दोन्नि दो रूवे।

सद्दे दो चउर मणे नत्थि वियारो उवरि यत्थी॥१४३९॥

गेविज्जणुत्तरेसुं अप्पवियारा हवंति सव्वसुरा।
सप्पवियारठिईण अणंतगुणसोक्खसजुत्ता ॥१४४० ॥

—गाथार्थ—

देवो का प्रविचार—**प्रथम दो देवलोक मे कायप्रविचार है। तीसरे-चौथे देवलोक में स्पर्श-प्रविचार है। पॉचवें-छट्ठे में रूप-प्रविचार, सातवें-आठवें मे शब्द-प्रविचार तथा शेष चार में मन-प्रविचार है। ऊपरवर्ती देवों में प्रविचार नही है ॥१४३९ ॥**

नवग्रैवेयक एवं पॉच अनुत्तर के सभी देव मैथुन संज्ञा से रहित है। अप्रविचारी देव सप्रविचारी देवों की अपेक्षा अनन्तगुण सुखसपन्न है ॥१४४० ॥

—विवेचन—

'द्वौ कल्पौ' यहॉ कल्प शब्द मर्यादा का वाचक है। कल्प = मर्यादा, व्यवहार अर्थात् जहॉ सेव्य-सेवक भाव, ऊॅच-नीच आदि का व्यवहार हो, वह कल्प है। वहॉ रहने वाले देव कल्पस्थ कहलाते है।

प्रविचार का अर्थ है मैथुन क्रिया।

१. भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष् एव सौधर्म-ईशान देवलोक के देव अत्यन्त क्लेशकारक प्रबल पुरुषवेद के उदय से मनुष्य की तरह मैथुनक्रिया मे आसक्त होकर सर्वागीण कायक्लेशजन्य स्पर्श सुख को अनुभव करके ही तृप्त होते है, अन्यथा नही।

काय-प्रविचार = मनुष्य की तरह शारीरिक सम्बन्ध द्वारा जो देव मैथुन सेवन करते है, वे काय-प्रविचारी कहलाते है।

२ सनत्कुमार और महेन्द्र देवलोक के देव, देवी के स्पर्श द्वारा मैथुन का सुख मानते है। इन देवो को जब मैथुन की अभिलाषा होती है तब वे देव देवियो के अग-स्पर्श के द्वारा अपनी इच्छापूर्ति करते है। देवियॉ भी देवो के स्पर्शजन्य दिव्य प्रभाव से अपने शरीर मे शुक्र के पुद्गलो का सचार होने से अपार सुख का अनुभव करती है। इस प्रकार ऊपर के देवो का भी समझना। ये देव स्पर्श प्रविचारी है।

३ ब्रह्मलोक और लान्तक देवलोक के देव देवियो का रूप देखकर मैथुन सुख की अनुभूति करते है। अर्थात् देवियो के उन्मादकारी रूप का दर्शन करके ही यहॉ के निवासी देव वासनापूर्ति का आनन्द प्राप्त कर लेते है। ये देव रूप-प्रविचारी है।

४ शुक्र और सहस्रार इन दो देवलोक के देव देवियो के शब्द सुनकर अर्थात् देवियो के विलासयुक्त गीत, हास्य, वार्तालाप, आभूषणो की आवाज आदि सुनकर अत्रस्थित देव उपशात वेदी बनते है। ये देव शब्द प्रविचारी है।

५ आनत, प्राणत, आरण व अच्युत देवलोक के देव मानसिक विचारो से ही मैथुन का आनन्द लेते है अत ये मन प्रविचारी है। अर्थात् इन देवो को जब वेदोदय होता है तब वे देवियो के मन को

अपने चिन्तन का विषय बनाते है। देवियाँ उनके सकल्प से अनभिज्ञ होने पर भी तथाविध स्वभाववश अद्भुत शृगारादि करके आन्दोलित मन वाली होकर, मन द्वारा ही भोग के लिये तत्पर बनती है। इस प्रकार परस्पर मानसिक सकल्प की स्थिति मे दैविक प्रभाव से देवियो मे शुक्र के पुद्गलो का सक्रमण होता है। इससे दोनो को कायिक वासनापूर्ति की अपेक्षा अनतगुण अधिक सुख की अनुभूति होती है। ग्रैवेयक आदि ऊपर के देवो मे स्त्री-सेवन सर्वथा नही होता।

- ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देव वीतराग प्राय होने से अनन्तसुख सम्पन्न होते है। (यद्यपि ये देवता अप्रविचारी है, तथापि विरतिधारी न होने से ब्रह्मचारी नही कहलाते।)
- शब्द रूप, स्पर्श आदि के द्वारा प्रविचार करने वाले देवता, अपनी शक्ति द्वारा अपने वीर्य पुद्गलो को देवी के शरीर मे सक्रमित करते है, जिससे देवी को सुखानुभूति होती है॥१४३९-४०॥

२६७ द्वार : कृष्णराजी—

पचमकप्पे रिट्ठंमि पत्थडे अट्ठकण्हराईओ।
समचउरंसक्खोडयठिइओ दो दो दिसिचउक्के ॥१४४१॥
पुव्वावरउत्तरदाहिणाहि मज्झिल्लियाहि पुट्ठाओ।
दाहिणउत्तरपुव्वा अवरा बहिकण्हराईओ ॥१४४२॥
पुव्वावरा छलसा तसा पुण दाहिणुत्तरा बज्झा।
अब्भत्तरचउरंसा सव्वावि य कण्हराईओ ॥१४४३॥
आयामपरिक्खेवेहि ताण अस्सखजोयणसहस्सा।
संखेज्जसहस्सा पुण विक्खभे कण्हराईण ॥१४४४॥
ईसाणदिसाईसुं एयाण अतरेसु अट्ठसुवि।
अट्ठ विमाणाइ तह तम्मज्झे एक्कगविमाण ॥१४४५॥
अच्चि तहऽच्चिमालिं वइरोयण पभकरे य चदाभं।
सूराभं सुक्काभ सुपइट्ठाभं च रिट्ठाभ ॥१४४६॥
अट्ठायरट्ठिईया वसंति लोगंतिया सुरा तेसु।
सत्तट्ठभवभवता गिज्जति इमेहिं नामेहिं ॥१४४७॥

सारस्सय-माइच्चा वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य ॥१४४८ ॥
पढमजुयलंमि सत्त उ सयाणि बीयमि चउदस सहस्सा।
तइए सत्त सहस्सा नव चेव सयाणि सेसेसु ॥१४४९ ॥

—गाथार्थ—

कृष्णराजी—**पाँचवें देवलोक के रिष्ट नामक प्रतर मे आठ कृष्णराजियाँ है। वे समचौरस, प्रेक्षास्थान के आकार की है। चारों दिशा में दो-दो है ॥१४४१ ॥**

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजियाँ क्रमश दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम दिशा की बाह्य कृष्णराजियों को स्पर्श करती है ॥१४४२ ॥

पूर्व-पश्चिम की बाह्य कृष्णराजिया छ कोण वाली है और दक्षिण-उत्तर की बाह्य कृष्णराजियाँ तिकोन है। पर आभ्यन्तर सभी कृष्णराजियाँ चतुष्कोण है ॥१४४३ ॥

—विवेचन—

कृष्णराजी—सजीव निर्जीव पृथ्विकाय द्वारा निर्मित दीवारो की पक्तियाँ। पाचवे ब्रह्मलोक नामक देवलोक के तीसरे रिष्टनामक प्रतर की चारो दिशा मे दो-दो कृष्णराजियाँ है। ये प्रेक्षको के बैठने के आसन की तरह समचौरस है। जिसके चारो कोने समान हो, वह समचौरस कहलाती है। पूर्व और पश्चिम की दो-दो कृष्णराजियाँ दक्षिण-उत्तर की तरफ तिरछी फैली हुई है। उत्तर-दक्षिण की दोनो कृष्णराजियाँ पूर्व-पश्चिम की ओर तिरछी फैली हुई है। पूर्व दिशा की अभ्यतर कृष्णराजी दक्षिण दिशा की बाह्य कृष्णराजी को छूती है। दक्षिण दिशा की अभ्यतर कृष्णराजी पश्चिम दिशा की बाह्य कृष्णराजी को छूती है। पश्चिम दिशा की अभ्यतर कृष्णराजी उत्तर-दिशा की बाह्य कृष्णराजी का स्पर्श करती है तथा उत्तर दिशा की अभ्यतर कृष्णराजी पूर्व दिशा की बाह्य कृष्णराजी को छूती है।

पूर्व और पश्चिम की दोनो बाह्य कृष्णराजियाँ छ कोनों वाली है। उत्तर-दक्षिण की दोनो बाह्य कृष्णराजियाँ तिकोन है और अभ्यतर चारो ही कृष्णराजियाँ चोकोर है।

पूर्वोक्त आठो कृष्णराजियो का विस्तार सख्याता योजन का तथा लबाई व परिधि असख्याता हजार योजन की है।

विमान—

१ उत्तर-पूर्व की आभ्यतर कृष्णराजी के बीच मे 'अर्चि' नामक विमान है।
२ पूर्व की दोनो कृष्णराजी के बीच मे 'अर्चिमाली' विमान है।
३ पूर्व-दक्षिण की आभ्यतर कृष्णराजी के बीच मे 'वैरोचन' विमान है।
४ दक्षिण की दोनो कृष्णराजी के बीच मे 'प्रभकर' विमान है।
५ दक्षिण-पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजी के बीच मे 'चन्द्राभ' विमान है।
६ पश्चिम की दोनो कृष्णराजी के बीच मे 'सूराभ' विमान है।
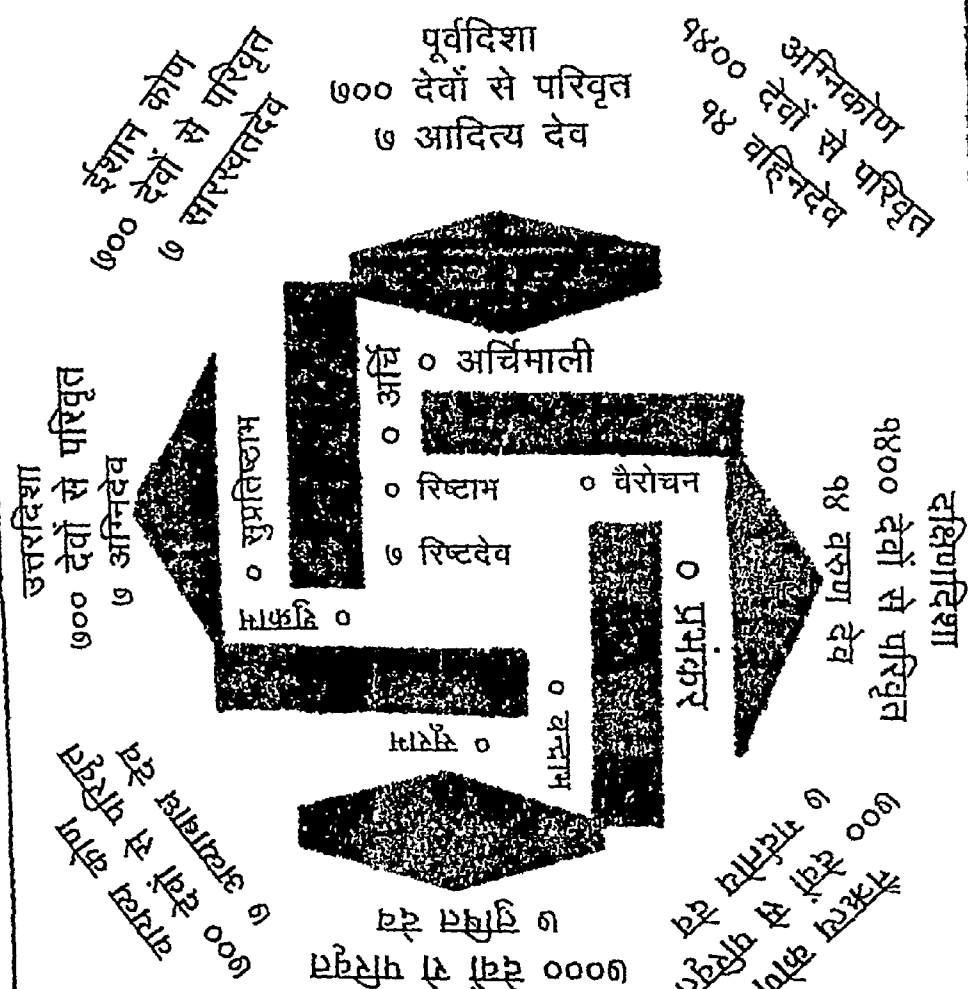
अष्टकृष्णराजी
पूर्वदिशा
७०० देवों से परिवृत
७ आदित्य देव
अग्निकोण
१४०० देवों से परिवृत
१४ वह्निदेव
ईशान कोण
७०० देवों से परिवृत
७ सारस्वतदेव
उत्तरदिशा
७०० देवों से परिवृत
७ अग्निदेव
दक्षिणदिशा
१४००० देवों से परिवृत
१४ वरुण देव
पश्चिमदिशा
७००० देवों से परिवृत
७ तुषित देव
नैऋत्य कोण
७०० देवों से परिवृत
वायव्य कोण
७०० देवों से परिवृत
० अर्चि
० अर्चिमाली
० वैरोचन
० प्रभंकर
० चन्द्राभ
० सूराभ
० शुक्राभ
० सुप्रतिष्ठाभ
० रिष्टाभ
७ रिष्टदेव
विमान-१ अर्चि
२ अर्चिमाली
३ वैरोचन
४ प्रभकर
५ चन्द्राभ
६. सूराभ
७. शुक्राभ
८ सुप्रतिष्ठाभ
६ रिष्टाभ

७ पश्चिम उत्तर की आभ्यतर कृष्णराजी के बीच मे 'शुक्राभ' विमान है।

८ उत्तर की दोनो कृष्णराजी के बीच मे 'सुप्रतिष्ठाभ' विमान है।

९ तथा इन सभी कृष्णराजी के मध्यभाग मे 'रिष्ठाभ' विमान है।

विमान-निवासी देव—

पूर्वोक्त विमानो मे लोकान्तिक देव रहते है। पाँचवे व्रह्मलोक के समीप रहने से ये देवता लोकान्तिक कहलाते है। ये देव ८ सागर की स्थिति वाले तथा ७-८ भव के पश्चात् मोक्ष जाने वाले है।

इनके नाम क्रमश सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय (मरुत्) तथा रिष्ठ (रिष्ठ-नामक विमान मे रहने वाले) है। इन देवताओ का कर्त्तव्य है कि तीर्थकर परमात्मा की दीक्षा से एक वर्ष पूर्व स्वयबुद्ध जिनेश्वर परमात्मा को तीर्थ की प्रवर्तना हेतु निवेदन करना

देवो का परिवार—

सारस्वत	—	आदित्य	(विमान में)	= ७ देव व ७०० का परिवार है।
वह्नि	—	वरुण	(विमान मे)	= १४ देव व १४०० का परिवार है।
गर्दतोय	—	तुषित	(विमान में)	= ७ देव व ७००० का परिवार है।
अव्यावाध	—	आग्नेय-रिष्ठ	(विमान में)	= ९ देव व ९०० का परिवार है।

॥१४४१-४९॥

नोट—पृ ३९१ पर दिया गया चित्र अष्टकृष्णराजी का है। जहा तमस्काय का अत है वहा कृष्णराजी का प्रारभ है। अर्थात् व्रह्मदेवलोक के तीसरे रिष्टनामक प्रतर के चारो और तिकोन-चतुष्कोण आकार मे एक-एक दिशा मे दो-दो कृष्णराजिया है। इनके मध्य मे एव अन्तराल मे नवलोकान्तिक देवो के नौ विमान है। अभ्यन्तर कृष्णराजी चतुष्कोण एव वाह्य तिकोनाकार है। ये कृष्णराजिया वैमानिक देवकृत है। ये पृथ्वी परिणाम रूप है। जल परिणाम रूप नही है। इनमे क्षुद्र जीव उत्पन्न होते है। इनका आयाम असख्य हजार योजन का, विष्कभ सख्याता हजार योजन का तथा परिधि असख्याता हजार योजन की है।

२६८ द्वार : अस्वाध्याय—

सजमघा उप्पाये सादिव्वे वुग्गहे य सारीरे।
महिया सच्चित्तरओ वासम्मि य सजमे तिविह ॥१४५०॥
महिया उ गब्भमासे सच्चित्तरओ य ईसिआयंबे।
वासे तिन्नि पगारा बुब्बुय तव्वज्ज फुसिए य ॥१४५१॥
दव्वे तं चिय दव्व खेत्ते जहिय तु जच्चिर काल।
ठाणाइभास भावे मोत्त उस्सासउम्मेसे ॥१४५२॥

पंसू य मसरुहिरे केससिलावुट्ठि तह रयुग्घाए।
मसरुहिरे अहरत्त अवसेसे जच्चिर सुत्त ॥१४५३ ॥
पसू अच्चित्तरओ रयस्सलाओ दिसा रउग्घाओ।
तत्थ सवाए निव्वायए य सुत्तं परिहरंति ॥१४५४ ॥
गंधव्वदिसा विज्जुक्क गज्जिए जूव जक्खआलित्ते।
एक्केक्कपोरिसिं गज्जिय तु दो पोरिसी हणइ ॥१४५५ ॥
दिसिदाहो छिन्नमूलो उक्क सरेहा पगाससजुत्ता।
संझाछेयावरणो उ जूवओ सुक्कि दिण तिन्नि ॥१४५६ ॥
चदिमसूरुवरागे निग्घाए गुंजिए अहोरत्त।
संझाचउ पडिवए ज जहि सुगिम्हए नियमा ॥१४५७ ॥
आसाढी इंदमहो कत्तिय सुगिम्हए य बोद्धव्वे।
एए महामहा खलु एएसिं जाव पाडिवया ॥१४५८ ॥
उक्कोसेण दुवालस चदो जहन्नेण पोरिसी अट्ठ।
सूरो जहन्न बारस पोरिसी उक्कोस दो अट्ठ ॥१४५९ ॥
सग्गहनिवुड्ड एवं सूराई जेण दुतिऽहोरत्ता।
आइन्नं दिणमुक्के सोच्चिय दिवसो य राई य ॥१४६० ॥
वुग्गहदडियमाई सखोभे दंडिए व कालगए।
अणरायए य सभए जच्चिरऽनिद्दोच्चऽहोरत्त ॥१४६१ ॥
तद्दिवसभोइआइ अंतो सत्तण्ह जाव सज्झाओ।
अणाहस्स य हत्थसय दिट्ठिवि वित्तमि सुद्ध तु ॥१४६२ ॥
मयहरपगए बहुपक्खिए य सत्तधर अतर मयंमि।
निदुक्खत्ति य गरिहा न पढति सणियग वावि ॥१४६३ ॥
तिरिपंचिदिय दव्वे खेत्ते सट्ठिहत्थ पोग्गलाइन्न।
तिकुरत्थ महंतेगा नगरे बाहि तु गामस्स ॥१४६४ ॥
काले तिपोरिसि अट्ठ व भावे सुत्त तु नंदिमाईयं।
सोणिय मस चम्मं अट्ठीवि य अहव चत्तारि ॥१४६५ ॥
अंतो बहिं व धोयं सट्ठी हत्थाउ पोरिसी तिन्नि।
महकाइ अहोरत्त रत्ते वूढे य सुद्धं तु ॥१४६६ ॥

अडगमुज्झिय कप्पे न य भूमि खणंति इयरहा तिन्नि।
असझाइयप्पमाण मच्छियपाया जहि बुड्डे ॥१४६७ ॥
अजराउ तिन्नि पोरिसि जराउयाण जरे पडे तिन्नि।
रायपहबिदुपडिए कप्पे बूढे पुणो नत्थि ॥१४६८ ॥
माणुस्सय. चउद्धा अट्ठि मोत्तूण सयमहोरत्त।
परियावन्नविवन्ने सेसे तिय सत्त अट्ठेव ॥१४६९ ॥
रत्तुक्कडा उ इत्थी अट्ठ दिणे तेण सत्त सुक्कहिए।
तिण्ण दिणाण परेण अणोउग तं महारत्त ॥१४७० ॥
दते दिट्ठे विगिचण सेसट्ठि बारसेव वरिसाइ।
दड्ढट्ठीसु न चेव य कीरइ सज्झायपरिहारो ॥१४७१ ॥

—गाथार्थ—

अस्वाध्याय—अस्वाध्याय के पॉच प्रकार है—१ सयमघाती २. उत्पात ३. सादिव्य ४. व्युद्ग्रह एव ५. शारीरिक। संयमघाती स्वाध्याय के तीन भेद है—१ महिका २. सचित्तरज और ३. वर्षा। इनमे महिका गर्भमास में होती है। किंचित् ताम्रवर्णी रज सचित्तरज है। वर्षा तीन प्रकार की है—१ बुद्बुद् २. बुद्बुद्रहित एव ३. जलस्पर्शिकारूप।।१४५०-५१ ।।

द्रव्य से अस्वाध्यायिक द्रव्य, क्षेत्र से जितने क्षेत्र मे अस्वाध्यायिक हो, काल से जितने काल तक अस्वाध्यायिक रहे और भाव से श्वासोच्छ्वास लेना, पलक झपकना आदि का त्याग करना चाहिये।।१४५२ ।।

पॉशुवृष्टि, मासवृष्टि, रुधिरवृष्टि, केशवृष्टि, पत्थरवृष्टि, रजोद्घात आदि अस्वाध्यायिक है। इनमें मास और रुधिरवृष्टि मे एक अहोरात्रि का अस्वाध्याय होता है। शेष मे जितने समय तक वृष्टि हो उतने समय तक सूत्र-स्वाध्याय का त्याग करना चाहिये।।१४५३ ।।

कुछ पीले वर्ण की अचित्तरज पॉशु है। दिशाओ का रजस्वला होना रजोद्घात है। ये तीनो वायु सहित या निर्वात जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय होती है।।१४५४ ।।

गान्धर्वनगर, दिग्दाह, विद्युत्, उल्कापात, मेघगर्जन, यूपक, यक्षादीप्त, इनमे मेघगर्जना मे दो पोरिसी तक अस्वाध्याय होती है और शेष मे एक पोरिसी की अस्वाध्याय होती है।।१४५५ ।।

छिन्नमूला अग्नि दिग्दाह है। रेखायुक्त प्रकाश उल्का है। सन्ध्या जिसके कारण दिखाई नही देती वह सन्ध्या छेदावरण है। इसे यूपक कहते है। यह सुदी पक्ष की दूज, तीज और चौथ को होता है।।१४५६ ।।

चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, निर्घात और गुजित मे एक अहोरात्रि का अस्वाध्याय होता है। चार सन्ध्या, प्रतिपदा मे होने वाले महोत्सव तथा अन्य भी महोत्सव जो जहॉ होते हो इनमे निश्चित रूप से अस्वाध्याय होती है।।१४५७ ।।

आषाढ़ सुदी पूनम, आसोज सुदी पूनम, कार्तिक सुदी पूनम तथा चैत्र सुदी पूनम को होने वाले महोत्सव—ये चार 'महामह' है और प्रतिपदा पर्यन्त चलते है ॥१४५८ ॥

चन्द्रग्रहण मे उत्कृष्ट बारह प्रहर, जघन्य आठ प्रहर, सूर्यग्रहण मे उत्कृष्ट सोलह प्रहर और जघन्य बारह प्रहर की अस्वाध्याय होती है। यदि सूर्य आदि सग्रहण अस्त हो जाये तो एक अहोरात्रि की अस्वाध्याय होती है। किन्तु परपरा इस प्रकार है—सूर्य आदि यदि दिन में ग्रहणमुक्त हो गये हों तो उस दिन ही अस्वाध्याय होती है ॥१४५९-६० ॥

दो सेनापतियो का परस्पर युद्ध चल रहा हो, किसी कारण से वातावरण संक्षुब्ध हो, राजा के मर जाने के पश्चात् जब तक दूसरा राजा न बने, जब तक भय शान्त न हो तब तक अस्वाध्याय होती है। गॉव का अधिपति आदि यदि उपाश्रय से सात घरों के भीतर मर जाये तो अहोरात्रि की अस्वाध्याय होती है। यदि कोई अनाथ सौ हाथ के भीतर मर जाये तो स्वाध्याय नही करना चाहिये। शव सम्बन्धी जो कुछ हो देखकर वहॉ से हटा देने के बाद स्वाध्याय करना कल्पता है ॥१४६१-६२ ॥

गॉव का मुखिया, व्यवस्थापक, बड़े परिवार वाला, शय्यातर आदि यदि उपाश्रय से सात घर के भीतर मर जाये तो अहोरात्र पर्यत स्वाध्याय नही होता। अन्यथा ये साधु हृदयहीन है, ऐसा लोकापवाद होने की संभावना रहती है। यदि स्वाध्याय करना हो तो मन्द स्वर से करना चाहिये ॥१४६३ ॥

तिर्यच पञ्चेन्द्रिय का रक्त, मांस आदि यदि साठ हाथ के भीतर पड़ा हो तो उस क्षेत्र मे स्वाध्याय नही करना चाहिये। परन्तु तीन गलियॉ छोड़कर स्वाध्याय कर सकते है। यदि शहर हो और राजमार्ग हो तो एक राजमार्ग छोडकर स्वाध्याय करना चाहिये। यदि रुधिरादि पूरे नगर में बिखरे हुए हों तो गॉव के बाहर जाकर स्वाध्याय करना चाहिये ॥१४६४ ॥

जलचर आदि छोटे जीवों के रुधिर आदि गिरने के समय से तीन पोरसी तक अस्वाध्याय पर बड़े जीव जैसे चूहा-बिल्ली आदि के रुधिर आदि गिरने पर आठ पोरसी तक अस्वाध्याय होता है। भाव से नन्दी आदि सूत्रो का अस्वाध्याय होता है। रुधिर, मास, चर्म एव हड्डी के भेद से जलज आदि चार प्रकार के है ॥१४६५ ॥

साठ हाथ के भीतर मांस को धोकर फिर बाहर ले गये हों तो भी वहॉ तीन प्रहर तक स्वाध्याय नही हो सकता। महाकाय हो तो अहोरात्रि का अस्वाध्याय और रुधिर पानी के प्रवाह में बह गया हो तो वहॉ स्वाध्याय कर सकते है ॥१४६६ ॥

अंडा गिरा किन्तु फूटा न हो तो उसे दूर रख देने के पश्चात् स्वाध्याय कर सकते है। किन्तु अडा फूटा हो और उसका कलल मक्खी का पॉव डूबे इतना भी जमीन पर गिरा हो और उसे जमीन खोद कर निकाल दिया हो तो भी वहॉ तीन प्रहर तक स्वाध्याय नही हो सकता ॥१४६७ ॥

जरायु-रहित उत्पन्न होने वाले प्राणियो के प्रसव होने पर तीन प्रहर का अस्वाध्याय होता है। जरायु सहित उत्पन्न होने वाले प्राणियों के प्रसव मे जरायु पड़े तब तक तथा जरायु पड़ने के पश्चात् तीन प्रहर का अस्वाध्याय होता है। राजमार्ग पर अस्वाध्यायिक की बूँदें पड़ी या पानी मे बह गई हो तो स्वाध्याय करना कल्पता है ॥१४६८ ॥

हड्डियों को छोड़कर मनुष्य सम्बन्धी शेष अस्वाध्यायिक सौ हाथ के भीतर पड़े हो तो एक अहोरात्रि का अस्वाध्याय होता है। यदि रुधिर आदि विवर्ण हो गया हो तो वहाँ स्वाध्याय करना कल्पता है। *शेष अस्वाध्यायिकों में तीन दिन, सात दिन तथा आठ दिन अस्वाध्याय होता है॥१४६९॥*

स्त्री-पुरुष के संभोग के समय यदि रक्त की प्रधानता हो तो स्त्री सतान पैदा होती है। स्त्री जन्मे तो आठ दिन का अस्वाध्याय होता है। शुक्र की अधिकता मे पुत्र जन्म होता है। उसमे सात दिन का अस्वाध्याय होता है। स्त्रियो के तीन दिन के पश्चात् यदि रक्त गिरता है तो 'अनार्त्तव' होने से अस्वाध्यायिक नही माना जाता॥१४७०॥

दॉत को देखकर दूर परठना चाहिये। शेष हड्डियाँ यदि सौ हाथ के भीतर पडी हो तो वहाँ बारह वर्ष तक स्वाध्याय करना नही कल्पता। यदि हड्डियॉ आग से जली हुई हो तो स्वाध्याय कर सकते है॥१४७१॥

—विवेचन—

स्वाध्याय—सुष्ठु अध्याय स्वाध्याय। आगमिक विधि के अनुसार अध्ययन करना अध्याय है। शोभन अध्याय स्वाध्याय है। वही स्वाध्यायिक कहलाता है।

अस्वाध्यायिक—जिन कारणो के रहते स्वाध्याय नही होता वे अस्वाध्यायिक है। जैसे, रुधिर, मास आदि।

मुख्य रूप से अस्वाध्यायिक के दो भेद है—आत्मसमुत्थ व परसमुत्थ।

(i) आत्मसमुत्थ—स्वाध्याय कर्ता से स्वय से सम्बन्धित रुधिर, मास आदि।

(ii) परसमुत्थ—स्वाध्यायकर्ता से भिन्न व्यक्ति से सम्बन्धित रुधिर, मास आदि। इसके पॉच भेद है। आत्मसमुत्थ की अपेक्षा अधिक विवेचन होने से प्रथम परसमुत्थ अस्वाध्यायिक ही बताया जाता है।

१. सयमघाती—सयम का घात करने वाला अस्वाध्यायिक। इसके तीन भेद है। महिका, सचित्तरज व वर्षा।

(i) महिका—कार्तिक से माघमास तक धूवर पडती है। इससे समूचा वातावरण अप्कायमय हो जाता है। इस समय स्वाध्याय नही करना चाहिये।

(ii) सचित्तरज—हवा से उडने वाली चिकनी मिट्टी, जो हलके लाल वर्ण वाली होती है। यह व्यवहार सचित्त है। इसके निरन्तर गिरने से पृथ्वी तीन दिन के पश्चात् पृथ्विकायमय बन जाती है।

(iii) वर्षा—इसके तीन भेद है।

(अ) बुद्‌बुद्—जिस वर्षा के पानी मे बुलबुले उठते हो। ऐसी वर्षा मे आठ प्रहर के पश्चात् किसी के मतानुसार तीन दिन के पश्चात् समूचा वातावरण अप्कायमय बन जाता है।

(ब) बुद्‌बुद्वर्ज—बुद् बुद् रहित वर्षा। ऐसी वर्षा मे पॉच दिन पश्चात् वातावरण अप्कायमय बन जाता है।

(स) **जलस्पर्शिका**—बूदाबादी वाली वर्षा। ऐसी वर्षा मे सात दिन के पश्चात् वातावरण अप्कायमय बन जाता है ॥१४५०-५१ ॥

संयमघाती अस्वाध्याय का ४ प्रकार का परिहार—

(i) **द्रव्यत**—धूवर, सचित्तरज व वर्षा ये तीनो अस्वाध्याय के कारण है।

(ii) **क्षेत्रत**—जितने क्षेत्र मे ये तीनो गिरे उतने क्षेत्र मे स्वाध्याय करना नही कल्पता।

(iii) **कालत**—जितने समय तक गिरे, उतने समय तक अस्वाध्याय।

(iv) **भावत**—धूवर, सचित्तरज और वर्षा के गिरते हुए, गमनागमन, पडिलेहण, बोलना आदि कुछ भी करना नही कल्पता। श्वासोच्छ्वास व पलक झपकाये बिना जीवन चल नही सकता अत इन क्रियाओ की छूट है। निष्कारण शेष सभी क्रिया करना निषिद्ध है। ग्लान आदि का कार्य हो तो यतनापूर्वक हाथ, ऑख व अगुली के इशारे से सूचित कर सकते है। बोलने की आवश्यकता हो तो मुहपत्ति के उपयोगपूर्वक बोलना चाहिये। बाहर जाना आवश्यक हो तो वर्षाकल्प ओढकर जाना चाहिये ॥१६५२ ॥

२. औत्पातिक — प्राकृतिक व अप्राकृतिक उत्पात के कारण होने वाला अस्वाध्याय। इसके पॉच भेद है।

(i) **पांशुवृष्टि**—पाशु = अचित्तरज की वर्षा होना। जब तक ऐसी वर्षा हो, दिशाये धूलिधूसरित दिखाई दे तब तक सूत्र सम्बन्धी अस्वाध्याय होता है। ऐसी वर्षा मे गमनागमन हो सकता है।

(ii) **मासवृष्टि**—मास के टुकडो की वर्षा हुई हो तो एक अहोरात्र का अस्वाध्याय होता है।

(iii) **रुधिरवृष्टि**—रक्त बिन्दु की वर्षा हुई हो तो एक अहोरात्र का अस्वाध्याय होता है।

(iv) **केशवृष्टि**—केश की वर्षा हुई हो तो जहॉ तक हो वहॉ तक अस्वाध्याय होता है।

(v) **शिलावृष्टि**—ओलावृष्टि, पत्थरो की वर्षा जहॉ तक हो वहॉ तक अस्वाध्याय होता है।

पांशु—धुए जैसे वर्ण वाली अचित्तरज पाशु कहलाती है। धुए जैसी व कुछ पीलापन लिये हुए ऐसी अचित्त रज पाशु है।

रजोद्‌घात—दिशाये धूलि धूसरित हो जाने से चारो ओर अधकार ही अधकार दिखाई देता है, वह रज-उद्‌घात कहलाता है।

वायु सहित या वायु रहित दोनो ही प्रकार की पाशुवृष्टि व रज उद्‌घात मे जब तक धूल गिरती है तब तक अस्वाध्याय रहता है ॥१४५३-५४ ॥

३. सदैवम्—देवकृत अस्वाध्याय। गान्धर्वनगर, दिग्दाह, विद्युत, उल्का, गर्जित, यूपक व यक्षादीप्त आदि देवकृत अस्वाध्याय है।

(i) **गान्धर्वनगर**—चक्रवर्ती आदि के नगर मे उपद्रव की सूचना करने वाला सध्या काल मे नगर के ऊपर नगर जैसा ही जो दूसरा नगर दिखाई देता है वह 'गान्धर्वनगर' है।

(ii) **दिग्दाह**—दिशा विशेष मे मानो कोई महानगर जल रहा हो ऐसा प्रकाश दिखाई देना जिसके नीचे अधकार हो दिग्दाह कहलाता है।

(iii) विद्युत्—बिजली चमकना।

(iv) उल्का—आकाश से सरेख अथवा प्रकाशयुक्त विजली का गिरना अथवा पुच्छल तारा का गिरना।

(v) गर्जन—मेघ गर्जना।

(vi) यूपक—शुक्लपक्ष मे दूज, तीज व चौथ इन तीन दिनो मे चन्द्र का प्रकाश सध्या पर पडने से सध्या का विभाग प्रतीत नही होता अत इन तीन दिनो मे प्रादोपिक कालग्रहण (वैरात्रिक कालग्रहण) तथा प्रादोषिकी सूत्रपोरुपी नहीं होती, क्योंकि कालवेला का ज्ञान नहीं हो सकता। सन्ध्या के विभाग का आवारक दूज, तीज व चौथ का चाँद यूपक कहलाता है।

(vii) यक्षादीप्त—किसी दिशा विशेष मे थोडी-थोडी देर मे विजली चमकने जैसा प्रकाश दिखाई देना यक्षादीप्त कहलाता है।

किसका कितने समय का अस्वाध्याय—

१	गाधर्वनगर	= १ प्रहर का अस्वाध्याय	५	यक्षादीप्त	= १ प्रहर का अस्वाध्याय
२	दिग्दाह	= १ प्रहर का अस्वाध्याय	६	यूपक	= १ प्रहर का अस्वाध्याय
३	विद्युत्	= १ प्रहर का अस्वाध्याय	७	मेघगर्जन	= २ प्रहर का अस्वाध्याय
४	उल्का	= १ प्रहर का अस्वाध्याय			

- पूर्वोक्त अस्वाध्यायिको मे गाधर्वनगर निश्चित रूप से देवकृत होता है शेष 'दिग्दाह' आदि देवकृत व स्वाभाविक दोनो तरह के होते है। स्वाभाविक मे स्वाध्याय का निषेध नही है किन्तु देवकृत मे स्वाध्याय निषिद्ध है। परन्तु जहाँ कारण का स्पष्ट ज्ञान न हो वहाँ स्वाध्याय नही करना चाहिये ॥१४५५-५६ ॥

पूर्वोक्त अस्वाध्यायिक के अतिरिक्त अन्य भी देवकृत अस्वाध्यायिक है। जैसे—

(i) चन्द्रग्रहण—राहू के विमान से चन्द्र के विमान का उपराग (ढकना) होना चन्द्रग्रहण है।

(ii) सूर्यग्रहण—केतु के विमान से सूर्य के विमान का उपराग (ढकना) सूर्यग्रहण है।

(iii) निर्घात—आकाश मे व्यतरकृत महागर्जना निर्घात है।

(iv) गुञ्जित—आकाश मे व्यतरकृत गुञ्जारव होना गुञ्जित है।

निर्घात और गुञ्जित मे एक अहोरात्रि की असज्झाय होती है। इतना विशेष है कि जिस दिन जिस समय निर्घात व गुञ्जित प्रारभ हुआ हो उस समय से लेकर दूसरे दिन उस समय तक अस्वाध्याय रहती है। जैसे, आज दिन के १२ बजे निर्घात या गुजित प्रारभ हुआ हो तो कल दिन के १२ बजे तक असज्झाय समझना चाहिये।

(v) चारसध्या—सूर्यास्त का समय, अर्धरात्रि, प्रभातकाल तथा दिन का मध्यभाग ये ४ सध्याकाल है। इनमे अस्वाध्याय होता है।

(vi) चारप्रतिपदा—श्रावणवदी १, कार्तिकवदी १, चैत्रवदी १ व मिगसरवदी १ इन चारो प्रतिपदा मे स्वाध्याय करना नही कल्पता।

(vii) महामह—आषाढ सुदी १५, आसोजसुदी १५, कार्तिकसुदी १५ तथा चैत्रसुदी १५, इन चारो पूर्णिमा के दिन बडे-बडे उत्सव मनाये जाते है। पूर्णिमा के उत्सव जिस दिन से प्रारम्भ होते है। उस दिन से लेकर पूर्णिमा तक अस्वाध्याय रहता है। ये उत्सव कही-कही हिंसक रीति से मनाये जाते है, जैसे देवी-देवताओ के सम्मुख बलि देना आदि। जिस देश मे जिस पूर्णिमा को जितने समय तक उत्सव चलता है उस देश मे उतने समय तक स्वाध्याय करना नही कल्पता। यद्यपि उत्सव पूर्णिमा को पूर्ण हो जाते है तथापि आनन्द की अनुभूति दूसरे दिन भी रहती है अत. 'प्रतिपदा' को भी स्वाध्याय अवश्य वर्ज्य है।

- पूर्वोक्त अस्वाध्यायिको मे मात्र स्वाध्याय करना नही कल्पता। परन्तु प्रतिलेखन, विहार, प्रतिक्रमण आदि क्रियाये करना कल्पता है ॥१४५७-५८॥

चन्द्रग्रहण में जघन्य से ८ प्रहर व उत्कृष्ट से १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

१.	उदीयमान चन्द्र गृहीत हो तो	४ प्रहर रात के व ४ प्रहर आगामी दिन के इस प्रकार ८ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
२.	प्रभातकाल में चन्द्रमा सग्रहण अस्त हो जाये तो	४ प्रहर दिन के, ४ प्रहर आगामी रात के तथा ४ प्रहर दूसरे दिन के = १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
३.	औत्पातिक ग्रहण में यदि चन्द्र गृहीत ही अस्त हो जाये तो	सदूषित रात्रि के ४ प्रहर व एक अहोरात्र पर्यत = १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
४.	आकाश मेघाच्छन्न होने से ज्ञात न हो कि चन्द्र कब गृहीत हुआ, पर अस्त होते समय गृहीत देखा गया हो तो	४ प्रहर सदूषित रात के व आगामी एक अहोरात्र पर्यत = १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

सूर्यग्रहण मे जघन्य से १२ प्रहर व उत्कृष्ट से १६ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

१.	गृहीत सूर्य अस्त हो तो	४ प्रहर रात के, ४ प्रहर दिन के तथा ४ प्रहर आगामी रात के = १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
२.	उदीयमान सूर्य राहु से गृहीत हो और अस्त भी गृहीत ही हो तो	४ प्रहर दिन के, ४ प्रहर रात के, ४ प्रहर दूसरे दिन के तथा ४ प्रहर दूसरी रात के = १६ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
३.	सूर्य दिन में गृहीत हुआ हो व दिन में ही मुक्त हो जाये तो	शेष दिवस व आगामी सपूर्ण रात्रि का अस्वाध्याय होता है।

- अहोरात्रि शब्द का अर्थ सूर्य व चन्द्र के लिये अलग-अलग समझना। सूर्य के लिये अहोरात्रि का अर्थ है सूर्य ग्रहणमुक्त हुआ वह दिन तथा वही रात्रि अहोरात्रि है। परन्तु चन्द्रग्रहण के सम्बन्ध मे अहोरात्रि का अर्थ भिन्न है, जिस रात्रि को चन्द्रमुक्त हुआ वह रात्रि तथा आगामी दिन मिलकर अहोरात्रि कहलाता है।
- आचरणा दोनो प्रकार के ग्रहण के विषय मे अलग है। चन्द्र रात मे गृहीत होकर रात मे ही मुक्त हो जाता है तो उस रात्रि का शेषकाल ही अस्वाध्याय काल माना जाता है, क्योकि सूर्योदय होते ही अहोरात्रि पूर्ण हो जाती है। पर गृहीत सूर्य दिन मे मुक्त हो जाता है तो शेष दिन व रात पर्यत अस्वाध्याय रहता है, क्योकि 'अहोरात्रि' तभी पूर्ण होती है ॥१४५९-६० ॥

४. **व्युद्ग्रह**—युद्धादि के कारण होने वाला अस्वाध्याय। दो राजाओ का सेना सहित युद्ध, दो सेनापतियो का युद्ध, प्रसिद्ध स्त्रियो का परस्पर युद्ध, मल्लयुद्ध, दो गॉवो के मध्य झगडा होने पर युवको की परस्पर पत्थरबाजी, बाहुयुद्ध, होली का कलह आदि जब तक शान्त न हो तब तक स्वाध्याय करना नही कल्पता।

दोष—यदि कोई वाणव्यतर देव कौतुकवश युद्ध देखने आये हुए हो तो स्वाध्याय करते हुए साधु को देखकर छलना करे। लोगो को अप्रीति उत्पन्न हो कि हम तो युद्धादि के कारण भयभीत है और ये मुनि लोग प्रसन्नतापूर्वक स्वाध्याय कर रहे है।

अस्वाध्याय के अन्य कारण—

१. राजा की मृत्यु हो जाने पर जब तक दूसरा राजा न बने तब तक स्वाध्याय करना नही कल्पता, क्योकि इस स्थिति मे प्रजा क्षुब्ध रहती है।

२. म्लेच्छादिजन्य भय की स्थिति मे भी स्वाध्याय नही करना चाहिये।

- व्युद्ग्रह आदि की स्थिति मे जब तक शान्ति, स्वस्थता प्राप्त न हो जाये तब तक अस्वाध्याय/तत्पश्चात् भी एक अहोरात्र पर्यत स्वाध्याय करना नही कल्पता।

३. वसति से सात घर के बीच यदि ग्रामस्वामी आदि महत्तर पुरुष मर गया हो तो एक अहोरात्रि तक स्वाध्याय करना नही कल्पता।

४. वसति से सौ हाथ के भीतर यदि कोई अनाथ मर गया हो तो वहॉ स्वाध्याय करना नही कल्पता। यदि साधु के कहने पर शय्यातर या श्रावक कलेवर को वहॉ से हटवा दे तो वहॉ स्वाध्याय किया जा सकता है अन्यथा साधु दूसरी वसति मे चले जाये। यदि योग्य वसति न हो तो सागारिक न देखे इस प्रकार वृषभ-गीतार्थ मुनि रात मे 'अनाथमृतक' को अन्यत्र परठे। यदि जानवरो ने शव को क्षत-विक्षत कर दिया हो तो सर्वप्रथम चारो ओर देखकर पुद्गलो को यथाशक्य एकत्रित करके फिर शव को परठे। यदि कुछ पुद्गल अनजान मे रह भी जाये तो भी वहॉ यतनापूर्वक स्वाध्याय कर सकते है। इसमे कोई प्रायश्चित्त नही आता।

५. वसति से सात घर के भीतर ग्राम-प्रधान, ग्राम-प्रधान रूप मे नियुक्त व्यक्ति, विशाल परिवार वाला, शय्यातर अथवा कोई विशिष्ट व्यक्ति मर गया हो तो एक अहोरात्रि तक स्वाध्याय करना नही कल्पता।

- दोष—ऐसी स्थिति मे यदि साधु स्वाध्याय करे तो लोगो को साधु के प्रति अप्रीति हो कि ये कैसे लोग है ? इन्हे कोई दु ख नहीं है। अथवा कोई भी न सुन सके इस प्रकार स्वाध्याय करे।

६. स्त्री का रुदन सुनाई दे तब तक भी स्वाध्याय करना नही कल्पता॥१४६१-६३॥

५. **शारीरिक**—शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण। इसके दो भेद है—(i) तिर्यच सम्बन्धी (ii) मनुष्य सम्बन्धी।

(i) **तिर्यच सम्बन्धी**—तिर्यच सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण भी तीन प्रकार के है—(i) जलचर सम्बन्धी (ii) स्थलचर सम्बन्धी व (iii) खेचर सम्बन्धी।

- मछली आदि जल मे उत्पन्न होने वाले प्राणियो से सम्बन्धित रक्त, मास आदि जलचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।
- गाय, भैस आदि से सम्बन्धित रक्त, मास आदि स्थलचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।
- मोर, कबूतर आदि से सम्बन्धित रक्त, मास आदि खेचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।

पूर्वोक्त तीनो से सम्बन्धित अस्वाध्यायिक (रक्त, मास, मृतकलेवर आदि) द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के भेद से पुन चार प्रकार का है।

१ **द्रव्यत**—तीनो प्रकार के तिर्यच पञ्चेन्द्रिय जीवो का रक्त, मास आदि अस्वाध्यायिक है। विकलेन्द्रिय के रुधिर आदि अस्वाध्यायिक नही है।

२. **क्षेत्रत**—तीनो प्रकार के तिर्यच पञ्चेन्द्रिय जीवो का रुधिर आदि साठ हाथ के भीतर पडा हो तो अस्वाध्यायिक है इससे आगे का नही।

३. **कालत**—तिर्यच पचेन्द्रिय का मास आदि जब से पडा हो नब से लेकर तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना नही कल्पता। पर बिल्ली आदि के द्वारा मारा हुआ चूहा आदि पडा हो तो आठ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

४ **भावत**—नदी आदि सूत्र का स्वाध्याय करना नही कल्पता।

- **विशेष**—यदि तिर्यच पञ्चेन्द्रिय के मास आदि को कौए, कुत्ते आदि के द्वारा उस स्थान मे चारो ओर बिखेर दिया गया हो और वह गॉव हो तो तीन गली के पश्चात् स्वाध्याय करना कल्पता है। यदि शहर हे और उधर से सेना सहित राजा, देवताओ के रथ व अन्य भी अनेक प्रकार के वाहन निकलते हो तो एक गली को छोडकर भी स्वाध्याय किया जा सकता है। यदि समूचा गॉव मास आदि के पुद्गलो से व्याप्त हो गया हो तो गॉव के बाहर स्वाध्याय करना कल्पता है।

  अथवा रुधिर आदि के भेद से जलचर, स्थलचर व खेचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक चार-चार प्रकार का है॥१४६५॥

१. रक्त—स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के भीतर पडा हुआ रक्त यदि जल के प्रवाह मे बह जाये तो वहॉ ३ प्रहर के पश्चात् स्वाध्याय करना कल्पता है।

२. मांस—स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के भीतर मास धोकर बाहर ले गये हो तो भी वहॉ तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना नही कल्पता, कारण धोते समय मास के कुछ कण वहॉ गिरने की सभावना रहती है। इस प्रकार मास पकाने मे भी समझना चाहिये। स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के बाहर मास धोने व पकाने पर वहॉ स्वाध्याय करने मे कोई दोष नही होता।

अन्यमत—बिल्ली द्वारा मारे गये चूहे का शरीर यदि बिखरा न हो और उसे मुँह मे दबाकर या निगलकर बिल्ली अन्यत्र चली गई हो तो उस स्थान पर साधु को स्वाध्याय करना कल्पता है।

मतान्तर—कौन जानता है कि कलेवर लेशमात्र भी बिखरा या न बिखरा हो? अत वहॉ तीन प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिये।

मतान्तर—जहॉ बिल्ली आदि स्वत. मरी हो अथवा दूसरे ने मारी हो पर अभी तक उसका कलेवर जरा भी बिखरा न हो तो वहॉ स्वाध्याय करना कल्पता है। यदि बिखर जाये तो अस्वाध्यायिक होता है। ऐसा किसी का मानना अयुक्त है, कारण शोणित, मास, चर्म व अस्थि चारो की उपस्थिति मे स्वाध्याय करना नही कल्पता। कलेवर भी तो इस दृष्टि से अस्वाध्यायिक है। अत कलेवर बिखरा न हो तो भी वहॉ स्वाध्याय करना नही कल्पता ॥१४६६ ॥

३. अण्डा—स्वाध्याय भूमि मे साठ हाथ के भीतर अडा गिर जाये पर फूटे नही, तो उसे दूर फेक देने के पश्चात् वहॉ स्वाध्याय करना कल्पता है। यदि अडा फूट जाये तो वहॉ स्वाध्याय करना नही कल्पता है। यदि भूमि खोदकर या साफ करके कललबिन्दु सर्वथा स्वच्छ कर दिये जाये तो भी वहॉ तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना नही कल्पता।

यदि अडा कपडे मे गिरकर फूट जाये तो उसे स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ बाहर ले जाकर धोने के पश्चात् वहॉ स्वाध्याय करना कल्पता है।

अडे का रस या रक्त मक्खी का पॉव डूबे, इतना भी कही पडा हो तो वहॉ स्वाध्याय करना नही कल्पता ॥१४६७ ॥

जरायु रहित प्रसव वाले हथिनी आदि की प्रसूति होने पर तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना नही कल्पता। अहोरात्रि के वाद समीप मे प्रसूति हुई हो तो भी स्वाध्याय करना कल्पता है।

गाय आदि की प्रसूति होने के पश्चात् जव तक 'जरायु' न गिरे तव तक अस्वाध्याय तथा गिरने के पश्चात् तीन प्रहर तक अस्वाध्याय।

अस्वाध्यायिक के विन्दु यदि राजपथ पर गिरे हो तो साठ हाथ के भीतर भी स्वाध्याय करना कल्पता है। कारण राजमार्ग पर इतना गमनागमन रहता है कि अशुचि के विन्दु तुरन्त नष्ट हो जाते है। इसमे जिनाज्ञा ही प्रमाण है। यदि तिर्यच सम्वन्धी अस्वाध्यायिक राजमार्ग से हटकर साठ हाथ के भीतर कही पडा हो तो वर्षा के प्रवाह मे वहने के वाद अथवा आग द्वारा जलने के वाद ही वहॉ स्वाध्याय करना कल्पता है अन्यथा नही ॥१४६८ ॥

(ii) मनुष्य सम्बन्धी—मनुष्य सम्बन्धी आस्वाध्यायिक भी चार प्रकार का है। चर्म, रुधिर, मास व हड्डी।

पूर्वोक्त चारो मे से हड्डी को छोडकर शेष तीन अस्वाध्यायिक सौ हाथ के भीतर पडे हो तो वहाँ एक अहोरात्रि पर्यत स्वाध्याय करना नही कल्पता।

मनुष्य या तिर्यच सम्बन्धी रक्त यदि बहुत समय तक पडा रहने से स्वभाव से और वर्ण से विवर्ण हो गया हो, जैसे खेर की लकडी के सत्त्व की तरह, तो वहाँ स्वाध्याय करने मे कोई दोष नही है। अन्यथा आस्वाध्यायिक होता है ॥१४६९ ॥

रजस्वला स्त्री को तीन दिन पर्यत स्वाध्याय करना नही कल्पता। यदि किसी स्त्री के तीन दिन के पश्चात् भी अशुचि रहती हो तो स्वाध्याय किया जा सकता है, कारण उस समय रुधिर विवर्ण हो जाता है।

यदि पुत्र जन्मा हो तो सात दिन का अस्वाध्याय। पुत्री जन्मी हो तो आठ दिन का अस्वाध्याय। तत्पश्चात् स्वाध्याय करना कल्पता है। पुत्र मे शुक्र की अधिकता और पुत्री मे रक्त की अधिकता होती है। अत अस्वाध्याय काल का अन्तर पडता है ॥१४७० ॥

सौ हाथ के भीतर यदि बालक आदि का दाँत गिरा हो तो उसे प्रयत्नपूर्वक देखना चाहिये। मिल जाये तो उसे दूर परठ देना चाहिये। यदि खोजने पर भी न मिले तो स्थान शुद्धि मानकर वहाँ स्वाध्याय किया जा सकता है। किसी का मत है कि अस्वाध्याय निवारण हेतु कायोत्सर्ग करके स्वाध्याय करना चाहिये।

दाँत के सिवाय अन्य अगोपाग सम्बन्धी हड्डी यदि सौ हाथ के भीतर पडी हो तो बारह वर्ष तक वहाँ स्वाध्याय करना नही कल्पता। यदि हड्डियाँ आग से जल गई हो तो सौ हाथ के भीतर भी स्वाध्याय किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय करने का निषेध कही भी नही है ॥१४७१ ॥

२६९ द्वार : नन्दीश्वर द्वीप—

विक्खभो कोडिसय तिसट्ठिकोडी उ लक्खचुलसीई।
नंदीसरो पमाणगुलेण इय जोयणपमाणो ॥१४७२ ॥
एयतो अंजणरयणसामकरपसरपूरिओवत्ता।
बालतमालवणावलिजुयव्व घणपडलकलियव्व ॥१४७३ ॥
चउरो अंजणगिरिणो पुव्वाइदिसासु ताणमेक्केक्को।
चुलसीसहस्सउच्चो ओगाढो जोयणसहस्स ॥१४७४ ॥

मूले सहस्सदसगं विक्खभे तस्स उवरिसयदसगं ।
तेसु घणमणिमयाइं सिद्धायणाणि चत्तारि ॥१४७५ ॥
जोयणसयदीहाइ बावत्तरि ऊसियाइं रम्माइं ।
पन्नास वित्थडाइ चउदुवाराइं सधयाइ ॥१४७६ ॥
पइदार मणितोरणपेच्छामडवविरायमाणाइ ।
पचधणुस्सयऊसियअट्ठुत्तरसयजिणजुयाइ ॥१४७७ ॥
मणिपेढिया महिदज्झया य पोक्खरिणिया य पासेसु ।
ककेल्लिसत्तवन्नयचंपयचूयवणजुयाओ ॥१४७८ ॥
नदुत्तरा य नदा आणंदा नदिवद्धणा नाम ।
पुक्खरिणीओ चउरो पुव्वंजणचउदिसि सति ॥१४७९ ॥
विक्खंभायामेहिं जोयणलक्खप्पमाणजुत्ताओ ।
दसजोयणूसियाओ चउदिसितोरणवणजुयाओ ॥१४८० ॥
तासि मज्झे दहिमुह महीहरा दुद्धदहियसियवन्ना ।
पोक्खरिणीकल्लोलाहणणोब्भवफेणपिण्डुव्व ॥१४८१ ॥
चउसट्ठिसहस्सुच्चा दसजोयणसहस्सवित्थडा सव्वे ।
सहसमहो उवगाढा उवरि अहो पल्लयागारा ॥१४८२ ॥
अजणगिरिसिहरेसु व तेसुवि जिणमदिराइ रुदाइ ।
वावीणमतरालेसु पव्वयदुग दुग अत्थि ॥१४८३ ॥
ते रइकराभिहाणा विदिसिठिया अट्ठ पउमरायाभा ।
उवरिठियजिणिंदसिणाणधुसिणरससंगपिंगुव्व ॥१४८४ ॥
अच्चंतमसिणफासा अमरेसरविदविहियआवासा ।
दसजोयणसहसुच्चा उव्विद्धा गाउयसहस्सं ॥१४८५ ॥
झल्लरिसंठाणठिया उच्चत्तसमाणवित्थडा सव्वे ।
तेसुवि जिणभवणाइ नेयाइं जहुत्तमाणाइं ॥१४८६ ॥
दाहिणदिसाए भद्दा विसालवावी य कुमुयपुक्खरिणी ।
तह पुंडरीगिणी मणितोरणआरामरमणीया ॥१४८७ ॥

पुक्खरिणी नंदिसेणा तहा अमोहा य वावि गोथूभा।
तह य सुदसणवावी पच्छिमअंजणचउदिसासु ॥१४८८॥
विजया य वेजयंती जयंति अपराजिया उ वावीओ।
उत्तरदिसाए पुव्वुत्तवावीमाणा उ बारसवि ॥१४८९॥
सव्वाओ वावीओ दहिमुहसेलाण ठाणभूयाओ।
अंजणगिरिपमुहं गिरितेरसग विज्जइ चउदिसिपि ॥१४९०॥
इय बावन्नगिरिसरसिहरट्ठिय वीयरायबिम्बाणं।
पूयणकए चउव्विहदेवनिकाओ समेइ सया ॥१४९१॥

—गाथार्थ—

नन्दीश्वर द्वीप के जिनालय—नन्दीश्वर द्वीप का विष्कंभ प्रमाणांगुल के द्वारा एक सौ त्रेसठ करोड चौरासी लाख योजन है ॥१४७२॥

इस द्वीप मे अंजनरत्न की श्याम किरणो की प्रभा से जिनके द्वारा दिशायें आलोकित हैं, जो पर्वत ऐसे लगते है मानो हरे-भरे तमाल वृक्षो के वन-समूह से घिरे हुए हो अथवा बादलों के समूह से सुशोभित हो, ऐसे चारो दिशा मे चार अंजनगिरि है। वे चौरासी हजार योजन ऊँचे तथा एक हजार योजन गहरे है। ये पर्वत मूल में दस हजार योजन तथा ऊपर एक हजार योजन विस्तृत है। चारो पर्वत पर मणिमय चार सिद्धायतन है ॥१४७३-७५॥

वे सिद्धायतन एक सौ योजन लंबे, बहत्तर योजन ऊँचे तथा पचास योजन चौड़े है। इनके चारो दिशा में चार दरवाजे है और ऊपर ध्वजा है। दरवाजों पर मणिमय तोरणो से युक्त प्रेक्षामण्डप बने हुए है। सिद्धायतनों में पाँच सौ धनुष ऊँची एक सौ आठ जिन प्रतिमायें है ॥१४७६-७७॥

सिद्धायतनो मे मणिमय पीठिका, महेन्द्रध्वज, पुष्करिणी, पार्श्वभाग में कंकेलि, शतपर्ण, चंपक तथा आम्रवृक्षों के वन है ॥१४७८॥

पूर्वदिशावर्ती अंजनगिरि के चारो ओर नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा और नन्दिवर्धना नाम की चार बावडियाँ है ॥१४७९॥

इन बावडियों की लंबाई-चौड़ाई एक लाख योजन की तथा गहराई दस योजन की है। वावडियों की चारों दिशा में तोरण व वन है ॥१४८०॥

बावडियों के मध्य भाग में दूध और दही के समान श्वेत वर्ण वाले दधिमुख पर्वत है। वे पर्वत ऐसे लगते है मानो बावड़ी के उछलते हुए जल की तरगों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुए झागो का समूह हो ॥१४८१॥

ये दधिमुख पर्वत चौसठ हजार योजन ऊँचे, दस हजार योजन विस्तृत एवं एक हजार योजन गहरे है। ऊपर से नीचे समान विस्तार वाले होने से प्याले की तरह लगते है ॥१४८२॥

अजनगिरि की तरह दधिमुख गिरिओं पर भी विशाल जिन मन्दिर है। बावड़ियों के अन्तराल में भी दो-दो पर्वत है॥१४८३॥

विदिशा में स्थित, पद्मरागमणि के समान लाल रग वाले इन पर्वतों का नाम 'रतिकर' है। मानो इन पर विराजमान जिन प्रतिमाओं के प्रक्षाल के जल के सपर्क से ये पर्वत लाल वर्ण के बने हों। सभी रतिकर पर्वत कोमल स्पर्श वाले तथा इन्द्रो के आवास स्थान है। इनकी ऊँचाई और विस्तार दस हजार योजन का तथा गहराई ढाई सौ योजन की है। इनका आकार झालर की तरह है। इन पर पूर्वोक्त परिमाण वाले जिन भवन है॥१४८४-८६॥

दक्षिण दिशा के अंजनगिरि की पूर्वादि दिशा मे क्रमश भद्रा, विशाला, कुमुदा और पुडरीकिणी नाम की बावड़ियाँ है। ये बावड़ियाँ मणिमय तोरण और बगीचों से अत्यन्त रमणीय है। पश्चिम दिशावर्ती अजनगिरि के चारो ओर क्रमश नन्दिषेणा, अमोघा, गोस्तूभा एव सुदर्शना नामक बावडियाँ है। उत्तर दिशा के 'अंजनगिरि' के चारों ओर विजया, वैजयन्ती, जयन्ति और अपराजिता नाम की चार बावड़ियाँ है। इन सभी बावड़ियो का परिमाण पूर्ववत् समझना चाहिये॥१४८७-८९॥

सभी बावड़ियाँ, दधिमुख पर्वतों का आधार है। इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीप में, प्रत्येक दिशा मे 'अजनगिरि' आदि तेरह-तेरह पर्वत है॥१४९०॥

नन्दीश्वर द्वीप में चारों दिशा के कुल मिलाकर बावन पर्वत है। सभी पर्वतों पर जिनबिंब है। उनकी पूजा के लिये चारों निकाय के देवता सदा आते है॥१४९१॥

—विवेचन—

नन्दीश्वर = विशाल जिनमन्दिर, उद्यान, बावडी, पर्वत आदि अनेकविध पदार्थो की समृद्धि से सपन्न 'नन्दीश्वरद्वीप' है। यह द्वीप जबूद्वीप से आठवॉ, गोलाकार, अत्यन्त कमनीय, देवताओ को आनन्द देने वाला है। गोलाई मे इसका विस्तार १६३८४००००० योजन है। ये योजन प्रमाणागुल से मापे जाते है। नन्दीश्वरद्वीप के मध्यभाग मे चारो दिशा मे चार 'पर्वत' है। अजनरत्नमय होने से वे 'अजनगिरि' कहलाते है।

पूर्व मे	=	देवरमण	ये चारो पर्वत ८४ हजार योजन ऊँचे, १ हजार योजन भूमि मे है। मूल मे इनका विस्तार १० हजार योजन का है तथा न्यून होते-होते ऊपर भाग मे विस्तार १ हजार योजन का रह जाता है। प्रत्येक पर्वत पर विविध रत्नमय एक-एक 'सिद्धायतन' (शाश्वत जिन चैत्य) है।
दक्षिण मे	=	नित्योद्योत	
पश्चिम मे	=	स्वयप्रभ	
उत्तर में	=	रमणीय	

सिद्धायतन—चारो अजनगिरि पर अनेकविध मणिरत्नो से निर्मित एक-एक सिद्धायतन है। जो १०० योजन पूर्व से पश्चिम की ओर लवे, ७२ योजन ऊँचे तथा ५० योजन दक्षिण से उत्तर की ओर चौंडे है।

'अजनगिरि' कृष्णरत्नमय है अत उनसे श्याम किरणे निकलती है। वे पर्वत ऐसे लगते है मानो चारो ओर से वे नवपल्लवित तमालवृक्षो के वन से घिरे हुए हो। अनेकविध सुन्दर उद्यान से युक्त व वर्षाकालीन मेघ घटाओ से सुशोभित हो।

वस्तुत पर्वत विविध उद्यानो से सुशोभित व जल से परिपूर्ण बादलो से घिरे हुए ही रहते हैं।

प्रत्येक सिद्धायतन के चारो दिशा मे ४ द्वार व ऊपर पताका है। प्रत्येक द्वार मणिरत्नो के तोरणो से तथा प्रेक्षामण्डपो से सुशोभित है। इन सिद्धायतनो मे ५०० धनुष ऊँची १०८ शाश्वत जिन प्रतिमाये है। सिद्धायतनो के मध्य मे रत्नमय पीठिका है तथा पीठिका पर इन्द्रध्वजा विराजमान है। सिद्धायतनो के आगे १०० योजन लबी, ५० योजन चौडी तथा १० योजन गहरी एक-एक वापी है। इन वापिकाओ के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर मे क्रमश अशोकवन, सप्तच्छदवन, चपकवन व आम्रवन है।

प्रत्येक अजनगिरि से एक-एक लाख योजन दूर चारो दिशा मे ४-४ वापिकाये है। प्रत्येक वापी १ लाख योजन लबी-चौडी व १० योजन गहरी है। वापिकाओ के मणिरत्नमय खभे उत्तुग तोरणो से सुशोभित है। उनके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर मे क्रमश अशोकादि वन है। इन वापिकाओ के मध्यभाग मे स्फटिक रत्नमय, दूध, दही की तरह उज्ज्वल वर्ण वाले दधिमुख नामक पर्वत है। ये पर्वत ऐसे लगते है मानो जल तरगो के परस्पर टकराने से उत्पन्न होने वाले झागो का समूह हो। ये पर्वत ६४ हजार योजन ऊँचे, १ हजार योजन भूमिगत तथा नीचे से ऊपर तक १० हजार योजन विस्तृत पलग की तरह दिखाई देते है। इन पर्वतो पर अजनगिरि जैसे ही सिद्धायतन है।

इन वापिकाओ के अन्तराल मे अर्थात् अजनगिरि की विदिशा मे रतिकर नामक दो-दो पर्वत हैं। ये पर्वत पद्मराग मणि की तरह रक्ताभ है। मानो ये पर्वत सिद्धायतनो मे विराजमान प्रतिमाओ के कुकुमवर्णीय प्रक्षाल के जल प्रवाह से रक्ताभ प्रतीत हो रहे हो। ये पर्वत अत्यन्त कोमल स्पर्श वाले व देवताओ के आवास स्थान है। इन पर्वतो की ऊँचाई व विस्तार १०००० योजन तथा अवगाह २५० योजन है। चारो ओर से समानाकार होने से झालर की तरह प्रतीत होते है। उन पर भी पूर्व प्रमाण वाले जिनायतन है।

चारो दिशा की वापिकाओ के नाम—

१. देवरमण गिरि की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा मे क्रमश नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा व नन्दिवर्धना नाम की वापिकाये है।
२. नित्योद्योत की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा मे क्रमश भद्रा, विशाला, कुमुदा व पुण्डरिकिणी वापिकाये है।
३. स्वयप्रभ की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा मे क्रमश नन्दिषेणा, अमोघा, गोस्तूभा व सुदर्शना वापिकाये है।
४ रमणीय की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा मे क्रमश विजया, वैजयन्ती, जयन्ती व अपराजिता वापिकाये है।

ये १६ हीं वापिकाये दधिमुख पर्वत का आधार स्थल है। इस प्रकार नन्दीश्वरद्वीप मे प्रत्येक दिशा मे १३-१३ पर्वत है—जैसे, मध्य मे अजनगिरि, चारो दिशा की ४-४ वापिकाओं मे ४-४ दधिमुख, चारो विदिशाओं मे २-२ रतिकर कुल = १३ पर्वत। चारो दिशा मे १३ × ४ = ५२ पर्वत। प्रत्येक पर्वत पर एक-एक सिद्धायतन है अत कुल सिद्धायतन भी ५२ हुए। इनमे विराजमान जिन प्रतिमाओं की पूजा हेतु चारो निकायो के देवता सदाकाल आते रहते है।

नन्दीश्वर द्वीप के विषय मे विस्तार से जानने के इच्छुक जीवाभिगम, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, सग्रहणी आदि ग्रन्थो से जान सकते है। इन ग्रन्थो मे जो वस्तुभेद है वह मतान्तर समझना चाहिये ॥१४७२-९१ ॥

२७० द्वार : लब्धियाँ—

आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लओसही चेव।
सव्वोसहि सभिन्ने ओही रिउ-विउलमइलद्धी ॥१४९२ ॥
चारण आसीविस केवलिय गणहारिणो य पुव्वधरा।
अरहंत चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा वा ॥१४९३ ॥
खीरमहुसप्पिआसव कोट्ठयबुद्धी पयाणुसारी य।
तह बीयबुद्धितेयग आहारग सीयलेसा य ॥१४९४ ॥
वेउव्विदेहलद्धी अक्खीणमहाणसी पुलाया य।
परिणामतववसेण एमाई हुति लद्धीओ ॥१४९५ ॥
सफरिसणमामोसो मुत्तपुरीसाण विप्पुसो वावि (वयवा)।
अन्ने विडिति विट्ठा भासति पइत्ति पासवण ॥१४९६ ॥
एए अन्ने य बहू जेसि सव्वेवि सुरहिणोऽवयवा।
रोगोवसमसमत्था ते हुंति तओसहि पत्ता ॥१४९७ ॥
जो सुणइ सव्वओ मुणइ सव्वविसए उ सव्वसोएहि।
सुणइ बहुएवि सद्दे भिन्ने सभिन्नसोओ सो ॥१४९८ ॥
रिउ सामन्नं तम्मत्तगाहिणी रिउमई मणोनाण।
पाय विसेसविमुहं घडमेत्त चितिय मुणइ ॥१४९९ ॥
विउलं वत्थुविसेसण नाण तग्गाहिणी मई विउला।
चिंतियमणुसरइ घडं पसगओ पज्जवसएहि ॥१५०० ॥

आसी दाढा तग्गय महाविसाऽऽसीविसा दुविहभेया।
ते कम्मजाइभेएण णेगहा चउविहविकप्पा ॥१५०१ ॥
खीरमहुसप्पिसाओवमाणवयणा तयासवा हुंति।
कोट्ठयधन्नसुनिग्गलसुत्तत्था कोट्ठबुद्धीया ॥१५०२ ॥
जोसुत्तपएण बहु सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो।
जो अत्थपएणऽत्थं अणुसरइ स बीयबुद्धीओ ॥१५०३ ॥
अक्खीणमहाणसिया भिक्ख जेणाणिय पुणो तेण।
परिभुत्तं चिय खिज्जइ बहुएहिंवि न उण अन्नेहिं ॥१५०४ ॥
भवसिद्धियपुरिसाणं एयाओ हुंति भणियलद्धीओ।
भवसिद्धियमहिलाणवि जत्तिय जायंति त वोच्छ ॥१५०५ ॥
अरहंत चक्किकेसवबलसभिन्ने य चारणे पुव्वा।
गणहरपुलायआहारग च न हु भवियमहिलाण ॥१५०६ ॥
अभवियपुरिसाण पुण दस पुव्विल्लाउ केवलित्त च।
उज्जुमई विउलमई तेरस एयाउ न हु हुंति ॥१५०७ ॥
अभवियमहिलाणपि हु एयाओ हुंति भणियलद्धीओ।
महुखीरासवलद्धीवि नेय सेसा उ अविरुद्धा ॥१५०८ ॥

—गाथार्थ—

अट्ठावीस लब्धियाँ—१. आमर्षौषधिलब्धि २ विप्रुडौषधिलब्धि ३ खेलौषधिलब्धि ४ जल्लौषधि लब्धि ५. सर्वौषधिलब्धि ६. सभिन्नश्रोतोलब्धि ७. अवधिलब्धि ८. ऋजुमतिलब्धि ९. विपुलमतिलब्धि १०. चारणलब्धि ११. आशीविषलब्धि १२. केवलीलब्धि १३. गणधरलब्धि १४. पूर्वधरलब्धि १५. अरहंतलब्धि १६. चक्रवर्तीलब्धि १७. बलदेवलब्धि १८. वासुदेवलब्धि १९. क्षीरमधुसर्पि-आसवलब्धि २० कोष्ठकबुद्धिलब्धि २१. पदानुसारीलब्धि २२. बीजबुद्धिलब्धि २३ तैजसलब्धि २४ आहारक लब्धि २५ शीतलेश्यालब्धि २६. वैक्रियलब्धि २७. अक्षीणमहानसीलब्धि एव २८. पुलाकलब्धि—ये अट्ठावीस लब्धियाँ हैं। परिणाम विशेष और तप विशेष के प्रभाव से जीव को ये लब्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥१४९२-१४९५ ॥

आमर्ष अर्थात् सस्पर्श। विप्रुष अर्थात् मूत्र और विष्ठा। अन्य आचार्यों के अनुसार विड् अर्थात् विष्ठा और पत्ति यानि पेशाब अर्थ है। विप्रुड् से अन्य सुगन्धित अवयवो का ग्रहण होता है जो रोगादि को उपशान्त करने में समर्थ है ॥१४९६-९७ ॥

जिस लब्धि के प्रभाव से जीव अपने शरीर के संपूर्ण रोमो व छिद्रो द्वारा सुन सकता है अथवा सभी विषयों को सभी इन्द्रियो से ग्रहण कर सकता है अथवा एक साथ सुनाई देने वाले वादित्र आदि के शब्दो को अलग-अलग करके जान सकता है वह लब्धि संभिन्नश्रोतस् कहलाती है ॥१४९८॥

ऋजु अर्थात् सामान्य, उसको ग्रहण करने वाला मनपर्यवज्ञान 'ऋजुमति' है। जैसे कोई व्यक्ति घडे का विचार कर रहा है तो 'ऋजुमति मनपर्यवी' इतना जान सकता है कि 'अमुक व्यक्ति घडे का विचार कर रहा है' विशेष कुछ भी नही जान सकता। विपुलमति वस्तुगत विशेष धर्मो को जानता है। अर्थात् घड़े को जानने के साथ-साथ उसकी पर्यायो को भी जानता है ॥१४९९-१५००॥

आशी अर्थात् दाढा, उसमे रहने वाला जहर 'आशीविष' कहलाता है। वह जहर दो प्रकार का है—कर्म और जाति के भेद से। इन दो भेदो के भी अनेक भेद और चार भेद है ॥१५०१॥

दूध, मधु और घृत तुल्य उपमा वाले मधुर वचन जिस लब्धि के प्रभाव से निकलते हो, वह क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि है। कोठी मे पडे हुए धान्य की तरह जिसके सूत्र और अर्थ हो वह कोष्ठकबुद्धिलब्धिधर है ॥१५०२॥

जिसके प्रभाव से एक सूत्र पढ़कर स्वय की बुद्धि द्वारा अनेक सूत्रो का ज्ञान कर सकता है वह पदानुसारी लब्धि है। एक पद के अर्थ का बोध होने पर अनेक पद के अर्थ का बोध कराने वाली लब्धि बीजबुद्धि है ॥१५०३॥

जिसके द्वारा लाई गई भिक्षा, जब तक वह स्वयं भोजन न करे तब तक लाखो व्यक्ति भोजन कर लें फिर भी शेष नही होती, उसके खाने पर ही भिक्षा पूर्ण होती है, वह अक्षीणमहानसीलब्धिधर है ॥१५०४॥

भव्य पुरुष को पूर्वोक्त सभी लब्धियाँ होती है। भव्य स्त्रियो को जितनी लब्धियाँ होती है वे आगे कहेगे ॥१५०५॥

—विवेचन—

लब्धि = शुभ-अध्यवसाय या सयम की आराधना द्वारा जन्य, कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न विशिष्ट आत्मिक शक्ति 'लब्धि' कहलाती है। मुख्य रूप से लब्धियाँ अट्ठावीस है। इनके अतिरिक्त जीवो के शुभ-शुभतर व शुभतम परिणाम विशेष के द्वारा अथवा असाधारण तप के प्रभाव से अनेकविध लब्धियाँ ऋद्धि विशेष जीवो को प्राप्त होती है।

(१) **आमर्षौषधि लब्धि**—आमर्ष अर्थात् स्पर्श। जिस लब्धि के प्रभाव से लब्धि-विशिष्ट आत्मा के कर आदि का स्पर्श होने पर स्व और पर के रोग शान्त हो जाते है वह आमर्षौषधि लब्धि कहलाती है।

(२) **विप्रुडौषधि लब्धि**—यहाँ प्रसिद्ध पाठ है 'मुत्तपुरीसाण विप्पुसो वाऽवि। 'विप्रुड्' का अर्थ है अवयव अर्थात् मूत्र व पुरीष (विष्ठा) के अवयव विप्रुड् कहलाते है। 'विप्पुसो वाऽवि' ऐसा पाठ

अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध न होने से उपेक्षित है। यदि यह पाठ माने तो 'विप्रुड्' का अर्थ होगा मूत्र-पुरीष के ही अवयव। क्योंकि 'वाऽवि' मे 'वा' शब्द समुच्चयार्थ है, 'अपि' शब्द एवकारार्थ है तथा क्रम की भिन्नता का सूचक है। किसी का कथन है, कि विड् अर्थात् विष्ठा और 'पत्ति' का अर्थ प्रश्रवण होता है। जिस लब्धि के प्रभाव से मूत्र-पुरीष के अवयव सुगन्धित तथा स्व-पर का रोग शमन करने मे समर्थ होते है वह विप्रुडौषधि लब्धि है। सूत्र सूचक होने से यहा खेल, जल्ल, केश, नखादि के अवयवों का भी ग्रहण होता है।

(३) **खेलौषधि लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति का श्लेष्म सुगधित एव रोगनाशक होता है।

(४) **जल्लौषधि लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति के कान, नाक, ऑख, जीभ एव शरीर का मैल सुगधित एव रोगनाशक होता है।

(५) **सर्वौषधि लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति के मल-मूत्र, श्लेष्म, नाक, कान आदि का मैल, केश और नख सभी सुगन्धित एव रोगापहारी होते है।

(६) **सभिन्नश्रोतो लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से शरीर के सभी प्रदेशो मे श्रवण-शक्ति उत्पन्न हो जाती है अथवा जिस लब्धि के प्रभाव से पॉच-इन्द्रियो से ग्राह्य-विषय को एक ही इन्द्रिय से ग्रहण करने की शक्ति पैदा हो जाती है, अथवा जिस लब्धि से बारह योजन तक विस्तृत चक्रवर्ती के सैन्य मे बजने वाले विविध वाद्यो विविध स्वरो को व्यक्ति एक ही साथ अलग-अलग करके सुन सकता है।

(७) **अवधि लब्धि**—जिस लब्धि से इन्द्रियो की सहायता के बिना मात्र आत्मशक्ति से मर्यादा में रहे हुए रूपी द्रव्यो का ज्ञान होता है।

(८) **ऋजुमति लब्धि**—यह मनपर्यवज्ञान का भेद है। मनोगत भाव को सामान्य रूप से ग्रहण करने वाली बुद्धि ऋजुमति है। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति घडे के बारे मे सोच रहा है, तो ऋजुमति अपने ज्ञान से इतना जान सकता है कि उस व्यक्ति ने घडे का चिन्तन किया है, किन्तु वह यह नही जान सकता कि वह घडा कहॉ का है? किस द्रव्य का है? किस रग का है? इस ज्ञान की विषय सीमा ढाई अगुल न्यून ढाई द्वीप मे रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय के मनोगत भाव है।

(९) **विपुलमति लब्धि**—यह भी मनपर्यवज्ञान का भेद है। यह मनोगत भावो को ग्रहण करता है, किन्तु चिन्तनीय वस्तु को अपनी सभी पर्यायो (विशेषताओ) के साथ ग्रहण करता है, जैसे किसी व्यक्ति ने घडे का चिंतन किया, तो विपुलमति 'इसने घडे का चिंतन किया है' यह जानने के साथ यह भी जानता है कि इसके द्वारा सोचा हुआ घडा सोने का है, पाटलिपुत्रनगर का है, आज का बना हुआ है, महान् है, भीतर घर मे रखा हुआ है। इस प्रकार अनेक विशेषणो से युक्त 'घट' को जानता है।

(१०) **चारण लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से मानवीय शक्ति की सीमा से परे के क्षेत्रो मे भी लब्धिधारी का गमनागमन होता है।

(११) **आशीविष लब्धि**—आशी = दाढ, विष = जहर अर्थात् जिनकी दाढो मे भयकर जहर होता है वे 'आशीविष' कहलाते है। इसके दो भेद है—कर्म आशीविष और जाति आशीविष।

(i) **कर्म आशीविष**—पचेन्द्रिय तिर्यच, मनुष्य और आठवे सहस्रार देवलोक तक के देवता आदि अनेक प्रकार के जीव कर्म आशीविष है। ये जीव तप-चारित्र आदि अनुष्ठान के द्वारा अथवा अन्य किसी गुण से आशीविष सॉप, बिच्छु, नाग आदि से साध्य-क्रिया करने मे समर्थ होते है। अर्थात् ये शाप आदि देकर दूसरो का नाश करते है।

देवो मे यह लब्धि अपर्याप्त-अवस्था मे ही होती हे। कोई जीव प्राक्-भव सम्बन्धी लब्धि के सस्कार को लेकर देवता मे उत्पन्न होता हे उसे ही अपर्याप्तावस्था मे यह लब्धि रहती है। पर्याप्त अवस्था मे लब्धि-निवृत्त हो जाती है। जो देवता पर्याप्तावस्था मे शापादि प्रदान करते है, वह उनकी भव-प्रत्ययिक शक्ति का परिणाम है और ऐसी शक्ति सभी देवो मे होती हे। जबकि लब्धि वही कहलाती है, जो विशिष्ट साधना एव आराधना से उत्पन्न होती है।

(ii) **जाति आशीविष के ४ प्रकार है—**

(अ) **वृश्चिक** — बिच्छू के जहर की असर अर्ध-भरत प्रमाण शरीर मे हो सकती है।

(ब) **मेंढक** — मेढक के जहर की असर भरत प्रमाण शरीर मे हो सकती है।

(स) **सर्प** — सर्प के विष की असर जबू-द्वीप प्रमाण शरीर मे हो सकती है।

(द) **मनुष्य** — मनुष्य के जहर की असर ढाई-द्वीप प्रमाण शरीर मे हो सकती है।

(१३) **गणधर लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति द्वादशागी का प्रणेता तीर्थकर परमात्मा का प्रधान शिष्य गणधर बनता है।

(१४) **पूर्वधर लब्धि**—तीर्थकर परमात्मा द्वादशागी का मूल आधारभूत जो सर्वप्रथम उपदेश गणधरो को देते है, वह पूर्व कहलाता है। गणधर उस उपदेश को सूत्र रूप मे व्यवस्थित करते है। पूर्व की सख्या चौदह है, जिन्हे दस से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, वे पूर्वधर कहलाते है। जिस लब्धि के प्रभाव से पूर्वो का ज्ञान प्राप्त होता है, वह पूर्वधर लब्धि कहलाती है।

(१५) **अर्हत् लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से अर्हत् पद प्राप्त होता है।

(१६) **चक्रवर्ती लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है। चक्रवर्ती चौदह रत्न और छ खण्ड का स्वामी होता है।

(१७) **बलदेव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से बलदेव पद की प्राप्ति होती है।

(१८) **वासुदेव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से वासुदेव पद की प्राप्ति होती है। वासुदेव सात रत्न और त्रिखण्ड का अधिपति होता है।

(१९) **क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता का वचन, श्रोता को दूध, मधु और घृत के स्वाद की तरह मधुर लगता है जेसे, वज्रस्वामी आदि के वचन सुनने मे अति मधुर लगते थे। यहॉ यह तात्पर्य है कि गन्ने का चारा चरने वाली एक लाख गायो का दूध पचास हजार गायो को उनका दूध पच्चीस हजार गायो को इस प्रकार आधा-आधा करके अत मे एक गाय को

पिलाने पर उसका दूध एव उससे बना मद आच पर पकाया हुआ, विशिष्ट वर्णादि से युक्त घी कैसा मधुर होता है, उससे अधिक मधुर-वचन, इस लब्धि के प्रभाव से मिलता है। ऐसा दूध और घी मन की सतुष्टि एव शरीर की पुष्टि करने वाला होता है, वैसे इस लब्धि से सपन्न आत्मा का वचन, श्रोता के तन-मन को आह्लादित करता है। अमृताश्रवी, इक्षुरसाश्रवी आदि लब्धियाँ भी इसी प्रकार समझना। अथवा—जिस लब्धि के प्रभाव से पात्र मे आया हुआ स्वादरहित भी आहार, दूध, घी एव मधु की तरह स्वादिष्ट एव पुष्टिकर बन जाता है।

(२०) **कोष्ठक-बुद्धि**—कोठी मे डाला हुआ अनाज बहुत समय तक सुरक्षित रह सकता है, वैसे जिस लब्धि के प्रभाव से सुना हुआ या पढा हुआ शास्त्रार्थ चिरकाल तक यथावत् याद रहता है।

(२१) **पदानुसारी लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से एक पद सुनकर अनेक पदो का ज्ञान हो जाता है।

(२२) **बीज-बुद्धि**—जिस लब्धि की शक्ति से बीज-भूत एक अर्थ को सुन कर अश्रुत अनेक अर्थो का ज्ञान होता है। यह लब्धि गणधर-भगवन्तो को होती है। वे तीर्थकर परमात्मा के मुख से अर्थ-प्रधान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी को सुनकर अनन्त अर्थो से भरी हुई द्वादशागी की रचना करते है।

(२३) **तेजोलेश्या**—जिस लब्धि से, आत्मा क्रुद्ध होकर अपने तैजस्-पुद्गल को ज्वाला के रूप मे बाहर निकालकर अपनी अप्रिय वस्तु, व्यक्ति आदि को भस्म कर सकता है।

(२४) **शीतलेश्या**—जिस लब्धि से आत्मा अपने शीत तेज-पुद्गलो को तेजोलेश्या से जलते हुए आत्मा पर डालकर, उसे भस्म होने से बचा सकता है। भगवान महावीर के समय मे कूर्म गॉव मे अति करुणाशील वैशपायन नाम का तपस्वी अज्ञानतप करता था। स्नानादि के अभाव मे उसके सिर मे अगणित जूएँ पड गई थी। उसे देखकर गोशालक ने 'यूका शय्यातर' (जुओ का जाला) कहकर उसका उपहास किया था। इससे अत्यन्त क्रुद्ध होकर उस तपस्वी ने गोशालक को भस्म करने हेतु तेजोलेश्या का प्रयोग किया। तेजोलेश्या से गोशालक की रक्षा करने के लिये अत्यत करुणाशील भगवान महावीर ने तत्काल शीतलेश्या का प्रयोग किया।

तेजोलेश्या की सिद्धि—छट्ठ के पारणे छट्ठ करने वाले, पारणे मे एक मुट्ठी उडद के बाकुले एव चुल्लू भर जल लेने वाले साधक को छमास मे तेजोलेश्या सिद्ध होती है।

(२५) **आहारक लब्धि**—प्राणीदया, तीर्थकर की ऋद्धि एव अपने सशयो का निराकरण करने के लिये जिस लब्धि से चौदह पूर्वधर साधक अन्य क्षेत्र मे जाने योग्य एक हाथ प्रमाण का आहारक शरीर बनाते है।

(२६) **वैक्रिय लब्धि**—जिस लब्धि से मनचाहे रूप बनाने की शक्ति प्राप्त होती है। यह लब्धि मनुष्य और तिर्यच को आराधनाजन्य एव देव-नरक को सहज होती है।

(२७) **अक्षीणमहानसी लब्धि**—जिस लब्धि-शक्ति से छोटे से पात्र मे लायी हुई भिक्षा लाखो लोको को तृप्त कर देती है, फिर भी पात्र भरा रहता है। पात्र तभी खाली होता है, जब लब्धिधारी स्वय उस भिक्षा का उपयोग करता है।

(i) कर्म आशीविष—पचेन्द्रिय तिर्यच, मनुष्य और आठवे सहस्रार देवलोक तक के देवता आदि अनेक प्रकार के जीव कर्म आशीविष है। ये जीव तप-चारित्र आदि अनुष्ठान के द्वारा अथवा अन्य किसी गुण से आशीविष सॉप, बिच्छु, नाग आदि से साध्य-क्रिया करने मे समर्थ होते है। अर्थात् ये शाप आदि देकर दूसरो का नाश करते है।

देवो मे यह लब्धि अपर्याप्त-अवस्था मे ही होती है। कोई जीव प्राक्-भव सम्बन्धी लब्धि के सस्कार को लेकर देवता मे उत्पन्न होता हे उसे ही अपर्याप्तावस्था मे यह लब्धि रहती है। पर्याप्त अवस्था मे लब्धि-निवृत्त हो जाती है। जो देवता पर्याप्तावस्था मे शापादि प्रदान करते है, वह उनकी भव-प्रत्ययिक शक्ति का परिणाम है और ऐसी शक्ति सभी देवो मे होती है। जबकि लब्धि वही कहलाती है, जो विशिष्ट साधना एव आराधना से उत्पन्न होती है।

(ii) जाति आशीविष के ४ प्रकार है—

(अ) **वृश्चिक** — बिच्छू के जहर की असर अर्ध-भरत प्रमाण शरीर मे हो सकती है।

(ब) **मेंढक** — मेढक के जहर की असर भरत प्रमाण शरीर मे हो सकती है।

(स) **सर्प** — सर्प के विष की असर जबू-द्वीप प्रमाण शरीर मे हो सकती है।

(द) **मनुष्य** — मनुष्य के जहर की असर ढाई-द्वीप प्रमाण शरीर मे हो सकती है।

(१३) **गणधर लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति द्वादशागी का प्रणेता तीर्थकर परमात्मा का प्रधान शिष्य गणधर बनता है।

(१४) **पूर्वधर लब्धि**—तीर्थकर परमात्मा द्वादशागी का मूल आधारभूत जो सर्वप्रथम उपदेश गणधरो को देते है, वह पूर्व कहलाता है। गणधर उस उपदेश को सूत्र रूप मे व्यवस्थित करते है। पूर्व की सख्या चौदह है, जिन्हे दस से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, वे पूर्वधर कहलाते है। जिस लब्धि के प्रभाव से पूर्वो का ज्ञान प्राप्त होता है, वह पूर्वधर लब्धि कहलाती है।

(१५) **अर्हत् लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से अर्हत् पद प्राप्त होता है।

(१६) **चक्रवर्ती लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है। चक्रवर्ती चौदह रत्न और छ खण्ड का स्वामी होता है।

(१७) **बलदेव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से बलदेव पद की प्राप्ति होती है।

(१८) **वासुदेव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से वासुदेव पद की प्राप्ति होती है। वासुदेव सात रत्न और त्रिखण्ड का अधिपति होता है।

(१९) **क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता का वचन, श्रोता को दूध, मधु और घृत के स्वाद की तरह मधुर लगता है जैसे, वज्रस्वामी आदि के वचन सुनने मे अति मधुर लगते थे। यहाँ यह तात्पर्य है कि गन्ने का चारा चरने वाली एक लाख गायो का दूध पचास हजार गायो को...उनका दूध पच्चीस हजार गायो को...इस प्रकार आधा-आधा करके अत मे एक गाय को

पिलाने पर उसका दूध एव उससे बना मद आच पर पकाया हुआ, विशिष्ट वर्णादि से युक्त घी कैसा मधुर होता है, उससे अधिक मधुर-वचन, इस लब्धि के प्रभाव से मिलता है। ऐसा दूध और घी मन की सतुष्टि एव शरीर की पुष्टि करने वाला होता है, वैसे इस लब्धि से सपन्न आत्मा का वचन, श्रोता के तन-मन को आह्लादित करता है। अमृताश्रवी, इक्षुरसाश्रवी आदि लब्धियाँ भी इसी प्रकार समझना। अथवा—जिस लब्धि के प्रभाव से पात्र मे आया हुआ स्वादरहित भी आहार, दूध, घी एव मधु की तरह स्वादिष्ट एव पुष्टिकर वन जाता है।

(२०) **कोष्ठक-बुद्धि**—कोठी मे डाला हुआ अनाज वहुत समय तक सुरक्षित रह सकता है, वैसे जिस लब्धि के प्रभाव से सुना हुआ या पढा हुआ शास्त्रार्थ चिरकाल तक यथावत् याद रहता है।

(२१) **पदानुसारी लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से एक पद सुनकर अनेक पदो का ज्ञान हो जाता है।

(२२) **बीज-बुद्धि**—जिस लब्धि की शक्ति से बीज-भूत एक अर्थ को सुन कर अश्रुत अनेक अर्थों का ज्ञान होता है। यह लब्धि गणधर-भगवन्तो को होती है। वे तीर्थकर परमात्मा के मुख से अर्थ-प्रधान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी को सुनकर अनन्त अर्थो से भरी हुई द्वादशागी की रचना करते है।

(२३) **तेजोलेश्या**—जिस लब्धि से, आत्मा क्रुद्ध होकर अपने तैजस्-पुद्गल को ज्वाला के रूप मे वाहर निकालकर अपनी अप्रिय वस्तु, व्यक्ति आदि को भस्म कर सकता है।

(२४) **शीतलेश्या**—जिस लब्धि से आत्मा अपने शीत तेज-पुद्गलो को तेजोलेश्या से जलते हुए आत्मा पर डालकर, उसे भस्म होने से वचा सकता है। भगवान महावीर के समय में कूर्म गाँव मे अति करुणाशील वैशपायन नाम का तपस्वी अज्ञानतप करता था। स्नानादि के अभाव मे उसके सिर मे अगणित जूएँ पड गई थी। उसे देखकर गोशालक ने 'यूका शय्यातर' (जुओ का जाला) कहकर उसका उपहास किया था। इससे अत्यन्त क्रुद्ध होकर उस तपस्वी ने गोशालक को भस्म करने हेतु तेजोलेश्या का प्रयोग किया। तेजोलेश्या से गोशालक की रक्षा करने के लिये अत्यत करुणाशील भगवान महावीर ने तत्काल शीतलेश्या का प्रयोग किया।

तेजोलेश्या की सिद्धि—छट्ठ के पारणे छट्ठ करने वाले, पारणे मे एक मुट्ठी उडद के बाकुले एव चुल्लू भर जल लेने वाले साधक को छमास मे तेजोलेश्या सिद्ध होती है।

(२५) **आहारक लब्धि**—प्राणीदया, तीर्थकर की ऋद्धि एव अपने सशयो का निराकरण करने के लिये जिस लब्धि से चौदह पूर्वधर साधक अन्य क्षेत्र मे जाने योग्य एक हाथ प्रमाण का आहारक शरीर बनाते है।

(२६) **वैक्रिय लब्धि**—जिस लब्धि से मनचाहे रूप वनाने की शक्ति प्राप्त होती है। यह लब्धि मनुष्य और तिर्यच को आराधनाजन्य एव देव-नरक को सहज होती है।

(२७) **अक्षीणमहानसी लब्धि**—जिस लब्धि-शक्ति से छोटे से पात्र मे लायी हुई भिक्षा लाखो लोकों को तृप्त कर देती है, फिर भी पात्र भरा रहता है। पात्र तभी खाली होता है, जब लब्धिधारी स्वय उस भिक्षा का उपयोग करता है।

(२८) **पुलाक लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से साधक शासन व सघ की सुरक्षा के लिये चक्रवर्ती की सेना से भी अकेला जूझ सकता है।

पूर्वोक्त अट्ठावीस लब्धियो के अतिरिक्त अन्य भी कई लब्धियाँ है, जैसे—

(i) **अणुत्व लब्धि**—जिस शक्ति से साधक अपना शरीर अणु जितना बनाकर मृणालततु मे प्रवेश कर सकता है और वहाँ चक्रवर्ती की तरह सुखभोग कर सकता है।

(ii) **महत्त्व लब्धि**—मेरु की तरह महान् शरीर बनाने की शक्ति विशेष।

(iii) **लघुत्व लब्धि**—शरीर को वायु से भी हल्का बनाने की विशिष्ट शक्ति।

(iv) **गुरुत्व लब्धि**—शरीर को वज्र से भी भारी बनाने की शक्ति विशेष।

(v) **प्राप्ति लब्धि**—अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही अपने अगोपागो को इच्छित-प्रदेश तक फैलाने की विशिष्ट शक्ति।

(vi) **प्राकाम्य लब्धि**—जल मे स्थल की तरह और स्थल मे जल की तरह चलने की विशिष्ट शक्ति।

(vii) **वशित्व लब्धि**—प्राणीमात्र को वश करने वाली विशिष्ट शक्ति।

(viii) **अप्रतिघातित्व लब्धि**—पर्वत आदि के व्यवधान को भेदकर निराबाध गमन-आगमन कराने वाली विशिष्ट शक्ति।

(ix) **अन्तर्धान लब्धि**—अदृश्य करने वाली विशिष्ट शक्ति।

(x) **कामरूपित्व लब्धि**—एक साथ इच्छित अनेक रूप बनाने की विशिष्ट शक्ति।

किसके कितनी लब्धि होती है?

भव्य		अभव्य	
पुरुष	**स्त्री**	**पुरुष**	**स्त्री**
सभी लब्धियाँ होती है।	अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, सभिन्न-श्रोता, चारण, पूर्वधर, गणधर, पुलाक और आहारक इन दस लब्धियो को छोडकर शेष सभी लब्धियाँ होती है। भगवान मल्लिनाथ स्त्री रूप मे तीर्थकर बने यह आश्चर्यजनक घटना है।	अर्हत्, केवली, ऋजुमति, विपुलमति, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, सभिन्न-श्रोता, चारण, पूर्वधर, गणधर, पुलाक और आहारक इन तेरह को छोडकर शेष सभी लब्धियाँ होती है।	अभव्य पुरुष मे नही होने वाली तेरह और मधुघृत सर्पिराश्रव = चौदह लब्धियाँ नही होती है। ॥१४९२-१५०८॥

२७१ द्वार : विविधतप—

पुरिमड्ढेक्कासणनिव्विगइय-आयबिलोववासेहि ।
एगलया इय पचहि होइ तवो इदियजउत्ति ॥१५०९ ॥
निव्विगइयमायामं उववासो इय लयाहि तिहि भणिओ ।
नामेण जोगसुद्धी नवदिणमाणो तवो एसो ॥१५१० ॥
नाणमि दसणंमि य चरणमि य तिन्नि तिन्नि पत्तेय ।
उववासो तप्पूयापुव्व तन्नामगतवमि ॥१५११ ॥
एक्कासणगं तह निव्विगइयमायबिल अभत्तट्ठो ।
इय होइ लयचउक्क कसायविजए तवच्चरणे ॥१५१२ ॥
खमण एक्कासणग एक्कगसित्थ च एगठाण च ।
एक्कगदत्त नीव्वियमायबिलमट्ठकवल च ॥१५१३ ॥
एसा एगा लइया अट्ठहि लइयाहि दिवस चउसट्ठी ।
इय अट्ठकम्मसूडणतवमि भणिया जिणिदेहिं ॥१५१४ ॥
इग दुग इग तिग दुग चउ तिग पण चउ छक्क पच सत्त छग ।
अट्ठग सत्तग नवग अट्ठग नव सत्त अट्ठेव ॥१५१५ ॥
छग सत्तग पण छक्कं चउ पण तिग चउर दुग तिग एग ।
दुग एक्कग उववासा लहुसिहनिक्कीलियतवंमि ॥१५१६ ॥
चउपन्न खमणसय दिणाण तह पारणाणि तेत्तीस ।
इह परिवाडिचउक्के वरिसदुग दिवस अडवीसा ॥१५१७ ॥
विगईओ निविगईय तहा अलेवाडय च आयाम ।
परिवाडिचउक्कमि य पारणएसुं विहेयव्व ॥१५१८ ॥
इग दुग इग तिग दुग चउ तिग पण चउ छक्क पच सत्त छगं ।
अड सत्त नवऽड दस नव एक्कारस दस य वारसग ॥१५१९ ॥

एक्कार तेर बारस चउदस तेरस य पनर चउदसग।
सोलस पनरस सोला होइ विवरीयमेक्कतं ॥१५२० ॥
एए उ अभतट्ठा इगसट्ठी पारणाणमिह होइ।
एसा एगा लइया चउग्गुणाए पुण इमाए ॥१५२१ ॥
वरिसछग मासदुग दिवसाइ तहेव बारस हवति।
एत्थ महासीहनिकीलियमि तिव्वे तवच्चरणे ॥१५२२ ॥
एक्को दुगाइ एक्कग अतरिया जाव सोलस हवति।
पुण सोलस एगंता एक्कतरिया अभत्तट्ठा ॥१५२३ ॥
पारणयाण सट्ठी परिवाडिचउक्कगमि चत्तारि।
वरिसाणि हुति मुत्तावलीतवे दिवससखाए ॥१५२४ ॥
इग दु ति काहलियासु दाडिमपुप्फेसु हुति अट्ठ तिगा।
एगाइसोलसता सरियाजुयलमि उववासा ॥१५२५ ॥
अंतमि तस्स पयग तत्थकट्ठाणमेक्कमह पच।
सत्त य सत्त य पण पण तिन्निक्कतेसु तिगरयणा ॥१५२६ ॥
पारणयदिणट्ठासी परिवाडिचउक्कगे वरिसपणग।
नव मासा अट्ठारस दिणाणि रयणावलितवमि ॥१५२७ ॥
रयणावलीकमेणं कीरइ कणगावली तवो नवर।
कज्जा दुगा तिगपए दाडिमपुप्फेसु पयगे य ॥१५२८ ॥
परिवाडिचउक्के वरिसपचग दिणदुगूणमासतिग।
पढमतवुत्तो कज्जो पारणयविही तवप्पणगे ॥१५२९ ॥
भद्दाइतवेसु तहाऽऽइया लया इग दु तिन्नि चउ पच।
तह दु ति चउ पच इग दु तह पणग इग दोन्नि ति चउक्क ॥१५३० ॥
तह दुति चउ पणगेग तह चउ पणगेग दोन्नि तिन्नेव।
पणहत्तरि उववासा पारणयाण तु पणवीसा ॥१५३१ ॥

पभणामि महाभद्दं इग दुग तिग चउ पणच्छ सत्तेव।
तह चउ पण छग सत्तग इग दु ति तह सत्त एक्क दो ॥१५३२ ॥
तिन्नि चउ पच छक्क तह तिग चउ पण छ सत्तगेगं दो।
तह छग सत्तग इग दो तिग चउ पण तह दुग ति चउ ॥१५३३ ॥
पण छग सत्तेक्क तह पण छग सत्तेक्क दोन्नि तिय चउरो।
पारणयाण गुवन्ना छण्णउयसयं चउत्थाण ॥१५३४ ॥
भद्दोत्तरपडिमाए पण छग सत्तट्ठ नव तहा सत्त।
अड नव पंचच्छ तहा नव पण छग सत्त अट्ठेव ॥१५३५ ॥
तह छग सत्तट्ठ नव पण तहट्ठ नव पणट्ट सत्तऽभत्तट्ठा।
पणहत्तरसयसखा पारणगाणं तु पणवीसा ॥१५३६ ॥
पडिमाए सव्वभद्दाए पण छ सत्तट्ठ नव दसेक्कारा।
तह अड नव दस एक्कार पण छ सत्त य तहेक्कारा ॥१५३७ ॥
पण छग सत्तग अड नव दस तह सत्तट्ठ नव दसेक्कारा।
पण छ तहा दस एक्कार पण छ सत्तट्ठ नव य तहा ॥१५३८ ॥
छग सत्तड नव दसग एक्कारस पच तह नवग दसग।
एक्कारस पण छक्कं सत्तट्ठ य इह तवे होंति ॥१५३९ ॥
तिन्नि सया बाणउया इत्थुववासाण होंति संखाए।
पारणया गुणवन्ना भद्दाइतवा इमे भणिया ॥१५४० ॥
पडिवइया एक्कच्चिय दुगं दुइज्जाण जाव पन्नरस।
खमणेहऽमावसाओ होइ तवो सव्वसपत्ती ॥१५४१ ॥
रोहिणीरिक्खदिणे रोहिणीतवो सत्त मासवरिसाइं।
सिरिवासुपुज्जपूयापूव्वं कीरइ अभत्तट्ठो ॥१५४२ ॥
एक्कारस सुयदेवीतवमि एक्कारसीओ मोणेण।
कीरंति चउत्थेहिं सुयदेवीपूयणापुव्वं ॥१५४३ ॥

सव्वगसुदरतवे कुणति जिणपूयखतिनियमपरा।
अट्ठुववासे एगतरबिले धवलपक्खमि ॥१५४४॥
एव निरुजसिहोवि हु नवर सो होइ सामले पक्खे।
तमि य अहिओ कीरइ गिलाणपडिजागरणनियमो ॥१५४५॥
सो परमभूसणो होइ जमि आयबिलाणि बत्तीसं।
अंतरपारणयाइ भूसणदाण च देवस्स ॥१५४६॥
आयइजणगोऽवेव नवर सव्वासु धम्मकिरियासु।
अणिगूहियबलविरियप्पवित्तिजुत्तेहि सो कज्जो ॥१५४७॥
एगतरोववासा सव्वरसं पारण च चेत्तमि।
सोहग्गकप्परुक्खो होइ तहा दिज्जए दाण ॥१५४८॥
तवचरणसमत्तीए कप्पतरू जिणपुरो ससत्तीए।
कायव्वो नाणाविहफलविलसिरसाहियासहिओ ॥१५४९॥
तित्थयरजणणिपूयापुव्व एक्कासणाइ सत्तेव।
तित्थयरजणणिनामगतवमि कीरति भद्दवए ॥१५५०॥
एक्कासणाइएहि भद्दवयचउक्कगमि सोलसहि।
होइ समोसरणतवो तप्पूयापुव्वविहिएहि ॥१५५१॥
नदीसरपडपूया नियमसामत्थसरिसतवचरणा।
होइ अमावस्सतवो अमावसावासरुद्दिट्ठो ॥१५५२॥
सिरिपुडरीयनामगतवमि एगासणाइ कायव्व।
चेत्तस्स पुन्निमाए पूएयव्वा य तप्पडिमा ॥१५५३॥
देवग्गठवियकलसो जा पुन्नो अक्खयाण मुट्ठीए।
जो तत्थ सत्तिसरिसो तवो तमक्खयनिहि बिति ॥१५५४॥
वड्ढइ जहा कलाए एक्केक्काएऽणुवासर चदो।
सपुन्नो सपज्जइ जा सयलकलाहि पव्वमि ॥१५५५॥

तह पडिवयाए एक्को कवलो बीयाइ पुन्निमा जाव।
एक्केक्ककवलवुड्ढी जा तेसि होइ पन्नरसगं ॥१५५६ ॥
एक्केक्क किण्हमि य पक्खमि कल जहा ससी मुयइ।
कवलोवि तहा मुच्चइ जाऽमावासाइ सो एक्को ॥१५५७ ॥
एसा चदप्पडिमा जवमज्झा माससमित्तपरिमाणा।
इण्हि तु वज्जमज्झं मासप्पडिम पवक्खामि ॥१५५८ ॥
पन्नरस पडिवयाए एक्कगहाणीए जावऽमावस्सा।
एक्केण कवलेण जाया तह पडिवईऽवि सिआ ॥१५५९ ॥
बीयाइयासु इक्कगवुड्ढी जा पुन्निमाए पन्नरस।
जवमज्झवज्जमज्झाओ दोवि पडिमाओ भणियाओ ॥१५६० ॥
दिवसे दिवसे एगा दत्ती पढमंमि सत्तगे गिज्झा।
वड्ढइ दत्ती सह सत्तगेण जा सत्त सत्तमए ॥१५६१ ॥
इगुवन्नवासरेहिं होइ इमा सत्तसत्तमी पडिमा।
अट्ठट्ठमिया नवनवमिया य दसदसमिया चेव ॥१५६२ ॥
नवरं वड्ढइ दत्ती सह अट्ठगनवगदसगवुड्ढीहिं।
चउसट्ठी एक्कासी सय च दिवसाणिमासु कमा ॥१५६३ ॥
एगाइयाणि आयबिलाणि एक्केक्कवुड्ढिमंताणि।
पज्जतअभत्तट्ठाणि जाव पुन्न सय तेसिं ॥१५६४ ॥
एय आयबिलवद्धमाणनाम महातवच्चरणं।
वरिसाणि एत्थ चउदस मासतिग वीस दिवसाणि ॥१५६५ ॥
गुणरयणवच्छरमी सोलस मासा हवति तवचरणे।
एगतरोववासा पढमे मासंमि कायव्वा ॥१५६६ ॥
ठायव्वं उक्कुडुआसणेण दिवसे निसाए पुण निच्च।
वीरासणिएण तहा होयव्वमवाउडेण च ॥१५६७ ॥

बीयाइसु मासेसु कुज्जा एगुत्तराए वुड्ढीए।
जा सोलसमे सोलस उववासा हुति मासंमि ॥१५६८ ॥
जं पढमगमि मासे तमणुट्ठाण समग्गमासेसु।
पच सयाइ दिणाणं वीसूणाइ इममि तवे ॥१५६९ ॥
तह अगोवगाण चिइवदणपंचमंगलाईण।
उवहाणाइ जहाविहि हवति नेयाइं तह समया ॥१५७० ॥

—गाथार्थ—

तप—पुरिमड्ढ, एकाशन, निवि, आयबिल और उपवास—यह एक लता हुई। ऐसी पॉच लताओ द्वारा इन्द्रियजय तप पूर्ण होता है ॥१५०९ ॥

निवि, आयबिल, उपवास—यह एक लता (बारी) हुई। ऐसी तीन लताओं के द्वारा योगशुद्धि तप पूर्ण होता है। यह तप नौ दिन का है ॥१५१० ॥

ज्ञान-दर्शन और चारित्र इन तीनो की तीन-तीन उपवास द्वारा आराधना करके ज्ञानादि की पूजा करना यह रत्नत्रय तप है ॥१५११ ॥

एकाशन, निवि, आयंबिल और उपवास-यह एक लता हुई। इस प्रकार चार कषाय की चार लता द्वारा आराधना करना कषायजय तप है ॥१५१२ ॥

उपवास, एकाशन, एक दाना, एकल ठाणा, एक दत्ति, निवि, आयंबिल एव आठ कवल यह एक लता हुई। इस प्रकार आठ कर्म की आठ लताओं के द्वारा चौसठ दिन मे पूर्ण होने वाला अष्टकर्मसूदन तप जिनेश्वर भगवन्त ने बताया है ॥१५१३-१४ ॥

एक, दो, एक, तीन, दो, चार, तीन, पॉच, चार, छ, पॉच, सात, छ, आठ, सात, नौ, आठ, नौ, सात, आठ, छ, सात, पॉच, छ, चार, पॉच, तीन, चार, दो, तीन, एक, दो और एक उपवास—यह लघुसिंह निष्क्रीडित तप की एक परिपाटी है। एक परिपाटी मे एक सौ चौवन उपवास तथा तेत्तीस पारणे होते है। इस प्रकार चार परिपाटी करने पर तप पूर्ण होता है। इसमें दो वर्ष और अट्ठावीस दिन लगते है। चार परिपाटी में क्रमश विगययुक्त आहार, निवि, अलेपकृत तथा आयबिल से पारणा करना चाहिये ॥१५१५-१५१८ ॥

एक, दो, एक, तीन, दो, चार, तीन, पॉच, चार, छ, पॉच, सात, छ, आठ, सात, नौ, आठ, दस, नौ, ग्यारह, दस, बारह, ग्यारह, तेरह, बारह, चौदह, तेरह, पन्द्रह, चौदह, सोलह, पन्द्रह, सोलह—इस प्रकार पश्चानुपूर्वी के क्रम से एक उपवास पर्यत तप करना। इन उपवासो के मध्य एक-एक पारणा होता है। यह एक लता हुई। महासिह निष्क्रीडित तप मे ऐसी चार लतायें छ वर्ष, दो मास एव बारह दिन मे पूर्ण होती है ॥१५१९-२२ ॥

एक, दो यावत् सोलह तक उपवास करना। इन उपवासो के मध्य में एक-एक उपवास करना।

पश्चात् पश्चानुपूर्वी के क्रम से एक-एक उपवास के अन्तर सहित सोलह से एक तक उपवास करना। साठ पारणे होते है। इस प्रकार चार लताये मिलकर चार वर्ष में मुक्तावली तप पूर्ण होता है ॥१५२३-२४॥

एक, दो, तीन उपवास काहलिका में, दाडिमपुष्प में आठ तीन उपवास, दोनो सरों में एक से लेकर यावत् सोलह पर्यत पृथक्-पृथक् उपवास होते है। अन्त में पदक मे एक, पॉच, सात, सात, पॉच, पॉच, तीन और एक—इस प्रकार अट्ठमों की रचना होती है। इस तप में अट्ठयासी पारणे होते है। इस तप में चार लताओ के मिलाकर पॉच वर्ष, नौ महीने और अट्ठारह दिन होते है। यह रत्नावली तप है ॥१५२५-२७॥

रत्नावली के अनुसार ही कनकावली तप होता है। परन्तु इतना अतर है कि दाड़िमपुष्प तथा पदक मे तीन उपवास के स्थान पर दो-दो उपवास करने होते है। यह तप चार लताओं से, पॉच वर्ष, तीन मास (दो दिन न्यून) में पूर्ण होता है। लघुसिंहनिष्क्रीडित तप के अनुसार पॉचो ही तप मे पारणे की विधि समझना चाहिये ॥१५२८-२९॥

भद्रादि चार तपों में से पहिले भद्रतप बताया जाता है। भद्रतप में प्रथम परिपाटी में क्रमश. एक, दो, तीन, चार और पॉच उपवास होते है। द्वितीय परिपाटी में क्रमश तीन, चार, पॉच, एक और दो उपवास होते है। तृतीय परिपाटी में पॉच, एक, दो, तीन, चार उपवास होते है। चतुर्थ परिपाटी में दो, तीन, चार, पॉच तथा एक उपवास एव पचम परिपाटी मे चार, पॉच, एक, दो और तीन उपवास होते है। इस प्रकार पचहत्तर उपवास और पच्चीस पारणे से यह तप पूर्ण होता है ॥१५३०-३१॥

अब महाभद्र तप का वर्णन करते है। पहिली परिपाटी में एक, दो, तीन, चार, पॉच, छ और सात उपवास। दूसरी परिपाटी मे चार, पॉच, छ, सात, एक, दो और तीन उपवास। तीसरी परिपाटी मे सात, एक, दो, तीन, चार, पॉच और छ उपवास। चौथी परिपाटी में तीन, चार, पॉच, छ, सात, एक और दो उपवास। पॉचवी परिपाटी में छ, सात, एक, दो, तीन, चार और पॉच उपवास। छट्ठी मे दो, तीन, चार, पॉच, छ, सात और एक उपवास तथा सातवी परिपाटी में पॉच, छ, सात, एक, दो, तीन और चार उपवास होते है। इस प्रकार इस तप में उनपचास पारणे व एक सौ छन्नु उपवास होते है ॥१५३२-३४॥

भद्रोत्तर तप की पहिली लता में—क्रमश पॉच, छ, सात, आठ, नौ उपवास। दूसरी मे सात, आठ, नौ, पॉच, छ उपवास। तीसरी मे नौ, पॉच, छ, सात, आठ उपवास। चौथी में छ, सात, आठ, नौ, पॉच, उपवास तथा पॉचवी मे आठ, नौ, पॉच, छ और सात उपवास होते है। इस प्रकार पचहत्तर उपवास और पच्चीस पारणो से तप पूर्ण होता है ॥१५३५-३६॥

सर्वतोभद्र प्रतिमा की पहिली लता में—पॉच, छ, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह उपवास। दूसरी मे आठ, नौ, दस, ग्यारह, पॉच, छ, सात उपवास। तीसरी मे ग्यारह, पॉच, छ, सात, आठ, नौ, दस उपवास। चौथी मे सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, पॉच और छ उपवास। पॉचवी मे दस, ग्यारह, पाँच, छ, सात, आठ और नौ उपवास। छट्ठी में छ, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह एव पॉच उपवास।

सातवी मे नौ, दस, ग्यारह, पॉच, छ., सात और आठ उपवास होते है। इस तप मे उपवास के दिन तीन सौ बाणुं तथा पारणे के दिन उनचास है। इस प्रकार भद्रादि तप का वर्णन पूर्ण हुआ ॥१५३७-४० ॥

एकम का एक उपवास, दूज के दो उपवास यावत् अमावस्या के पन्द्रह उपवास करने से सर्वसौख्यसपत्ति तप होता है ॥१५४१ ॥

रोहिणी नक्षत्र के दिन वासुपूज्य स्वामी की पूजा पूर्वक सात वर्ष और सात माह तक उपवास करने से रोहिणी तप पूर्ण होता है ॥१५४२ ॥

ग्यारह एकादशी को मौन व श्रुतदेवता की पूजा पूर्वक उपवास करने से श्रुतदेवता तप होता है ॥१५४३ ॥

जिनेश्वर देव की पूजा एवं क्षमादि का अभिग्रह रखते हुए एकान्तरित उपवास करना तथा पारणे में आयबिल करना सर्वागसुन्दर तप है। यह तप शुक्ल-पक्ष मे होता है ॥१५४४ ॥

निरुजशिख तप की विधि 'सर्वाग सुन्दर' तप के अनुसार ही है। इतना अन्तर है कि यह तप कृष्ण पक्ष मे होता है तथा इस तप मे रोगी की सेवा करने का अभिग्रह विशेष रूप से धारण किया जाता है ॥१५४५ ॥

परमभूषण तप मे निरन्तर अथवा एकान्तर बत्तीस आयंबिल होते है। तप की पूर्णाहुति पर परमात्मा की प्रतिमा पर मुकुट, तिलक आदि आभूषण चढाना होता है ॥१५४६ ॥

आयतिजनक तप भी 'परमभूषण' तप के अनुसार ही होता है। परन्तु इसमे वन्दन प्रतिक्रमणादि सभी क्रियाये शक्ति छुपाये बिना उत्साहपूर्वक करना चाहिये ॥१५४७ ॥

चैत्र महीने मे एकान्तर उपवास करना तथा पारणे मे सर्वरस ग्रहण करना यह सौभाग्यकल्पवृक्ष तप है। इस तप मे यथाशक्ति साधु भगवन्तो को दान देना चाहिये तथा तप की समाप्ति पर परमात्मा के सम्मुख अनेकविध फलो से सुशोभित शाखाओ वाला कल्पवृक्ष यथाशक्ति सादे चावलों का अथवा चॉदी-सोने के चावलो का बनाना चाहिये ॥१५४८-४९ ॥

तीर्थकर माता तप में, तीर्थकर की माता की पूजा करते हुए भाद्रपद मास मे सात एकाशन करके किया जाता है ॥१५५० ॥

समवसरण मे बिराजमान प्रभु की पूजापूर्वक सोलह एकाशन आदि के द्वारा समवसरण तप किया जाता है। यह तप भाद्रपद मास मे किया जाता है। चार वर्ष मे पूर्ण होता है। ।१५५१ ॥

अमावस्या तप, नन्दीश्वरद्वीप के पट की पूजापूर्वक अमावस्या के दिन यथा-शक्ति उपवासादि तप करके किया जाता है ॥१५५२ ॥

पुण्डरीक तप, पुण्डरीक गणधर की पूजापूर्वक एकाशनादि के द्वारा चैत्र सुदी पूर्णिमा से प्रारभ किया जाता है ॥१५५३ ॥

परमात्मा के सम्मुख कलश की स्थापना करके प्रतिदिन एक मुट्ठी चावल उसमे डालना। जितने दिन मे कलश भर जाये उतने दिन पर्यत यथा शक्ति तप करना, अक्षयनिधि तप है ॥१५५४ ॥

प्रतिदिन एक-एक कला बढने से पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा संपूर्ण कलायुक्त बन जाता है वैसे प्रतिपदा के दिन एक कवल ग्रहण करके द्वितीया से पूर्णिमा पर्यन्त एक-एक कवल की वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह कवल होते है। कृष्ण पक्ष मे जैसे चन्द्रमा की प्रतिदिन एक-एक कला क्षीण होती जाती है वैसे अमावस्या पर्यन्त एक-एक कवल न्यून करते हुए अन्त में अमावस के दिन एक कवल ग्रहण करना शेष रहता है। यह तप यवमध्या चन्द्रप्रतिमा तप कहलाता है। यह एक मास मे पूर्ण होता है। तत्पश्चात् वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमा तप कहा जायेगा॥१५५५-५८॥

प्रतिपदा के दिन पन्द्रह कवल पश्चात् एक-एक कवल न्यून करते हुए अमावस्या तथा सुदी एकम के दिन एक कवल ग्रहण करना। दूज आदि को पुन एक-एक कवल की वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह कवल ग्रहण करना। इस प्रकार यवमध्या और वज्रमध्या दोनो प्रतिमायें बताई गई है॥१५५९-६०॥

सप्त-सप्तमिका तप के प्रथम सप्तक मे प्रतिदिन एक दत्ति ग्रहण करना। जैसे-जैसे सप्तक बढता जाता है वैसे-वैसे दत्ति भी बढती जाती है अर्थात् सातवे सप्तक मे प्रतिदिन सात दत्ति का ग्रहण होता है। इस प्रकार उनचास दिन में सप्तसप्ततिका तप पूर्ण होता है।

इस प्रकार अष्टअष्टमिका, नवनवमिका, दसदसमिका प्रतिमा मे दत्ति की अभिवृद्धि के साथ अष्टक, नवक और दशक की वृद्धि होती है। इस प्रकार चौसठ, इक्यासी तथा सौ दिन मे ये प्रतिमायें पूर्ण होती है॥१५६१-६३॥

एक. .दो आदि आयबिलों की अभिवृद्धि पूर्वक तथा अन्त मे उपवासपूर्वक सौ आयंबिल के द्वारा आयबिल वर्धमान नामक महातप पूर्ण होता है। इसमे चौदह वर्ष, तीन मास तथा बीस दिन लगते है॥१५६४-६५॥

गुणरत्नसवत्सर तप सोलह महीनों में पूर्ण होता है। इसके प्रथम मास मे एकान्तर उपवासपूर्वक दिन में उत्कटुक आसन से बैठना तथा रात्रि मे निर्वस्त्र होकर वीरासन में रहना। द्वितीयादि मास में एक-एक उपवास की अभिवृद्धि करते हुए उपवास करना। इस प्रकार सोलहवे महीने मे सोलह उपवास करना। अनुष्ठान की दृष्टि से पहिले महीने मे जो-जो अनुष्ठान होते है वे सभी अनुष्ठान संपूर्ण तप मे किये जाते है। यह तप बीस दिन न्यून पॉच सौ दिन मे पूर्ण होता है॥१५६६-६९॥

अग-उपाग, चैत्यवन्दन, पचमगल आदि के उपधानो की विधि आगम से ज्ञातव्य है॥१५७०॥

—विवेचन—

तप = जो दुष्कर्मो को जलाता है वह तप है। इसके अनेक भेद है।

१ इन्द्रियजय—जिनधर्म का मूल उद्देश्य है इन्द्रियो पर विजय पाना। अत सर्वप्रथम इन्द्रियजय तप ही बताया जाता है। इन्द्रियाँ ५ है। एक-एक इन्द्रिय पर विजय पाने हेतु ५-५ दिन तप किया जाता है। इसमें क्रमश पुरिमट्ढ, एकाशन, नीवि, आयबिल तथा पॉचवें दिन उपवास होता है। इस प्रकार ५ बार करने से कुल ५ × ५ = २५ दिन मे यह तप पूर्ण होता है।

- यद्यपि सभी तपो का मूल उद्देश्य इन्द्रियजय है पर पूर्वाचार्यो के द्वारा इस तप को विशेष रूप से इसीलिये करने का कहा है अत इसका यह नाम सार्थक है॥१५०९॥

२. योगशुद्धि—मन, वचन और काया इन तीनों योगो की शुद्धि करने वाला तप 'योगशुद्धि' तप है। इस तप मे क्रमश नीवि, आयबिल और उपवास होता है। इस प्रकार तीन बार किया जाता ह अत यह तप ३ × ३ = ९ दिन मे पूर्ण होता है ॥१५१० ॥

३. रत्नत्रय—ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शुद्धि करने वाला तप। इस तप मे प्रत्येक के ३-३ उपवास होते है। ज्ञानशुद्धि के लिये किये जाने वाले ३ उपवास के दिनो मे ज्ञानपूजा, आगमो की सुरक्षा, ज्ञानी पुरुषो की एषणीय वस्त्र, अन्न, पान आदि के द्वारा भक्ति अवश्य करना चाहिये। दर्शनपद की आराधना करते समय उपवास के साथ दर्शन प्रभावक सम्मति आदि ग्रन्थों की, सद्गुरुओं की पूजा करनी चाहिये। चारित्र पद के आराधन मे भी ३ उपवासपूर्वक चारित्रात्माओं की भक्ति, पूजा आदि करना चाहिये ॥१५११ ॥

४ कषायविजय—क्रोध, मान, माया व लोभ। इन चारों कषायों पर विजय पाने के लिये किया जाने वाला तप। इस तप मे क्रमश एकाशन, नीवि, आयबिल व उपवास किये जाते है। एक कषाय विजय मे ४ दिन, इस प्रकार ४ कषाय-विजय मे ४ × ४ = १६ दिन तक तप होता है ॥१५१२ ॥

५. कर्मसूदन—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो का नाश करने वाला तप 'कर्मसूदन' है। इस तप मे एक-एक कर्म को उद्देश्य करके आठ-आठ दिन तक क्रमश उपवास, एकाशन, एकदाने का एकाशन, एकलठाणा, दत्ति, नीवि, आयबिल व आठ कवल का एकाशन होता ह। इस प्रकार यह तप ८ × ८ = ६४ दिन मे पूर्ण होता है। इस तप की पूर्णाहुति होने पर परमात्मा का स्नात्र, विलेपन, पूजन, अगरचना आदि करना चाहिये। परमात्मा के सम्मुख विशिष्ट नैवेद्य धरकर उसके बीच सुवर्णमयी कुल्हाडी रखना चाहिये। यह कुल्हाडी कर्मरूपी वृक्ष को छेदन करने का प्रतीक है ॥१५१३-१४ ॥

६. लघुसिंहनिष्क्रीडित—जिस तप की आराधना का क्रम सिह के गमन की तरह हो वह सिंहनिष्क्रीडित तप है। जैसे सिंह आगे चलता जाता है और बीच-बीच मे मुडकर पुन पीछे भी देखता जाता है वैसे इस तप मे आगे बढकर पुन पीछे का तप किया जाता है अत इसका सिहनिष्क्रीडित नाम सार्थक है। महासिहनिष्क्रीडित की अपेक्षा जो तप छोटा हो वह लघु सिहनिष्क्रीडित है। इस तप मे प्रथम १ उपवास तत्पश्चात् २ पुन पूर्वकृत १ उपवास किया जाता है। इस प्रकार आगे बढकर पुन पीछे गमन होता है। इसमे तपाराधना इस प्रकार होती है।

लघुसिहनिष्क्रीडित तप

उपवास—१-२-१-३-२-४-३-५-४-६-५-७-६-८-७-९-८९-७-८-६-७-५-६-४-५-३-४-२-३-१-२-१

यह प्रथम परिपाटी है। इस प्रकार ४ बार करने से यह तप सपूर्ण होता है। उपवास के बीच सर्वत्र पारणा समझना। इस प्रकार इस तप मे एक परिपाटी के कुल उपवास १५४ व पारणा ३३ होते है। सपूर्ण तप १५४ + ३३ = १८७ × ४ = ७४८ दिन मे होता है। अर्थात् इस तप को पूर्ण होने मे २ वर्ष २८ दिन लगते है।

पारणे का स्वरूप—

प्रथम परिपाटी मे पारणे मे सर्वरस भोजन ग्रहण करना।

द्वितीय परिपाटी मे पारणे मे विगयरहित आहार ग्रहण करना।

तृतीय परिपाटी मे पारणे मे अलेपकृत वाल, चना आदि का आहार करना।

चतुर्थ परिपाटी मे पारणे मे परिमित आहार वाला आयबिल करना ॥१५१५-१८॥

७. **महासिंहनिष्क्रीड़ित**—जिसमे लघुसिंहनिष्क्रीडित की अपेक्षा उपवास की सख्या अधिक हो वह महासिंहनिष्क्रीडित है। शेष व्याख्या पूर्ववत् है। इसमे तपाराधन का क्रम इस प्रकार है—

यह एक परिपाटी है। इस प्रकार ४ वार करने से यह तप सपूर्ण होता है। इस तप की एक परिपाटी मे एक वर्ष, ६ महीने और १८ दिन लगते है इसे ४ से गुणा करने पर ६ वर्ष, दो मास व १२ दिन मे तप पूर्ण होता है।

एक परिपाटी मे ४९७ उपवास तथा ६१ पारणे होते है। चारो परिपाटी मे पारणे का स्वरूप लघुसिंहनिष्क्रीडित की तरह समझना चाहिये ॥१५१९-२२॥

८. **मुक्तावली**—जिस तप की सख्या को यथाविधि पट्ट पर लिखा जाये तो मोतियो की माला का आकार वने वह तप मुक्तावली तप है। इसमे तपाराधना का क्रम इस प्रकार होता है।

१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१	१६
१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१	१६

यह एक परिपाटी है। इसकी तप सख्या ३०० उपवास व ६० पारणे है। इस प्रकार इस तप की १ परिपाटी १ वर्ष मे (३६० दिन मे) पूर्ण होती हे तथा ४ परिपाटी ४ वर्ष मे पूर्ण होती है अर्थात् यह तप ४ वर्ष मे पूर्ण होता है।

'अन्तकृद्दशांगसूत्र' के अनुमार इसकी स्थापना इस प्रकार है

१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१
१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१

१६

अर्थात् प्रथम पक्ति के अत मे जो १६ का अक है, दूसरी पक्ति का प्रारभ उसी से हो जाता है। दूसरी बार १६ उपवास करने की आवश्यकता नही होती। चारो परिपाटी मे पारणे का स्वरूप पूर्ववत् समझना चाहिये ॥१४२३-२४॥

९. **रत्नावली**—रत्नावली, गले मे धारण करने योग्य आभरण (हार) विशेष का नाम है। इसके दोनो छोर प्रारभ से सूक्ष्म फिर स्थूल, स्थूलतर सुवर्णमय अवयवद्वय से युक्त होते हे। तत्पश्चात् अनार के पुष्प की तरह दोनो ओर दो (थेगडे) होते हैं उससे आगे दोनो ओर सरयुगल होता ह। पश्चात् दोनो सरो के मध्य मे सुन्दर पदक होता है। जिस तप की सख्या को यथाविधि पट्ट पर लिखने से रत्नावली का आकार बनता हो, वह तप भी 'रत्नावली' कहा जाता है। इस तप के आराधन का क्रम इस प्रकार होता है—
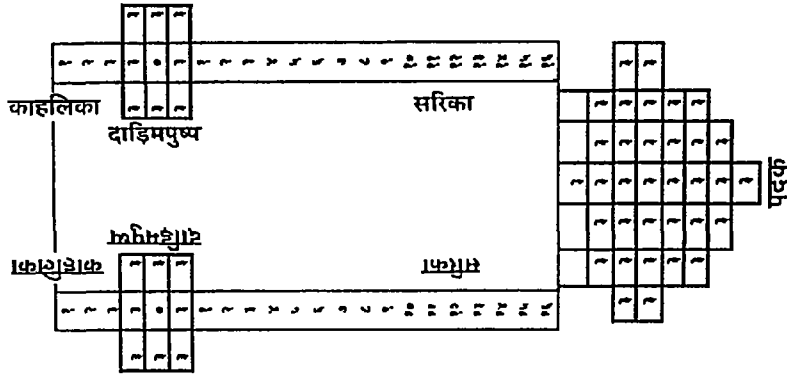
काहलिका दाडिमपुष्प सरिका

यह एक परिपाटी है। ऐसी ४ परिपाटी करने पर तप सपूर्ण होता है। ४ परिपाटी मे पारणे का स्वरूप पूर्ववत् होता है।

काहलिका	=	१२ उपवास	अर्थात् १ वर्ष ५ मास व १२ दिन मे एक परिपाटी पूर्ण। ४ परिपाटी के ५२२ × ४ = २०८८ दिन होते है अर्थात् ५ वर्ष ९ महीने व १८ दिन मे यह तप पूर्ण होता है।
दाडिमपुष्प	=	४८ उपवास	
सरयुगल	=	२७२ उपवास	
पदक	=	१०२ उपवास	
कुल उपवास	=	४३५ उपवास	
पारणा	=	८८	
एक परिपाटी के	=	५२२ दिन	॥१५२५-२७॥

१०. **कनकावली**—कठ मे पहिनने योग्य मणि जडित, सुवर्णमय आभूषण विशेष। जिस तप का आकार यथाविधि आलेखन करने पर कनकावली की तरह होता हो वह तप भी कनकावली

कहलाता है। यह तप भी रत्नावली की तरह ही होता है। मात्र इतना अतर है कि दाडिमपुष्पो मे अट्ठम के स्थान पर छट्ठ, वैसे पदक मे भी सर्वत्र छट्ठ ही होता है अत इस तप का प्रमाण इस प्रकार होता है—

काहलिका = १२ उपवास, दाडिमपुष्प = ३२ उपवास, सरयुगल = २७२ उपवास, पदक = ६८ उपवास

कुल उपवास = ३८४ व पारणे = ८८ मिलकर एक परिपाटी ४७२ दिन अर्थात् १ वर्ष, ३ मास व २२ दिन मे पूर्ण होती है। ४ परिपाटी ४७२ × ४ = ५ वर्ष २ मास व २८ दिन मे सपूर्ण होती है।

'अन्तकृद्दशा' के अनुसार कनकावली तप मे पदक व दाडिमपुष्प मे छट्ठ के स्थान पर अट्ठम व रत्नावली तप मे अट्ठम के स्थान पर छट्ठ करने का कहा है। चारो परिपाटी मे पारणा का स्वरूप पूर्ववत् समझना ॥१५२८-२९ ॥

११. भद्रतप—पाँच लता (परिपाटी) मे यह तप पूर्ण होता है। इस तप मे ७५ उपवास २५ पारणे कुल १०० दिन लगते है। इसका क्रम—

१	२	३	४	५
२	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

॥१५३०-३१ ॥

१२. महाभद्रतप—

१	२	३	४	५	६	७	१ लता
४	५	६	७	१	२	३	२ लता
७	१	२	३	४	५	६	३ लता
३	४	५	६	७	१	२	४ लता
६	७	१	२	३	४	५	५ लता
२	३	४	५	६	७	१	६ लता
५	६	७	१	२	३	४	७ लता

महाभद्रतप ७ लता (परिपाटी) मे पूर्ण होता है। इसमे १९६ उपवास तथा ४९ पारणे होने से यह तप १९६ + ४९ = २४५ दिन मे पूर्ण होता है ॥१५३२-३४॥

१३. भद्रोत्तर—यह प्रतिमा भी कहलाती है। प्रतिमा अर्थात् प्रतिज्ञा विशेष। यह प्रतिमा ५ लता मे परिपूर्ण होती है। इसमे १७५ उपवास व २५ पारणे है। कुल २०० दिन मे यह तप पूर्ण होता है।

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

॥१५३५-३६॥

१४. सर्वतोभद्र—यह प्रतिमा ७ परिपाटी मे पूर्ण होती है। इसमे उपवास के दिन ३९२ तथा पारणे के दिन ४९ है। दोनो मिलाने से ४४१ दिन मे सर्वतोभद्रतप पूर्ण होता है। ग्रथान्तर मे ये तप अन्यरीति से भी बताये है।

५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८

भद्रादि तपो के पारणे मे पूर्ववत् सर्वरस भोजन, विगय रहित भोजन, अलेपकारी भोजन या आयम्बिल किया जा सकता है। इस प्रकार ४ प्रकार के पारणे के भेद से ये तप भी ४ प्रकार के होते है ॥१५३७-४०॥

१५ सर्वसुखसंपत्ति—सर्व सुख-सपत्ति प्राप्त कराने वाला तप। ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही है जो इस तप की आराधना करने वाले प्राणी को नही मिलती। इस तप मे तिथि की सख्या के अनुसार उपवास किये जाते है। जसे एकम का १ उपवास, दूज के २ उपवास यावत् पूनम के १५ उपवास होते

है। यहाँ प्रतिपदा से यावत् अमावस्या तक तथा अन्यत्र 'इय जाव पन्नरस पुन्निमासु कीरति जत्थ उववासा' इस पाठ के अनुसार पूर्णिमा तक करने का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि यह तप कृष्णपक्ष या शुक्लपक्ष दोनो मे प्रारम्भ किया जा सकता है। इस तप के १२० उपवास होते है। इसे भाषा मे 'पखवासा' तप कहते है ॥१५४१ ॥

१६. **रोहिणी**—रोहिणी-देवताविशेष, उसकी आराधना के लिये किया जाने वाला तप रोहिणी तप है। जिस दिन रोहिणी नक्षत्र होता है उस दिन उपवास किया जाता है। इस प्रकार यह तप सातवर्ष और सात महीने मे पूर्ण होता है। उपवास के दिन वासुपूज्य स्वामी की पूजा आदि करना चाहिये। वासुपूज्य स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराना चाहिये। वर्तमान मे इस तप को ग्रहण करने की परपरा यह है कि अक्षयतृतीया को रोहिणी नक्षत्र होने पर यह तप प्रारम्भ किया जाता है ॥१५४२ ॥

१७. **श्रुतदेवता**—श्रुतदेवता की आराधना निमित्त किया जाने वाला तप। यह तप एकादशी के दिन मौनपूर्वक उपवास करके किया जाता है। यह तप ११ महीने तक होता है। इसी तरह नेमिनाथ परमात्मा की अधिष्ठायिका का अम्बामाता का तप भी होता है। यह तप पॉच पचमी को एकाशनादि तप करके नेमिनाथ व अबा देवी की पूजा भक्तिपूर्वक करना चाहिये ॥१५४३ । ।

१८ **सर्वागसुन्दर**—जिस तप की आराधना से सभी अग सुन्दर मिलते है वह तप 'सर्वागसुन्दर' कहलाता है। यह तप शुक्लपक्ष मे प्रारम्भ किया जाता है। इस तप मे एकान्तर ८ उपवास तथा पारणे मे आयबिल होता है। तप करते हुए क्षमा, मृदुता, सरलता रखना, तीर्थकर परमात्मा की पूजा, सुपात्रदान आदि करना आवश्यक है। सभी अग सुन्दर मिलना इस तप का आनुषगिक फल है वास्तविक फल तो सभी तपो का मोक्ष है ॥१५४४ ॥

१९. **निरुजशिख**—निरुज = रोगो का अभाव। शिखा = शिखा की तरह वही है मुख्य फल जिसका अर्थात् आरोग्यरूप मुख्य फल को उद्देश्य करके किया जाने वाला तप। इस तप मे भी सर्वागसुन्दर तप की तरह ८ उपवास व पारणे ८ आयबिल होते है। अन्तर इतना है कि यह तप कृष्णपक्ष मे होता है। इस तप मे जिन पूजादि के अतिरिक्त रोगी की सेवा, उन्हे दवा, पथ्य देना आदि कार्य अवश्य करणीय है ॥१५४५ ॥

२० **परमभूषण**—इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के योग्य मुकुट, कुण्डल, हार, कडे आदि आभूषणो की प्राप्ति के उद्देश्य से जो तप किया जाता है वह परमभूषण तप है। इस तप मे निरन्तर अथवा शक्ति न हो तो एकान्तर ३२ आयबिल होते है। तप के समापन पर परमात्मा को यथाशक्ति मुकुट, तिलक आदि आभूषण चढाना, सुपात्रदान आदि करना चाहिये ॥१५४६ ॥

२१. **आयतिजनक**—भविष्य मे इच्छित फल को देने वाला तप। यह तप भी परमभूषण तप की तरह ३२ आयबिल से पूर्ण होता है। इस तप मे वन्दन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, वैयावृत्त्य आदि सभी धर्मक्रियाये वीर्योल्लासपूर्वक करनी चाहिये ॥१५४७ ॥

२२. **सौभाग्यकल्पवृक्ष**—सौभाग्य रूप फल देने मे कल्पवृक्ष तुल्य तप सौभाग्य कल्पवृक्ष तप कहलाता है। यह तप चैत्रमास मे एकान्तर उपवास करके पूर्ण किया जाता है। पारणे मे सर्वरस-भोजन

ले सकते है। इस तप मे यथाशक्ति साधु आदि की आहारादि द्वारा भक्ति करना चाहिये। तप सपूर्ण होने पर जिनेश्वर परमात्मा के सम्मुख विशाल थाल मे चाँदी के अथवा सादे चावलो से फल पत्र सहित अनेक शाखाओ से युक्त कल्पवृक्ष की रचना करनी चाहिये ॥१५४८-४९ ॥

२३. तीर्थकरमाता—तीर्थकर की माताओ की पूजापूर्वक किया जाने वाला तप तीर्थकरमातृ तप है। यह तप भाद्रपद मास की सुदी सातम से त्रयोदशी तक एकाशन करके पूर्ण होता है। यह तीन वर्ष तक इसी प्रकार किया जाता है ॥१५५० ॥

२४. समवसरण—यह तप भादवा वदी १ से प्रारम्भ होकर १६ दिन तक किया जाता है। यह तप क्रमश एकाशन, नीवि, आयबिल और उपवास द्वारा किया जाता है। समवसरण के एक-एक द्वार का आश्रय कर चार-चार दिन आराधना की जाती है। इस प्रकार ४ द्वार के १६ दिन होते है। यह तप ४ वर्ष मे पूर्ण होता है। इस तप मे समवसरण मे विराजमान जिन प्रतिमा की पूजा अवश्य करनी चाहिये ॥१५५१ ॥

२५. अमावस्या—यह तप दीपावली की अमावस्या से प्रारम्भ होकर सात वर्ष मे पूर्ण होता है। यथाशक्ति उपवासादि से यह तप किया जाता है। जिस दिन उपवास हो उस दिन नन्दीश्वर द्वीप के पट की एव देवलोक मे स्थित जिन प्रतिमाओ के पट की यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये ॥१५५२ ॥

२६. पुण्डरीक—यह तप चैत्रसुदी पूनम से प्रारम्भ होकर १२ वर्ष मे पूर्ण होता है। प्रतिवर्ष चैत्री पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। अन्य मतानुसार यह तप सात वर्ष मे ही पूर्ण हो जाता है। इस तप मे मुख्यत पुण्डरीक गणधर की प्रतिमा का विधिपूर्वक पूजन होता है। क्योकि इस दिन तपाराधन का मुख्य कारण पुण्डरीक गणधर को केवलज्ञान की प्राप्ति ही है। **श्रीपद्मप्रभचरित्र** मे पुण्डरीक गणधर के वर्णन के प्रसग मे जैसे कहा है—

घणघाइकम्मकलुस, पक्खालिय सुक्कझाणसलिलेणं।
चेत्तस्स पुन्निमाए, सपत्तो केवलालोय ॥

शुक्ल ध्यान रूपी जल से घनघाती कर्म रूपी कलुश को प्रक्षालित कर चैत्र सुदी पूर्णिमा को पुण्डरीक गणधर ने केवलज्ञान को प्राप्त किया ॥१५५३ ॥

२७. अक्षयनिधि—जिस तप की आराधना करने से खजाना सदा भरा हुआ रहे वह 'अक्षयनिधि' तप हैं। इस तप मे जिनप्रतिमा के सम्मुख कलश स्थापन कर उसे प्रतिदिन एक-एक मुट्ठी अक्षत डालकर भरना इस तप की मुख्य क्रिया है। वर्तमान मे यह तप भादवा वदी ४ से प्रारम्भ कर भादवा सुदी ४ तक अर्थात् १६ दिन मे यथाशक्ति एकाशन द्वारा किया जाता है ॥१५५४ ॥

२८. चन्द्रप्रतिमा—चन्द्रकला की तरह जिस तप मे हानि-वृद्धि होती रहती है वह तप चन्द्रप्रतिमा या चन्द्रायण कहलाता है। यह तप दो तरह से होता है—यवमध्यरीति से व वज्रमध्यरीति से।

यवमध्य—'जौ' की तरह मध्य मे स्थूलतप व अन्त मे सूक्ष्म तप है जिसमे यह यवमध्या चन्द्रप्रतिमा है। जैसे, चन्द्र की कला सुदी १ से प्रतिदिन बढते-बढते पूर्णिमा को पूर्ण हो जाती है तथा वदी एकम

से एक-एक कला घटते-घटते अमावस्या को चन्द्र की मात्र १ कला ही शेष रह जाती है। वैसे यह तप भी सुदी एकम को १ कवल, दूज को २ कवल यावत् पूर्णिमा को १५ कवल, दूज को १४ कवल यावत् अमावस्या को १ कवल से पूर्ण होता है। इस प्रकार यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप एकमास मे सपूर्ण होता है।

यवमध्य चन्द्रप्रतिमा
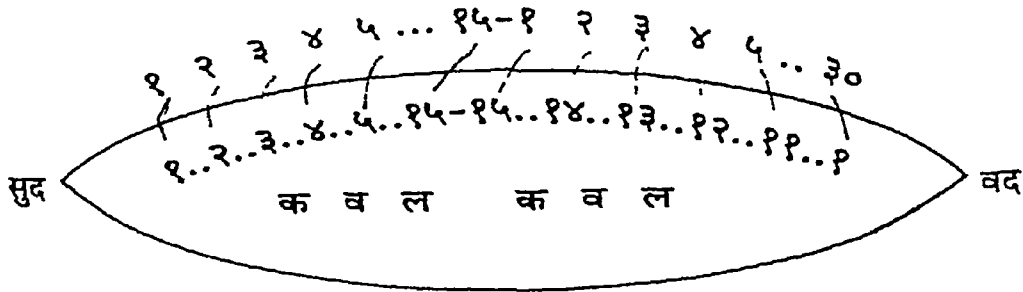
वज्रमध्य—जैसे वज्र मध्य मे सूक्ष्म व दोनो किनारो पर स्थूल होता है वैसे जो तप मध्य मे सूक्ष्म, प्रारम्भ व अन्त मे स्थूल होता है वह वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप है। यह तप कृष्ण प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। इस तप मे कृष्ण एकम को १५ कवल दूज को १४ कवल, तीज को १३ कवल यावत् अमावस्या को १ कवल पुन सुदी एकम को १ कवल, दूज को दो कवल, तीज को ३ कवल यावत् पूनम को १५ कवल ग्रहण किये जाते है। इस प्रकार यवमध्य व वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा तप होता है। यह पञ्चाशक ग्रन्थ के अनुसार समझना। कवल के स्थान पर 'दत्ति' अर्थात् १ दत्ति, २ दत्ति यावत् १५ दत्ति ग्रहण करने का भी वर्णन आता है।
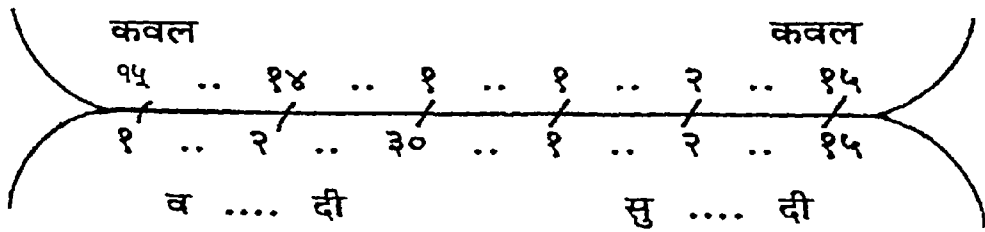
व्यवहारचूर्णि के अनुसार—

चन्द्रविमान के कुल १५ भाग किये गये है। वे भाग 'कला' कहलाते है। शुक्लपक्ष की एकम को चन्द्र के विमान की १ कला दिखाई देती है, दूज को २ कला यावत् पूर्णिमा को १५ कला से पूर्ण चन्द्र दिखाई देता है। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को एक कला से न्यून दूज को २ कला से न्यून, तीज को ३ कला से न्यून यावत् अमावस्या को एक भी कला दिखाई नही देती। इससे तात्पर्य यह हुआ कि जैसे चद्र महीने के प्रारम्भ मे अल्प, मध्य मे पूर्ण तथा अत मे सर्वथा हीन हो जाता है वैसे ही तप

करना चन्द्रप्रतिमा की यवमध्य रीति है। इसके अनुसार तप शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर अमावस्या को पूर्ण होता है। इसमे भिक्षाग्रहण की विधि निम्न है—

सुदी एकम को १ दत्ति, दूज को २ दत्ति, तीज को ३ दत्ति यावत् पूर्णिमा को १५ दत्ति ग्रहण करे। वैसे ही वदी एकम को १४ दत्ति, दूज को १३ दत्ति, तीज को १२ दत्ति यावत् चौदश को १ दत्ति तथा अमावस्या को चन्द्र की एक भी कला दिखाई न देने से उपवास करना। इस प्रकार तप के आदि व अन्त मे भिक्षा प्रमाण अल्प व मध्य मे विपुल होने से यह यवमध्य चन्द्रप्रतिमा तप है। वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर पूर्णिमा को पूर्ण होता है क्योकि वज्र के अतिम दोनो भाग स्थूल होते है तथा मध्य भाग सूक्ष्म होता है। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्र के विमान की १४ कला दिखाई देती है। दूज को १३, तीज को १२ यावत् चौदश को १ तथा अमावस्या को एक भी कला दिखाई नही देती। पुन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्र के विमान की १ कला, दूज को २ यावत् पूर्णिमा को १५ कला दिखाई देती है। इसका यह तात्पर्य है कि जैसे चन्द्र महीने के आदि व अन्त भाग मे स्थूल होता है तथा मध्यभाग मे सूक्ष्म होता है वैसे ही तप करना चन्द्र प्रतिमा की वज्रमध्यरीति है। इसमे भिक्षाग्रहण की विधि निम्न है—

वद एकम को १४ कवल या दत्ति, दूज को १३ कवल, यावत् चौदश को १ कवल तथा अमावस्या को एक भी कला दिखाई न देने से उपवास करना। पुन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को १ दत्ति या कवल, दूज को २ दत्ति या कवल यावत् पूर्णिमा को १५ दत्ति या कवल ग्रहण करना। इस प्रकार तप के आदि व अन्त मे भिक्षा प्रमाण विपुल व मध्य मे सूक्ष्म होने से यह वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप है ॥१५५४-६० ॥

२९. सप्तसप्तमिका—यह तप सात बार सात-सात दिन तक करके परिपूर्ण होता है यह तप कुल ४९ दिन का है। प्रथम सप्तक मे प्रतिदिन भोजन की १ दत्ति, द्वितीय सप्तक मे प्रतिदिन भोजन की २ दत्ति यावत् सातवे सप्तक मे भोजन की ७ दत्ति ग्रहण की जाती है। इसी तरह पानी की दत्ति भी समझना।

अन्ये तु—सप्तक के प्रथम दिन मे १ दत्ति, दूसरे दिन मे २ दत्ति, तीसरे दिन मे ३ दत्ति यावत् सातवे दिन मे ७ दत्ति ग्रहण की जाती है। इसी प्रकार सभी सप्तक मे समझना। **व्यवहारभाष्य** मे ऐसा कथन है।

जो तप सात सप्तको से परिपूर्ण होता है, वह सप्तसप्तमिका तप है।

३०. अष्टअष्टमिका—जो तप आठ अष्टको (८ दिन = १ अष्टक) से पूर्ण होता है वह अष्टअष्टमिका तप है। इसमे प्रथम अष्टक मे प्रतिदिन १ दत्ति, दूसरे अष्टक मे प्रतिदिन २ दत्ति यावत् आठवे मे प्रतिदिन ८ दत्ति ग्रहण की जाती है। यह तप ८ × ८ = ६४ दिन मे पूर्ण होता है।

३१. नवनवमिका—जो तप नव नवको (९ दिन = १ नवक) से पूर्ण होता है वह 'नवनवमिका' तप है। प्रथम नवक मे प्रतिदिन १ दत्ति, द्वितीय नवक मे प्रतिदिन २ दत्ति यावत् नौवे नवक मे प्रतिदिन ९ दत्ति ग्रहण की जाती है। यह तप कुल ९ × ९ = ८१ दिन मे पूर्ण होता है।

३२. दशदशमिका—जो तप दश दशको (१० दिन १ दशक) मे पूर्ण होता है वह दशदशमिका

तप है। प्रथम दशक मे प्रतिदिन १ दत्ति, द्वितीय दशक मे प्रतिदिन २ दत्ति यावत् दशम दशक मे प्रतिदिन १० दत्ति ग्रहण की जाती है। इस प्रकार यह तप कुल १० × १० = १०० दिन मे पूर्ण होता है।

- सप्तसप्तमिका आदि चारो प्रतिमाये (तप) ९ महीने २४ दिन मे पूर्ण होती है।

दत्ति का परिमाण—

सप्तसप्तमिका प्रतिमा मे १९६ दत्ति।

अष्टाष्टमिका प्रतिमा मे २८० दत्ति।

नवनवमिका प्रतिमा मे ४०५ दत्ति।

दशदशमिका प्रतिमा मे ५५० दत्ति ॥१५६१-६३॥

३३. आयंबिल वर्धमान तप—'एतदाचाम्लवर्धमाननामक महातपश्चरण।'

१ आयबिल	=	१ उपवास
२ आयबिल	=	१ उपवास
३ आयबिल	=	१ उपवास
४ आयबिल	=	१ उपवास
५ आयबिल	=	१ उपवास
यावत् १०० आयबिल	=	१ उपवास

इस प्रकार १०० उपवास + ५०५० आयबिल = ५१५० कुल दिन अर्थात् यह तप १४ वर्ष ३ महीने और २० दिन में सम्पूर्ण होता है ॥१५६४-६५॥

३४. गुणरत्नसंवत्सर तप—विशेष निर्जरा आदि गुण-रत्नो की उपलब्धि का साधन गुणरत्नवत्सर या गुणरत्नसवत्सर तप कहलाता है। यह तप १ वर्ष, ४ महीने मे पूर्ण होता है।

प्रथम मास मे एकान्तर उपवास, दूसरे मास मे एकान्तर छट्ठ, तीसरे मास मे एकान्तर अट्ठम व चोथे मास मे एकान्तर दशमभक्त (चोला) यावत् १६वे मास मे एकान्तर १६ उपवास। इस प्रकार यह तप १६ मास मे पूर्ण होता है। इसमे तप दिन १३ मास, १७ दिन तथा पारणा ७३ है।

- इस तप में दिन मे उत्कटुक आसन मे एव रात्रि मे वीरासन मे वस्त्र रहित रहना।

अट्ठमादि तप के महीने मे, यदि दिन की कमी रहती हो तो उतने दिन आगे के महीने से लेकर दिन की पूर्ति करना। यदि महीने के दिन बढते हो तो उन्हे अगले महीने मे डाल देना ॥१५६६-६९॥

शास्त्रो मे स्कधक आदि मुनियो के द्वारा आराधित अनेकानेक तप है। उन्हे पृथक्-पृथक् बताना सभव नही होता अत पूर्वोक्त तपो के अतिरिक्त शेष अग, उपाग, ईर्यापथिकी, शक्रस्तव, स्थापनार्हस्तव, नामस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धस्तव, पचमगल-महाश्रुतस्कध के उपधानादि तप जिस विधि से सिद्धान्त मे बताये है, वे सभी अन्यान्य ग्रन्थो से जानना। (टीकाकार द्वारा निर्मित समाचारी मे देखे-विशेष तपो का वर्णन) ॥१५७०॥

२७२ द्वार : पातालकलश—

पणनउइ सहस्साइ ओगाहित्ता चउद्दिसि लवण।
चउरोऽलिजरसठाणसठिया होंति पायाला ॥१५७१॥
वलयामुह केयूरे जुयगे तह ईसरे य बोद्धवे।
सव्ववइरामयाण कुड्डा एएसि दससइया ॥१५७२॥
जोयणसहस्सदसग मूले उवरि च होंति विच्छिन्ना।
मज्झे य सयसहस्स तत्तियमित्त च ओगाढा ॥१५७३॥
पलिओवमट्ठिईया एएसि अहिवई सुरा इणमो।
काले य महाकाले वेलंब पभजणे चेव ॥१५७४॥
अन्नेवि य पायाला खुड्डालिजरगसंठिया लवणे।
अट्ठ सया चुलसीया सत्त सहस्सा य सव्वेसि ॥१५७५॥
जोयणसयविच्छिन्ना मूलुवरि दस सयाणि मज्झमि।
ओगाढा य सहस्स दसजोयणिया य सि कुड्डा ॥१५७६॥
पायालाण विभागा सव्वाणवि तिन्नि तिन्नि बोद्धव्वा।
हिट्ठिमभागे वाऊ मज्झे वाऊ य उदग च ॥१५७७॥
उवरि उदग भणियं पढमगबीएसु वाउसखुभिओ।
उड्ढ वामे उदग परिवड्ढइ जलनिही खुभिओ ॥१५७८॥
परिसठिअंमि पवणे पुणरवि उदग तमेव संठाण।
वड्ढेइ तेण उदही परिहायइऽणुक्कमेणेव ॥१५७९॥

—गाथार्थ—

पातालकलश—चारो दिशाओ से लवण समुद्र के भीतर पचाणु-पचाणु हजार योजन जाने पर बड़ी कोठी के आकार वाले चार पातालकलश स्थित है।॥१५७१॥

वडवामुख, केयूप, यूपक और ईश्वर ये चार पातालकलशों के नाम है। सभी पातालकलश वज्रमय है और इनकी ठीकरी की मोटाई एक हजार योजन की है। पातालकलश मूल तथा ऊपर मे दस हजार योजन विस्तृत है। इनका मध्य विस्तार एक लाख योजन का है। एक लाख योजन

धरती मे अवगाढ़ है। काल, महाकाल, वेलंब और प्रभंजन नामक एक पल्योपम की स्थिति वाले देवता इनके अधिष्ठाता है ॥१५७२-७४ ॥

छोटी कोठी के आकार वाले अन्य भी छोटे-छोटे पातालकलशे लवण समुद्र में है। वे सभी मिलकर सात हजार आठ सौ चौरासी कलश है ॥१५७५ ॥

सभी लघु पातालकलश मूल तथा ऊपर के भाग मे एक सौ योजन विस्तृत है तथा मध्य भाग मे एक हजार योजन विस्तृत है। हजार योजन भूमि मे अवगाढ़ है तथा इनकी ठीकरी की मोटाई दस योजन की है ॥१५७६ ॥

सभी पातालकलश तीन भागो मे विभक्त है। सबसे निम्न भाग मे वायु है, मध्य भाग में वायु और जल है तथा ऊपर के भाग में केवल जल है। प्रथम और द्वितीय भाग मे स्थित वायु क्षुब्ध होने से ऊपर के भाग का जल बाहर निकलने लगता है और समुद्र क्षुब्ध हो जाता है जिससे समुद्र मे जल बढ़ने लगता है। जब वायु स्थिर हो जाता है तो जल भी सन्तुलित हो जाता है। इस प्रकार समुद्र मे अनुक्रम से ज्वारभाटा आता है ॥१५७७-७९ ॥

—विवेचन—

जबूद्वीप के मध्यभाग मे स्थित मेरुपर्वत की चारो दिशाओ मे ९५००० योजन तक लवणसमुद्र का अवगाहन करने के पश्चात् प्रत्येक दिशा मे एक-एक पातालकलश होने से कुल ४ पातालकलश है। यहाँ 'पाताल' शब्द पद का एकदेश पद समुदाय का परिचायक होता है इस नियमानुसार 'पातालकलश' इतने पूरे पद को सूचित करता है। ये पातालकलश महाकाय घडे के आकार वाले है।

नाम	दिशा	अधिपति	
वडवामुख केयूप यूप ईश्वर	पूर्व मे दक्षिण मे पश्चिम मे उत्तर मे	काल महाकाल वेलब प्रभजन	वडवामुख के स्थान पर कही वलयामुख है। केयूप के स्थान पर केयूर व समवायाग टीका मे केतुक नाम भी है। पाताल कलशो के अधिपति देवता महर्द्धिक तथा १ पल्योपम की आयु वाले है।

चारो पातालकलश वज्ररत्नमय है। इनकी ठीकरी की मोटाई १,००० योजन परिमाण है। इन कलशो का मूल व मुखभाग मे विस्तार १०,००० योजन का तथा उदर प्रदेश मे विस्तार १ लाख योजन का है। १,००,००० योजन भूमिगत है अर्थात् ऊँचे है। (भूमिगत होना ही इनकी ऊँचाई है) ये कलश मूल मे १०,००० योजन विस्तीर्ण है। तत्पश्चात् प्रदेश विस्तार बढते-बढते मध्यभाग मे विस्तार १,००,००० योजन प्रमाण हो जाता है। मध्यभाग से ऊपर की ओर पुन-पुन एक-एक प्रदेश घटते-घटते मुखभाग मे विस्तार १०,००० योजन रह जाता है ॥१५७२-७४ ॥
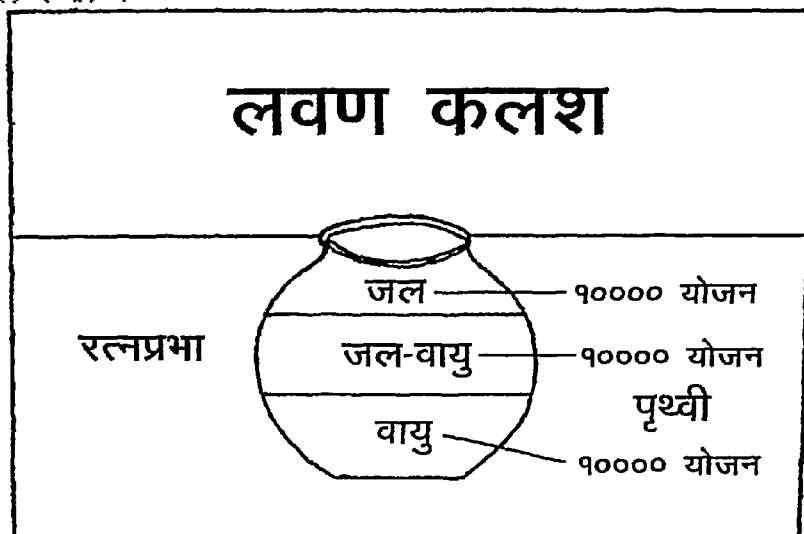
लघु पातालकलश—

पूर्वोक्त चारो पातालकलशो के अन्तराल मे लवण समुद्र में यत्र-तत्र छोटे घडे के आकार वाले अन्य भी बहुत से लघु पातालकलश है। एक-एक महाकलश से सम्बन्धित १९७१ लघु पाताल कलश है। चारो महाकलशो का कुल परिवार ७८८४ कलश है।

सभी लघु पातालकलशो के अधिपति देव है और वे अर्ध पल्योपम की आयु वाले है।

इन कलशो का विस्तार मूल व मुखभाग मे १०० योजन, मध्यभाग मे १००० योजन तथा ऊँचाई १००० योजन है। इन कलशो की ठीकरी की मोटाई १० योजन प्रमाण है ॥१५७५-७६ ॥

महाकलश व लघुकलश प्रत्येक के ३-३ भाग है।

भाग	महाकलश	लघुकलश	क्या है?
१ अधोभाग	प्रत्येक भाग का	प्रत्येक भाग	वायु है।
२ मध्यभाग	प्रमाण ३३३३३$\frac{१}{३}$	३३३$\frac{१}{३}$ योजन का	वायु और जल है।
३ उपरितनभाग	योजन है।	है।	जल है।

तथाविध स्वभावत प्रतिनियत समय मे महाकलश व लघुकलश सभी के प्रथम-द्वितीय भाग मे अनेक प्रकार के वायु उत्पन्न होते है। तदनन्तर उनमे महान सक्षोभ पैदा होता है। इससे उनकी शक्ति अद्‌भुत हो जाती है और वे वायु बडे वेग से इधर-उधर फैलते है। इससे कलशगत जल भी क्षुब्ध होकर उछलने लगता है। जल के क्षोभ से समुद्र भी क्षुब्ध होकर बढने लगता है। जब वायु उपशान्त हो जाता है तो जल भी यथावस्थित हो जाता है। वायु क्षोभ की यह प्रक्रिया अहोरात्रि मे दो बार तथा पक्ष मे ८-१४ आदि तिथियो मे होती है अत इस समय समुद्र मे ज्वार आता है। पश्चात् शान्त हो जाता है।

आहारक शरीर का विरह काल—

विरह काल		संख्या		अवगाहना		कितनी वार	
उत्कृष्ट छ. माह	जघन्य एक समय	उत्कृष्ट ९ हजार आहारक शरीरी	जघन्य १-२-३ आहारक शरीरी	उत्कृष्ट एक हाथ	जघन्य देशोन एक हाथ	सर्वभव आश्रयी ४ वार पश्चात् मोक्ष	एक भव आश्रयी २ वार

- **जीवसमास** मे आहारक मिश्र का २ से ९ वर्ष का जो विरह-काल (अन्तर) वताया है, वह मतान्तर समझना।

प्रयोजन—परमात्मा के समवसरण की शोभा देखने के लिये, विशिष्ट ज्ञान के लिये अथवा अपने सन्देह का निराकरण करने के लिये समीप मे कोई तीर्थकर न होने से जव आहारक लब्धि-सम्पन्न-आत्मा महाविदेह क्षेत्र मे जाना चाहते हैं, तो इस शरीर की रचना करते हैं क्योकि औदारिक शरीर से वहाँ नही जा सकते। जव आहारक लब्धिधारी आत्मा आहारक शरीर वनाते हे तो अपने मूल औदारिक शरीर मे रहे हुए आत्म-प्रदेशो मे से कुछ आत्म-प्रदेश उसमे डाल देते हैं। आत्म-प्रदेश की धारा अविच्छिन्न होने से दोनो शरीर के वीच मे एक दंडाकार धारा वन जाती है, जो दोनो शरीरो को अदृश्य रूप से जोड़ती है। प्रयोजन पूर्ण होने के वाद लब्धिधारी आत्मा अपने स्थान मे आकर आहारक शरीर का विसर्जन कर देते है और उसमे रहे हुए आत्म-प्रदेशो को पुन· औदारिक शरीर जो कि धरोहर की तरह सुरक्षित रखा हुआ था तथा आत्म-प्रदेशो के जाल से अववद्ध था उसमे व्यवस्थित कर देते हैं। इस शरीर की स्थिति अन्तमुहूर्त की होती है ॥१५८०-८२॥

आहारक शरीर की जघन्य अवगाहना भी किंचिन्न्यून एक हाथ से कम नही होती। क्योकि आहारक लब्धिधारक का प्रयत्न ऐसा ही होता है तथा आहारक शरीर के आरभक पुद्गलो की शक्ति भी विशिष्ट होती है अत· प्रारम्भ मे ही इसकी अवगाहना देशोन एक हाथ की हो जाती है। औदारिक आदि शरीर की तरह आहारक शरीर की प्रारंभ काल मे अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग मात्र की नही होती ॥१५८०-८२॥

२७४ द्वार :

अनार्यदेश—

सग जवण सवर वव्वर काय मुरुंडोड्ड गोड्डपक्कणया।
अरवाग होण रोमय पारस खस खासिया चेव ॥१५८३॥

दुंबिलय लउस बोक्कस भिल्लध्र पुलिंद कुंच भमररुआ।
कोवाय चीण चंचुय मालव दमिला कुलग्घा या ॥१५८४॥
केक्कय किराय हयमुह खरमुह गयतुरयमिंढयमुहा य।
हयकन्ना गयकन्ना अन्नेऽवि अणारिया बहवे ॥१५८५॥
पावा य चंडकम्मा अणारिया निग्घिणा निरणुतावी।
धम्मोत्ति अक्खराइं सुमिणेऽवि न नज्जए जाणं ।१५८६॥

—गाथार्थ—

अनार्यदेश—शक, यवन, शबर, बर्बर, काय, मुरुण्ड, उड्ड, गौड़, पक्कणग, अरबाग, हूण, रोम, पारस, खस, खासिक, दुम्बिलक, लकुश, बोक्कस, भिल्ल, अन्ध्र, पुलिन्द्र, कुंच, भ्रमररुक, कोपाक, चीन, चंचुक, मालव, द्रविड़, कुलार्घ केकय, किरात, हयमुख, खरमुख, गजमुख, तुरगमुख, मिंढकमुख, हयकर्ण और गजकर्ण। अन्य भी बहुत से अनार्य देश है ॥१५८३-८५॥

पापी, अति रौद्र कर्म करने वाले, निर्दय, पश्चात्ताप हीन, 'धर्म' शब्द को स्वप्न में भी नहीं जानने वाले लोग 'अनार्य' है ॥१५८६॥

—विवेचन—

अनार्यदेश = अशिष्ट, असभ्य व्यवहार वाले देश अनार्य देश है। वे निम्न हैं।

१ शकदेश
२. यवनदेश
३ शबरदेश
४ बर्बरदेश
५ कायदेश
६ मुरुण्डदेश
७ उड्डदेश
८ गौडदेश
९ पक्वणगदेश
१० अरबदेश
११. हूणदेश
१२ रोमदेश
१३ पारसदेश
१४ खसदेश
१५ खासिकदेश
१६ द्रुबिलकदेश
१७ लकुशदेश
१८ बोक्कशदेश
१९ भिल्लदेश
२० अध्रदेश
२१ पुलीद्रदेश
२२ कुचदेश
२३ भ्रमररुकदेश
२४ कोपाकदेश
२५ चीनदेश
२६ चञ्चुकदेश
२७ मालवदेश
२८ द्रविडदेश
२९ कुलार्घदेश
३० केकयदेश
३१ किरातदेश
३२ हयमुखदेश
३३ खरमुखदेश
३४ गजमुखदेश
३५ तुरगमुखदेश
३६ मिंढकमुखदेश
३७ हयकर्णदेश
३८ गजकर्णदेश

जो हेय धर्मो से रहित तथा उपादेय धर्मो से सहित है, वे आर्य देश है। इससे विपरीत देश अनार्य है। अर्थात् जो देश अशिष्ट व्यवहार वाले है वे अनार्य है।

- अनार्य देशो का वातावरण पाप बँधाने वाला होने से ये देश पाप देश है।

- अनार्य देशो का वातावरण उत्कटकषाय वाला होने से जीवों को रौद्रकर्म का प्रेरक है अतः ये देश 'चण्डकर्मा' कहलाते है।
- क्षेत्रज स्वभाव के कारण यहाँ के निवासी लोगों में पाप के प्रति लेशमात्र भी घृणा नहीं होती अतः ये देश 'निर्घृण' कहलाते हैं।
- कुकृत्य करने पर भी यहाँ के लोगों मे लेशमात्र भी पश्चात्ताप नहीं होता अतः ये देश 'निरनुतापी' है।
- जिस देश मे 'धर्म' इतने अक्षर देखने-सुनने को स्वप्न मे भी नहीं मिलते, जो अपेय का पान, अभक्ष्य का भक्षण, अगम्या का गमन करने वाले, शास्त्रविरुद्ध वेष-भाषा व आचार वाले है वे सभी अनार्य देश हैं।

पूर्वोक्त नामो के अतिरिक्त अन्य भी देश अशिष्ट आचार वाले होने से अनार्यदेश की गणना मे आते हैं। प्रश्नव्याकरणादि ग्रन्थो मे ऐसे देशों का वर्णन है। विस्तृत ज्ञान के लिये वे ग्रंथ देखना चाहिये ॥१५८३-८६ ॥

२७५ द्वार : आर्यदेश—

रायगिह मगह चंपा अंगा तह तामलित्ति वंगा य।
कंचणपुरं कलिंगा वणारसी चेव कासी य ॥१५८७ ॥
साकेय कोसला गयपुरं च कुरु सोरिय कुसट्टा य।
कंपिल्ल पंचाला अहिछत्ता जंगला चेव ॥१५८८ ॥
बारवई य सुरट्ठा मिहिल विदेहा य वच्छ कोसंबी।
नंदिपुर संडिल्ला भद्दिलपुरमेव मलया य ॥१५८९ ॥
वइराड मच्छ वरुणा अच्छा तह मत्तियावइ दसन्ना।
सोत्तीमई य चेई वीयमय सिंधुसोवीरा ॥१५९० ॥
महुरा य सूरसेणा पावा भंगी य मासपुरी वट्टा।
सावत्थी य कुणाला कोडीवरिस च लाढा य ॥१५९१ ॥
सेयवियाविय नयरी केयइअद्ध च आरिय भणियं।
जत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीण रामकण्हाण ॥१५९२ ॥

—विवेचन—

आर्यदेश—

आर्यदेश = जिन देशो मे तीर्थंकर चक्रवर्ती, वलदेव व वासुदेवों की उत्पत्ति होती है वे आर्यदेश हैं। अन्य सभी देश अनार्य हैं। यह आर्य-अनार्य की व्यवस्था है।

आवश्यक-चूर्णि के मतानुसार—

जिन देशो मे युगलिको का जन्म हो तथा जहाँ हकार, मकारादि नीति का व्यवहार हो वे देश आर्यदेश कहलाते है। आर्यदेश २५$\frac{१}{२}$ हैं।

	देश	नगरी		देश	नगरी
१	मगध	राजगृही	१५	मलयदेश	भद्दिलपुर
२	अगदेश	चपानगरी	१६	मत्स्य	वेराटपुर
३	बगदेश	ताम्रलिप्ती	१७	अच्छदेश	वरुणा
४	कलिंगदेश	काचनपुर	१८	दशार्णदेश	मृत्तिकावतीनगरी
५	काशीदेश	बाराणसी	१९.	चेदिदेश	शुक्तिमती नगरी
६	कोशलदेश	साकेतनगर	२०	सिधुसौवीरदेश	वीतभयनगर
७	कुरुदेश	गजपुर	२१	सूरसेनदेश	मथुरानगरी
८	कुशार्त्त	शौरीपुर	२२	भगिदेश	पापानगरी
९	पाचालदेश	कापिल्यनगर	२३	वर्तदेश	मासपुरीनगरी
१०	जगलदेश	अहिच्छत्रानगरी	२४	कुणालदेश	श्रावस्तीनगरी
११	सौराष्ट्र देश	द्वारवतीनगरी	२५	लाढादेश	कोटीवर्षनगर
१२	विदेहदेश	मिथिलानगरी	२५$\frac{१}{२}$	अर्धकेकय	श्वेताबिकानगरी
१३	वत्सदेश	कौशाम्बीनगरी			
१४	शण्डिल्य या शाण्डिल्य	नन्दिपुर			

मतान्तर — चेदिदेश मे सौक्तिकावती नगरी। सिन्धुदेश मे वीतभयनगर। सौवीरदेश मे मथुरा। सूरसेन मे पापा नगरी तथा भगिदेश मे मासपुरीवट्ट नगर है।

जहाँ-जहाँ नगर व देश के नामो का भेद है वहाँ बहुश्रुतो की परपरा को मान्य रखते हुए व्यवहार करना चाहिये।

पूर्वोक्त आर्यदेश भरतक्षेत्र सम्बन्धी है। वैसे महाविदेह की विजय से सम्बन्धित भी अनेक आर्यदेश हैं ॥१५८७-९२॥

२७६ द्वार : सिद्ध-गुण—

नव दरिसणंमि चत्तारि आउए पंच आइमे अते।
सेसे दो दो भेया खीणभिलावेण इगतीसं ॥१५९३॥
पडिसेहण संठाणे य वन्नगंधरसफासवेए य।
पण पण दु पणट्ठ तिहा एगतीसमकायऽसंगऽरुहा ॥१५९४॥

—गाथार्थ—

सिद्ध के इकतीस गुण—दर्शनावरण के नौ भेद, आयुष्य के चार भेद, ज्ञानावरण के पाँच भेद, अन्तराय के पाँच भेद, शेष कर्मों के दो-दो भेद—इन सभी भेदों के साथ 'क्षय' शब्द जोड़ने से सिद्ध के इकतीस भेद होते हैं॥१५९३॥

सस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और वेद—इनके क्रमश: पाँच, पाँच, दो, पाँच और आठ भेद है। इन्हें प्रतिषेधमुखेन बोलना तथा इनमे अकायत्व, असगत्व और अरुहत्व जोड़ना—इस प्रकार भी सिद्ध के इकतीस गुण होते हैं॥१५९४॥

—विवेचन—

५ ज्ञानावरणीय ९ दर्शनावरणीय ४ आयु ५ अन्तराय २ शुभ-अशुभ नामकर्म २ साता-असातावेदनीय २ दर्शनमोह-चारित्रमोह २ ऊँच-नीचगोत्र	पूर्वोक्त ३१ प्रकृतियो का क्षय होने से उत्पन्न ३१ गुण वाले सिद्ध परमात्मा हैं।

अथवा—

५ सस्थान = शारीरिक रचना विशेष, आकार विशेष। जिसके द्वारा वस्तु ठहरती है वह सस्थान है।

(१) परिमडल (चूड़ी की तरह गोलाकार)

(२) वृत्त (गोलाकार, भीतर-बाहर ठोस दर्पण की तरह)

(३) त्रयस्र (सिंघाडे की तरह तिकोन)

(४) चतुरस्र (चौकी आदि की तरह चोकोर)

(५) आयत (लबा-दण्डाकार)

अन्य भी घन, प्रतर आदि अनेक आकार है जो उत्तराध्ययन की वृहद्वृत्ति से समझना चाहिये।

५ वर्ण	२ गंध	५ रस	८ स्पर्श
(१) श्वेत (२) पीत (३) रक्त (४) नील (५) श्याम	(१) सुरभि (२) असुरभि ३ वेद (१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुंसकवेद	(१) तिक्त (२) कटु (३) कषाय (४) खट्टा (५) मीठा	(१) गुरु (२) लघु (३) मृदु (४) कर्कश (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध (८) रूक्ष।

सस्थानादि २८ पौद्गलिक भावो के क्षीण होने से २८ गुण युक्त तथा निम्न ३ गुण सहित = ३१ गुणयुक्त सिद्ध परमात्मा है।

(१) अकाय = औदारिक आदि ५ शरीर से रहित।

(२) असग = बाह्य-आभ्यन्तर सग रहित।

(३) अरुह = सपूर्ण कर्म-बीज के जल जाने से जो पुन ससार मे नही आते।

सस्थान आदि का अभाव और अकायत्वादि गुणो का सद्भाव सिद्धो मे प्रसिद्ध है। आचाराग में कहा है कि—

"से न दीहे, न वट्टे, न तंसे, न चउंरसे न परिमंडले।
न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किले।
न सुब्भिगंधे, न दुब्भिगंधे।
न तित्ते, न कडुए, न कसाए न अंबिले, न महुरे, न कक्खड़े।
न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्दे, न लुक्खे न काए,
न संगे, न रुहे, न इत्थीए, न पुरिसे, न नपुंसे।"

(अ. ५) इत्यादि।

सिद्ध गुणो का प्रतिपादक यह द्वार उत्कृष्ट मङ्गलरूप है। ग्रन्थ के अन्त मे इस द्वार का कथन अन्तिम मङ्गल के रूप में किया गया है ताकि यह ग्रन्थ शिष्य-प्रशिष्यादि परपरा पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से यथावत् प्रचलित रहे।

इस द्वार की समाप्ति के साथ २७६ द्वारो की व्याख्या पूर्ण हुई और इसकी पूर्णता के साथ प्रस्तुत प्रवचनसारोद्धार नामक ग्रन्थ भी सपूर्ण हुआ।

कहा है कि—

'वीज के जल जाने पर कभी अङ्कुर पैदा नही हो सकता वैसे कर्म के बीजभूत राग-द्वेष आदि के क्षय हो जाने पर जन्म-मरण के अङ्कुर उत्पन्न नही होते।' ॥१५९३-९४॥

मूल-ग्रन्थकार-प्रशस्ति

धम्मधुरधरणमहावराह**जिणचंदसूरि**सिस्साणं।
सिरिअम्मएवसूरीण पायपंकयपराएहि ॥१५९५॥
सिरिविजयसेणगणहरकणिट्ठ**जसदेवसूरि**जिट्ठेहिं।
सिरिनेमिचंदसूरिहि सविणय सिस्सभणिएहि ॥१५९६॥
समयरयणायराओ रयणाणं पिव समत्थदाराइ।
निउणनिहालणपुव्व गहिउ सजत्तिएहि व ॥१५९७॥
पवयणसारुद्धारो रइओ सपरावबोहकज्जंमि।
जंकिंचि इह अजुत्त बहुस्सुआ तं विसोहंतु ॥१५९८॥
सा विजयइ भुवणत्तयमेयं रविससिसुमेरुगिरिजुत्त।
पवयणसारुद्धारो ता नंदउ बुह पढिज्जतो ॥१५९९।

अर्थ—धर्मरूपी पृथ्वी का उद्धार करने मे महावराह समान श्री जिनचन्द्रसूरिजी के शिष्य, श्री आम्रदेवसूरि जी के चरण कमल के पराग तुल्य श्री विजयसेनसूरि के लघु गुरु-बन्धु तथा यशोदेवसूरि के बड़े गुरु-बन्धु श्री नेमिचन्द्रसूरिजी ने शिष्यों के विनम्र निवेदन से प्रेरित होकर जैसे नाविक समुद्र में से रत्नों को निकालता है वैसे कुशल-परीक्षणपूर्वक सद् अर्थयुक्त द्वारों को सिद्धान्तरूप सिन्धु से उद्धृत कर स्व-पर के बोध-हेतु प्रवचनसारोद्धार नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में जो कुछ भी अयुक्त लगे, वहुश्रुत-गीतार्थ उसमे अवश्य सशोधन करें ॥१५९५-९८॥

चन्द्र, सूर्य और सुमेरु पर्वत से युक्त यह भुवनत्रय जव तक विजयवन्त है तब तक विद्वानों के द्वारा पढ़ा जाता हुआ यह 'प्रवचनसारोद्धार' नामक ग्रन्थ वृद्धि को प्राप्त करे ॥१५९९॥

—विवेचन—

अव ग्रन्थकर्ता निम्न श्लोकों द्वारा गुरु परम्परा का उल्लेख करते हुए अपना नाम, ग्रन्थ रचना का प्रयोजन व अपनी विनम्रता का भी सूचन करते है—

जैसे विष्णु ने वराह अवतार धारण कर, पृथ्वी का उद्धार किया वैसे *श्रीजिनचन्द्रसूरि* ने जीवादि पदार्थों के आधारभूत धर्म की दो तरह से रक्षा की। प्रथम तो उसके स्वरूप को दूषित होने से वचाया,

दूसरा उसकी यथार्थता को प्रतिष्ठित किया। अत जिनचन्द्रसूरि महावराह तुल्य हुए। उनके शिष्य आम्रदेवसूरि हुए। उनके चरण कमल मे पराग सदृश श्रीमान् विजयसेनसूरि व उनके कनिष्ठभ्राता श्री यशोदेवसूरि हुए। श्रीयशोदेवसूरि के प्रधान शिष्य श्रीनेमिचन्द्रसूरि ने शिष्यो की विनम्र प्रार्थना स्वीकार कर इस ग्रन्थ की रचना की। जैसे कुशल नाविक समुद्र से बडी कुशलतापूर्वक बहुमूल्य रत्न निकाल लेते है, वैसे शास्त्ररूप अथाह सागर से रत्नो की तरह बहुमूल्य, विशिष्ट अर्थ वाले २७६ द्वारो को परीक्षणपूर्वक ग्रहण कर मैंने (श्रीनेमिचन्द्रसूरि) स्व-पर के ज्ञान के लिये प्रवचनसारोद्धार नामक ग्रन्थ की रचना की। इस रचना मे अज्ञानवश कुछ असगत कहा गया हो तो बहुश्रुत गीतार्थ महापुरुष उसका सशोधन करने की कृपा करे ॥१५९५-९८॥

यह सत्य है कि परिणाम भवितव्यता के अनुसार ही मिलता हे तथापि शुभाशय फलदायी होने से आशसा सदा शुभ फल की ही करनी चाहिये। अत ग्रन्थ के लिये शुभ कामना करते हुए ग्रन्थकार कहते है—

जब तक स्वर्ग, मृत्यु व पाताल इन तीनो लोको का अस्तित्व है, जब तक चन्द्र और सूर्य मेरुपर्वत की परिक्रमा करते है तब तक यह प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ तत्त्वज्ञो के द्वारा पढ़ा जाता हुआ शिष्य-प्रशिष्यादि परम्परा पर्यन्त अव्यवच्छिन्न रूप से प्रचलित होता रहे।

टीकाकार-प्रशस्ति

सिद्धान्तादिविचित्रशास्त्रनिकरव्यालोकनेन क्वचित्,
क्वाप्यात्मीयगुरूपदेशवशतः स्वप्रज्ञया च क्वचित्।
ग्रन्थेऽस्मिन् गहनेऽपि शिष्यनिवहैरत्यर्थमभ्यर्थित-
स्तत्त्वज्ञानविकाशिनीमहमिमा वृत्ति सुबोधा व्यधाम्॥ १ ॥

मेधामन्दतया चलाचलतया चित्तस्य शिष्यावली-
शास्त्रार्थप्रतिपादनादिविषयव्याक्षेपभूयस्तया।
यत्सिद्धान्तविरुद्धमत्र किमपि ग्रन्थे निबद्धं मया,
तद्भूतावहितैः प्रपञ्चितहितैः शोध्य सुधीभिः स्वयम्॥ २ ॥

श्री**चन्द्रगच्छ**गगने प्रकटितमुनिमण्डलप्रभाविभवः।
उदगान्नवीनमहिमा श्रीमद**भयदेवसूरि**रविः॥ ३ ॥

तार्किकागस्त्यविस्तारिसत्प्रज्ञाचुलुकैश्चिरम्।
वर्धते पीयमानोऽपि येषां **वादमहार्णवः**।। ४ ॥

तदनु **धनेश्वरसूरिर्जज्ञे** यः प्राप **पुण्डरीकाख्यः**।
निर्मथ्य वादजलधिं जयश्रिय **मुञ्जनृप**पुरतः ॥ ५ ॥
भास्वानभून्नवीनः श्रीमद**जितसिंहसूरि**रथ यस्य।
तपसोल्लासितमहिमा ज्ञानोद्योतः क्व न स्फुरितः? ॥ ६ ॥
श्री**वर्धमानसूरि**स्ततः परं गुणनिधानमजनिष्ट।
अतनिष्ट सोममूर्त्तेरपि यस्य सदा कलाविभवः ॥ ७ ॥
अथ **देवचन्द्रसूरिः** श्रीमान् गोभिर्जगज्जनं धिन्वन्।
रजनीजानिरिवाजनि नास्पृश्यत यः परं तमसा ॥ ८ ॥
श्री**चन्द्रप्रभ**मुनिपतिरवति स्म ततः स्वगच्छमच्छमनाः।
अचलेन येन महता सुचिरं चक्रे क्षमोद्धरणम् ॥ ९ ॥
अथ भद्रभुवोऽभूवन् श्री**भद्रेश्वरसूरयः**।
ये दधुर्विधुतारीणि तपांसि च यशांसि च ॥ १० ॥
शिष्यास्तेषामभवन् श्रीमद**जितसिंहसूरयः** शमिनः।
भ्रमरहितैः कुसुमैरिव शिरसि सदा यैः स्थितं गुणिनाम् ॥ ११ ॥
श्री**देवप्रभसूरि**प्रभवोऽभूवन्नथोन्मथितमोहाः।
सूरिषु रेखा येषामाद्यैव बभूव भूवलये ॥ १२ ॥
अप्रमेयप्रमेयोर्मिनिर्माणेऽर्णवसन्निभाः।
यैः **प्रमाणप्रकाशो**ऽयं मथ्यते विबुधैर्ननु ॥ १३ ॥
श्री**श्रेयांसचरित्रा**दिप्रबन्धाङ्गनसङ्गिनी।
यद्वाणी लास्यमुल्लास्य कस्य नो मुदमादधे? ॥ १४ ॥
प्रज्ञावैभवजृंभणादहरहर्देवेज्यसब्रह्मभि-
यैर्वाग्ब्रह्म विनेयवृन्दहृदयक्षेत्रान्तरुप्तं तथा।
नित्याभ्यासघनाम्बुवृष्टिघटनादंकूरितं पूर्णता
मायातं फलति स्म वादिविजयैर्दत्तप्रमोदं यथा ॥ १५ ॥
नाप्लाव्यन्त कति स्मयोद्धुरधियो यद्गद्यगुम्फोर्मिभिः,
यद्वाग्वैभवभङ्गिभिः कति न हि प्राप्यन्त हर्ष नृपाः।

यत्तीव्रव्रतमुद्रया कति न चानीयन्त चित्रं जना,

यद्वा किं बहुजल्पितेन निखिलं यत्कृत्यमत्यद्‌भुतम् ॥ १६ ॥

तेषां गुणिषु गुरूणां शिष्यः श्रीसिद्धसेनसूरिरिमाम्।

प्रवचनसारोद्धारस्य वृत्तिमकरोदतिस्पष्टाम् ॥ १७ ॥

करिसागररविसंख्ये (१२४८) श्रीविक्रमनृपतिवत्सरे चैत्रे।

पुष्यार्क्कदिने शुक्लाष्टम्यां वृत्तिः समाप्ताऽसौ ॥ १८ ॥

तारकमुक्तोच्चूले शशिकलशे गगनमरकतच्छत्रे।

दण्ड इव भवति यावत् कनकगिरिर्जयतु तावदियम् ॥ १९ ॥

वृत्तिकार सिद्धसेनसूरिपुरन्दर 'तत्वज्ञानविकाशिनी' टीका के अन्त मे अपनी गुरु परम्परा का वर्णन तथा टीका करने का प्रयोजन बताते हुए कहते है—

प्रयोजन—यह ग्रन्थ अतिगहन है। इसकी सुबोध टीका रचने की शिष्य समूह की प्रार्थना स्वीकार कर मैने (सिद्धसेनसूरि ने) अनेक शास्त्रो का अवलोकन कर, अपने गुरु के उपदेश से तथा स्वप्रज्ञा से इस ग्रन्थ की 'तत्त्वज्ञानविकाशिनी' नाम की अत्यन्त सुबोध टीका की रचना की।

विनम्रता—बुद्धि की मन्दता, चित्त की चञ्चलता, शिष्य समूह के अध्यापन की व्यस्तता आदि कारणो से इस ग्रन्थ मे जो कुछ आगम-विरुद्ध कहा गया हो तो प्राणिमात्र के प्रति हितकारी प्रवृत्ति वाले विद्वान् उसका अवश्य सशोधन करे।

गुरु-परम्परा—चन्द्रगच्छ रूपी आकाश मे मुनिमडल रूपी प्रभा-वैभव से युक्त नवीन महिमाशाली श्री अभयदेवसूरि रूपी सूर्य उदय हुआ।

अगस्त्य ऋषि ने अपने चुल्लुओ के द्वारा समुद्र को पीकर शेष कर दिया पर अभयदेवसूरि का 'वादमहार्णव' (ग्रन्थ का नाम) ऐसा है कि जो तार्किक रूपी अगस्त्यो के सत्प्रज्ञारूपी चुल्लुओ द्वारा पिये जाने पर भी सतत बढता ही रहता हे।

धनेश्वरसूरि—उनके पश्चात् वाद के सागर रूप पुण्डरीक नामक वादी का मन्थन कर अर्थात् उसे जीतकर मुञ्जभूपति के सम्मुख जिन्होने जयश्री का वरण किया, ऐसे धनेश्वरसूरि हुए।

अजितसिंहसूरि—नूतन सूर्य के समान तेजस्वी, तप की गरिमा से अत्यन्त महिमाशाली ऐसे अजितसिंहसूरि हुए, जिनके ज्ञान का प्रकाश कहाँ स्फुरित नही था?

वर्धमानसूरि—श्री अजितसिंहसूरि के पश्चात् महान गुणनिधान श्री वर्धमानसूरि हुए। जो सोममूर्ति (चन्द्र) होने पर भी कभी क्षीण नही हुए अर्थात् चन्द्रमा कृष्णपक्ष मे क्षीण हो जाता है पर वर्धमानसूरि का कलावैभव कभी क्षीण नही हुआ, सदा फैलता ही रहा।

देवचन्द्रसूरि—जैसे चन्द्रमा अपनी किरणो से जगत् के प्राणियो को सन्तुष्ट करता है वैसे अपनी वाणी रूपी किरणो से जगत के प्राणियो को सन्तुष्ट करने वाले श्री देवचन्द्रसूरि हुए। चन्द्रमा अधकार से घिर जाता है पर देवचन्द्रसूरि ऐसे चन्द्र थे कि उन्हे अन्धकार छू भी नही सकता था।

चन्द्रप्रभसूरि—जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ने रसातल मे जाती हुई पृथ्वी की रक्षा की वैसे निर्मल मन वाले चन्द्रप्रभ मुनिपति ने अपनी व अपने गच्छ की रक्षा की।

भद्रेश्वरसूरि—तत्पश्चात् कल्याण के भडार श्री भद्रेश्वरसूरि हुए, जो अप्रतिस्पर्धी तप और यश के धारक थे।

अजितसिंहसूरि (द्वितीय) —उनके शिष्य प्रशान्तमूर्ति श्री अजितसिंहसूरि हुए जो भौंरो के हितकारी पुष्पो की तरह सदा गुणवानो के मूर्धन्य रहे।

देवप्रभसूरि—उनके पट्ट पर मोह का मथन करने वाले, आचार्यों की परम्परा मे प्रथम स्थान रखने वाले, अगणित पदार्थ रूपी तरङ्गो के निर्माण मे सागर समान, विद्वानो के द्वारा पुन-पुन अभ्यसनीय ऐसे 'प्रमाणप्रकाश' ग्रन्थ के कर्ता देवप्रभसूरि हुए। जिनकी वाणी 'श्रेयासचरित्र' रूप प्रवध काव्य की रङ्गभूमि मे अद्‌भुत नर्तन कर किसको हर्षित नही करती?

टीकाकार सिद्धसेनसूरि—प्रज्ञारूपी वैभव के विस्तार से वृहस्पति के समान, जिन्होने शव्द रूपी व्रह्म को शिष्य समूह के हृदय रूपी क्षेत्र मे वोया तथा सतत अभ्यास रूपी वृष्टि से अङ्कुरित होता हुआ वह शव्द व्रह्म वादी-विजय द्वारा सफल वनकर प्रमोददायी वना। जिनकी गद्यरचना रूपी तरङ्गो से किनका गर्व नही गला? जिनके रचना कौशल ने किस राजा को हर्षित नही किया?

जिनके व्रतपालन की कठोरता ने किसे आश्चर्य-मुग्ध नही वनाया !अथवा अधिक कहने से क्या? जिनके सभी कार्य अति अद्‌भुत थे। ऐसे गुणवानो मे श्रेष्ठ श्री देवप्रभसूरि के शिष्य श्री 'सिद्धसेनसूरि' ने प्रवचनसारोद्धार की यह 'तत्त्वज्ञानविकाशिनी' नाम की अतिस्पष्ट टीका रची। विक्रम सवत् १२४८ के चैत्र शुक्ल अष्टमी के दिन पुष्य नक्षत्र मे यह वृत्ति पूर्ण हुई।

मङ्गल-कामना—

तारा रूपी मुक्ताजाल से सुशोभित, चन्द्ररूपी कलश से युक्त आकाशरूपी मरकतमणि के छत्र मे जव तक सुमेरु पर्वत दण्ड की तरह सुशोभित है तव तक यह वृत्ति जयवती रहे ॥१-१९॥

दोहा प्रशस्ति

शासनपति **महावीर** जिन, गणधर **गौतम** स्वाम।
श्रद्धायुत वन्दन करूं, पूरे वाञ्छित काम ॥ १ ॥
खरतर-वर धारक हुए, **सूरि जिनेश्वर** राय।
चैत्यवास का नाशकर, सुविहित विधि दर्शाय ॥ २ ॥
अभयदेवसूरि गुरु, नव-अङ्ग टीकाकार।
स्तभनतीर्थ प्रकाश कर, जग मे जय-जयकार ॥ ३ ॥
कर्ता पिण्डविशुद्धि के, **जिनवल्लभ** गणिनाथ।
कालिदास सम कीर्तिधर, गण को किया सनाथ ॥ ४ ॥

दादा **जिनदत्तसूरि** की, महिमा अपरपार।
जैन संघ विस्तार कर, धर्म दीपाया सार॥ ५॥
उनके शिष्य महान थे, **मणिधारी** गुरुदेव।
अल्पवयी साधक बडे, सुर-नर करे जसु सेव॥ ६॥
कलियुग-कल्पतरु प्रकट, वाञ्छित पूरण काज।
चमत्कार जिनके अजब, **कुशलसूरि** गुरुराज॥ ७॥
चौथे श्री **जिनचन्द्रसूरि**, टाला शिथिलाचार।
अकबर को प्रतिबोधकर, किया धर्म प्रचार॥ ८॥
जिनके नामोल्लेख से, **वासकक्षेप** विधान।
होती खरतरगच्छ मे, नमूं **क्षमाकल्याण**॥
पद्मविजय गणिवर प्रमुख, तपगच्छीय मुनिराज।
जिनके संयम-ज्ञान पर, करते सब ही नाज॥ ९॥ युग्मम्॥
सुखसागर गणनाथ जी, खरतरगच्छ शृङ्गार।
अधिपति मम समुदाय के, प्रणमूं बारबार॥ १०॥
सुखसिन्धु के पाट पर, सरल-शान्त गणधार।
भाग्यवान **भगवानविभु** पालक शुद्धाचार॥ ११॥
तपसी **छगन** रहे सदा, तप-जप-साधन लीन।
बावन दिन अनशन करी, देह करी निज क्षीण॥ १२॥
तपी-जपी शुद्ध संयमी, **त्रैलोक्य सिंधु** महान।
त्रिविध ताप को मेटकर, देते इच्छित दान॥ १३॥
सरल शान्त अरु सयमी, सागर सम गभीर।
जिनहरिसागर मुनिपति, हरे करम की पीर॥ १४॥
धर्मबोध दाता गुरु, **आनंद** आनद सार।
उपकारी परिवार के, अद्‌भुत प्रवचनकार॥ १५॥
मुखमडल तेजोमयी, आगम-ज्ञान-निधान।
प्रखर प्रवक्ता संयमी, चिन्तन-तत्त्व-प्रधान॥ १६॥

उपकारी मेरे गुरु, सफल किया निजनाम।
कविकुल के सम्राट सम, **कवीन्द्रसूरि** गुणधाम ॥ १७ ॥ युग्मम्
उदयाब्धि प्रणमू सदा, सरल शंभू खुशहाल।
शात चित्त से प्रभु भजे, कटे कर्म जजाल ॥ १८ ॥
ज्योतिर्मय प्रज्ञापुरुष, **सूरि कान्ति** विधिदक्ष।
वारक मिथ्या पंथ के, पोषक सुविहित पक्ष ॥ १९ ॥
प्रवचन-पटु गर्जन करे, सिह केसरी सार।
जिनके पुण्य प्रभाव का, कोई न पावे पार ॥ २० ॥ युग्मम्
वर्तमान गणपति नमूं, **सूरि महोदय** नाम।
शुभचिन्तक हो सध के, करे स्वपरहित काम ॥ २१ ॥
गणिवर **मणि** महिमानिधि, तेजस्वी विद्वान।
जिनके पुण्य प्रभाव से, बढ़े गच्छ की शान ॥ २२ ॥
अनुशास्ता बन गच्छ के, कर सयमरस सृष्टि।
बेल बढ़ाकर गच्छ की, करे प्रेम की वृष्टि ॥ २३ ॥ युग्मम्

(गुरुवर्या-परम्परा)

साध्वी प्रमुखा संघ की, **उद्योतश्री** शुभनाम।
लक्ष्मीश्री शिष्या बनी, चारित्र गुण की धाम ॥ २४ ॥
सिंहश्रीजी सिंह सम, पाले व्रत असिधार।
खरतरगच्छ प्रचारिका, शिष्याये दी सार ॥ २५ ॥

[तर्ज—नाथ निरजन भवभय भजन—हरिगीतिका]

जिसने देखा उसने परखा, कैसा अद्‌भुत जीवन था।
आत्मरमणता शीलसाधना, संयम सत्य-जवाहर था ॥
मुखमडल पर ब्रह्मतेज की, आभा अनुपम थी रमती।
प्राणिमात्र पर प्रेमवृष्टि कर, **प्रेम** नाम सार्थक करती ॥ २६ ॥
ज्ञानी-ध्यानी मौन साधिका, वचनसिद्ध शासन-ज्योति।
भक्ति की पावन-गङ्गा मे, कर्म-कीच निशदिन धोती ॥

सती तुल्य सोलह शिष्याये, अर्पित की जिनशासन को।
हुआ सुशोभित प्रवर्तिनी पद, पाकर विरल विभूति को॥ २७॥
शिष्या उनकी **अनुभवश्रीजी**, गुरुवर्या मेरी प्यारी।
जैसा अन्दर वैसा बाहर, जीवन-शैली थी न्यारी॥
ज्ञान-ध्यान-संयम साधन ही, जिनका सच्चा जीवन था।
सात्त्विकता से ओतप्रोत, तात्त्विकता का वह सावन था॥ २८॥
तत्त्वचिंतना आत्मरमणता, में हरपल वह रहती थी।
देह-व्याधि से ग्रस्त बना, पर हँसते-हँसते सहती थी।
तेज नयन फैलाते रहते, आत्म-ज्योति का दिव्यप्रकाश।
गुरुवर्या अनुभवश्री तुमने, साध लिया निज आत्म विकास॥ २९॥
पुण्ययोग से बचपन में ही, पाया तब शरणा मैंने।
जन्म भले ही दिया मात ने, सिखलाया जीना तुमने॥
भव-भव मिले तुम्हारा शरणा, प्रभु से विनती है हरदम।
उपकृति तेरी भुला सकूं ना, देना आशीष जनम-जनम॥ ३०॥
प्रवचन-सारोद्धार ग्रन्थ का, कार्य कठिन अनुसर्जन का।
गुरु-कृपा से पूर्ण हुआ, श्रम दूर हुआ सब तन-मन का॥
जिसका जिसको अर्पित करके, हृदय प्रफुल्लित है मेरा।
पढ़े-पढ़ावे सुज्ञ शिष्टजन, टूटे कर्मो का घेरा॥ ३१॥
दिक्-शर-ख-चक्षुमितवर्षे (२०५४) फाल्गुन मास मनोहारी।
एकादशवी पुण्यतिथि, शनिवार तीज दिन सुखकारी॥
पूना दादावाड़ी मध्ये, कुशलगुरु के चरणन मे।
पूर्ण किया अनुसृजन रूप यह, ग्रन्थ पुष्प गुरु समरण मे॥ ३२॥
आत्म-साधिका अनुभव गुरु की, शिष्या **हेमप्रभा** सुज्ञा।
क्षय-उपशम अनुसार रचा यह, शोधे पण्डित जन प्रज्ञा।
यावच्चन्द्र दिवाकर जयतु, ज्ञाननिधि जिन वचन प्रमाण।
श्रुत सेवा से मिले क्षिप्रतर, सम्यग्दर्शन-मोक्ष विधान॥ ३३॥

—क्षमा-याचना—

रह गई कुछ गलतियाँ, अनुसृजन मे अनजान से।
मिच्छामि दुक्कडं हो मुझे, मागू क्षमा भगवान से॥
जो कुछ मिला है पुण्य मुझ को, ग्रन्थ-लेखन का मुदा।
सब जीव का कल्याण हो, पाये सभी सुख सम्पदा॥ ३४॥

श्री जिन कुशलसूरि दादावाडी, पुणे।
वि स २०५४, फा कृ ३ शनिवार

अनुभव गुरु चरण रज
साध्वी हेमप्रभा 'सुवर्णा'

परिशिष्ट

परिशिष्ट –१

—प्रो. सागरमल जैन

अन्य ग्रंथों की गाथाएँ और प्रवचनसारोद्धार

अङ्गुलसप्तति	२	प्रवचनसारोद्धार	१३८९
अङ्गुलसप्तति	४	प्रवचनसारोद्धार	१३९४
अङ्गुलसप्तति	५	प्रवचनसारोद्धार	१३९५
आचारागनिर्युक्ति	३९	प्रवचनसारोद्धार	९२५
आराहणापडाया (प्रा)	१०	प्रवचनसारोद्धार	८७५
आराहणापडाया (प्रा)	११	प्रवचनसारोद्धार	८७६
आराहणापडाया (प्रा)	१२	प्रवचनसारोद्धार	८७७
आराहणापडाया (प्रा)	३३	प्रवचनसारोद्धार	६२९
आराहणापडाया (प्रा)	१७६	प्रवचनसारोद्धार	२६७
आराहणापडाया (प्रा)	१८०	प्रवचनसारोद्धार	२६८
आराहणापडाया (प्रा)	५०४	प्रवचनसारोद्धार	१२९
आराहणापडाया (प्रा)	६५१	प्रवचनसारोद्धार	५६१
आराहणापडाया (प्रा)	६५१	प्रवचनसारोद्धार	१२५६
आराहणापडाया (प्रा)	६७१	प्रवचनसारोद्धार	६८५
आराहणापडाया (प्रा)	६७२	प्रवचनसारोद्धार	६८६
आराहणापडाया (प्रा)	६८६	प्रवचनसारोद्धार	१२०७
आराहणापडाया (प्रा)	६८७	प्रवचनसारोद्धार	१२०८
आराहणापडाया (प्रा)	७१४	प्रवचनसारोद्धार	६४१
आराहणापडाया (प्रा)	७१५	प्रवचनसारोद्धार	६४२
आराहणापडाया (प्रा)	७१७	प्रवचनसारोद्धार	६४४
आराहणापडाया (प्रा)	७१९	प्रवचनसारोद्धार	६४६
आराहणापडाया (प्रा)	७४६	प्रवचनसारोद्धार	६३६

* इस सम्वन्ध में हमारा आधार मुनि पद्मसेनविजयजी द्वारा सम्पादित एव भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति पिण्डवाडा द्वारा प्रकाशित 'प्रवचन-सारोद्धार खण्ड १-२' एव डॉ श्री प्रकाश पाण्डे का आलेख 'प्रकीर्णक एव प्रवचनसारोद्धार' रहे है।

आराहणापडाया (प्रा)	७४७	प्रवचनसारोद्धार	६३७
आराहणापडाया (प्रा)	७४८	प्रवचनसारोद्धार	६३८
आराहणापडाया (प्रा)	७४९	प्रवचनसारोद्धार	६३९
आराहणापडाया (वीरभद्र)	८९	प्रवचनसारोद्धार	२६७
आराहणापडाया (वीरभद्र)	९०	प्रवचनसारोद्धार	२६८
आराहणापडाया (वीरभद्र)	१५५	प्रवचनसारोद्धार	८७५
आराहणापडाया (वीरभद्र)	१५७	प्रवचनसारोद्धार	८७७
आराहणापडाया (वीरभद्र)	५४३	प्रवचनसारोद्धार	५५७
आराहणापडाया (वीरभद्र)	६४७	प्रवचनसारोद्धार	७२१
आवश्यकनिर्युक्ति	१२०२	प्रवचनसारोद्धार	९८
आवश्यकनिर्युक्ति	११९८	प्रवचनसारोद्धार	१२४
आवश्यकनिर्युक्ति	१५३१	प्रवचनसारोद्धार	१८३
आवश्यकनिर्युक्ति	१५३२	प्रवचनसारोद्धार	१८४
आवश्यकनिर्युक्ति	१५९९	प्रवचनसारोद्धार	२०३
आवश्यकनिर्युक्ति	१६००	प्रवचनसारोद्धार	२०४
आवश्यकनिर्युक्ति	१६०१	प्रवचनसारोद्धार	२०५
आवश्यकनिर्युक्ति	१६०२	प्रवचनसारोद्धार	२०६
आवश्यकनिर्युक्ति	१५४६	प्रवचनसारोद्धार	२४७
आवश्यकनिर्युक्ति	१७९	प्रवचनसारोद्धार	३१०
आवश्यकनिर्युक्ति	१८०	प्रवचनसारोद्धार	३११
आवश्यकनिर्युक्ति	१८१	प्रवचनसारोद्धार	३१२
आवश्यकनिर्युक्ति	३८५	प्रवचनसारोद्धार	३२०
आवश्यकनिर्युक्ति	३८६	प्रवचनसारोद्धार	३२१
आवश्यकनिर्युक्ति	३८७	प्रवचनसारोद्धार	३२२
आवश्यकनिर्युक्ति	३८८	प्रवचनसारोद्धार	३२३
आवश्यकनिर्युक्ति	३८९	प्रवचनसारोद्धार	३२४
आवश्यकनिर्युक्ति	२६६	प्रवचनसारोद्धार	३२९
आवश्यकनिर्युक्ति	२६७	प्रवचनसारोद्धार	३२८
आवश्यकनिर्युक्ति	३७६	प्रवचनसारोद्धार	३८१
आवश्यकनिर्युक्ति	३७७	प्रवचनसारोद्धार	३८२

आवश्यकनिर्युक्ति	२२४	प्रवचनसारोद्धार	३८३
आवश्यकनिर्युक्ति	२२५	प्रवचनसारोद्धार	३८४
आवश्यकनिर्युक्ति	३०३	प्रवचनसारोद्धार	३८५
आवश्यकनिर्युक्ति	३०४	प्रवचनसारोद्धार	३८६
आवश्यकनिर्युक्ति	३०५	प्रवचनसारोद्धार	३८७
आवश्यकनिर्युक्ति	३०८	प्रवचनसारोद्धार	३८८
आवश्यकनिर्युक्ति	३०९	प्रवचनसारोद्धार	३८९
आवश्यकनिर्युक्ति	३१०	प्रवचनसारोद्धार	३९०
आवश्यकनिर्युक्ति	२२८	प्रवचनसारोद्धार	४५४
आवश्यकनिर्युक्ति	२५५	प्रवचनसारोद्धार	४५५
आवश्यकनिर्युक्ति	३०६	प्रवचनसारोद्धार	४५६
आवश्यकनिर्युक्ति	९७०	प्रवचनसारोद्धार	४८२
आवश्यकनिर्युक्ति	९६९	प्रवचनसारोद्धार	४८३
आवश्यकनिर्युक्ति	९६७	प्रवचनसारोद्धार	४८४
आवश्यकनिर्युक्ति	९६५	प्रवचनसारोद्धार	४८५
आवश्यकनिर्युक्ति	९५९	प्रवचनसारोद्धार	४८६
आवश्यकनिर्युक्ति	९७१	प्रवचनसारोद्धार	४८७
आवश्यकनिर्युक्ति	९७२	प्रवचनसारोद्धार	४८८
आवश्यकनिर्युक्ति	९७३	प्रवचनसारोद्धार	४८९
आवश्यकनिर्युक्ति	१२१	प्रवचनसारोद्धार	६९४
आवश्यकनिर्युक्ति	११६	प्रवचनसारोद्धार	७००
आवश्यकनिर्युक्ति	१४१८	प्रवचनसारोद्धार	७५०
आवश्यकनिर्युक्ति	६६६	प्रवचनसारोद्धार	७६०
आवश्यकनिर्युक्ति	६६७	प्रवचनसारोद्धार	७६१
आवश्यकनिर्युक्ति	६६८	प्रवचनसारोद्धार	७६२
आवश्यकनिर्युक्ति	६८२	प्रवचनसारोद्धार	७६३
आवश्यकनिर्युक्ति	६८८	प्रवचनसारोद्धार	७६४
आवश्यकनिर्युक्ति	६९७	प्रवचनसारोद्धार	७६७
आवश्यकनिर्युक्ति	११७२	प्रवचनसारोद्धार	७७८
आवश्यकनिर्युक्ति	८५७	प्रवचनसारोद्धार	८३७

आवश्यकनिर्युक्ति	८५८	प्रवचनसारोद्धार	८३८
आवश्यकनिर्युक्ति	७५४	प्रवचनसारोद्धार	८४७
आवश्यकनिर्युक्ति	७५९	प्रवचनसारोद्धार	८४८
आवश्यकनिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	१०८४
आवश्यकनिर्युक्ति	१४	प्रवचनसारोद्धार	१३०३
आवश्यकनिर्युक्ति	२१४	प्रवचनसारोद्धार	१४४८
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३१	प्रवचनसारोद्धार	१४५६
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३२	प्रवचनसारोद्धार	१४५७
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३४	प्रवचनसारोद्धार	१४५८
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३५	प्रवचनसारोद्धार	१४५९
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३७	प्रवचनसारोद्धार	१४६०
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३८	प्रवचनसारोद्धार	१४६१
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४२	प्रवचनसारोद्धार	१४६२
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४४	प्रवचनसारोद्धार	१४६३
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४७	प्रवचनसारोद्धार	१४६४
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५०	प्रवचनसारोद्धार	१४६५
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५१	प्रवचनसारोद्धार	१४६६
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५२	प्रवचनसारोद्धार	१४६७
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५५	प्रवचनसारोद्धार	१४७०
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५८	प्रवचनसारोद्धार	१४७१
आवश्यकभाष्यम्	४१	प्रवचनसारोद्धार	१२११
आवश्यकगाष्यम	४२	प्रवचनसारोद्धार	१२१२
आवश्यकभाष्यम्	४३	प्रवचनसारोद्धार	१२१३
आवश्यकभाष्यम्	२१६	प्रवचनसारोद्धार	१४५४
आवश्यकभाष्यम्	२१७	प्रवचनसारोद्धार	१४५५
आवश्यकभाष्यम्	२१९	प्रवचनसारोद्धार	१४६८
आवश्यकभाष्यम	२२०	प्रवचनसारोद्धार	१४६९
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	८२	प्रवचनसारोद्धार	६९१

उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८२	प्रवचनसारोद्धार	७६०
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८३	प्रवचनसारोद्धार	७६१
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१२	प्रवचनसारोद्धार	१००६
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१३	प्रवचनसारोद्धार	१००७
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१५	प्रवचनसारोद्धार	१००८
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१६	प्रवचनसारोद्धार	१००९
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१७	प्रवचनसारोद्धार	१०१०
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१९	प्रवचनसारोद्धार	१०११
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२१	प्रवचनसारोद्धार	१०१२
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२२	प्रवचनसारोद्धार	१०१४
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२३	प्रवचनसारोद्धार	१०१५
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२४	प्रवचनसारोद्धार	१०१६
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२४/७	प्रवचनसारोद्धार	७७१
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१६	प्रवचनसारोद्धार	९५०
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१८	प्रवचनसारोद्धार	९५१
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१९	प्रवचनसारोद्धार	९५२
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२०	प्रवचनसारोद्धार	९५३
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२१	प्रवचनसारोद्धार	९५४
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२२	प्रवचनसारोद्धार	९५५
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२३	प्रवचनसारोद्धार	९५६
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२४	प्रवचनसारोद्धार	९५७
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२५	प्रवचनसारोद्धार	९५८
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२६	प्रवचनसारोद्धार	९५९
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२७	प्रवचनसारोद्धार	९६०
उपदेशपदम्	१७	प्रवचनसारोद्धार	१०९४
ओघनिर्युक्ति	६६८	प्रवचनसारोद्धार	४९१
ओघनिर्युक्ति	६६९	प्रवचनसारोद्धार	४९२
ओघनिर्युक्ति	७०३	प्रवचनसारोद्धार	५०६

ओघनिर्युक्ति	७०५	प्रवचनसारोद्धार	५०७
ओघनिर्युक्ति	७०८	प्रवचनसारोद्धार	५०८
ओघनिर्युक्ति	७११	प्रवचनसारोद्धार	५०९
ओघनिर्युक्ति	७१३	प्रवचनसारोद्धार	५१०
ओघनिर्युक्ति	७१४	प्रवचनसारोद्धार	५११
ओघनिर्युक्ति	७२१	प्रवचनसारोद्धार	५१२
ओघनिर्युक्ति	७२३	प्रवचनसारोद्धार	५१३
ओघनिर्युक्ति	७१०	प्रवचनसारोद्धार	५१४
ओघनिर्युक्ति	७१२	प्रवचनसारोद्धार	५१५
ओघनिर्युक्ति	६९१	प्रवचनसारोद्धार	५१६
ओघनिर्युक्ति	७०६	प्रवचनसारोद्धार	५१७
ओघनिर्युक्ति	७२२	प्रवचनसारोद्धार	५१८
ओघनिर्युक्ति	६७६	प्रवचनसारोद्धार	५२९
ओघनिर्युक्ति	६७७	प्रवचनसारोद्धार	५३०
ओघनिर्युक्ति	७३०	प्रवचनसारोद्धार	६७०
ओघनिर्युक्ति	३१३	प्रवचनसारोद्धार	७०९
ओघनिर्युक्ति	३१४	प्रवचनसारोद्धार	७१०
ओघनिर्युक्ति	१२१	प्रवचनसारोद्धार	७७०
ओघनिर्युक्ति	३१६	प्रवचनसारोद्धार	७८६
ओघनिर्युक्ति	३१७	प्रवचनसारोद्धार	७८९
ओघनिर्युक्ति	६६०	प्रवचनसारोद्धार	८६१
ओघनिर्युक्ति	३५१	प्रवचनसारोद्धार	८६४
ओघनिर्युक्ति	३५२	प्रवचनसारोद्धार	८६५
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१३	प्रवचनसारोद्धार	५३१
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१४	प्रवचनसारोद्धार	५३२
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१५	प्रवचनसारोद्धार	५३३
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१६	प्रवचनसारोद्धार	५३४
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१७	प्रवचनसारोद्धार	५३५

प्रवचन-सारोद्धार

ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१८	प्रवचनसारोद्धार	५३६
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१९	प्रवचनसारोद्धार	५३७
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३२०	प्रवचनसारोद्धार	५३८
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	२	प्रवचनसारोद्धार	५५१
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३	प्रवचनसारोद्धार	५६२
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८४	प्रवचनसारोद्धार	७८७
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८५	प्रवचनसारोद्धार	७८८
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/५	प्रवचनसारोद्धार	१२४१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७	प्रवचनसारोद्धार	१२५१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७१	प्रवचनसारोद्धार	१२६२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७२	प्रवचनसारोद्धार	१२६३
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७३	प्रवचनसारोद्धार	१२६४
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७४	प्रवचनसारोद्धार	१२६५
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७५	प्रवचनसारोद्धार	१२६६
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७६	प्रवचनसारोद्धार	१२६७
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७७	प्रवचनसारोद्धार	१२६८
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७८	प्रवचनसारोद्धार	१२६९
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७९	प्रवचनसारोद्धार	१२७०
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८०	प्रवचनसारोद्धार	१२७१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८१	प्रवचनसारोद्धार	१२७२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८२	प्रवचनसारोद्धार	१२७३
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/७९	प्रवचनसारोद्धार	१२७६
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/१३	प्रवचनसारोद्धार	१३००
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/२६	प्रवचनसारोद्धार	१३०२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/३४	प्रवचनसारोद्धार	१३०५
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/१३६	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
गच्छायार पइण्णय	५९	प्रवचनसारोद्धार	७३७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	१८०	प्रवचनसारोद्धार	६६

चैत्यवन्दन महाभाष्य	४७८	प्रवचनसारोद्धार	२४७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८०	प्रवचनसारोद्धार	२४९
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८१	प्रवचनसारोद्धार	२५०
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८२	प्रवचनसारोद्धार	२५१
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८३	प्रवचनसारोद्धार	२५२
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८४	प्रवचनसारोद्धार	२५३
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८५	प्रवचनसारोद्धार	२५४
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८६	प्रवचनसारोद्धार	२५५
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८७	प्रवचनसारोद्धार	२५६
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८९	प्रवचनसारोद्धार	२५७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९०	प्रवचनसारोद्धार	२५८
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९१	प्रवचनसारोद्धार	२५९
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९२	प्रवचनसारोद्धार	२६०
चेत्यवन्दन महाभाष्य	४९३	प्रवचनसारोद्धार	२६१
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९४	प्रवचनसारोद्धार	२६२
चैत्यवन्दन महाभाष्य	६३	प्रवचनसारोद्धार	४३२
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	वक्षस्कार२/१९	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
जीवसमास	४०	प्रवचनसारोद्धार	९६३
जीवसमास	४१	प्रवचनसारोद्धार	९६४
जीवसमास	४२	प्रवचनसारोद्धार	९६५
जीवसमास	४३	प्रवचनसारोद्धार	९६६
जीवसमास	४४	प्रवचनसारोद्धार	९६७
जीवसमास	११७	प्रवचनसारोद्धार	१०१८
जीवसमास	११८	प्रवचनसारोद्धार	१०१९
जीवसमास	११९	प्रवचनसारोद्धार	१०२०
जीवसमास	१२०	प्रवचनसारोद्धार	१०२१
जीवसमास	१२१	प्रवचनसारोद्धार	१०२२
जीवसमास	१२२	प्रवचनसारोद्धार	१०२३
जीवसमाम	१२५	प्रवचनसारोद्धार	१०२४

जीवसमास	१३६	प्रवचनसारोद्धार	१०२५
जीवसमास	१३१	प्रवचनसारोद्धार	१०२६
जीवसमास	१२३	प्रवचनसारोद्धार	१०२७
जीवसमास	१२४	प्रवचनसारोद्धार	१०२८
जीवसमास	१२७	प्रवचनसारोद्धार	१०२९
जीवसमास	१३०	प्रवचनसारोद्धार	१०३०
जीवसमास	१३२	प्रवचनसारोद्धार	१०३१
जीवसमास	१३३	प्रवचनसारोद्धार	१०३२
जीवसमास	१९	प्रवचनसारोद्धार	११३३
जीवसमास	२०	प्रवचनसारोद्धार	११३४
जीवसमास	६	प्रवचनसारोद्धार	१३०३
जीवसमास	१९२	प्रवचनसारोद्धार	१३११
जीवसमास	२५	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
जीवसमास	८२	प्रवचनसारोद्धार	१३१९
जीवसमास	९८	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
जीवसमास	१०३	प्रवचनसारोद्धार	१३९४
जोइसकरडग पइण्णय*	८३	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
जोइसकरडग पइण्णय*	८४	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
जोइसकरडग पइण्णय*	९५	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७९	प्रवचनसारोद्धार	१०२०
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७३	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७४	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
तित्थोगालीपइण्णय	१२	प्रवचनसारोद्धार	१०२५
तित्थोगालीपइण्णय	१८	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
तित्थोगालीपइण्णय	२१	प्रवचनसारोद्धार	१०३६

---

* डॉ श्री प्रकाश पाण्डे द्वारा निर्दिष्ट गाथाओं के क्रमाक मुनि पद्मसेन विजयजी द्वारा दिये गये गाथा क्रमाक से भिन्न है। हो सकता है यह भिन्नता सस्करण भेद के कारण हो इनमे दस गाथाओं का अन्तर है। पद्मसेन विजयजी के सस्करण में इनका क्रमाक क्रमश ७३, ७४ एव ८५ है।

तित्थोगालीपइण्णय	२२	प्रवचनसारोद्धार	१०३७
तित्थोगालीपइण्णय	४६	प्रवचनसारोद्धार	१०६७
तित्थोगालीपइण्णय	४७	प्रवचनसारोद्धार	१०६८
तित्थोगालीपइण्णय	४९	प्रवचनसारोद्धार	१०७०
तित्थोगालीपइण्णय	५४	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
तित्थोगालीपइण्णय	८२	प्रवचनसारोद्धार	१३८७
तित्थोगालीपइण्णय	३६०	प्रवचनसारोद्धार	४०६
तित्थोगालीपइण्णय	३९५	प्रवचनसारोद्धार	३८४
तित्थोगालीपइण्णय	४००	प्रवचनसारोद्धार	४५४
तित्थोगालीपइण्णय	५६७	प्रवचनसारोद्धार	३२५
तित्थोगालीपइण्णय	५६८	प्रवचनसारोद्धार	३२६
तित्थोगालीपइण्णय	५७०	प्रवचनसारोद्धार	१२०९
तित्थोगालीपइण्णय	५७१	प्रवचनसारोद्धार	१२१०
तित्थोगालीपइण्णय	६१०	प्रवचनसारोद्धार	१२१३
तित्थोगालीपइण्णय	६९९	प्रवचनसारोद्धार	६९३
तित्थोगालीपइण्णय	८८८	प्रवचनसारोद्धार	८८५
तित्थोगालीपइण्णय	८८९	प्रवचनसारोद्धार	८८६
तित्थोगालीपइण्णय	११३३	प्रवचनसारोद्धार	१२२०
तित्थोगालीपइण्णय	११३६	प्रवचनसारोद्धार	१२२३
तित्थोगालीपइण्णय	११४१	प्रवचनसारोद्धार	१२२८
तित्थोगालीपइण्णय	११४२	प्रवचनसारोद्धार	१२२९
तित्थोगालीपइण्णय	११७०	प्रवचनसारोद्धार	१०३५
तित्थोगालीपइण्णय	१२०७	प्रवचनसारोद्धार	५५३
तित्थोगालीपइण्णय	१२२०	प्रवचनसारोद्धार	९३५
तित्थोगालीपइण्णय	१२३७	प्रवचनसारोद्धार	४८६
तित्थोगालीपइण्णय	१२३८	प्रवचनसारोद्धार	४८२
तित्थोगालीपइण्णय	१२३९	प्रवचनसारोद्धार	४८४
तित्थोगालीपइण्णय	१२४२	प्रवचनसारोद्धार	४८८
तित्थोगालीपइण्णय	१२४३	प्रवचनसारोद्धार	४८९
दशवकालिकनिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	२७०

दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८	प्रवचनसारोद्धार	२७१
दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२५	प्रवचनसारोद्धार	५४९
दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२६	प्रवचनसारोद्धार	५५०
दशवैकालिकनिर्युक्ति	४६	प्रवचनसारोद्धार	५५५
दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	५५९
दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८	प्रवचनसारोद्धार	५६०
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७३	प्रवचनसारोद्धार	८९१
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७४	प्रवचनसारोद्धार	८९२
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७५	प्रवचनसारोद्धार	८९३
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७६	प्रवचनसारोद्धार	८९४
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७७	प्रवचनसारोद्धार	८९५
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५२	प्रवचनसारोद्धार	१००४
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५३	प्रवचनसारोद्धार	१००५
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५९	प्रवचनसारोद्धार	१०६२
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६०	प्रवचनसारोद्धार	१०६३
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६१	प्रवचनसारोद्धार	१०६४
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६२	प्रवचनसारोद्धार	१०६५
देविंदत्थओ पइण्णय	६७	प्रवचनसारोद्धार	११३०
देविंदत्थओ पइण्णय	८१	प्रवचनसारोद्धार	११३३
देविंदत्थओ पइण्णय	१८४	प्रवचनसारोद्धार	११३७
देविंदत्थओ पइण्णय	१९२	प्रवचनसारोद्धार	११६०
देविंदत्थओ पइण्णय	२८६	प्रवचनसारोद्धार	४८६
देविंदत्थओ पइण्णय	२८७	प्रवचनसारोद्धार	४८४
देविंदत्थओ पइण्णय	२८९	प्रवचनसारोद्धार	१५४०
धर्मरत्नप्रकरण	५	प्रवचनसारोद्धार	१३५६
धर्मरत्नप्रकरण	६	प्रवचनसारोद्धार	१३५७
धर्मरत्नप्रकरण	७	प्रवचनसारोद्धार	१३५८
धर्मसग्रहणी	६१८	प्रवचनसारोद्धार	१२६३
धर्मसग्रहणी	६१९	प्रवचनसारोद्धार	१२६४
धर्मसग्रहणी	६२०	प्रवचनसारोद्धार	१२६५
निशीथभाष्यम्	१३९०	प्रवचनसारोद्धार	४९३

निशीथभाष्यम्	१३९१	प्रवचनसारोद्धार	४९४
निशीथभाष्यम्	१३९२	प्रवचनसारोद्धार	४९७
निशीथभाष्यम्	४००३	प्रवचनसारोद्धार	६७६
निशीथभाष्यम्	४००१	प्रवचनसारोद्धार	६७७
निशीथभाष्यम्	४००२	प्रवचनसारोद्धार	६७८
निशीथभाष्यम्	३५०६	प्रवचनसारोद्धार	७९०
निशीथभाष्यम्	३५०७	प्रवचनसारोद्धार	७९१
निशीथभाष्यम्	३५६१	प्रवचनसारोद्धार	७९३
निशीथभाष्यम्	३७०९	प्रवचनसारोद्धार	७९५
निशीथभाष्यम्	३७१०	प्रवचनसारोद्धार	७९६
निशीथभाष्यम्	११४४	प्रवचनसारोद्धार	८००
निशीथभाष्यम्	११४५	प्रवचनसारोद्धार	८०१
निशीथभाष्यम्	११४९	प्रवचनसारोद्धार	८०२
निशीथभाष्यम्	११४८	प्रवचनसारोद्धार	८०३
निशीथभाष्यम्	११५८	प्रवचनसारोद्धार	८०४
निशीथभाष्यम्	११५९	प्रवचनसारोद्धार	८०५
निशीथभाष्यम्	११६०	प्रवचनसारोद्धार	८०६
निशीथभाष्यम्	११६१	प्रवचनसारोद्धार	८०७
निशीथभाष्यम्	११६२	प्रवचनसारोद्धार	८०८
निशीथभाष्यम्	५०८७	प्रवचनसारोद्धार	८५०
निशीथभाष्यम्	५०८६	प्रवचनसारोद्धार	८५१
निशीथभाष्यम्	५०८८	प्रवचनसारोद्धार	८५२
निशीथभाष्यम्	५०८९	प्रवचनसारोद्धार	८५३
निशीथभाष्यम्	४८३३	प्रवचनसारोद्धार	१००१
निशीथभाष्यम्	४८३४	प्रवचनसारोद्धार	१००२
निशीथभाष्यम्	४८३५	प्रवचनसारोद्धार	१००३
पञ्चकल्पभाष्यम्	२००	प्रवचनसारोद्धार	७९०
पञ्चकल्पभाष्यम्	२०१	प्रवचनसारोद्धार	७९१
पञ्चसग्रह	द्वार ३/११	प्रवचनसारोद्धार	१२७४
पञ्चसग्रह	द्वार ३/४	प्रवचनसारोद्धार	१२५४

पञ्चसग्रह	द्वार ३/२५	प्रवचनसारोद्धार	१२९८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३७१	प्रवचनसारोद्धार	२१७
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७७५	प्रवचनसारोद्धार	४९४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८२७	प्रवचनसारोद्धार	५३३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५३८	प्रवचनसारोद्धार	६११
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५३९	प्रवचनसारोद्धार	६१२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४०	प्रवचनसारोद्धार	६१३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४१	प्रवचनसारोद्धार	६१४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४७	प्रवचनसारोद्धार	६२३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४८	प्रवचनसारोद्धार	६२४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४९	प्रवचनसारोद्धार	६२५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५०	प्रवचनसारोद्धार	६२६
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५१	प्रवचनसारोद्धार	६२७
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५२	प्रवचनसारोद्धार	६२८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३९९	प्रवचनसारोद्धार	७०९
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	४००	प्रवचनसारोद्धार	७१०
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३००	प्रवचनसारोद्धार	७४५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	२३०	प्रवचनसारोद्धार	७६८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९५	प्रवचनसारोद्धार	७७२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९६	प्रवचनसारोद्धार	७७३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२८	प्रवचनसारोद्धार	७८०
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२९	प्रवचनसारोद्धार	७८१
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३३०	प्रवचनसारोद्धार	७८२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०७	प्रवचनसारोद्धार	८७१
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०८	प्रवचनसारोद्धार	८७२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०९	प्रवचनसारोद्धार	८७३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०६	प्रवचनसारोद्धार	८७४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७४	प्रवचनसारोद्धार	८७५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७५	प्रवचनसारोद्धार	८७६
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२६	प्रवचनसारोद्धार	८८५

पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२७	प्रवचनसारोद्धार	८८६
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१७	प्रवचनसारोद्धार	७२
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१८	प्रवचनसारोद्धार	७३
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१९	प्रवचनसारोद्धार	७४
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२०	प्रवचनसारोद्धार	७५
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२१	प्रवचनसारोद्धार	७६
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८	प्रवचनसारोद्धार	२०३
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/९	प्रवचनसारोद्धार	२०४
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/१०	प्रवचनसारोद्धार	२०५
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२७	प्रवचनसारोद्धार	२०७
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२८	प्रवचनसारोद्धार	२०८
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२९	प्रवचनसारोद्धार	२०९
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/३०	प्रवचनसारोद्धार	२१०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१३/३	प्रवचनसारोद्धार	५६३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/३	प्रवचनसारोद्धार	५७४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/४	प्रवचनसारोद्धार	५७५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/५	प्रवचनसारोद्धार	५७६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/६	प्रवचनसारोद्धार	५७७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/७	प्रवचनसारोद्धार	५७८
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/२६	प्रवचनसारोद्धार	६४७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१०	प्रवचनसारोद्धार	६५०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/८	प्रवचनसारोद्धार	६५१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१२	प्रवचनसारोद्धार	६५२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१६	प्रवचनसारोद्धार	६५३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३२	प्रवचनसारोद्धार	६५४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३७	प्रवचनसारोद्धार	६५६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३८	प्रवचनसारोद्धार	६५७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३९	प्रवचनसारोद्धार	६५८
पञ्चाशकप्रकरणम्	१६/२	प्रवचनसारोद्धार	७४०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/२	प्रवचनसारोद्धार	७६०

पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/३	प्रवचनसारोद्धार	७६१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१०	प्रवचनसारोद्धार	७६३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१४	प्रवचनसारोद्धार	७६४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/२	प्रवचनसारोद्धार	८३९
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/३	प्रवचनसारोद्धार	८४०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/४	प्रवचनसारोद्धार	८४१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/५	प्रवचनसारोद्धार	८४२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/६	प्रवचनसारोद्धार	८४३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/७	प्रवचनसारोद्धार	८४४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/८	प्रवचनसारोद्धार	८४५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/९	प्रवचनसारोद्धार	८४६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१५/४१	प्रवचनसारोद्धार	८६२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१७	प्रवचनसारोद्धार	९८५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१८	प्रवचनसारोद्धार	९८६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१९	प्रवचनसारोद्धार	९८७
पर्यन्ताराधना	८	प्रवचनसारोद्धार	८७६
पर्यन्ताराधना	९	प्रवचनसारोद्धार	८७७
पर्यन्ताराधना	१८	प्रवचनसारोद्धार	९२७
पर्यन्ताराधना	२६०	प्रवचनसारोद्धार	६४१
पिण्डविशुद्धि	३	प्रवचनसारोद्धार	५६४
पिण्डविशुद्धि	४	प्रवचनसारोद्धार	५६५
पिण्डनिर्युक्ति	४०८	प्रवचनसारोद्धार	५६६
पिण्डनिर्युक्ति	४०९	प्रवचनसारोद्धार	५६७
पिण्डनिर्युक्ति	५२०	प्रवचनसारोद्धार	५६८
पिण्डनिर्युक्ति	६६२	प्रवचनसारोद्धार	७३४
पिण्डनिर्युक्ति	६६३	प्रवचनसारोद्धार	७३५
पिण्डनिर्युक्ति	६६४	प्रवचनसारोद्धार	७३६
पिण्डनिर्युक्ति	६६५	प्रवचनसारोद्धार	७३७
पिण्डनिर्युक्ति	६६६	प्रवचनसारोद्धार	७३८
	२६	प्रवचनसारोद्धार	८६४

पिण्डनिर्युक्ति	२७	प्रवचनसारोद्धार	८६५
पिण्डनिर्युक्ति	६४२	प्रवचनसारोद्धार	८६६
पिण्डनिर्युक्ति	६५०	प्रवचनसारोद्धार	८६७
पिण्डनिर्युक्ति	६५१	प्रवचनसारोद्धार	८६८
पिण्डनिर्युक्ति	६५२	प्रवचनसारोद्धार	८६९
पिण्डनिर्युक्ति	६५३	प्रवचनसारोद्धार	८७०
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू ८६२ गा १९४	प्रवचनसारोद्धार	८९१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू ८६३ गा १९५	प्रवचनसारोद्धार	८९२
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू ८६६ गा १९६	प्रवचनसारोद्धार	८९५
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू ११० गा १३१	प्रवचनसारोद्धार	९२८
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू ११० गा ११९	प्रवचनसारोद्धार	९५०
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू ११० गा १२१	प्रवचनसारोद्धार	९५१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू ११० गा १२२	प्रवचनसारोद्धार	९५२
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद २/सू १९४ गा १५१	प्रवचनसारोद्धार	११३१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू १०२ गा ११२	प्रवचनसारोद्धार	१५८७
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू १०२ गा ११३	प्रवचनसारोद्धार	१५८८
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू १०२ गा ११४	प्रवचनसारोद्धार	१५८९
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू १०२ गा ११५	प्रवचनसारोद्धार	१५९०
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू १०२ गा ११६	प्रवचनसारोद्धार	१५९१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू १०२ गा ११७	प्रवचनसारोद्धार	१५९२
बृहत्कल्पभाष्यम्	१३२८	प्रवचनसारोद्धार	४९८
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४३९	प्रवचनसारोद्धार	६१४
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४१	प्रवचनसारोद्धार	६२४
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४२	प्रवचनसारोद्धार	६२५
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४३	प्रवचनसारोद्धार	६२६
वृहत्कल्पभाष्यम्	१४४४	प्रवचनसारोद्धार	६२७
वृहत्कल्पभाष्यम्	१४४५	प्रवचनसारोद्धार	६२८
वृहत्कल्पभाष्यम्	६३६१	प्रवचनसारोद्धार	६५०
वृहत्कल्पभाष्यम्	१७७५	प्रवचनसारोद्धार	६६३
वृहत्कल्पभाष्यम्	४४३	प्रवचनसारोद्धार	७०९

प्रवचन-सारोद्धार

बृहत्कल्पभाष्यम्	४४४	प्रवचनसारोद्धार	७१०
बृहत्कल्पभाष्यम्	६८८	प्रवचनसारोद्धार	७७०
बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८६	प्रवचनसारोद्धार	७७५
बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८७	प्रवचनसारोद्धार	७७६
बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०६	प्रवचनसारोद्धार	७८३
बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०७	प्रवचनसारोद्धार	७८४
वृहत्कल्पभाष्यम्	१५०८	प्रवचनसारोद्धार	७८५
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५६	प्रवचनसारोद्धार	७८६
वृहत्कल्पभाष्यम्	४५७	प्रवचनसारोद्धार	७८७
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५८	प्रवचनसारोद्धार	७८८
वृहत्कल्पभाष्यम्	४५९	प्रवचनसारोद्धार	७८९
वृहत्कल्पभाष्यम्	३८९०	प्रवचनसारोद्धार	७९७
वृहत्कल्पभाष्यम्	३८९१	प्रवचनसारोद्धार	७९८
वृहत्कल्पभाष्यम्	३८९२	प्रवचनसारोद्धार	७९९
वृहत्कल्पभाष्यम्	३५२५	प्रवचनसारोद्धार	८००
वृहत्कल्पभाष्यम्	३५२६	प्रवचनसारोद्धार	८०१
वृहत्कल्पभाष्यम्	३५३०	प्रवचनसारोद्धार	८०२
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२९	प्रवचनसारोद्धार	८०३
वृहत्कल्पभाष्यम्	३५३९	प्रवचनसारोद्धार	८०५
वृहत्कल्पभाष्यम्	३५४०	प्रवचनसारोद्धार	८०६
वृहत्कल्पभाष्यम्	३५४१	प्रवचनसारोद्धार	८०७
वृहत्कल्पभाष्यम्	३५४३	प्रवचनसारोद्धार	८०८
वृहत्कल्पभाष्यम्	२८३२	प्रवचनसारोद्धार	८४०
वृहत्कल्पभाष्यम्	२८३१	प्रवचनसारोद्धार	८४१
वृहत्कल्पभाष्यम्	२८३३	प्रवचनसारोद्धार	८४२
वृहत्कल्पभाष्यम्	२८३४	प्रवचनसारोद्धार	८४३
वृहत्कल्पभाष्यम्	५८२	प्रवचनसारोद्धार	८७१
वृहत्कल्पभाष्यम्	५८३	प्रवचनसारोद्धार	८७२
वृहत्कल्पभाष्यम्	५८४	प्रवचनसारोद्धार	८७३
वृहत्कल्पभाष्यम्	१४९४	प्रवचनसारोद्धार	८७९

बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९५	प्रवचनसारोद्धार	८८०
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७३	प्रवचनसारोद्धार	१००१
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७४	प्रवचनसारोद्धार	१००२
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७५	प्रवचनसारोद्धार	१००३
वृहत्सग्रहणी	३५१	प्रवचनसारोद्धार	९६८
बृहत्सग्रहणी	३५२	प्रवचनसारोद्धार	९६९
बृहत्सग्रहणी	२३९	प्रवचनसारोद्धार	१०७२
बृहत्सग्रहणी	२५५	प्रवचनसारोद्धार	१०७३
बृहत्सग्रहणी	२३३	प्रवचनसारोद्धार	१०७५
बृहत्सग्रहणी	२३४	प्रवचनसारोद्धार	१०७६
बृहत्सग्रहणी	२७९	प्रवचनसारोद्धार	१०७९
बृहत्सग्रहणी	२८०	प्रवचनसारोद्धार	१०८०
बृहत्सग्रहणी	२८१	प्रवचनसारोद्धार	१०८१
बृहत्सग्रहणी	२८२	प्रवचनसारोद्धार	१०८२
बृहत्सग्रहणी	२८९	प्रवचनसारोद्धार	१०८३
बृहत्सग्रहणी	२८४	प्रवचनसारोद्धार	१०९१
वृहत्सग्रहणी	२८५	प्रवचनसारोद्धार	१०९२
वृहत्सग्रहणी	२८६	प्रवचनसारोद्धार	१०९३
बृहत्सग्रहणी	३३३	प्रवचनसारोद्धार	१०९४
वृहत्सग्रहणी	३३४	प्रवचनसारोद्धार	१०९५
वृहत्सग्रहणी	३१२	प्रवचनसारोद्धार	१०९६
बृहत्सग्रहणी	३१३	प्रवचनसारोद्धार	१०९७
बृहत्सग्रहणी	३१४	प्रवचनसारोद्धार	१०९८
वृहत्सग्रहणी	३०७	प्रवचनसारोद्धार	१०९९
वृहत्सग्रहणी	३११	प्रवचनसारोद्धार	११०२
वृहत्सग्रहणी	३१०	प्रवचनसारोद्धार	११०३
वृहत्सग्रहणी	३०८	प्रवचनसारोद्धार	११०४
वृहत्सग्रहणी	३४२	प्रवचनसारोद्धार	१११०
वृहत्सग्रहणी	१७०	प्रवचनसारोद्धार	१११७
वृहत्सग्रहणी	१६९	प्रवचनसारोद्धार	१११८

वृहत्सग्रहणी	१७१	प्रवचनसारोद्धार	११११९
वृहत्सग्रहणी	१७२	प्रवचनसारोद्धार	११२०
वृहत्सग्रहणी	३३७	प्रवचनसारोद्धार	११२४
वृहत्सग्रहणी	३३८	प्रवचनसारोद्धार	११२५
वृहत्सग्रहणी	३४०	प्रवचनसारोद्धार	११२६
वृहत्सग्रहणी	३४१	प्रवचनसारोद्धार	११२७
वृहत्सग्रहणी	४२	प्रवचनसारोद्धार	११२९
वृहत्सग्रहणी	५८	प्रवचनसारोद्धार	११३०
वृहत्सग्रहणी	५	प्रवचनसारोद्धार	११३८
वृहत्सग्रहणी	६	प्रवचनसारोद्धार	११३९
वृहत्सग्रहणी	४	प्रवचनसारोद्धार	११४०
वृहत्सग्रहणी	१२	प्रवचनसारोद्धार	११४३
वृहत्सग्रहणी	१७	प्रवचनसारोद्धार	११४६
वृहत्सग्रहणी	३५	प्रवचनसारोद्धार	११४७
वृहत्सग्रहणी	३६	प्रवचनसारोद्धार	११४८
वृहत्सग्रहणी	३७	प्रवचनसारोद्धार	११४९
वृहत्सग्रहणी	५५	प्रवचनसारोद्धार	११५०
वृहत्सग्रहणी	११७	प्रवचनसारोद्धार	११५१
वृहत्सग्रहणी	११८	प्रवचनसारोद्धार	११५२
वृहत्सग्रहणी	११९	प्रवचनसारोद्धार	११५३
वृहत्सग्रहणी	१२०	प्रवचनसारोद्धार	११५४
वृहत्सग्रहणी	१४३	प्रवचनसारोद्धार	११५५
वृहत्सग्रहणी	१४४	प्रवचनसारोद्धार	११५६
वृहत्सग्रहणी	१४८	प्रवचनसारोद्धार	११५७
वृहत्सग्रहणी	१५०	प्रवचनसारोद्धार	११५८
वृहत्सग्रहणी	२२०	प्रवचनसारोद्धार	११६१
वृहत्सग्रहणी	२२१	प्रवचनसारोद्धार	११६२
वृहत्सग्रहणी	२२२	प्रवचनसारोद्धार	११६३
वृहत्सग्रहणी	२२३	प्रवचनसारोद्धार	११६४
	२२४		११६५

बृहत्सग्रहणी	१५०	प्रवचनसारोद्धार	११६७
बृहत्सग्रहणी	१५१	प्रवचनसारोद्धार	११६८
बृहत्सग्रहणी	१५२	प्रवचनसारोद्धार	११६९
बृहत्सग्रहणी	१५३	प्रवचनसारोद्धार	११७०
बृहत्सग्रहणी	१५४	प्रवचनसारोद्धार	११७१
बृहत्सग्रहणी	१५५	प्रवचनसारोद्धार	११७२
बृहत्सग्रहणी	१५६	प्रवचनसारोद्धार	११७३
बृहत्सग्रहणी	१८०	प्रवचनसारोद्धार	११७४
बृहत्सग्रहणी	१५७	प्रवचनसारोद्धार	११७७
बृहत्सग्रहणी	१८४	प्रवचनसारोद्धार	११७८
बृहत्सग्रहणी	१९८	प्रवचनसारोद्धार	११८०
बृहत्सग्रहणी	१९९	प्रवचनसारोद्धार	११८१
बृहत्सग्रहणी	२००	प्रवचनसारोद्धार	११८२
बृहत्सग्रहणी	२०१	प्रवचनसारोद्धार	११८३
बृहत्सग्रहणी	२०२	प्रवचनसारोद्धार	११८४
बृहत्सग्रहणी	२१४	प्रवचनसारोद्धार	११८५
बृहत्सग्रहणी	२१५	प्रवचनसारोद्धार	११८७
बृहत्सग्रहणी	३०३	प्रवचनसारोद्धार	१२१५
बृहत्सग्रहणी	३०४	प्रवचनसारोद्धार	१२१६
बृहत्सग्रहणी	३१२	प्रवचनसारोद्धार	१२१७
वृहत्सग्रहणी	३६३	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
बृहत्सग्रहणी	१८१	प्रवचनसारोद्धार	१४३९
भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३	प्रवचनसारोद्धार	१४४९
भगवतीसूत्रम्	२५/७/८०१	प्रवचनसारोद्धार	७६०
भगवतीसूत्रम्	३/७/४	प्रवचनसारोद्धार	१०८५
भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३	प्रवचनसारोद्धार	१४४३
विशेषणवती	१	प्रवचनसारोद्धार	१३९६
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ १ गा ५३	प्रवचनसारोद्धार	७५०
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ २ गा २०	प्रवचनसारोद्धार	७७०
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ ३ गा १५	प्रवचनसारोद्धार	७८०

व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ ३ गा १६	प्रवचनसारोद्धार	३८१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२	प्रवचनसारोद्धार	१३२३
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	३	प्रवचनसारोद्धार	१३२४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	५	प्रवचनसारोद्धार	१३२५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	६	प्रवचनसारोद्धार	१३२६
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	७	प्रवचनसारोद्धार	१३२७
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	८	प्रवचनसारोद्धार	१३२८
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	९	प्रवचनसारोद्धार	१३२९
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१०	प्रवचनसारोद्धार	१३३०
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	११	प्रवचनसारोद्धार	१३३१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१२	प्रवचनसारोद्धार	१३३२
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१३	प्रवचनसारोद्धार	१३३३
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१४	प्रवचनसारोद्धार	१३३४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१६	प्रवचनसारोद्धार	१३३५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१७	प्रवचनसारोद्धार	१३३६
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१८	प्रवचनसारोद्धार	१३३७
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१९	प्रवचनसारोद्धार	१३३८
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२०	प्रवचनसारोद्धार	१३३९
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२१	प्रवचनसारोद्धार	१३४०
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२२	प्रवचनसारोद्धार	१३४१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२३	प्रवचनसारोद्धार	१३४२
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२४	प्रवचनसारोद्धार	१३४४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२५	प्रवचनसारोद्धार	१३४५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२६	प्रवचनसारोद्धार	१३४६
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२७	प्रवचनसारोद्धार	१३४७
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२८	प्रवचनसारोद्धार	१३४८
श्रावकव्रतभङ्गाप्रकरणम्	३०	प्रवचनसारोद्धार	१३४९
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	४०	प्रवचनसारोद्धार	१३५०
सतिकर	७	प्रवचनसारोद्धार	३७३
सतिकर	८	प्रवचनसारोद्धार	३७४

सतिकर	९	प्रवचनसारोद्धार	३७५
सतिकर	१०	प्रवचनसारोद्धार	३७६
सप्ततिशतस्थानप्रकरणम्	२०८	प्रवचनसारोद्धार	४४०
समवायागसूत्रम् स्था १५ सू १गा ११-१२		प्रवचनसारोद्धार	१०८६
समवायागसूत्रम्	परि. सू १५८/४७	प्रवचनसारोद्धार	१२०९
समवायागसूत्रम्	परि. सू १५८/४८	प्रवचनसारोद्धार	१२१०
सवोधप्रकरण	२/१८	प्रवचनसारोद्धार	१०३
सवोधप्रकरण	२/१२	प्रवचनसारोद्धार	१०६
सवोधप्रकरण	२/१७	प्रवचनसारोद्धार	१२०
सवोधप्रकरण	७/९२	प्रवचनसारोद्धार	२३८
सवोधप्रकरण	७/१४१	प्रवचनसारोद्धार	२६४
सवोधप्रकरण	७/१४६	प्रवचनसारोद्धार	२६७
सवोधप्रकरण	७/१४८	प्रवचनसारोद्धार	२६९
सवोधप्रकरण	६/१५०	प्रवचनसारोद्धार	२७१
सवोधप्रकरण	६/१५१	प्रवचनसारोद्धार	२७२
सवोधप्रकरण	७/३७	प्रवचनसारोद्धार	२७७
सवोधप्रकरण	७/४७	प्रवचनसारोद्धार	२७८
सवोधप्रकरण	७/४८	प्रवचनसारोद्धार	२७९
सवोधप्रकरण	७/६४	प्रवचनसारोद्धार	२८०
सवोधप्रकरण	७/१९८	प्रवचनसारोद्धार	२८३
सवोधप्रकरण	५/१३८	प्रवचनसारोद्धार	२८६
सवोधप्रकरण	१/८७	प्रवचनसारोद्धार	४३२
सवोधप्रकरण	१/३४	प्रवचनसारोद्धार	४४३
सवोधप्रकरण	१/३५	प्रवचनसारोद्धार	४४४
सवोधप्रकरण	१/३६	प्रवचनसारोद्धार	४४५
सवोधप्रकरण	१/१६	प्रवचनसारोद्धार	४५२
सवोधप्रकरण	२/१८	प्रवचनसारोद्धार	४९१
सवोधप्रकरण	२/२३०	प्रवचनसारोद्धार	५५१
सवोधप्रकरण	२/२२३	प्रवचनसारोद्धार	५५२
सवोधप्रकरण	२/६८	प्रवचनसारोद्धार	५५७

सवोधप्रकरण	४/८८	प्रवचनसारोद्धार	९४९
सवोधप्रकरण	४/८९	प्रवचनसारोद्धार	९५०
सवोधप्रकरण	७/१	प्रवचनसारोद्धार	९७७
सवोधप्रकरण	६/८८	प्रवचनसारोद्धार	९८०
सवोधप्रकरण	६/८९	प्रवचनसारोद्धार	९८१
सवोधप्रकरण	६/९०	प्रवचनसारोद्धार	९८२
सवोधप्रकरण	६/९६	प्रवचनसारोद्धार	९८४
सवोधप्रकरण	६/९८	प्रवचनसारोद्धार	९८६
सवोधप्रकरण	६/१०४	प्रवचनसारोद्धार	९८९
सवोधप्रकरण	६/१०३	प्रवचनसारोद्धार	९९२
सवोधप्रकरण	६/११०	प्रवचनसारोद्धार	९९३
सवोधप्रकरण	२/४५	प्रवचनसारोद्धार	१०५७
सवोधप्रकरण	२/६५	प्रवचनसारोद्धार	१०६४
सवोधप्रकरण	२/६६	प्रवचनसारोद्धार	१०६५
सवोधप्रकरण	३/३२	प्रवचनसारोद्धार	१२३८
सवोधप्रकरण	३/३७	प्रवचनसारोद्धार	१२४२
सवोधप्रकरण	३/३८	प्रवचनसारोद्धार	१२४३
सवोधप्रकरण	३/३९	प्रवचनसारोद्धार	१२४४
सवोधप्रकरण	२/४२	प्रवचनसारोद्धार	१२४७
सवोधप्रकरण	३/१९९	प्रवचनसारोद्धार	१३५४
सवोधप्रकरण	३/२००	प्रवचनसारोद्धार	१३५५
सवोधप्रकरण	५/६	प्रवचनसारोद्धार	१३५६
सवोधप्रकरण	५/७	प्रवचनसारोद्धार	१३५७
सवोधप्रकरण	५/८	प्रवचनसारोद्धार	१३५८
स्थानागसूत्रम्*	स्था. १० सू ७७७गा. १७५	प्रवचनसारोद्धार	८८५
स्थानागसूत्रम्	स्था १० सू ७७७गा. १७६	प्रवचनसारोद्धार	८८६
स्थानागसूत्रम्	स्था. १/सू ६७३/गा १	प्रवचनसारोद्धार	१२१८
स्थानागसूत्रम्	स्था १/सू ६७३/गा. २	प्रवचनसारोद्धार	१२१९

* [illegible] द्वारा सम्पादित ठाणागसुत्त मे इनका गाथा क्रमाक १ से १४ न होकर गाथा क्रमाक ११७-१३० है।

स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा ३	प्रवचनसारोद्धार	१२२०
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा. ४	प्रवचनसारोद्धार	१२२१
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा ५	प्रवचनसारोद्धार	१२२२
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा ६	प्रवचनसारोद्धार	१२२३
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा. ७	प्रवचनसारोद्धार	१२२४
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा ८	प्रवचनसारोद्धार	१२२५
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा. ९	प्रवचनसारोद्धार	१२२६
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा १०	प्रवचनसारोद्धार	१२२७
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा ११	प्रवचनसारोद्धार	१२२८
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा १२	प्रवचनसारोद्धार	१२२९
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा १३	प्रवचनसारोद्धार	१२३०
स्थानागसूत्रम्	स्था ९/सू ६७३/गा १४	प्रवचनसारोद्धार	१२३१

¤ ※ ¤ ※ ¤

परिशिष्ट—२

—प्रो सागरमल जैन

प्रवचनसारोद्धार और अन्य ग्रन्थों की गाथाएँ

प्रवचनसारोद्धार	६६	चैत्यवन्दनमहाभाष्यम्	१८०
प्रवचनसारोद्धार	७२	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१७
प्रवचनसारोद्धार	७३	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१८
प्रवचनसारोद्धार	७४	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१९
प्रवचनसारोद्धार	७५	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२०
प्रवचनसारोद्धार	७६	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२१
प्रवचनसारोद्धार	९८	आवश्यकनिर्युक्ति	१२०२
प्रवचनसारोद्धार	१०३	संवोधप्रकरण	२/१८
प्रवचनसारोद्धार	१०६	सवोधप्रकरण	२/१२
प्रवचनसारोद्धार	१२०	सवोधप्रकरण	२/१७
प्रवचनसारोद्धार	१२४	आवश्यकनिर्युक्ति	११९८
प्रवचनसारोद्धार	१२९	आराधनापताका (प्रा)	५०४
प्रवचनसारोद्धार	१८३	आवश्यकनिर्युक्ति	३१
प्रवचनसारोद्धार	१८४	आवश्यकनिर्युक्ति	१५३२
प्रवचनसारोद्धार	२०३	आवश्यकनिर्युक्ति	१५९९
प्रवचनसारोद्धार	२०३	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	२०४	आवश्यकनिर्युक्ति	१६००
प्रवचनसारोद्धार	२०४	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/९
प्रवचनसारोद्धार	२०५	आवश्यकनिर्युक्ति	१६०१
प्रवचनसारोद्धार	२०५	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/१०
प्रवचनसारोद्धार	२०६	आवश्यकनिर्युक्ति	१६०२
प्रवचनसारोद्धार	२०७	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२७
प्रवचनसारोद्धार	२०८	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	२०९	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२९

* डॉ. नाण्डे के आलेख में इसका गाथा क्रमाङ्क ९५ है।

प्रवचनसारोद्धार	२१०	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/३०
प्रवचनसारोद्धार	२१७	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३७१
प्रवचनसारोद्धार	२३८	सबोधप्रकरण	७/९२
प्रवचनसारोद्धार	२४७	आवश्यकनिर्युक्ति	१५४६
प्रवचनसारोद्धार	२४७	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४७८
प्रवचनसारोद्धार	२४९	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८०
प्रवचनसारोद्धार	२५०	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८१
प्रवचनसारोद्धार	२५१	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८२
प्रवचनसारोद्धार	२५२	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८३
प्रवचनसारोद्धार	२५३	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८४
प्रवचनसारोद्धार	२५४	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८५
प्रवचनसारोद्धार	२५५	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८६
प्रवचनसारोद्धार	२५६	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८७
प्रवचनसारोद्धार	२५७	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८९
प्रवचनसारोद्धार	२५८	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९०
प्रवचनसारोद्धार	२५९	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९१
प्रवचनसारोद्धार	२६०	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९२
प्रवचनसारोद्धार	२६१	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९३
प्रवचनसारोद्धार	२६२	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९४
प्रवचनसारोद्धार	२६४	सबोधप्रकरण	७/१४१
प्रवचनसारोद्धार	२६७	सबोधप्रकरण	७/१४६
प्रवचनसारोद्धार	२६७	आराधनापताका (वीरभद्र)	८९
प्रवचनसारोद्धार	२६७	आराधनापताका (प्रा)	१७६
प्रवचनसारोद्धार	२६८	आराधनापताका (प्रा)	१८०
प्रवचनसारोद्धार	२६८	आराधनापताका (वीरभद्र)	९०
प्रवचनसारोद्धार	२६९	सबोधप्रकरण	७/१४८
प्रवचनसारोद्धार	२७०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७
प्रवचनसारोद्धार	२७१	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८
प्रवचनसारोद्धार	२७१	सबोधप्रकरण	६/१५०
	२७२	सबोधप्रकरण	६/१५१

प्रवचनसारोद्धार	२७७	सबोधप्रकरण	७/३७
प्रवचनसारोद्धार	२७८	सबोधप्रकरण	७/४७
प्रवचनसारोद्धार	२७९	सबोधप्रकरण	७/४८
प्रवचनसारोद्धार	२८०	सबोधप्रकरण	७/६४
प्रवचनसारोद्धार	२८३	सबोधप्रकरण	७/१०८
प्रवचनसारोद्धार	२८६	सबोधप्रकरण	५/१३८
प्रवचनसारोद्धार	३१०	आवश्यकनिर्युक्ति	१७९
प्रवचनसारोद्धार	३११	आवश्यकनिर्युक्ति	१८०
प्रवचनसारोद्धार	३१२	आवश्यकनिर्युक्ति	१८१
प्रवचनसारोद्धार	३२०	आवश्यकनिर्युक्ति	३८५
प्रवचनसारोद्धार	३२१	आवश्यकनिर्युक्ति	३८६
प्रवचनसारोद्धार	३२२	आवश्यकनिर्युक्ति	३८७
प्रवचनसारोद्धार	३२३	आवश्यकनिर्युक्ति	३८८
प्रवचनसारोद्धार	३२४	आवश्यकनिर्युक्ति	३८९
प्रवचनसारोद्धार	३२५	तित्थोगालीपइण्णय	५६७
प्रवचनसारोद्धार	३२६	तित्थोगालीपइण्णय	५६८
प्रवचनसारोद्धार	३२८	आवश्यकनिर्युक्ति	२६६
प्रवचनसारोद्धार	३२९	आवश्यकनिर्युक्ति	२६७
प्रवचनसारोद्धार	३७३	सतिकर	७
प्रवचनसारोद्धार	३७४	सतिकर	८
प्रवचनसारोद्धार	३७५	सतिकर	९
प्रवचनसारोद्धार	३७६	सतिकर	१०
प्रवचनसारोद्धार	३८१	आवश्यकनिर्युक्ति	३७६
प्रवचनसारोद्धार	३८२	आवश्यकनिर्युक्ति	३७७
प्रवचनसारोद्धार	३८३	आवश्यकनिर्युक्ति	२२४
प्रवचनसारोद्धार	३८४	आवश्यकनिर्युक्ति	२२५
प्रवचनसारोद्धार	३८४	तित्थोगालीपइण्णय	३९५
प्रवचनसारोद्धार	३८५	आवश्यकनिर्युक्ति	३०३
प्रवचनसारोद्धार	३८६	आवश्यकनिर्युक्ति	३०४
प्रवचनसारोद्धार	३८७	आवश्यकनिर्युक्ति	३०५

प्रवचनसारोद्धार	३८८	आवश्यकनिर्युक्ति	३०८
प्रवचनसारोद्धार	३८९	आवश्यकनिर्युक्ति	३०९
प्रवचनसारोद्धार	३९०	आवश्यकनिर्युक्ति	३१०
प्रवचनसारोद्धार	४०३	निशीथभाष्यम्	१३९०
प्रवचनसारोद्धार	४०४	निशीथभाष्यम्	१३९१
प्रवचनसारोद्धार	४०६	तित्थोगालीपइण्णय	३६०
प्रवचनसारोद्धार	४३२	चैतयवन्दनमहाभाष्यम्	६३
प्रवचनसारोद्धार	४३२	सबोधप्रकरण	१/८७
प्रवचनसारोद्धार	४४०	सप्ततिशतस्थानप्रकरणम्	२०८
प्रवचनसारोद्धार	४४३	सबोधप्रकरण	१/३४
प्रवचनसारोद्धार	४४४	सबोधप्रकरण	१/३५
प्रवचनसारोद्धार	४४५	सबोधप्रकरण	१/३६
प्रवचनसारोद्धार	४५२	सबोधप्रकरण	१/१४
प्रवचनसारोद्धार	४५४	आवश्यकनिर्युक्ति	२२८
प्रवचनसारोद्धार	४५४	तित्थोगालीपइण्णय	४००
प्रवचनसारोद्धार	४५५	आवश्यकनिर्युक्ति	२५५
प्रवचनसारोद्धार	४५६	आवश्यकनिर्युक्ति	३०६
प्रवचनसारोद्धार	४८२	आवश्यकनिर्युक्ति	९७०
प्रवचनसारोद्धार	४८२	तित्थोगालीपइण्णय	१२३८
प्रवचनसारोद्धार	४८३	आवश्यकनिर्युक्ति	९६९
प्रवचनसारोद्धार	४८४	आवश्यकनिर्युक्ति	९६७
प्रवचनसारोद्धार	४८४	देविंदत्थओ पइण्णय	२८७
प्रवचनसारोद्धार	४८४	तित्थोगालीपइण्णय	२२३
प्रवचनसारोद्धार	४८५	आवश्यकनिर्युक्ति	९६५
प्रवचनसारोद्धार	४८६	आवश्यकनिर्युक्ति	९५७
प्रवचनसारोद्धार	४८६	देविंदत्थओ पइण्णय	२८६
प्रवचनसारोद्धार	४८७	आवश्यकनिर्युक्ति	९७१
प्रवचनसारोद्धार	४८८	तित्थोगालीपइण्णय	१२४२
प्रवचनसारोद्धार	४८८	आवश्यकनिर्युक्ति	९७२
प्रवचनसारोद्धार	४८९	आवश्यकनिर्युक्ति	९७३

प्रवचनसारोद्धार	४८९	तित्थोगालीपइण्णय	१२४३
प्रवचनसारोद्धार	४९१	सबोधप्रकरण	२/१८
प्रवचनसारोद्धार	४९१	ओघनिर्युक्ति	६६८
प्रवचनसारोद्धार	४९२	ओघनिर्युक्ति	६६९
प्रवचनसारोद्धार	४९३	निशीथभाष्य	१३९०
प्रवचनसारोद्धार	४९४	निशीथभाष्य	१३९१
प्रवचनसारोद्धार	४९४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७७५
प्रवचनसारोद्धार	४९७	निशीथभाष्यम्	१३९२
प्रवचनसारोद्धार	४९८	बृहत्कल्पभाष्यम्	१३२८
प्रवचनसारोद्धार	५०६	ओघनिर्युक्ति	७०३
प्रवचनसारोद्धार	५०७	ओघनिर्युक्ति	७०५
प्रवचनसारोद्धार	५०८	ओघनिर्युक्ति	७०८
प्रवचनसारोद्धार	५०९	ओघनिर्युक्ति	७११
प्रवचनसारोद्धार	५१०	ओघनिर्युक्ति	७१३
प्रवचनसारोद्धार	५११	ओघनिर्युक्ति	७१४
प्रवचनसारोद्धार	५१२	ओघनिर्युक्ति	७२१
प्रवचनसारोद्धार	५१३	ओघनिर्युक्ति	७२३
प्रवचनसारोद्धार	५१४	ओघनिर्युक्ति	७१०
प्रवचनसारोद्धार	५१५	ओघनिर्युक्ति	७१२
प्रवचनसारोद्धार	५१६	ओघनिर्युक्ति	६९१
प्रवचनसारोद्धार	५१७	ओघनिर्युक्ति	७०६
प्रवचनसारोद्धार	५१८	ओघनिर्युक्ति	७२२
प्रवचनसारोद्धार	५२९	ओघनिर्युक्ति	६७६
प्रवचनसारोद्धार	५३०	ओघनिर्युक्ति	६७७
प्रवचनसारोद्धार	५३१	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१३
प्रवचनसारोद्धार	५३२	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१४
प्रवचनसारोद्धार	५३३	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१५
प्रवचनसारोद्धार	५३३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८२७
प्रवचनसारोद्धार	५३४	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१६
प्रवचनसारोद्धार	५३५	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१७

प्रवचनसारोद्धार	५३६	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१८
प्रवचनसारोद्धार	५३७	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१९
प्रवचनसारोद्धार	५३८	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३२०
प्रवचनसारोद्धार	५४९	दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२५
प्रवचनसारोद्धार	५५०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२९
प्रवचनसारोद्धार	५५१	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	२
प्रवचनसारोद्धार	५५१	सबोधप्रकरण	२/२३०
प्रवचनसारोद्धार	५५२	सवोधप्रकरण	२/२२३
प्रवचनसारोद्धार	५५३	तित्थोगालीपइण्णय	१२०७
प्रवचनसारोद्धार	५५५	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४६
प्रवचनसारोद्धार	५५७	सबोधप्रकरण	२/६८
प्रवचनसारोद्धार	५५७	आराधनापताका (वीर)	५४३
प्रवचनसारोद्धार	५५९	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७
प्रवचनसारोद्धार	५६०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८
प्रवचनसारोद्धार	५६१	आराधनापताका (प्रा)	६५१
प्रवचनसारोद्धार	५६२	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३
प्रवचनसारोद्धार	५६२	सबोधप्रकरण	२/२३१
प्रवचनसारोद्धार	५६३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१३/३
प्रवचनसारोद्धार	५६४	पिण्डविशुद्धि	३
प्रवचनसारोद्धार	५६५	पिण्डविशुद्धि	४
प्रवचनसारोद्धार	५६५	सबोधप्रकरण	२/२७०
प्रवचनसारोद्धार	५६६	पिण्डनिर्युक्ति	४०८
प्रवचनसारोद्धार	५६६	सवोधप्रकरण	२/२७१
प्रवचनसारोद्धार	५६७	पिण्डनिर्युक्ति	४०९
प्रवचनसारोद्धार	५६८	पिण्डनिर्युक्ति	५२०
प्रवचनसारोद्धार	५६८	सवोधप्रकरण	२/२७३
प्रवचनसारोद्धार	५७४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/३
प्रवचनसारोद्धार	५७५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/४
प्रवचनसारोद्धार	५७६	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/५
प्रवचनसारोद्धार	५७७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/६

प्रवचनसारोद्धार	५७८	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/७
प्रवचनसारोद्धार	६११	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५३८
प्रवचनसारोद्धार	६१२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५३९
प्रवचनसारोद्धार	६१३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४०
प्रवचनसारोद्धार	६१४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४१
प्रवचनसारोद्धार	६१४	वृहत्कल्पभाष्यम्	१४३९
प्रवचनसारोद्धार	६२३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४७
प्रवचनसारोद्धार	६२४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४८
प्रवचनसारोद्धार	६२४	वृहत्कल्पभाष्यम्	१४४१
प्रवचनसारोद्धार	६२५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४९
प्रवचनसारोद्धार	६२५	वृहत्कल्पभाष्यम्	१४४२
प्रवचनसारोद्धार	६२६	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५०
प्रवचनसारोद्धार	६२६	वृहत्कल्पभाष्यम	१४४३
प्रवचनसारोद्धार	६२७	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५१
प्रवचनसारोद्धार	६२७	वृहत्कल्पभाष्यम	१४४४
प्रवचनसारोद्धार	६२८	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५२
प्रवचनसारोद्धार	६२८	वृहत्कल्पभाष्यम्	१४४५
प्रवचनसारोद्धार	६२९	आराधनापताका (प्रा.)	३३
प्रवचनसारोद्धार	६३६	सवोधप्रकरण	२/२३४
प्रवचनसारोद्धार	६३६	आराधनापताका (प्रा.)	७४६
प्रवचनसारोद्धार	६३७	आराधनापताका (प्रा)	७४७
प्रवचनसारोद्धार	६३८	आराधनापताका (प्रा.)	७४८
प्रवचनसारोद्धार	६३९	आराधनापताका (प्रा.)	७४९
प्रवचनसारोद्धार	६४०	सवोधप्रकरण	३/२३८
प्रवचनसारोद्धार	६४१	सवोधप्रकरण	२/२३९
प्रवचनसारोद्धार	६४१	आराधनापताका (प्रा.)	७१४
प्रवचनसारोद्धार	६४१	पर्यन्ताराधना	२६०
प्रवचनसारोद्धार	६४२	आराधनापताका (प्रा.)	७१५
प्रवचनसारोद्धार	६४४	संवोधप्रकरण	२/१६
प्रवचनसारोद्धार	६४४	आराधनापताका (प्रा.)	७१७

प्रवचनसारोद्धार	६४६	आराधनापताका (प्रा)	७१९
प्रवचनसारोद्धार	६४७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/२६
प्रवचनसारोद्धार	६५०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१०
प्रवचनसारोद्धार	६५०	बृहत्कल्पभाष्यम्	६३६१
प्रवचनसारोद्धार	६५१	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/८
प्रवचनसारोद्धार	६५२	ओघनिर्युक्ति भाष्यम्	७९
प्रवचनसारोद्धार	६५२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१२
प्रवचनसारोद्धार	६५३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१६
प्रवचनसारोद्धार	६५४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३२
प्रवचनसारोद्धार	६५६	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३७
प्रवचनसारोद्धार	६५७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३८
प्रवचनसारोद्धार	६५३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३९
प्रवचनसारोद्धार	६६३	बृहत्कल्पभाष्यम्	१७७५
प्रवचनसारोद्धार	६७०	ओघनिर्युक्ति	७३०
प्रवचनसारोद्धार	६७६	निशीथभाष्यम्	४००३
प्रवचनसारोद्धार	६७७	निशीथभाष्यम्	४००१
प्रवचनसारोद्धार	६७८	निशीथभाष्यम्	४००२
प्रवचनसारोद्धार	६८५	आराधनापताका (प्रा)	६७१
प्रवचनसारोद्धार	६८६	आराधनापताका (प्रा)	६७२
प्रवचनसारोद्धार	६९१	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	८२
प्रवचनसारोद्धार	६९३	तित्थोगालीपइण्णय	६९९
प्रवचनसारोद्धार	६९४	आवश्यकनिर्युक्ति	१२१
प्रवचनसारोद्धार	७००	आवश्यकनिर्युक्ति	११६
प्रवचनसारोद्धार	७०९	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३९९
प्रवचनसारोद्धार	७०९	बृहत्कल्पभाष्यम्	४४३
प्रवचनसारोद्धार	७०९	ओघनिर्युक्ति	३१३
प्रवचनसारोद्धार	७१०	ओघनिर्युक्ति	३१४
प्रवचनसारोद्धार	७१०	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	४००
प्रवचनसारोद्धार	७१०	बृहत्कल्पभाष्यम्	४४४
प्रवचनसारोद्धार	७१९	सबोधप्रकरण	२/२४१

प्रवचनसारोद्धार	७२९	आराधनापताका ([illegible])	[illegible]
प्रवचनसारोद्धार	७२८	सबोधप्रकरण	[illegible]
प्रवचनसारोद्धार	७३४	पिण्डनिर्युक्ति	६६[illegible]
प्रवचनसारोद्धार	७३४	सबोधप्रकरण	[illegible]
प्रवचनसारोद्धार	७३५	पिण्डनिर्युक्ति	६६३
प्रवचनसारोद्धार	७३६	पिण्डनिर्युक्ति	६६४
प्रवचनसारोद्धार	७३७	पिण्डनिर्युक्ति	६६५
प्रवचनसारोद्धार	७३७	गच्छाचारपइण्णय	[illegible]
प्रवचनसारोद्धार	७३८	पिण्डविशुद्धि	६६६
प्रवचनसारोद्धार	७३९	सबोधप्रकरण	[illegible]
प्रवचनसारोद्धार	७४०	पञ्चाशकप्रकरण	[illegible]
प्रवचनसारोद्धार	७४५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३००
प्रवचनसारोद्धार	७४५	सबोधप्रकरण	२/२८०
प्रवचनसारोद्धार	७५०	आवश्यकनिर्युक्ति	१४१८
प्रवचनसारोद्धार	७५०	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	५३
प्रवचनसारोद्धार	७५१	सबोधप्रकरण	१२/५२
प्रवचनसारोद्धार	७५५	सबोधप्रकरण	१२/५३
प्रवचनसारोद्धार	७५८	सबोधप्रकरण	१२/५४
प्रवचनसारोद्धार	७५७	सबोधप्रकरण	१२/५५
प्रवचनसारोद्धार	७५८	सबोधप्रकरण	१२/५६
प्रवचनसारोद्धार	७६०	आवश्यकनिर्युक्ति	६६६
प्रवचनसारोद्धार	७६०	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८२
प्रवचनसारोद्धार	७६०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/२
प्रवचनसारोद्धार	७६०	भगवतीसूत्रम्	२५/७/८०१
प्रवचनसारोद्धार	७६१	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	४८३
प्रवचनसारोद्धार	७६१	आवश्यकनिर्युक्ति	६६७
प्रवचनसारोद्धार	७६१	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/३
प्रवचनसारोद्धार	७६२	आवश्यकनिर्युक्ति	६६८
प्रवचनसारोद्धार	७६३	आवश्यकनिर्युक्ति	६८२
प्रवचनसारोद्धार	७६३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१०
प्रवचनसारोद्धार	७६४	आवश्यकनिर्युक्ति	६८८
प्रवचनसारोद्धार	७६४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१४

प्रवचन-सारोद्धार

प्रवचनसारोद्धार	७६७	आवश्यकनिर्युक्ति	६९७
प्रवचनसारोद्धार	७६८	पञ्चाशकप्रकरणम्	२३०
प्रवचनसारोद्धार	७७०	बृहत्कल्पभाष्यम्	६८८
प्रवचनसारोद्धार	७७०	ओघनिर्युक्ति	१२१
प्रवचनसारोद्धार	७७०	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ २ गा २०
प्रवचनसारोद्धार	७७१	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२४/७
प्रवचनसारोद्धार	७७२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९५
प्रवचनसारोद्धार	७७३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९६
प्रवचनसारोद्धार	७७५	बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८६
प्रवचनसारोद्धार	७७६	बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८७
प्रवचनसारोद्धार	७७८	आवश्यकनिर्युक्ति	११७२
प्रवचनसारोद्धार	७८०	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	७८०	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२८
प्रवचनसारोद्धार	७८०	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ ३ गा १५
प्रवचनसारोद्धार	७८१	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२९
प्रवचनसारोद्धार	७८१	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ ३ गा १६
प्रवचनसारोद्धार	७८२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३३०
प्रवचनसारोद्धार	७८३	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०६
प्रवचनसारोद्धार	७८४	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०७
प्रवचनसारोद्धार	७८५	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०८
प्रवचनसारोद्धार	७८६	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५६
प्रवचनसारोद्धार	७८६	ओघनिर्युक्ति	३१६
प्रवचनसारोद्धार	७८७	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८४
प्रवचनसारोद्धार	७८७	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५७
प्रवचनसारोद्धार	७८८	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८५
प्रवचनसारोद्धार	७८८	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५८
प्रवचनसारोद्धार	७८९	ओघनिर्युक्ति	३१७
प्रवचनसारोद्धार	७८९	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५९
प्रवचनसारोद्धार	७९०	निशीथभाष्यम्	३५०६
प्रवचनसारोद्धार	७९०	पचकल्पभाष्य	२००
प्रवचनसारोद्धार	७९१	निशीथभाष्यम्	३५०७
प्रवचनसारोद्धार	७९१	पचकल्पभाष्य	२०१

प्रवचनसारोद्धार	७९३	निशीथभाष्यम्	३५६१
प्रवचनसारोद्धार	७९५	निशीथभाष्यम्	३७०९
प्रवचनसारोद्धार	७९६	निशीथभाष्यम्	३७१०
प्रवचनसारोद्धार	७९७	वृहत्कल्पभाष्यम्	३८९०
प्रवचनसारोद्धार	७९८	वृहत्कल्पभाष्यम्	३८९१
प्रवचनसारोद्धार	७९९	वृहत्कल्पभाष्यम्	३८९२
प्रवचनसारोद्धार	८००	निशीथभाष्यम्	११४४
प्रवचनसारोद्धार	८००	वृहत्कल्पभाष्यम्	३५२५
प्रवचनसारोद्धार	८०१	निशीथभाष्यम्	११४५
प्रवचनसारोद्धार	८०१	वृहत्कल्पभाष्यम्	३५२६
प्रवचनसारोद्धार	८०२	निशीथभाष्यम्	११४९
प्रवचनसारोद्धार	८०२	वृहत्कल्पभाष्यम्	३५३०
प्रवचनसारोद्धार	८०३	निशीथभाष्यम्	११४८
प्रवचनसारोद्धार	८०३	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२९
प्रवचनसारोद्धार	८०४	निशीथभाष्यम्	११५८
प्रवचनसारोद्धार	८०५	निशीथभाष्यम्	११५९
प्रवचनसारोद्धार	८०५	वृहत्कल्पभाष्यम्	३५३९
प्रवचनसारोद्धार	८०६	निशीथभाष्यम्	११६०
प्रवचनसारोद्धार	८०६	वृहत्कल्पभाष्यम्	३५४०
प्रवचनसारोद्धार	८०७	निशीथभाष्यम्	११६१
प्रवचनसारोद्धार	८०७	वृहत्कल्पभाष्यम्	३५४१
प्रवचनसारोद्धार	८०८	निशीथभाष्यम्	११६२
प्रवचनसारोद्धार	८०८	वृहत्कल्पभाष्यम्	३५४३
प्रवचनसारोद्धार	८०९	संवोधप्रकरण	११/३८
प्रवचनसारोद्धार	८३६	सवोधप्रकरण	४/३०
प्रवचनसारोद्धार	८३७	आवश्यकनिर्युक्ति	८५७
प्रवचनसारोद्धार	८३७	सवोधप्रकरण	४/३२
प्रवचनसारोद्धार	८३८	आवश्यकनिर्युक्ति	८५८
प्रवचनसारोद्धार	८३९	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/२
प्रवचनसारोद्धार	८४०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/३
प्रवचनसारोद्धार	८४१	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/४

प्रवचनसारोद्धार	८४२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/५
प्रवचनसारोद्धार	८४३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/६
प्रवचनसारोद्धार	८४४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/७
प्रवचनसारोद्धार	८४५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/८
प्रवचनसारोद्धार	८४५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/९
प्रवचनसारोद्धार	८४७	आवश्यकनिर्युक्ति	७५४
प्रवचनसारोद्धार	८४८	आवश्यकनिर्युक्ति	७५९
प्रवचनसारोद्धार	८५०	निशीथभाष्यम्	५०८७
प्रवचनसारोद्धार	८५०	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३२
प्रवचनसारोद्धार	८५१	निशीथभाष्यम्	५०८६
प्रवचनसारोद्धार	८५१	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३१
प्रवचनसारोद्धार	८५२	निशीथभाष्यम्	५०८८
प्रवचनसारोद्धार	८५२	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३३
प्रवचनसारोद्धार	८५३	निशीथभाष्यम्	५०८९
प्रवचनसारोद्धार	८५३	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३४
प्रवचनसारोद्धार	८५५	सबोधप्रकरण	१२/६७
प्रवचनसारोद्धार	८५८	सबोधप्रकरण	१२/७०
प्रवचनसारोद्धार	८५९	सबोधप्रकरण	१२/७१
प्रवचनसारोद्धार	८६१	ओघनिर्युक्ति	६६०
प्रवचनसारोद्धार	८६२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१५/४१
प्रवचनसारोद्धास	८६४	ओघनिर्युक्ति	३५१
प्रवचनसारोद्धार	८६४	पिण्डनिर्युक्ति	२६
प्रवचनसारोद्धार	८६५	ओघनिर्युक्ति	३५२
प्रवचनसारोद्धार	८६५	पिण्डनिर्युक्ति	२७
प्रवचनसारोद्धार	८६६	पिण्डनिर्युक्ति	६४२
प्रवचनसारोद्धार	८६७	पिण्डनिर्युक्ति	६५०
प्रवचनसारोद्धार	८६८	पिण्डनिर्युक्ति	६५१
प्रवचनसारोद्धार	८६९	पिण्डनिर्युक्ति	६५२
प्रवचनसारोद्धार	८७०	पिण्डनिर्युक्ति	६५३
प्रवचनसारोद्धार	८७१	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०७
प्रवचनसारोद्धार	८७१	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८२
प्रवचनसारोद्धार	८७२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०८

प्रवचनसारोद्धार	८७२	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८३
प्रवचनसारोद्धार	८७३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०९
प्रवचनसारोद्धार	८७३	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८४
प्रवचनसारोद्धार	८७४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०६
प्रवचनसारोद्धार	८७५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७४
प्रवचनसारोद्धार	८७५	आराहणापडाया (प्रा)	१०
प्रवचनसारोद्धार	८७५	आराहणापडाया (वीर)	१५५
प्रवचनसारोद्धार	८७६	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७५
प्रवचनसारोद्धार	८७६	आराधनापताका (प्रा)	११
प्रवचनसारोद्धार	८७६	पर्यन्ताराधना	८
प्रवचनसारोद्धार	८७७	आराधनापताका (प्रा)	१२
प्रवचनसारोद्धार	८७७	आराधनापताका (वीर)	१५७
प्रवचनसारोद्धार	८७७	पर्यन्ताराधना	९
प्रवचनसारोद्धार	८७९	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९४
प्रवचनसारोद्धार	८८०	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९५
प्रवचनसारोद्धार	८८५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२६
प्रवचनसारोद्धार	८८५	स्थानागसूत्रम्	स्थान १० सू ७७७ गा १७५
प्रवचनसारोद्धार	८८५	तित्थोगालीपइण्णय	८८८
प्रवचनसारोद्धार	८८६	स्थानागसूत्रम्	स्थान १० सू ७७७ गा १७६
प्रवचनसारोद्धार	८८६	पञ्चवस्तुकप्रकरण	९२७
प्रवचनसारोद्धार	८८६	तित्थोगालीपइण्णय	८८९
प्रवचनसारोद्धार	८९१	दशवेकालिकनिर्युक्ति	२७३
प्रवचनसारोद्धार	८९१	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू ८६२/गा १९४
प्रवचनसारोद्धार	८९१	सबोधप्रकरण	२/५२
प्रवचनसारोद्धार	८९२	दशवकालिकनिर्युक्ति	२७४
प्रवचनसारोद्धार	८९२	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू ८६३/गा १९५
प्रवचनसारोद्धार	८९३	दशवंकालिकनिर्युक्ति	२७५
प्रवचनसारोद्धार	८९४	दशवंकालिकनिर्युक्ति	२७६
प्रवचनसारोद्धार	८९५	दशवंकालिकनिर्युक्ति	२७७
प्रवचनसारोद्धार	८९५	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू ८६६/गा १९६
प्रवचनसारोद्धार	९२५	आचारागनिर्युक्ति	३९
प्रवचनसारोद्धार	९२७	सबोधप्रकरण	४/६०
प्रवचनसारोद्धार	९२७	पर्यन्ताराधना	१८

प्रवचनसारोद्धार	९२८	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू ११०/गा १३१
प्रवचनसारोद्धार	९२८	सबोधप्रकरण	४/६१
प्रवचनसारोद्धार	९३४	सबोधप्रकरण	४/६८
प्रवचनसारोद्धार	९३५	तित्थोगालीपइण्णय	१२२०
प्रवचनसारोद्धार	९४५	सबोधप्रकरण	४/८४
प्रवचनसारोद्धार	९४८	सबोधप्रकरण	४/८५
प्रवचनसारोद्धार	९४९	सबोधप्रकरण	४/८८
प्रवचनसारोद्धार	९५०	उतराध्ययनसूत्रम्	२८/१६
प्रवचनसारोद्धार	९५०	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १ सू ११०/गा ११९
प्रवचनसारोद्धार	९५०	सबोधप्रकरण	४/८९
प्रवचनसारोद्धार	९५१	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/१८
प्रवचनसारोद्धार	९५१	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १ सू ११०/गा १२१
प्रवचनसारोद्धार	९५२	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/१९
प्रवचनसारोद्धार	९५२	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १ सू ११०/गा १२२
प्रवचनसारोद्धार	९५३	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२०
प्रवचनसारोद्धार	९५४	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२१
प्रवचनसारोद्धार	९५५	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२२
प्रवचनसारोद्धार	९५६	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२३
प्रवचनसारोद्धार	९५७	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२४
प्रवचनसारोद्धार	९५८	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२५
प्रवचनसारोद्धार	९५९	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२६
प्रवचनसारोद्धार	९६०	उत्तराध्ययनसूत्रम्	१८/२७
प्रवचनसारोद्धार	९६३	जीवसमास	४०
प्रवचनसारोद्धार	९६४	जीवसमास	४१
प्रवचनसारोद्धार	९६५	जीवसमास	४२
प्रवचनसारोद्धार	९६६	जीवसमास	४३
प्रवचनसारोद्धार	९६७	जीवसमास	४४
प्रवचनसारोद्धार	९६८	बृहत्सग्रहणी	३५१
प्रवचनसारोद्धार	९६९	वृहत्सग्रहणी	३५२
प्रवचनसारोद्धार	९७७	सवोधप्रकरण	७/१

प्रवचनसारोद्धार	९८०	सबोधप्रकरण	६/८८
प्रवचनसारोद्धार	९८१	सबोधप्रकरण	६/८९
प्रवचनसारोद्धार	९८२	सबोधप्रकरण	६/९०
प्रवचनसारोद्धार	९८४	सबोधप्रकरण	६/९६
प्रवचनसारोद्धार	९८५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१७
प्रवचनसारोद्धार	९८६	पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१८
प्रवचनसारोद्धार	९८६	सबोधप्रकरण	६/९८
प्रवचनसारोद्धार	९८७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१९
प्रवचनसारोद्धार	९८९	सबोधप्रकरण	६/१०४
प्रवचनसारोद्धार	९९२	सबोधप्रकरण	६/१०३
प्रवचनसारोद्धार	९९३	सबोधप्रकरण	६/११०
प्रवचनसारोद्धार	१००१	निशीथभाष्यम्	४८३३
प्रवचनसारोद्धार	१००१	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७३
प्रवचनसारोद्धार	१००२	निशीथभाष्यम्	४८३४
प्रवचनसारोद्धार	१००२	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७४
प्रवचनसारोद्धार	१००३	निशीथभाष्यम्	४८३५
प्रवचनसारोद्धार	१००३	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७५
प्रवचनसारोद्धार	१००४	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५२
प्रवचनसारोद्धार	१००५	दशवैकलिकनिर्युक्ति	२५३
प्रवचनसारोद्धार	१००६	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१२
प्रवचनसारोद्धार	१००७	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१३
प्रवचनसारोद्धार	१००८	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१५
प्रवचनसारोद्धार	१००९	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१६
प्रवचनसारोद्धार	१०१०	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१७
प्रवचनसारोद्धार	१०११	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१९
[illegible]	१०१२	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२१
[illegible]	१०१४	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२२
[illegible]	[illegible]	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२३
[illegible]	[illegible]	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२४
[illegible]	[illegible]	जीवसमास	११७

प्रवचनसारोद्धार	१०१९	जीवसमास	११८
प्रवचनसारोद्धार	१०२०	जीवसमास	११९
प्रवचनसारोद्धार	१०२०	ज्योतिष्कएण्डक	७९
प्रवचनसारोद्धार	१०२१	जीवसमास	१२०
प्रवचनसारोद्धार	१०२२	जीवसमास	१२१
प्रवचनसारोद्धार	१०२३	जीवसमास	१२२
प्रवचनसारोद्धार	१०२४	जीवसमास	१२५
प्रवचनसारोद्धार	१०२५	जीवसमास	१२६
प्रवचनसारोद्धार	१०२५	तित्थोगालीपइण्णय	१२
प्रवचनसारोद्धार	१०२६	जीवसमास	१३१
प्रवचनसारोद्धार	१०२७	जीवसमास	१२३
प्रवचनसारोद्धार	१०२८	जीवसमास	१२४
प्रवचनसारोद्धार	१०२९	जीवसमास	१२७
प्रवचनसारोद्धार	१०३०	जीवसमास	१३०
प्रवचनसारोद्धार	१०३१	जीवसमास	१३२
प्रवचनसारोद्धार	१०३२	जीवसमास	१३३
प्रवचनसारोद्धार	१०३४	ज्योतिष्करण्डक*	८५
प्रवचनसारोद्धार	१०३४	तित्थोगालीपइण्णय	१८
प्रवचनसारोद्धार	१०३५	ज्योतिष्करण्डक प्र	८६
प्रवचनसारोद्धार	१०३५	तित्थोगालीपइण्णय	११७०
प्रवचनसारोद्धार	१०३६	तित्थोगालीपइण्णय	२१
प्रवचनसारोद्धार	१०३७	तित्थोगालीपइण्णय	२२
प्रवचनसारोद्धार	१०५७	सबोधप्रकरण	२/४५
प्रवचनसारोद्धार	१०६२	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५९
प्रवचनसारोद्धार	१०६३	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६०
प्रवचनसारोद्धार	१०६४	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६१
प्रवचनसारोद्धार	१०६४	सबोधप्रकरण	२/६५
प्रवचनसारोद्धार	१०६५	सबोधप्रकरण	२/६६

* डॉ पाण्डे के आलेख में इसका गाथा क्रमांक ९५ है।

प्रवचनसारोद्धार	११९८	बृहत्सग्रहणी	१६९
प्रवचनसारोद्धार	११९९	बृहत्सग्रहणी	१७१
प्रवचनसारोद्धार	११२०	बृहत्सग्रहणी	१७२
प्रवचनसारोद्धार	११२४	बृहत्सग्रहणी	३३७
प्रवचनसारोद्धार	११२५	वृहत्सग्रहणी	३३८
प्रवचनसारोद्धार	११२८	बृहत्सग्रहणी	३४०
प्रवचनसारोद्धार	११२७	बृहत्सग्रहणी	३४१
प्रवचनसारोद्धार	११२९	बृहत्सग्रहणी	४२
प्रवचनसारोद्धार	११३०	बृहत्सग्रहणी	५८
प्रवचनसारोद्धार	११३०	देविंदत्थओ पइण्णय	६७
प्रवचनसारोद्धार	११३१	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद २ सू. १९४/गा १५१
प्रवचनसारोद्धार	११३३	जीवसमास	१९
प्रवचनसारोद्धार	११३३	देविंदत्थओ पइण्णय	८१
प्रवचनसारोद्धार	११३४	जीवसमास	२०
प्रवचनसारोद्धार	११३७	देविंदत्थओ पइण्णय	१८४
प्रवचनसारोद्धार	११३८	बृहत्सग्रहणी	५
प्रवचनसारोद्धार	११३९	बृहत्सग्रहणी	६
प्रवचनसारोद्धार	११४०	बृहत्सग्रहणी	४
प्रवचनसारोद्धार	११४३	बृहत्सग्रहणी	१२
प्रवचनसारोद्धार	११४६	बृहत्सग्रहणी	१७
प्रवचनसारोद्धार	११४७	बृहत्सग्रहणी	३५
प्रवचनसारोद्धार	११४८	बृहत्सग्रहणी	३६
प्रवचनसारोद्धार	११४९	बृहत्सग्रहणी	३७
प्रवचनसारोद्धार	११५०	बृहत्सग्रहणी	५५
प्रवचनसारोद्धार	११५१	बृहत्सग्रहणी	११७
प्रवचनसारोद्धार	११५२	बृहत्सग्रहणी	११८
प्रवचनसारोद्धार	११५३	बृहत्सग्रहणी	११९
प्रवचनसारोद्धार	११५४	बृहत्सग्रहणी	१२०
प्रवचनसारोद्धार	११५५	बृहत्सग्रहणी	१४३
प्रवचनसारोद्धार	११५६	बृहत्सग्रहणी	१४४
प्रवचनसारोद्धार	११५७	बृहत्सग्रहणी	१४८
प्रवचनसारोद्धार	११५८	बृहत्सग्रहणी	१५०

प्रवचनसारोद्धार	११६०	देविंदत्थओ पइण्णय	१२२
प्रवचनसारोद्धार	११६१	बृहत्सग्रहणी	२२०
प्रवचनसारोद्धार	११६२	बृहत्सग्रहणी	२२१
प्रवचनसारोद्धार	११६३	बृहत्सग्रहणी	२२२
प्रवचनसारोद्धार	११६४	बृहत्सग्रहणी	२२३
प्रवचनसारोद्धार	११६५	बृहत्सग्रहणी	२२४
प्रवचनसारोद्धार	११६७	बृहत्सग्रहणी	१५०
प्रवचनसारोद्धार	११६८	बृहत्सग्रहणी	१५१
प्रवचनसारोद्धार	११६९	बृहत्सग्रहणी	१५२
प्रवचनसारोद्धार	११७०	बृहत्सग्रहणी	१५३
प्रवचनसारोद्धार	११७१	बृहत्सग्रहणी	१५४
प्रवचनसारोद्धार	११७२	बृहत्सग्रहणी	१५५
प्रवचनसारोद्धार	११७३	बृहत्सग्रहणी	१५६
प्रवचनसारोद्धार	११७४	बृहत्सग्रहणी	१८०
प्रवचनसारोद्धार	११७७	बृहत्सग्रहणी	१५७
प्रवचनसारोद्धार	११७८	बृहत्सग्रहणी	१८४
प्रवचनसारोद्धार	११८०	बृहत्सग्रहणी	१९८
प्रवचनसारोद्धार	११८१	बृहत्सग्रहणी	१९९
प्रवचनसारोद्धार	११८२	बृहत्सग्रहणी	२००
प्रवच्नसारोद्धार	११८३	बृहत्सग्रहणी	२०१
प्रवचनसारोद्धार	११८४	बृहत्सग्रहणी	२०२
प्रवचनसारोद्धार	११८५	बृहत्सग्रहणी	२१४
प्रवचनसारोद्धार	११८७	बृहत्सग्रहणी	२१५
प्रवचनसारोद्धार	१२०७	आराधनापताका (प्रा)	६८६
प्रवचनसारोद्धार	१२०८	आराधनापताका (प्रा)	६८७
प्रवचनसारोद्धार	१२०९	समवायागसूत्रम्	परि सू १५८/गा ४७
प्रवचनसारोद्धार	१२०९	तित्थोगालीपइण्णय	५७०
प्रवचनसारोद्धार	१२१०	समवायागसूत्रम्	परि सू १५८/गा ४८
प्रवचनसारोद्धार	१२१०	तित्थोगालीपइण्णय	५७१
प्रवचनसारोद्धार	१२११	आवश्यकभाष्यम्	४१
प्रवचनसारोद्धार	१२१२	आवश्यकभाष्यम्	४२
प्रवचनसारोद्धार	१२१३	आवश्यकभाष्यम्	४३

प्रवचनसारोद्धार	१२१३	तित्थोगालीपइण्णय	६१०
प्रवचनसारोद्धार	१२१५	बृहत्सग्रहणी	३०३
प्रवचनसारोद्धार	१२१६	बृहत्सग्रहणी	३०४
प्रवचनसारोद्धार	१२१७	बृहत्सग्रहणी	३१२
प्रवचनसारोद्धार	१२१८	स्थानागसूत्रम्*	९/६७३/१
प्रवचनसारोद्धार	१२१९	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/२
प्रवचनसारोद्धार	१२२०	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/३
प्रवचनसारोद्धार	१२२०	तित्थोगालीपइण्णय	११३३
प्रवचनसारोद्धार	१२२१	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/४
प्रवचनसारोद्धार	१२२२	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/५
प्रवचनसारोद्धार	१२२३	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/६
प्रवचनसारोद्धार	१२२३	तित्थोगालीपइण्णय	११३६
प्रवचनसारोद्धार	१२२४	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/७
प्रवचनसारोद्धार	१२२५	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/८
प्रवचनसारोद्धार	१२२६	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/९
प्रवचनसारोद्धार	१२२७	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/१०
प्रवचनसारोद्धार	१२२८	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/११
प्रवचनसारोद्धार	१२२८	तित्थोगालीपइण्णय	११४१
प्रवचनसारोद्धार	१२२९	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/१२
प्रवचनसारोद्धार	१२२९	तित्थोगालीपइण्णय	११४२
प्रवचनसारोद्धार	१२३०	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/१३
प्रवचनसारोद्धार	१२३१	स्थानागसूत्रम्	९/६७३/१४
प्रवचनसारोद्धार	१२३८	सबोधप्रकरण	३/३२
प्रवचनसारोद्धार	१२४१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/५
प्रवचनसारोद्धार	१२४२	सबोधप्रकरण	३/३७
प्रवचनसारोद्धार	१२४३	सबोधप्रकरण	३/३८
प्रवचनसारोद्धार	१२४४	सबोधप्रकरण	३/३९

* स्थानाग के सन्दर्भ में प्रथम सख्या स्थान की दूसरी सूत्र की एव तीसरी गाथा की सूचक है। ज्ञातव्य है कि मुनि जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित सस्करण में गाथा क्रमाक १-१७ न होकर ११७-१३० है।

प्रवचनसारोद्धार	१२४७	सम्बोधप्रकरण	२/६२
प्रवचनसारोद्धार	१२५१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७
प्रवचनसारोद्धार	१२५४	पञ्चसंग्रह	३/११
प्रवचनसारोद्धार	१२६२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७१
प्रवचनसारोद्धार	१२६३	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७२
प्रवचनसारोद्धार	१२६३	धर्मसंग्रहणी	६१८
प्रवचनसारोद्धार	१२६४	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७३
प्रवचनसारोद्धार	१२६४	धर्मसंग्रहणी	६१९
प्रवचनसारोद्धार	१२६५	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७४
प्रवचनसारोद्धार	१२६५	धर्मसंग्रहणी	६२०
प्रवचनसारोद्धार	१२६६	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७५
प्रवचनसारोद्धार	१२६७	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७६
प्रवचनसारोद्धार	१२६८	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७७
प्रवचनसारोद्धार	१२६९	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७८
प्रवचनसारोद्धार	१२७०	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७९
प्रवचनसारोद्धार	१२७१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१८०
प्रवचनसारोद्धार	१२७२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८१
प्रवचनसारोद्धार	१२७३	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८२
प्रवचनसारोद्धार	१२७४	पञ्चसंग्रह	३/४
प्रवचनसारोद्धार	१२७६	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/७९
प्रवचनसारोद्धार	१२९८	पञ्चसंग्रह	३/२५
प्रवचनसारोद्धार	१३००	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/१३
प्रवचनसारोद्धार	१३०२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/२६
प्रवचनसारोद्धार	१३०३	आवश्यकनिर्युक्ति	१४
प्रवचनसारोद्धार	१३०३	जीवसमास	६
प्रवचनसारोद्धार	१३०५	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/३४
प्रवचनसारोद्धार	१३११	जीवसमास	१९२
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/१३६
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	जीवसमास	२५
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	बृहत्संग्रहणी	३६३

प्रवचनसारोद्धार	१४६४	आवश्यकनिर्युक्ति	१३४७
प्रवचनसारोद्धार	१४६५	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५०
प्रवचनसारोद्धार	१४६६	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५१
प्रवचनसारोद्धार	१४६७	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५२
प्रवचनसारोद्धार	१४६८	आवश्यकभाष्यम्	२१९
प्रवचनसारोद्धार	१४६९	आवश्यकभाष्यम्	२२०
प्रवचनसारोद्धार	१४७०	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५५
प्रवचनसारोद्धार	१४७१	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५८
प्रवचनसारोद्धार	१५४०	देविंदत्थओ पइण्णय	२८९
प्रवचनसारोद्धार	१५८७	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू १०२ गा ११२
प्रवचनसारोद्धार	१५८८	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू १०२ गा ११३
प्रवचनसारोद्धार	१५८९	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू १०२ गा ११४
प्रवचनसारोद्धार	१५९०	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू १०२ गा ११५
प्रवचनसारोद्धार	१५९१	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू १०२ गा ११६
प्रवचनसारोद्धार	१५९२	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू १०२ गा ११७

¤ * ¤ * ¤